TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186185

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 370.7 S 55 U

Accession No. H 2281

Author शर्मा, कमलेश तथा अन्य

Title उत्तम दिग्दर्शन (प्रथम खंड)

This book should be returned on or before the date last marked below.

उत्तमा दिग्दर्शन

[साहित्यरत्न गाइड]

२०११ (सन् १९५४) के नये पाठ्यक्रम के अनुसार]

संशोधित एवं परिवर्धित नया संस्करण

प्रथम खण्ड

लेखक—

श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' एम० ए०, साहित्यरत्न

श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न

श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा 'द्वारिकेश' एम० ए०, साहित्यरत्न

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल-रोड, आगरा।

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

Checked 1965

[सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन]

द्वितीय संस्करण

मूल्य ७॥)

मुद्रक—

कैलाश प्रिंटिंग प्रे

बागमुजफ्फरखाँ, आ

भूमिका

प्रस्तुत 'दिग्दर्शन' में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की उत्तमा (साहित्य-रत्न) परीक्षा के प्रथम खंड में स्वीकृत समस्त पाठ्य पुस्तकों के विषय में पूर्ण परन्तु संक्षिप्त आलोचनात्मक सामग्री उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। समस्त पाठ्य पुस्तकों एवं उनकी सहायक पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक है कि प्रत्येक विद्यार्थी उन्हें स्वयं खरीदने में अपने को असमर्थ पाता है। विद्यार्थियों की इसी असुविधा को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है। व्याख्यात्मक भाग को छोड़कर प्रश्नपत्रों में आए हुए समस्त आलोचनात्मक प्रश्नों के उत्तर इसमें रखे गए हैं।

विद्यार्थियों (विशेषकर प्रायवेट विद्यार्थियों) के सम्मुख यह प्रश्न सदैव से आता रहा है कि [illegible] अध्ययन आरम्भ करें। [illegible] प्रश्न ही प्रमुख रूप [illegible] हैं—(१) उसके जीवन परिचय और साहित्य सेवा सम्बन्धी प्रश्न, (२) उसके भावपक्ष सम्बन्धी प्रश्न और (३) उसके कलापक्ष सम्बन्धी प्रश्न। जीवन परिचय सम्बन्धी प्रश्न केवल प्राचीन कवियों के विषय में ही पूछे जा सकते हैं जिनके प्रामाणिक जीवन वृत्त उपलब्ध नहीं है जैसे कबीर, सूर, तुलसी आदि। भावपक्ष और कलापक्ष के विभाग करके भी प्रश्न पूछे जा सकते हैं। जैसे—सूर के वात्सल्य या शृंगार वर्णन पर या कबीर के रहस्य-वाद के सम्बन्ध में यदि प्रश्न पूछे जायं तो यह भावपक्ष के ही विभाग हैं और यदि सूर की भाषा शैली अथवा अलङ्कार विधान के विषय में पूछा जाय तो यह कलापक्ष के ही टुकड़े माने जायंगे। विभिन्न प्रकार के वर्णन जैसे ऋतु वर्णन आदि भी कलापक्ष के ही अङ्ग हैं। इसके अलावा तुलनात्मक प्रश्न भी आते हैं—दो समान

भावधारा या विचारधारा के कवियों के सम्बन्ध में, जैसे—कबीर और जायसी पर सूर और तुलसी पर या पन्त और निराला पर। इनके लिए दोनों कवियों की विशेषताओं को ध्यान में रखकर दोनों पर साथ-साथ विचार करना चाहिए।

इसमें साथ ही प्रत्येक कवि का मूल्यांकन उसके काल विशेष की परिस्थियों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। यदि काल की परिस्थिति ध्यान में हो तो उस कवि की विचारधारा, दार्शनिक सिद्धान्त आदि का स्पष्टीकरण अच्छी तरह हो सकता है। काल सम्बन्धी सामान्य प्रश्न पूछे जाते हैं। इसलिए यहाँ पर प्रत्येक काल की सामान्य परिस्थितियों और विशेषताओं का भी विश्लेषण कर दिया गया है।

साहित्यरत्न के पाठ्यक्रम में पाठ्य पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक है कि साधारण विद्यार्थी के लिए सभी पुस्तकों का पूर्ण अध्ययन करना अत्यन्त कष्टसाध्य प्रतीत होता है। इसके लिए सबसे सुगम उपाय यह है कि विद्यार्थी कम से कम प्रमुख कवियों और लेखकोंका पूर्ण अध्ययन तो अवश्य ही करले क्योंकि उन पर तो प्रश्न अवश्य ही पूछे जायंगे। जैसे चतुर्थ प्रश्नपत्र में शुक्ल, प्रेमचन्द, लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दाबनलाल वर्मा आदि। इसके अतिरिक्त शेष पुस्तकों का साधारण अध्ययन करने पर भी उत्तीर्णांक प्राप्त हो ही जायंगे। प्रत्येक प्रश्नपत्र में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि विद्यार्थी गत वर्षों के प्रश्नपत्रों को अवश्य देख लें क्योंकि इससे यह ज्ञात हो जाता है कि साधारणतः प्रश्नों की रूप रेखा कैसी होती है। साथ ही कभी कभी पिछले वर्षों में पूछे गए प्रश्न ही दुहरा दिए जाते हैं। इसलिए पिछले प्रश्न पत्रों का अध्ययन अत्यावश्यक है। यदि पिछले वर्षों के प्रश्नपत्र उत्तरों सहित* प्राप्त हो जायं

*साहित्य रत्न प्रथम खण्ड तथा द्वितीय खण्ड के प्रश्न पत्र उत्तर सहित प्राप्य हैं। सूचीपत्र आदि के लिए विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा को लिखिए।

तो यह और भी लाभदायक है क्योंकि इससे विद्यार्थी को यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्नों के उत्तर कैसे और कितने बड़े लिखने चाहिए। साथ ही व्याख्या के लिए महत्वपूर्ण स्थलों को अवश्य पढ़ लेना चाहिए क्योंकि प्रमुख कवियों या लेखकों की कृतियों में से व्याख्या के लिए पद या अंश अवश्य आते हैं।

यदि विद्यार्थी प्रस्तुत 'दिग्दर्शन' का भली भाँति अध्ययन करलें तो उन्हें परीक्षा में अवश्य ही सफलता मिलेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। फिर भी गुरुजनों एवं विद्यार्थियों के सुझावों का स्वागत किया जायगा।

———

आषाढ़ शु० २,
रथ यात्रा, सं० [illegible]
नागरी प्रचारिणी सभा
आगरा।

लेखक त्रय

विषय सूची

१—प्रथम प्रश्न पत्र

चारण, सन्त तथा प्रेम गाथा

पृष्ठ १—१३५

२—द्वितीय प्रश्न पत्र

भक्तिकाल तथा रीतिकाल

पृष्ठ १३७—३१७

३—तृतीय प्रश्न पत्र

आधुनिक पद्य

पृष्ठ ३१६—४४७

४—चतुर्थ प्रश्न पत्र

गद्य, निबन्ध, कथा साहित्य तथा नाटक

पृष्ठ ४४८—६०८

उत्तमादिग्दर्शन प्रथम खण्ड

प्रश्नपत्र—१

चारण, संत तथा प्रेमगाथा—

क : चारण—

१—डिंगल में वीररस—केवल पृथ्वीराज, दुरसाजी और बाँकीदास (मोतीलाल मेनारिया)।

२—वीरकाव्य : चन्द, नरपति नाल्ह, बोधराज और भूषण तथा भूमिका (उदयनारायण तिवारी)।

ख : संत—

१—हिन्दी सत काव्य सग्रह : नानक, दादू, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास, सहजोबाई, तथा नामदेव जी (परशुराम चतुर्वेदी)।

२—कबीर संग्रह

ग : प्रेमगाथा—

१—सूफी काव्य सग्रह—(हिन्दी साहित्य सम्मेलन)

२—हिन्दी प्रेमगाथा काव्य–(स० गणेशप्रसाद द्विवेदी)।

———

चारण, संत तथा प्रेमगाथा

डिङ्गल में वीररस

प्रश्न १—डिंगल काव्य के ऐतिहासिक और साहित्यक मूल्य का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—डिंगल कविता का वास्तविक इतिहास उस समय से आरम्भ होता है जब भारत पर मुसलमानो के आक्रमण प्रारम्भ हुए। देश की रक्षार्थ यहाँ के छोटे बड़े सभी हिन्दू राजाओ ने इन आक्रमणकारियों का प्रतिरोध किया। यह समय भीषण अशान्ति और हलचल का था। इन नरपतियों को सैन्यबल तथा शस्त्रबल के अतिरिक्त उन वीर कवियों की भी आवश्यकता पड़ती थी जो उनके शिथिल मन और शिराओ में उत्साह की लहरें उत्पन्न कर सकते। ये कवि जिन्हें उस समय चारण और भाट कहा जाता था, अपनी वीररस पूर्ण कविताओं द्वारा वीरों में देश पर मर मिटने का उत्साह भर देते थे। ये कवि तथा विद्वान् होने के साथ ही साथ तलवार के भी धनी होते थे। चन्दवरदाई और दुरसाजी इसके उदाहरण हैं। ये लोग काव्य कला कौशल की प्राप्ति के लिए शिक्षा और अभ्यास में अधिक समय व्यतीत करते थे। इन्हें संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान होता था प्रतिदान में इनके संरक्षक इन्हें अतुल-सम्पत्ति देकर कवीश्वर, कविराज आदि उपाधियों से विभूषित करते थे। इन्हीं राजा महाराजाओ के द्वारा ये मुगल दरबार में भी पहुँच गए और वहाँ इन्हें बड़े-बड़े पुरस्कार और मनसब मिले।

अपने आश्रयदाताओं के शौर्य पराक्रम के वर्णन में इन कवियों ने 'रासो' 'ख्यात' आदि के नाम से अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें से अब बहुत कम प्राप्य है। पहले तो इन ग्रन्थों का विषय केवल अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति वर्णन ही रहता था ; परन्तु बाद में जब डिंगल भाषा का सम्मान बढ़ा तो इसमें ज्योतिष, वेदान्त, वैद्यक, धर्म, नीति, शालिहोत्र आदि अनेक विषयों

पर भी ग्रन्थ लिखे गए। इनमें से कुछ ग्रन्थ तो इतने विद्वत्ता पूर्ण और अमूल्य है जो संसार के किसी भी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकते है। ये कवि अपने जिन आश्रयदाताओं के विषय में लिखते थे प्रायः उनके सम-सामयिक होते थे। बहुधा आपदेखी, आपबीती घटनाओं का वर्णन करते थे। अतएव इतिहास की दृष्टि से इनका महत्व है। इन ग्रन्थों का निर्माण इतिहास के ढङ्ग पर नहीं हुआ है और कहीं कहीं पर अत्यन्त अतिरंजित और अत्युक्तिपूर्ण वर्णन मिलते हैं। ऐसे स्थलों पर इतिहास की इन्होंने चिन्ता नहीं की है। फिर भी इन ग्रन्थों में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी इन रचनाओं का बहुत प्रभाव है क्योंकि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच का सम्बन्ध इसी डिंगल भाषा के द्वारा स्थापित होता है। डिंगल काव्य की रचना धन, यश प्राप्ति आदि के उद्देश्य से की गई थी। परन्तु आधुनिक विद्वानो का मत है कि जो कविता, धन, प्रतिष्ठा तथा अन्य सांसारिक प्रलोभनो के लिए की जाती है, उसमें वह रस, वह बातें कदापि नहीं आ सकतीं जो 'स्वान्तः सुखाय' कविता करने वाले कवियों के काव्य में होती हैं। इसलिए इन राज्याश्रित कवियों की कविता में हमें वह आत्म-विस्मृति और आत्मानुभूति नही मिलती जो सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियों के काव्य मे प्राप्त हैं। इस चारण काव्य में यह दोष है।

डिंगल भाषा के दो प्रधान रूप मिलते हैं। एक रूप वह है जो रासो ग्रन्थो—बीसलदेव रासो, खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो आदि में मिलता है। यह भाषा अपरिष्कृत, बेमेल, अस्तव्यस्त और डिंगल व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। इसलिए बहुत से राजस्थानी विद्वान इन्हे डिंगल के ग्रन्थ ही नहीं मानते। पर इसके बाद के ग्रन्थों और फुटकर पदो मे डिंगल भाषा का स्वस्थ एवं निखरा हुआ रूप मिलता है। यह भाषा शुद्ध, संयत और प्रौढ़ है। इसमें व्याकरण के नियमों का पालन किया गया है। परन्तु शब्दो को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति इस काल मे बहुत मिलती है। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न कवियों ने भिन्न-भिन्न रूप से प्रयोग किया है। इस भाषा का शब्द भण्डार बहुत विस्तृत है। यदि एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों का

बाहुल्य है तो दूसरी ओर अरबी फारसी के शब्द भी हैं।

डिंगल काव्य में दोहा-छप्पय आदि का प्रयोग अधिक हुआ है। चन्द के छप्पय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसका अनुकरण अभी तक होता चला आया है। कारण यह है कि वीररस की उद्भावना इसी छन्द द्वारा भलीभाँति हो सकती है। इसके अलावा मन्दाक्रान्ता, मुक्तादाम, भुजङ्ग-प्रयात, पद्धरी और तोमर प्रसिद्ध हैं। फुटकर रचनाओं में गीत छन्द का भी प्रयोग अधिक हुआ है। इन गीतों के लगभग ८५ भेद बताए जाते हैं। इसमें दोहे के भी अनेक भेद हैं, जैसे—सोरठियो दूहो, बड़ो दूहो, तू बेरी दूहो, दूहो आदि चार भेद माने गए हैं। इन छन्दों में साहित्यिक सौन्दर्य न रहते हुए भी प्रवाह रहता है।

डिंगल काव्य अधिकतर वर्णनात्मक और भाव प्रधान है। इसलिए इसमें ऐसे अलङ्कारों का प्रयोग मिलता है जो वर्णित विषय की सजीवता एव भाव-व्यञ्जना बढ़ाने में सहायक होते हैं। फुटकर रचनाओं में अलङ्कारों का कम प्रयोग है। कथात्मक ग्रन्थों में सौन्दर्य तथा युद्ध वर्णनों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलङ्कारों का प्रयोग किया है। इस प्रयोग में सर्वत्र संयम है। अलङ्कार भावों पर हावी नहीं हो सके हैं। डिंगल साहित्य में 'वयण सगाई' नामक अलङ्कार का अधिक प्रयोग हुआ है। यह एक प्रकार का शब्दानुप्रास है। इसके सफल और असफल प्रयोग पर कवि की कवित्व शक्ति की परीक्षा मानी जाती थी। परन्तु आगे चलकर डिंगल के प्रसिद्ध कवि सूर्यमल्ल ने इसकी उपेक्षा की क्योंकि इस अलङ्कार से रसोद्रेक और भाव के स्पष्टीकरण में बाधा उपस्थित होती थी।

इस काव्य में वीररस का प्राधान्य है। वीर की अपेक्षा शृङ्गार, शान्त आदि रसों का निरूपण कम है। इसकी वीर रस की कविता अत्यन्त उच्च-कोटि की मानी जाती है। डिंगल के कवि वीर भूमि के निवासी होने के कारण अपने काव्य में जान फूँक देते थे। युद्ध के अतिरिक्त उन्होंने वीर-वीरागनाओं के हृदय के गम्भीरतम भावों का भी सफल विश्लेषण किया है और अत्यन्त सरल भाषा में। वीररस के अलावा शृंगार, शान्त, हास्य,

करुण, रौद्र, वीभत्स आदि रसों का निरूपण भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया है।

प्रश्न २—'डिंगल' से क्या तात्पर्य है? इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों का दिग्दर्शन कराते हुए अपना मत प्रकट कीजिए। डिंगल और पिंगल का भेद एवं 'रासो' शब्द से क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट कीजिये।

उत्तर—पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी के साहित्यिक रूप को 'डिंगल' कहते हैं। इस शब्द का व्यवहार लगभग उन्नीसवीं शताब्दी से होने लगा है। कुछ लोग डिंगल को मारवाड़ी से भिन्न चारणों की एक अलग भाषा बतलाते हैं। यह विचार भ्रमपूर्ण है। 'वस्तुत: डिंगल और मारवाड़ी में उतना ही अन्तर है जितना साहित्यिक हिन्दी और बोलचाल की हिन्दी में है।' प्रश्न यह है कि यह डिंगल नाम कैसे और क्यों पड़ा। इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं।

पहला मत—डाक्टर टैसीटरी का मत है कि "डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गवारु था। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य शास्त्र के नियमों का अनुकरण करती थी। पर डिङ्गल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसलिए इसका यह नाम पड़ा।" यह मत भ्रान्त है। डिंगल पढ़े लिखे चारणों की भाषा थी। उनकी कृतियों का राजदरबारों में सम्मान किया जाता था। इसलिए यह गंवारू नहीं हो सकती। डिंगल पर अनियमितता का आक्षेप भी भ्रम से रहित नहीं है। क्योंकि डिंगल साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की विशुद्धता के साथ साथ छन्द, रस, अलङ्कार आदि का उसमें पूर्ण ध्यान रखा जाता था। शब्दों की तोड़ मरोड़, ब्रजभाषा की तुलना में अधिक है परन्तु इसी से उसे गवारू भाषा की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

दूसरा मत—हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि "प्रारम्भ में इसका नाम 'डगल' था, पर बाद में पिंगल शब्द के साथ तुक मिलाने के लिए डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है। कविता शैली का नाम है।" परन्तु जिस प्राचीन छन्द के आधार पर शास्त्री जी ने अपना यह

मत निर्धारित किया है वह सत्रहवीं शताब्दी की रचना है। उसमें ईश्वर की शक्तिमताका वर्णन है। भाषाका उसमें कहीं नाम भी नहीं है। अतः 'डगल' से डिंगल का कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। डिंगल एक कविता शैली न होकर एक बहुत उन्नत साहित्यिक भाषा है। एक समय यह सम्पूर्ण राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी। अतः यह मत भी भ्रमपूर्ण है।

तीसरा मत—गजराज ओझा का है। उनका कथन है कि "डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। 'ड' वर्ण की इस प्रधानता को ध्यान में रख कर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रखा गया है। जिस प्रकार बिहारी लकारप्रधान भाषा है उसी तरह डिंगल भी डकार प्रधान भाषा है।" ओझा जी की यह कल्पना और तर्क दोषपूर्ण है। किसी वर्ण विशेष के आधिक्य से संसार की किसी भी भाषा का नामकरण नहीं किया गया है। दूसरे यह कल्पना भी अत्युक्तिपूर्ण है कि डिंगल मे 'ड' वर्णों का प्राधान्य है। साथ ही यह कहना कि पिंगल के साम्य पर डिंगल नाम रखा गया है, प्रमाण रहित है।

चौथा मत—पुरुषोत्तम स्वामी का है कि डिंगल शब्द डिम+गल से बना है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का अर्थ गला होता है। डमरू की ध्वनि रणचण्डी का आह्वान करती है। शिव वीर रस के देवता हैं। गले से जो कविता निकलकर डिमडिम की तरह वीरोंके हृदय को उत्साह से भरदे उसी को डिङ्गल कहते हैं। डिंगल भाषा में इस तरह की कविताकी प्रधानता है। इसलिए वह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई।" यह मत भी भ्रांत है। न तो महादेव वीर रस के देवता है और न डमरू की ध्वनि उत्साहवर्धक ही होती है। वीर रस के देवता इन्द्र हैं। शिव रौद्र रस के देवता हैं। साथ ही डमरू की ध्वनि की भांति उत्साहवर्धक और गले से निकली हुई कविता का गठबन्धन तो तर्क शून्य और हास्यास्पद है। न मालूम ऐसे विद्वान् इतनी सारहीन कल्पना कैसे कर लेते हैं।

पांचवाँ मत—उदयराज का है कि "डिंगल के कवि पिंगल को पाँगुली (पंगु) भाषा मानते हैं और पिंगल के मुकाबले डिंगल को उड़ने वाली भाषा कहते हैं। डिंगल का व्याकरण, छन्दशास्त्र आदि सुगम है। 'डगल'

द से जो डिंगल भाषा की उक्त विशेषताओं का सूचक है डिंगल बना है। '=पङ्ख, ल=लिए हुए=पङ्ख वाली=उड़ने वाली=स्वतन्त्रता से चलने वाली र्गत् सुगमता से काम में आने वाली।" यह मत भी निराधार तर्कों पर ..धारित है। डिंगल भाषा का व्याकरण और छन्दशास्त्र अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। छन्दों की संख्या भी बहुत अधिक है। डिंगल में वैण सगाई का नियम इतना कठोर और जटिल है कि पिंगल काव्य के सम्पूर्ण नियम बधन भी उसकी तुलना में नहीं के बराबर हैं। अतः डिगल तत्कालीन दूसरी काव्य भाषा पिंगल से किसी भी रूप में सरल नहीं है। 'डगल' शब्द से डिगल की उत्पत्ति भाषाशास्त्र की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। भाषा शास्त्रानुसार किसी शब्द में मात्रा और अनुस्वार दोनों की वृद्धि एक साथ नही होती। इनका लोप अवश्य होता है। अतः यह मत भी आधार शून्य है।

छठा मत—डाक्टर ग्रियर्सन और डाक्टर श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "जो लोग ब्रजभाषा में कविता करते थे उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी इसके भेद करने के लिए मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिगल नाम पड़ा है।" इस मत में भी कुछ सार तत्त्व नहीं है। इन मतों के अतिरिक्त राजस्थान में दो एक मत और प्रचलित हैं। कुछ लोग इसे डिभ + गल से तथा कुछ डिग्गी+गल से और कुछ 'डॉग' से बना हुआ बतलाते हैं। स्वर्गीय रामकरण जी आसोया और ठाकुर किशोरीसिंह जी बारहठ ने इसकी उत्पत्ति 'डंगि' और 'डींग' धातुओ से मानी है।

सातवाँ मत—श्री मोतीलाल मेनारिया का कथन है कि—'यथार्थतः' 'डिगल' शब्द 'डींगल' का परिवर्तित रूप है। अङ्गरेज लेखको ने डिगल और डींगल शब्दों में कोई भेद नहीं माना। पिंगल के अनुकरण पर डींगल को डिंगल बोला जाने लगा। परन्तु राजस्थान के वृद्ध राजपूत चारण इसका उच्चारण 'डींगल' ही करते है। यह एक अनुकरणात्मक शब्द है जो शीतल, बोझल, धूमल आदि शब्दों के अनुकरण पर डिगल साहित्य में पूर्णतः अत्युक्ति पूर्ण वृत्तो को ध्यान मे रख उसकी इस विशेषता के द्योतनार्थ गढ़ लिया गया है। इसकी उत्पत्ति 'डींग' शब्द के साथ 'ल' प्रत्यय जोड़ने से

हुई है और इसका अर्थ है, डींग से युक्त अर्थात् अतिरंजनापूर्ण।" मेनारिया जी का यह मत अधिक तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस शब्द की उत्पत्ति पिंगल के साम्य से ही मानते हैं। उनके मतानुसार इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। उपर्युक्त विभिन्न मतों में दो प्रकार की प्रमुख प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। कुछ लोग डिंगल शब्द में उपहास का आधार मानकर इसे गँवारी भाषा मानते हैं तथा कुछ लोग 'डिंगल का कोई सार्थक और महत्वपूर्ण अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं।

पिंगल शब्द का वास्तविक अर्थ छन्दशास्त्र है। परन्तु राजस्थानी में इस से ब्रजभाषा का भी अर्थ लिया जाता है। ईधर कुछ वर्षों से पिंगल से ब्रजभाषा अर्थ न लेकर 'राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा' अर्थ लेते हैं और ब्रजभाषा को शुद्ध ब्रजभाषा कहते हैं। पिंगल में राजस्थानी की कुछ विशेषताएँ देख कर कुछ लोग इसे भी डिंगल कह देते हैं। परन्तु वास्तव में पिंगल और डिंगल में बहुत अन्तर है। पिंगल एक मिश्रित भाषा है। इसमें दोनों भाषाओ की विशेषताये हैं परन्तु डिंगल में केवल मारवाड़ी व्याकरण का ही अनुकरण किया जाता है। पिंगल में यह दो भाषाओं के मिश्रण का अनुपात कवि की इच्छा पर निर्भर है। किसी का झुकाव व्रजभाषा की ओर अधिक रहता है और किसी का राजस्थानी की ओर। जैसे पृथ्वीराज रासो में राजस्थानी की अपेक्षा व्रजभाषा का प्रभाव अधिक है। सूर्यमल के 'वंशभास्कर' में राजस्थानी के प्रति अधिक झुकाव है। राजस्थान में पिंगल और डिंगल दोनों भाषाओं में लगभग समान रचनाएँ हुई हैं। खुमाण रासो, पृथ्वीराज रासो, हमीर रासो, अवतार चरित्र, राजविलास आदि ग्रन्थ पिंगल के हैं। डिंगल साहित्य ख्यात, बात, विगत, पीढ़ी, वशावली आदि रूपों में है।

डिंगल शब्द के समान ही 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सा व तासी इसकी उत्पत्ति 'राजसूय' से मानते हैं। परन्तु क्यों मानते हैं इसके समर्थन में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। आचार्य शुक्ल इसकी उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से लेते हैं। नरपति

नाल्ह की एक पंक्ति से यह उचित भी प्रतीत होता है—"नाल्ह रसायन आरम्भई सारदा, तुठी ब्रह्म कुमारि।" कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध 'रहस्य' से जोड़ते हैं। नरोत्तम स्वामी इसकी व्युत्पत्ति 'रसिक' से मानते हैं। प्राचीन राजस्थानी में 'रसिक' का अर्थ कथा काव्य है। यही शब्द क्रमशः परिवर्तित होकर 'रासउ' और 'रासो' हो गया है। ब्रजप्रदेश में 'रासो' झगड़े के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे—"कहा रासो रोप्यो है" अर्थात् तूने क्या झगड़ा खड़ा किया है। इन विभिन्न मतों से एक सामान्य ध्वनि यह निकलती सी प्रतीत होती है कि 'रासो' शब्द किसी ऐसी घटना के लिए प्रयुक्त होता चला आया है जो ऐतिहासिक महत्व रखती हो तथा जिसमें भव्यता हो, चमत्कार पूर्ण एव शौर्य से ओतप्रोत कथा हो परन्तु इन सब बातों के साथ जिसमें युद्ध द्वारा वीरत्व प्रदर्शन की भावना प्रमुख हो।

प्रश्न ३—पृथ्वीराज, दुरसाजी तथा बाँकीदास का परिचय देते हुए उनके काव्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—**पृथ्वीराज**—पृथ्वीराज का जन्म सवत् १६०६ में बीकानेर में काल्याणमल जी के यहाँ हुआ था। अकबर के सेनापति रामसिंह इनके अग्रज थे। ये साहित्य, दर्शन, ज्योतिष, छन्दशास्त्र, संगीत शास्त्र के ज्ञाता होने के साथ-साथ बड़े ही स्वाभिमानी और स्पष्ट भाषी थे। ये उच्चकोटि के भक्त भी थे। नाभादास के भक्तमाल मे इनका उल्लेख है। बादशाह अकबर के प्रिय पात्र होने से ये उनके पास ही रहते थे। पृथ्वीराज के दो विवाह हुए थे। प्रथम पत्नी लालादे के निधन से इन्हें अत्यन्त शोक हुआ पर द्वितीय स्त्री चाँपादे, लालादे से भी रूपगुण रसज्ञता में श्रेष्ठ निकली। वह कवि, यित्री भी थी इस मिलन से दोनो परम सन्तुष्ट एव सुखी थे। एक दूसरे की कविताए सुनते एव आलोचना करते थे। ये महाराणा प्रताप के अनन्य भक्त थे। इससे अकबर शाँत हो उठा था इनके ज्ञान एवं चातुर्य के विषय में अनेक किवदन्ती प्रसिद्ध हैं। सवत् १६५७ में मथुरा में इनका प्राणान्त हुआ था।

उनके राजनीतिक जीवन के समान उनका साहित्यिक जीवन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। डिंगल के श्रृंगार रस के कवियो में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ

माना जाता है। इनके रचे वेलि क्रिसन रुकमणी दशरथ राउवत, वसदेराउवत, गंगालहरी नामक चार ग्रन्थ तथा अनेक फुटकर गीत, दोहे, छप्पय आदि मिले हैं। इनमे वेलिक्रिसन रुक्मणी ही सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसमें कृष्ण रुक्मणी के विवाह की कथा है। भाव, भाषा माधुर्य ओज आदि सभी उत्कृष्ट प्रौढ़, परिमार्जित और ललित हैं। इस ग्रन्थ से लोगों की यह धारणा खंडित होती हैं कि डिंगल केवल वीररस के उपयुक्त है, उसमें श्रृंगार का वर्णन नहीं हो सकता। शृंगार रस के अतिरिक्त उनकी वीररस की कवितायें भी मिलती हैं। फुटकर दोहों में वीररस की बड़ी भव्य व्यजना हुई है। पृथ्वीराज राजस्थानी जागृतिके सच्चे प्रतिनिधि भक्त और समर्थक थे। इनकी वीर रसात्मक कवितायें अत्यन्त भावपूर्ण, हृदयस्पर्शी तथा प्रौढ़ है। ओज गुण उनकी विशेषता है। प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टाड ने उनकी कविता में दश सहस्र घोड़ों का बल बताया है। वे राजस्थान के 'भूषण" थे।

दुरसाजी—इनका जन्म मारवाड़ राज्य के धूठला गाँव में एक गरीब चारण के घर संवत १५९२ में हुआ था। इनके पिता का नाम मेहाजी था। ६ वर्ष की वय में ही पिता का प्राणान्त हो जाने से इन्हें नौकरी करनी पड़ी। एक बार ये अपने मालिक के खेत पर काम कर रहे थे कि बगड़ी के ठाकुर प्रतापसिंहजीइ नकी तरफ आ निकले। इनकी मुखाकृति और वार्तालाप के ढग से इन्हें होनहार समझ कर अपने साथ लिवा ले गए। वहाँ उन्नति करते २ उनके प्रधान सलाहकार हो गए। एक बार बादशाह अकबर अहमदाबाद जा रहे थे। मार्ग में सूजोत नामक बादशाह के विश्राम स्थान का सुन्दर प्रबन्ध देखकर वह उनसे बड़े प्रसन्न हुये और दिल्ली दरबार में उनकी पहुँच हो गई।

दुरसाजी बड़े उच्चकोटि के कवि होने के साथ ही साथ वीर भी थे और युद्धों में भाग लिया करते थे। महाराणा प्रताप की मृत्यु पर अकबर को बड़ी वेदना हुई थी। उस समय इन्होंने अकबर के हृदयस्थ भावों के अनुरूप कविता बना कर अकबर से पुरस्कार पाया था। इनके दो विवाह हुए थे जिनसे चार पुत्र हुऐ। सम्वत् १७१२ में पाँचेटिया नामक स्थान पर

थे जिनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। सम्वत् १७१२ में पाँचेटिया स्थान पर इनका देहावसान हुआ। वहाँ अभी तक मन्दिर बना है।

दुरसाजी बड़े भाग्यशाली कवि थे। इनकी कविताओं का राजस्थान में बड़ा आदर है। प्रत्येक चारण को इनकी दो-चार कवितायें अवश्य याद होंगी। ये हिन्दू जाति, धर्म और संस्कृति के अनन्य उपासक थे। इनके काव्य में हिन्दुओं की दुर्दशा और अकबर की कूटनीति का चुभता हुआ वर्णन है। इनकी 'विरुद छहत्तरी' में महाराणा प्रताप के यश के साथ ही मुगल साम्राज्य के विरुद्ध घृणा का भाव भी विद्यमान है जैसे:—

"अकबर समद अथाह, तिह डूवा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माह, पैयण फूल प्रतापसी ।।"

अर्थात् अकबर अथाह समुद्र है जिसमें हिन्दू और तुर्क सब डूब गऐ परन्तु मेवाड़ का प्रतापसिंह कमल के फुल के समान उसके ऊपर तैर रहा है। अकबर के आश्रित होकर भी इन्होंने उसकी प्रशंसा में एक शब्द भी नहीं लिखा यह एक ऐसी बात है जो उन्हें अन्यान्य चारण कवियों से ऊँचा उठा देती है।

बाँकीदास—इनका जन्म मारवाड़ राज्य के पंचभदरा परगने के भड़िया वास गाँव में वि० स० १८२८ में हुआ था। इनके पिता फतहसिंह डिंगल भाषा के अच्छे कवि थे। बाँकीदास ने घर पर ही कुछ शिक्षा पाकर संस्कृत के साहित्य शास्त्र का अच्छा अध्ययन किया। १८६० में जोधपुर के महाराज मानसिंह से भेंट होने पर ये अपने काव्य ज्ञान और प्रतिभा से उनके राज्य कवि हो गये। राजा ने इन्हें अपना गुरू बनाया। ये संस्कृत, ब्रजभाषा डिंगल, और फारसी के अच्छे ज्ञाता तथा आशुकवि होने के साथ २ इतिहास के भी विद्वान थे। एक बार एक ईरानी यात्री ने किसी इतिहासकार से मिलने को इच्छा प्रगट की। महाराज ने उसे बाँकीदास से मिलाया। उसने जाते समय कहा कि ऐसा इतिहासकार मेरे देखने में नहीं आया वह ईरान का इतिहास मुझसे अधिक जानता है। उनकी मृत्यु संवत् १८६० में हुई।

उन्होंने २७ ग्रंथ बनाऐ हैं। कुछ ग्रन्थ और भी मिलते हैं। २८०० के लगभग ऐतिहासिक बाते भी उन्होंने लिखी हैं। इनकी कविता में नीतिकारों

की भाँति उपदेशात्मकता प्रधान है। इनकी कविता का ऐतिहासिक मूल्य अधिक है, साहित्यिक कम। इनकी कविता के मुख्य विषय शूर, कायर, दानी, मूँजी, व सन्तोषी, चुगलखोर आदि हैं। इनमें स्पष्टवादिता और निर्भीकता पर्याप्त मात्रा में है। कहीं-कहीं भावावेष भी है। भाषा प्रौढ़ ,परिमार्जित और विषयानुकूल है। डिंगल के सभी कवियों की अपेक्षा इनमें प्रसाद गुण सब से अधिक है। अर्थालङ्कारों का बहुत प्रयोग मिलता है। ये वीररस के निरूपण में सिद्धहस्त थे। अपने "भूरजाल भूषण' ग्रंथ में इन्होंने चित्तौरगढ़ का अत्यन्त मार्मिक सबल और लोमहर्षण वर्णन किया है।

वीर काव्य संग्रह

प्रश्न १—पृथ्वीराज रासो के काव्य तत्व का उद्घाटन करते हुए रासो ग्रन्थ परम्परा" मे उसका स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—महाकवि चन्दवरदाई व्याकरण, काव्य, छन्दशास्त्र, पुराण, नाटक आदि विषयों के ज्ञाता थे। "षट भाषाओं" मे उनकी गति थी। कहाजाता है कि उन्हें जालन्धरी देवी का इष्ट था इसलिऐ वे सफलता पूर्वक अदृष्ट की रचना कर सकते थे। उनका रचना कौशल और कल्पना-शक्ति अद्भुत थी। "पृथ्वीराज रासो" में सर्वत्र इनकी इस प्रतिभा के दर्शन होते हैं। समस्त ग्रंथ मे रूप सौन्दर्य वर्णन, सैन्यसञ्चालन, युद्ध कथा और आखेट क्रीड़ा के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। पुनरावृत्ति होने पर भी उसमे नवीनता है। इस महाकाव्य का प्रधान रस वीर है। शृङ्गार उसका सहायक है। पृथ्वीराज की वीरता का प्रदर्शन नायिकाओं के उद्धार और विवाह से सम्बन्धित है। वीररस के सहायक के रूप में रौद्र, वीभत्स, और भयानक रसों के भी वर्णन मिलते हैं। सेना की चढ़ाइयों के वर्णन मे वीररस की स्थापना करते हुए कवि ने अपने अपूर्व वर्णन कौशल का परिचय दिया है। शृङ्गार रस के अन्तर्गत नख-शिख, वयसन्धि' आदि के उद्दीपनरूप के वर्णन अच्छे हुए हैं। "मनहुँ कला ससभान् कला सौलह सो बन्निय" वाले

पद में पद्मावती के सौन्दर्य वर्णनमे कविने रूपकातिशयोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि अलंकारो की सहायता से उसके अनिद्य सौन्दर्य का सजीव रूप उपस्थित कर दिया है। ऐसे वर्णनों कों पढ़कर पता चलता है कि कवि की प्रतिभा नवोन्मेषशालिनी है। वीर और शृङ्गार दोनों के वर्णन में अपूर्व कल्पना शक्ति का अच्छा प्रदर्शन हुआ है।

अलंकारों मे चन्द ने अनुप्रास, उपमा, यमक, श्लेष, आदि सभी प्रचलित अलंकारों को रासो मे स्थान दिया है परन्तु उनके विशेष प्रिय अलंकार रूपक, रूपकातिशयोक्ति, और उत्प्रेक्षा है। रूपकातिशयोक्ति का विशेष प्रयोग नख-शिख वर्णन मे है। शेष अलकार वीर और शृङ्गार रसों के वर्णन में आये हैं और स्वाभाविक है। छन्दों में रासो में चन्द ने गाथा और दूहा के अतिरिक्त त्रोटक, तोमर, छप्पय या कवित्त, अरिल्ल, मोतियादान, भुजंग, प्रयात, पद्धरी, आदि छन्दोका प्रयोग विशेष किया है। 'एक ही समय में कवि ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया हैं। बड़ी बिचित्र बात यह है कि कवि ने विषयानुसार, छन्दो का चुनाव न कर के एक ही छन्द में विभिन्न रसों का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए पद्धरी छन्द में युद्ध का भी वर्णन है और रूप शृङ्गार का भी। शास्त्रीय दृष्टि से यह दोष है।

भाषा के रासो में विविध रूप मिलते हैं। स्वय कवि के अनुसार उसमे "षटभाषा कुरानच, पुरानंच कथितं मया" से छः भाषाओं का प्रयोग है। संस्कृत, अरबी, फारसी, प्राकृत, अपभ्रंश और ब्रज भाषा के रूप रासो मे बराबर मिलते हैं।

हिन्दी के वीर काव्य की परम्परा मे रासो ग्रन्थों का एक विशिष्ट स्थान है। ये दो रूपों में पाए जाते है मुक्तक वीर गीत. और प्रबन्ध काव्य। परन्तु इन ग्रन्थों की अधिकाश सामग्री संदिग्ध है। उनकी घटनाओं का ऐतिहासिक घटनाओं से सामजस्य नहीं मिलता। वीसलदेव रासो और आल्हखण्ड मुक्तक है तथा खुमानरासो, हम्मीररासो और पृथ्वीराज प्रबन्ध है। साहित्यिक दृष्टि से तो सभी रासो ग्रन्थ सदिग्ध माने जाते है और पृथ्वीराज रासो को लेकर तो हिन्दी साहित्य मे एक लम्बा चौड़ा विवाद उत्पन्न हो गया है। जो अभी तक चल रहा है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से

इसका वही महत्व माना जा सकता है जो अन्य ग्रन्थों का है। साहित्यि दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ इन सब में श्रेष्ठ माना जाता है। इसका सा काव्य सौन्दर्य अन्यत्र दुर्लभ है। खुमानरासो एवं हम्मीररासो तो रस की तुलना मे अत्यन्त साधारण कोटि की कृतियाँ प्रतीत होती हैं। उनमें न भाषा सौन्दर्य मिलता है न भाव सौन्दर्य। काव्य कला के क्षेत्र में यह उनसे बहुत श्रेष्ठ है। अतः साहित्यिक दृष्टि से रासो ग्रन्थों की परम्परा में पृथ्वीराज रासो सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है।

प्रश्न २—पृथ्वीराज रासो की भाषा के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक लिखिए।

उत्तर—इसकी भाषा के सम्बन्ध में बड़ा मत भेद है। कोई इसे डिंगल मानता है और कोई पिंगल। मिस्ठर ग्राउज के अनुसार रासो की भाषा १६वीं शताब्दी में साहित्य में प्रयुक्त होने वाली ब्रज भाषा है। वह न अपभ्रंश है और न राजस्थानी। इसमें वीर रसात्मक स्थलों पर कृत्रिम डिंगल के शब्द रखकर उसमें कर्कशता उत्पन्न करने का प्रयत्न करने से अपभ्रंशाभास आ जाता है। अनेक स्थलों पर प्राचीन राजस्थानी के रूप मिलते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान तासी, रासो की भाषा को कन्नौजी मानते हैं। डाक्टर ग्रियर्सन तथा टेसाटरी पश्चिमी हिन्दी मानते हैं। डा० दशरथ शर्मा और मनिराम रंगा के मत से मूल रासो अपभ्रंश में लिखा गया था। इन विद्वानों के मत के साथ साथ रासोकार की अपनी भाषा के सम्बन्ध में निम्न सम्मति है :—

> "उक्ति धर्म विशालस्य, राजनीतिः नवरसः।
> षड्भाषा पुरान च कुरान, कथित मया॥"

कविवर भिखारीदास के अनुसार ये छः भाषाएँ है "ब्रज मागधी मिले अमरनाग यमन भाखानि। सहज पारसी हू मिले षद विधि कहत बखानि॥" इसमें अमर-संस्कृत, यमन-अरबी को कहते हैं। नाग का क्या अभिप्राय है यह पता नहीं चलता। वशभास्करकार सूर्यमल्ल ने भी अपनी भाषा को षट भाषा कहा है। जो कुछ हो इतना तो सही है कि रासो की भाषा में

विभिन्नता है।

कुछ उदाहरणों से भाषा के विविध रूप स्पष्ट हो जायेंगे। "नमः समवाय सरव्व.य वाय। नमो रुद्र पायं वरद्दाय सायं।" में प्राचीन प्राकृत के रूपों और अपभ्रंश की प्रवृति मिलती है। नीचे की पक्तियों में संस्कृताभास के लिये अनुस्वारों की भरमार की गई है। ऐसा लालित्य और अनुप्रास लाने के लिए किया जाता है।

"विहसत वर लगन लिन्नो नरिद। वजी द्वार द्वार सु आनन्द दुन्द॥
कड नम नूपं अनोपं सुलाल। रंग पंच रंग ढलकत ढाल।"

"मनहु कला ससिभान कला सोलह सो वन्निय" पदों में संस्कृत के शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग मिलता है। 'एक पहर में सावत प्यारे'। लोक हजार पाँच तहँ मारे।" में क्रिया एवं संज्ञा के सभी रूप आधुनिक ब्रजभाषा के है। इसके अतिरिक्त :—

'कहिमत मालीन महरवान। चेहुआन वस दिली भान॥
मादल महल में बसे जाय। षिज मत्तदार समुसियत धाय॥

यहाँ महरबान खिजमत्तदार (खिदमतगार) आदि फारसी शब्दोका प्रयोग है। यह रासो की फारसी सश्लिष्ट शैली है। भाषा के इन्हीं विविध रूपों का होना भी रासो की प्रामाणिकता में संदिग्धता उत्पन्न करने का एक कारण है।

प्रश्न ३—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता का विवेचन कीजिए।

उत्तर—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता का प्रश्न हिन्दी साहित्य का सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय बना हुआ है। इसके विषय में विभिन्न उच्चकोटि के विद्वानो के इतने मत प्राप्त हुए हैं कि उनसे हिन्दी साहित्य के इतिहास का विद्यार्थी यह नहीं निश्चय कर पाता कि किस मत को सत्य माना जाय। अतः विवेचन की सुविधा के लिए आलोचको ने मतो की समानता के आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित कर लिया है जो निम्नलिखित हैं—

प्रथम वर्ग—रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक और पृथ्वीराज की समकालीन रचना मानता है। इस पक्ष में श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद

मथुराप्रसाद दीक्षित, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, मिश्रबन्धु, मोतीलाल मेनारिया आदि है। इनमें से कुछ रासो में प्रक्षिप्त अ शो का बहुत बड़ी सख्या में होना भी मानते हैं।

द्वितीय वर्ग—रासो को सर्वथा अप्रमाणिक रचना मानता है। वह पृथ्वीराज के दरबार में चन्द्र कवि का अस्तित्व तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना भी नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थकों में कविराजा श्यामलदास, कविराजा मुरारिदीन, गौरीशकर हीराचन्द ओझा, डाक्टर बूलर, मारिसन, मु शी देवीप्रसाद, श्री अमृतलाल शील तथा रामचन्द्र शुक्ल हैं।

तृतीय वर्ग—यह पक्ष मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नामक कवि था जिसने रासो लिखा था किन्तु वह अपने मूल रूप में अप्राप्य है। आज उसका परिवर्तित एवम् परिवर्द्धित विकृत रूप भी उपलब्ध है इस पक्ष के समर्थको में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिन विजय, अगरचन्द नाहटा, डा दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख हैं।

चतुर्थ पक्ष—मानता है कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था परन्तु उसने प्रबन्ध रूप में रासो की रचना नहीं की। जैन ग्रन्थमाला में प्राप्त पदों को उसकी फुटकल रचना मानता है। नरोत्तम स्वामी का यही मत है।

रासो की अप्रामाणिकता का प्रश्न सबसे पहले कविराजा श्यामलदास ने उठाया था। इस पर पण्ड्या जी ने रासो का पक्ष ग्रहण किया। आगे चलकर ओझाजी ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर रासो को जाली ग्रंथ घोषित किया। कुछ वर्ष हुए मुनि जिन विजय जी को 'पुरातन प्रबन्ध सग्रह' में अपभ्रंश भाषा में लिखित चन्द के चार छन्द मिले। इससे अनुमान लगाया गया कि रासो पूर्णतः जाली नहीं है। रासो का वृहद रूप ही अब तक प्राप्त था परन्तु अब उसकी दो लघुतम प्रतियाँ मिली हैं जिनके आधार पर पं० मथुरा-प्रसाद दीक्षित और दशरथ शर्मा ने रासो को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया हैं। आजकल अधिकाँश विद्वानों का मत यही है कि रासो लिखा अवश्य गया था परन्तु श्रव्य काव्य होने से उसके वर्तमान रूप में बहुत परिवर्तन हो गया है।

रासो को अप्रामाणिक मानने के दो मूल कारण हैं—घटना वैषम्य और काल वैषम्य। इसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रांतियाँ हैं, जिनका आधार अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र और पृथ्वीराज विजय नामक ग्रन्थ हैं। घटना वैषम्य के प्रधान कारण यही हैं। रासो में दिये गये अधिकाश नाम और घटनायें इतिहास समस्त प्रमाणित नहीं होतीं। रासो में परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रिय अग्निवंशी माने गये हैं। परन्तु प्राचीन ग्रंथों एव शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं। साथ ही चौहानों की वशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामन्तों के नाम आदि भी ऐतिहासिक शिलालेखो एवं पृथ्वीराज विजय से भिन्न और अशुद्ध है। पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की दुहिता नहीं थीं और न जयचन्द ही अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौरवंशीय था। शिलालेखों में जयचन्द सर्वत्र गहरवार क्षत्रिय बताया गया है। ओझा जी पृथ्वीराज और जयचन्द की शत्रुता एव सयोगिता-स्वयम्बर को भी कल्पना मानते हैं। इतिहास के अनुसार न तो पृथ्वीराज की माता का नाम कमला था और न उस समय अनङ्गपाल दिल्ली का राजा ही था। पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राना समरसिंह के साथ भी नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखो से यह प्रमाण मिल चुके हैं कि समरसिह पृथ्वीराज के उपरान्त १०६ वर्ष तक जीवित रहे। गुजरात के राजा भीम का पृथ्वीराज द्वारा वध होना भी गलत है क्योंकि राजा भीम के एक दानपत्र से यह सिद्ध होता है कि वह पृथ्वीराज की मृत्यु के उपरान्त ५० वर्ष तक जीवित रहा था। इसी प्रकार पृथ्वीराज के विवाह आदि का वर्णन भी इतिहास विरुद्ध ठहरता है। इसी प्रकार शहाबुद्दीन द्वारा समरसिह का वध और पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी अनैतिहासिक है।

काल-वैषम्य—दूसरा कारण यह है कि रासो मे दी गई सभी तिथियाँ अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिये गये सवतों और ऐतिहासिक साधनों द्वारा प्राप्त सम्वतो मे १०० वर्ष का अन्तर है। रासो मे पृथ्वीराज की मृत्यु का सम्वत् ११५८ है जब कि इतिहास से वह सम्वत् ११४८ है। जन्म रासो में स० १११५ है इतिहास से वह १२२० ठहरता है। इसी प्रकार आबू

पर भीम चालुक्य के आक्रमण, शहाबुद्दीन के साथ पुराडौर युद्ध आदि की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के जीवन की घटनाएँ पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, मेवाती मुगल युद्ध, सयोगिता स्वयम्वर आदि घटनाओं का सं० १४६० के आसपास रचित हम्मीर महाकाव्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गोरी सम्वत् १२४६ में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परन्तु इतिहास के अनुसार सम्वत् १२६३ में गक्खरो द्वारा उसका वध किया गया था। अतः इस अनैतिहासिकता के कारण रासो को जाली ग्रन्थ ठहराया गया है क्योंकि यदि चन्द्र पृथ्वीराज का समकालीन होता तो उससे इतनी भयङ्कर भूलें असम्भव थीं।

रासो का निर्माण किस काल मे हुआ इसके सम्बन्ध मे ओझा जी का मत है कि १४६० में रचित हम्मीर महाकाव्य में रासो का आधार ग्रहण नहीं किया गया। अतः रासो की रचना उसके उपरान्त हुई होगी। मुगल-मेवाती युद्ध के वर्णन से भी वह १४५५ और १५८७ के बीच का ही ठहरता है। ओझा जी के अनुसार रासो की सब से प्राचीन प्रति सं० १६४२ की है। अतः रासो का निर्माण काल स० १६०० के लगभग है। बाबू रामनरायन दूगड़ को प्राप्त एक पुस्तक के अन्तिम छन्द से ज्ञात होता है कि चन्दके छन्द जगह-जगह पर बिखरे हुये थे जिसका संकलन महाराणा अमरसिंह ने कराया था। इसकी पुष्टि महाराणा राजसिंह निर्मित नौ चोकी बाँधके स० १७३२ के शिलालेख से भी हो जाती है। परन्तु पण्डित हरप्रसाद शास्त्री को रासो की एक प्रति चन्द के वशधर नेनूराम जी के पास मिली थी जिसका रचना-काल स० १४५५ है। मोतीलाल मेनारिया का मत है कि अठारहवीं शताब्दी से पूर्व के किसी भी भाषा ग्रन्थ में रासो का उल्लेख नहीं है। राजसिंह की 'राज प्रशस्ति' का लिखना स० १७१८ मे प्रारम्भ हुआ था। अतः इसी समय के लगभग रासो का निर्माण काल माना जा सकता है।

रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् रासोमें प्रक्षिप्त अंश का होना तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे पूर्ण रूपेण जाली नहीं मानते। वे इस बात को भी मानते हैं कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। ओझा जी चन्द का होना तो मान लेते हैं परन्तु उसे पृथ्वीराज का समकालीन नहीं

मानते। मिश्रबन्धुओं का मत है कि नागरी प्रचारणी सभा की ओर से प्रकाशित पट्टे परवानों से इन भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है परन्तु ओझा जी इन्हें भी जाली मानते हैं। पण्ड्या जी ने अनन्द सम्वत् की कल्पना कर बताया है कि रासो की सभी घटनाओ में ६० वर्ष जोड़ देने से सम्वत् ठीक हो जाते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा करने पर भी तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं। श्यामसुन्दरदास का कथन है कि चन्द पृथ्वीराज का दरबारी कवि था। समयानुसार उसके लिखे हुये रासो की भाषा और वर्णित विषयो में बहुत परिवर्तन हो गया है। परन्तु उनकी इस राय का कोई पुष्ट आधार नहीं है। पहले आचार्य शुक्ल श्यामसुन्दरदास से सहमत थे किन्तु बाद में उन्होने लिखा कि—"इस सम्बन्ध मे इसके अतिरिक्त और कुछ कहने को जगह नहीं कि यह ग्रन्थ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर उधर चन्द के कुछ पद्य भी बिखरे हो। पर उनका पता लगाना असम्भव है। यदि यह किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अन्श ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और इसमें कुछ सम्वत् तो ठीक होते।"

घटना-वैषम्य और काल वैषम्य के अतिरिक्त दो कारण और हैं जिनसे यह अप्रामाणिक ठहरता है। प्रथम कारण रासो मे अरबी फारसी के बहुत से शब्दों का प्रयोग है जो चन्द के समय मे किसी प्रकार व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चन्द के समय की न होकर १६ वीं शताब्दी की ठहरती है। परन्तु रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानो का कथन हैं कि उस समय मुसलमानो के आक्रमण प्रारम्भ हो गए थे। अतः लाहौर का निवासी होने के कारण चन्द की भाषा मे उन शब्दो का प्रयोग उचित और तर्क सङ्गत है। दूसरा कारण अनुस्वारात शब्दो की भरमार है। प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द रूपावली का कोई विचार नहीं है और नये पुराने ढंग की विभक्तियाँ बुरी तरह मिली हुई हैं। भाषा मे कही सोलहवीं शताब्दी के और कहीं प्राचीन भाषा के दर्शन होते है। समर्थक विद्वान् इसे प्रक्षिप्तांश का कारण मानते हैं।

अब तक रासो के चार रूपान्तर प्राप्त हुए हैं। प्रथम में लगभग एक

लाख छन्द, द्वितीय में दस हजार छन्द, तृतीय में चार हजार छन्द और चतुर्थ में दो हजार छन्द हैं। सर्व प्रथम मुनि जिन विजय ने इस बात पर जोर दिया कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी। क्योंकि 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में रासो के चार छन्द ऐसे मिले जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं। जिस प्रति से ये छन्द उधृत किये गए हैं वह पन्द्रहवीं शताब्दी की है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि—"इन पद्यों के प्रकाशन के बाद से अब इस विषय मे किसी को सन्देह नहीं रह गया है कि चन्द नामक कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रन्थ भी लिखा है। सौभाग्यवश वर्तमान रासो में भी ये छन्द कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गये हैं। इस पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द के मूल छन्द अवश्य मिले हुए हैं।"

डाक्टर दशरथ शर्मा ने रासो के ऊपर बहुत परिश्रम किया है। अपने लम्बे और कठोर परिश्रम के उपरान्त वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था अतः वह प्रामाणिक है। उन्होने रासो को अप्रामाणिक बताने वाले विद्वानों के मतो का खण्डन करते हुए उसे प्रामाणिक माना है। उनके तर्क निम्नलिखित हैं—

१—मूल रासो न तो जाली ग्रन्थ है और न उसकी रचना सं० १६०० के आस पास हुई थी। इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना-वैषम्य, काल-वैषम्य एव भाषा सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान हो जाता है। इन प्रतियों में इतिहास विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओ का कहीं भी उल्लेख नहीं है। २—राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। सुर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ मे भी यह कथा इसी प्रकार है। ३—ओझा जी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर की लघुतम प्रति में नहीं है। 'पृथ्वीराज विजय' मे और इस प्रति की वंशावली में कुछ ही नामों का अन्तर है। ४—अनङ्गपाल और पृथ्वीराज के सम्बन्ध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्मा जी इसका कोई कारण नहीं बता सके हैं। ५—संयो-

गिता स्वयम्बर का वर्णन सभी प्रतियों में विस्तार पूर्वक है। लघुतम प्रति में केवल इञ्छिनी के विवाह का ही वर्णन है। ६—पृथा का विवाह तथा शहाबुद्दीन साँभरसिंह युद्ध और भीम सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और सोमेश्वर के युद्ध का इस प्रति में कहीं उल्लेख नहीं। उसमें पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा भी नहीं है। ७—लघुतम प्रति में कैमास वध का वर्णन है। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। वह मूल रासो की कथा है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। परन्तु लघुतम प्रति भी दो घटनाओं की शुद्धता नहीं प्रमाणित कर सकी है। शर्मा जी के पास पृथ्वीराज का अनङ्गपाल तोमर का नाती होने का और इञ्छिनी के विवाह का प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त सयोगिता स्वयंवर और चौहानों की उत्पत्ति भी सन्देहास्पद है। रासो विषयक इतनी लबी खोजों और विवादों के उपरान्त भी हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह निश्चय करना दुस्तर है कि रासो जाली है अथवा असली। हजारीप्रसाद जी के शब्दों में—"इस निरर्थक मन्थन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है उसे पार कर के ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव सा व्यापार हो गया है।'

प्रश्न ४—नरपति नाल्ह का सक्षिप्त परिचय देते हुए 'बीसलदेव रासो' की सक्षिप्त आलोचना कीजिए।

उत्तर—कई विद्वानों का मत है कि 'बीसलदेव रासो' का रचयिता नरपति नाल्ह बीसलदेव का समकालीन था तथा अन्य दूसरे विद्वान उसे बीसलदेव का समकालीन नहीं मानते हैं। इस कवि का नाम 'नरपति नाल्ह' अथवा परिचय 'नाल्ह' है। कवि ने ग्रन्थ में इन दोनों नामों का प्रयोग किया है जैसे—"कर जोड़े 'नरपति' कहई" तथा "नाल्ह कहइ जिण लावइ खोड़ि" आदि। कवि को जाति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। आचार्य शुक्ल उसे 'भाट' मानते हैं। अपने ग्रन्थ में उसने कहीं कहीं कहीं अपने लिए 'व्यास' शब्द का भी प्रयोग किया है—"नरपति 'व्यास'

कहइ कर जोड़ि" । इसी 'व्यास' शब्द के आधार पर 'बीसलदेव रासो' के सम्पादक ने कवि को 'भाट' माना है । श्री अगरचन्द नाहटा ने इसी 'व्यास' शब्द के आधार पर उसे ब्राह्मण माना है। उनका मत है कि—"बीसलदेव रासौ के रचयिता नरपति नाल्ह को श्री सत्यजीवन वर्मा और श्री रामचन्द्र शुक्ल 'भाट लिखते हैं, पर ग्रन्थ में स्पष्ट उसे 'व्यास' या 'जोइसी' लिखा है। राजपूताने में ये दोनों जातियाँ ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत हैं। हमें नाल्ह ब्राह्मण ही जान पड़ता है। ' डाक्टर उदयनारायण तिवारी भी इस मत से सहमत हैं। उनका कथन है कि—"यदि वास्तव में व्यास तथा जोइसी, वर्तमान काल में भी, राजस्थानी ब्राह्मणों के अन्तर्गत मिलते हैं तो उसे भाट बनाने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता।" श्री मोतीलाल मेनारिया भी इसी मत के समर्थक हैं। उनका मत है कि—"इनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में हमारी जानकारी प्रायः नहीं के बराबर है। कोई इन्हें राजा और कोई भाट बतलाते हैं। परन्तु ये सब अनुमान ही अनुमान हैं। कोई सुदृढ़ ऐतिहासिक आधार अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। 'व्यास' शब्द का समर्थन करते हुए वे आगे लिखते हैं कि—"व्यास जाति राजस्थान में ब्राह्मण जाति के अन्तर्गत मानी जाती है और इसी का दूसरा नाम सेवग या भोजक जाति है। अतः नरपति का ब्राह्मण होना स्पष्ट है।"

पृथ्वीराज रासो के समान बीसलदेव रासो की प्रामाणिकता के विषय में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। अब तक 'बीसलदेव रासो' का काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित केवल एक ही संस्करण उपलब्ध है। उसका सम्पादन दो प्राचीन प्रतियों के आधार पर श्री सत्यजीवन वर्मा ने किया है। इनमें से एक प्राचीन प्रति सम्वत् १६६६ की है। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार इस ग्रन्थ की कुल पन्द्रह हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं जो स्थानों से प्राप्त की गई हैं। इनमें प्राचीनता की दृष्टि से सबसे पुरानी प्रति जयपुर की विद्या प्रचारिणी जैन-सभा से प्राप्त हुईहै जिसका लिपिकाल सं० १६६६ है। इसके बाद बालोतरा की प्रति है जिसका काल सं० १६८५ है। शेष प्रतियों में कुछ १८ वीं शताब्दी की हैंतथा दो उन्नीसवीं शताब्दी की।

इन प्रतियों के मिलान करने से इस ग्रन्थ के दो भिन्न भिन्न रूपान्तर हो गए, ज्ञात होते हैं। इनमें पर्याप्त अन्तर भी है। परन्तु कवि का नाम, भाषा शैली आदि दोनों की एक सी ही है। पहले रूपान्तर के अनुसार इसका रचनाकाल—"बारह सै बहोतरों" है और दूसरे के अनुसार—"सहस सतिहत्तर" या "सहस तिहत्तर" है। नाहटा जी दूसरे रूपान्तर को ही अधिक प्राचीन और प्रामाणिक मानते हैं। द्वितीय रूपान्तर पहले की अपेक्षा संक्षिप्त है। उसमें कई व्यर्थ की घटनाओं तथा वर्णनो का भी उल्लेख नहीं है। कालान्तर में बाद के कवियो और गायको ने इस संक्षिप्त रूप को विस्तार देकर अनेक नवीन घटनाओ से सुसज्जित कर दिया जो तत्कालीन प्रवृत्ति को देखते हुए अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है।

इस ग्रन्थ के निर्माण काल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद है। नाहटा जी ने इसकी भिन्न भिन्न प्रतियो के आधार पर इसका रचनाकाल सम्वत् १०७३, १०७७, १२१२, १२७३ और १३७३ या १३७७ माना है। प्रथम रूपान्तर की प्रतियो में तेरहवीं शताब्दी तथा द्वितीय रूपान्तर की प्रतियों में ग्यारहवीं शताब्दी की तिथियाँ मिली हैं। नाहटा जी सम्वत् १२७२ को ही ठीक मानते हैं। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा भी इसे इसी समय की रचना मानते हैं। उन्होंने 'बहत्तरों' का अर्थ ७२ से ही लिया है। आपके अनुसार राजस्थानी भाषा में इसका यह अर्थ ही समीचीन है। परन्तु "बारह सै बहत्तरा' का अर्थ मिश्रबन्धु १२२० से लेते हैं। उनका कथन है कि—"नरपति नाल्ह ने इसका समय १२२० लिखा है। पर जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रन्थ निर्माण की लिखी है वह १२२० सम्वत् में बुधवार को नहीं पड़ती, परन्तु १२२० शाके बुधवार को पड़ती है। इससे सिद्ध होता है कि रासो १२२० शाके में बना जिसका विक्रमी सम्वत् १३५४ पड़ता है।" बाबू श्यामसुन्दरदास पहले "बारहसै बहत्तरांहां" को १२२० शक सम्वत् मानते थे परन्तु बाद में वे उसका अर्थ १२१२ विक्रमी सम्वत् मानने लगे। आचार्य शुक्ल भी १२१२ ही मानते हैं। १२१२ मानने से वीसलदेव और नरपति नाल्ह समकालीन प्रमाणित हो जाते हैं। ग्रन्थ में सर्वत्र वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग इसका प्रमाण है। इन विद्वानो ने इस ग्रन्थ के

नायकको विग्रहराज (चतुर्थ) माना है जिसका सम्वत् १२२० तक रहना अनेक शिलालेखों से प्रमाणित है। सत्यजीवन वर्मा भी १२१२ ही मानते हैं। इस प्रकार इसको १२७२ मानने वालों में प्रमुख ओझा, नाहटा, लाला सीताराम हैं। १२१२ मानने वालों में आचार्य शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, सत्यजीवन वर्मा हैं। मिश्रबन्धु उसे १३५४ की रचना मानते हैं। डाक्टर उदयनारायण तिवारी वि० सं० १२७२ ही मानते हैं।

श्री मोतीलाल मेनारिया और डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी इस ग्रन्थ को उस काल की रचना न मानकर सोलहवीं शताब्दी की मानते हैं। मेनारिया जी का मत है कि इस ग्रन्थ में इतिहास सम्बन्धी अनेक ऐसी भूलें हैं जिनका समकालीन कवि की रचना में होना असम्भव है। साधारणतः नरपति को 'बीसलदेव रासो' के चरित्र नायक अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव अर्थात् विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन माना जाता है जिनका शासन काल सं० १२१०—१२२१ है। मेनारियाजी ने अनेक घटनाओं का विवरण देकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि इसकी अनेक घटनाएँ इतिहास सम्मत नहीं है अतः इसे १३ वीं शताब्दी की रचना नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार इसकी भाषा भी तेरहवी शताब्दी की न होकर सोलहवीं शताब्दी की है। मेनारियाजी नरपति नाल्ह को गुजराती कवि 'नरपति' से अभिन्न नहीं मानते क्योंकि इन दोनों की भाषा में अद्भुत साम्य है। इस कवि के ग्रन्थ १५४५ से १५६० तक के पाये गए हैं अतः बीसलदेव रासो का रचनाकाल भी सं० १५४५—६० के लगभग मानना चाहिए। डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी भी नरपति नाल्ह को बीसलदेव का समकालीन नहीं मानते। उनका मत है कि—"वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। राजपूताने के साहित्य में इस प्रकार की वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग बराबर होता आया है।" अतः उन्होंने भी मेनारिया जी के मत का समर्थन करते हुए इसे सोलहवीं शताब्दी की रचना माना है।

नरपति नाल्ह अत्यन्त साधारण श्रेणी का कवि था। इस ग्रन्थ का मूल रूप प्राप्त रूप से किसी भी दशा में सुन्दर नहीं रहा होगा। इसमें न तो

किसी प्रकार का साहित्यिक-सौष्ठव ही है और न वर्णन ही रोचक है। घटनाओं का वर्णन नितान्त साधारण और अक्रमिक शैली में किया गया है। उनमें विचारों की शृङ्खला नहीं है। यह वर्णनात्मक काव्य है। इसमें दो घटनाएँ हैं—(१) बीसलदेव का धार के राजा भोज की कन्या से विवाह और (२) रूठ कर उड़ीसा जाना। बीसलदेव एक प्रतापी राजा था पर नाल्ह ने उसकी वीरता का वर्णन न कर शृङ्गार को ही प्रधानता दी है। शृङ्गार रस की दृष्टि से विवाह और राजा के रूठ कर उड़ीसा जाने आदि का मनमाना वर्णन है। अतः आचार्य शुक्ल के शब्दों में—"इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है।" मेनारिया जी का मत है कि—"हिन्दी के विद्वानों ने इसे वीर रस की रचना बतलाकर इसकी गणना हिन्दी साहित्य के वीर गाथा काल के अन्तर्गत की है। परन्तु इसमें एक पंक्ति कहीं वीर रस की नहीं है। सारे ग्रन्थ में राजमती के विरह का वर्णन कुछ ऐसा है जिसमें काव्यत्व की हलकी सी झलक दिखाई देती है। शेष सारा ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से बहुत निम्न कोटि का है।" बीसलदेव तृतीय तथा चतुर्थ दोनों बड़े प्रतापी शासक थे किन्तु नाल्ह ने कोरे शृङ्गार के अतिरिक्त अपने चरित्र-नायक के शौर्य पराक्रम का कोई वर्णन नहीं किया है।

गीतिकाव्य होने के कारण कवि ने इसे काव्य की सरस उक्तियों से सुसज्जित किया है और सयोग और वियोग के मनोहर चित्र उपस्थित किए हैं—परन्तु कहीं कहीं हीं, सर्वत्र नहीं। कथा गीत रूप में होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिए हुए है। डा० श्यामसुन्दरदास इसे प्रेम गाथा मानते हैं। मेनारियाजी के शब्दों में—"बीसलदेव रासो एक छोटा सा वर्णनात्मक काव्य है। इसकी भाषा बोलचाल की राजस्थानी भाषा है। कविता बहुत साधारण तथा कथा भाग अधिकतः अनैतिहासिक है। और छन्द भग तो इतना है कि समस्त ग्रन्थ में शायद ही कोई छन्द ऐसा हो जो पिंगल शास्त्र की दृष्टि से ठीक ही।" मेनारिया जी की उपर्युक्त समीक्षा कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी इस ग्रन्थ के वास्तविक गुणों और विशेषताओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। लोकरञ्जन के लिए इस ग्रन्थ में काव्य का

सौन्दर्य मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से अनेक प्रसङ्गों में सजाया गया है। उसमें जीवन के स्वाभाविक विचार, गृहस्थ जीवन के सरल विश्वास, जन्मान्तरवाद, शकुन विचार, विभिन्न संस्कार, बारहमासा आदि का सरस वर्णन किया गया है। स्थानीय प्रथाओं और व्यवहारो का भी कुछ सीमा तक सरस वर्णन है जिससे राजस्थान के ग्रामीण जीवन एवं सामन्तोय जीवन का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। इस प्रकार इस काव्य में स्थानीय अनुरञ्जन (लोकल कलर) विशेष मात्रा में है। यह ठीक है कि कवि की कवित्व शक्ति सम्पन्न नहीं थी। परन्तु फिर भी उसने पूरी ईमानदारी के साथ अपनी सीधी सादी भाषामें जो वर्णन किया है वह किसी सीमा तक सरस है। कवि का छन्द शास्त्र, कवि प्रसिद्धियों और कवि रूढ़ियों का ज्ञान नहीं के बराबर है फिर भी उसकी स्वाभाविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

रस की दृष्टि से यह ग्रन्थ शृङ्गार रस प्रधान काव्य है। किन्तु इसके साथ ही साथ हास्य, रौद्र और शान्त रस के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। अलंकारों का प्रयोग भी सुन्दर हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक प्रधान अलंकार हैं।

बीसलदेव रासो की भाषा के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। नाहटाजी लिखते हैं कि—"बीसलदेव रासो की भाषा सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा है। जिन विद्वानों ने ग्यारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक की राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया है उनका यह मत हुए विना नहीं रह सकता।" आचार्य शुक्ल का मत है कि—"यद्यपि गाने की चीज होने के कारण मूल रासो की भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेर फार होता रहा है किन्तु लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है।" इस कथन की पुष्टि में आपने रासो में प्रयुक्त कुछ शब्दों की ओर सकेत किया है; जेसे—चितह=चित्त मे, रणि=रण मे, नयर=नगर, पसाउ=प्रसाद, पयोहर=पयोधर आदि। ओझा जी इसकी भाषा में प्राचीनता के चिन्ह पाते हैं। आपके अनुसार इसकी भाषा बारहवीं तेरहवीं शताब्दी की है। आपने अपने मत का समर्थन करते हुए प्रसिद्ध विद्वान मेरुतुङ्गाचार्य कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक प्रसिद्ध ग्रथ में दिए हुए

दोहों से बीसलदेव रासो की भाषा का मिलान किया है। दोनों ग्रन्थों में सर्वनाम, क्रिया, संज्ञा आदि के एक से रूपों का ही प्रयोग हुआ है। प्रबन्ध चिन्तामणि का रचनाकाल सम्बत् १३६१ है। अतः बीसलदेव रासो उससे पूर्व की अथवा समकालीन रचना हो सकती है।

नरपति नाल्ह ने इस ग्रन्थ की रचना अपनी मातृभाषा राजस्थानी में की है। यह कवि न तो भाषा का पण्डित था और न कोई प्रसिद्ध कलाकार ही। अतः बोलचाल की मातृभाषा का प्रयोग उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। पृथ्वीराज रासो की भाषा से बीसलदेव रासो की भाषा अपेक्षाकृत प्राचीन है। कारकों की विभक्तियाँ प्राचीन रूप लिए हुए ही हैं। जैसे 'ने' की जगह 'नी', 'नइ'; 'में' की जगह 'मह', मंझारि; 'का', 'की', 'के' स्थान पर 'तण', 'तणी', 'तणौ', 'कई', कै आदि। क्रियाओं के रूप भी दोनों प्रकार के हैं। एक तो सहायक क्रिया 'हूँ', हई, छई के सयोग से जैसे—प्रथम पुरुष में 'करूँ हूँ' आदि। अन्य पुरुष में 'दूषइ छई', 'बरसइ छइ' आदि। राजस्थानी उच्चारण के अनुसार 'न' के स्थान पर प्रायः 'ण' हो जाता है। इसमें भी सर्वत्र 'ण' का ही प्रयोग है जैसे—मसाण, बाहिणी आदि। इसमें अधिकांश शब्द तद्भव हैं। कहीं कहीं तत्सम् शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे—हस, नन्दन, त्रिभुवन, गुण, विनायक आदि। कहीं कहीं प्राकृत और अपभ्रंश का भी प्रभाव है जैसे—मृग=मिग, भ्रमर=भमर, प्रसाद=पसाउ, आदि। क्रियाओं में भी अपभ्रंश और प्राकृत का प्रभाव है जैसे भ्रमति=भमइ, प्रविशति=पइसइ आदि। इसमें कुछ अरबी फारसी आदि विदेशी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जैसे—इनाम, ताजी, खुरासान, महल, किस्मत आदि। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ की भाषा उस समय की बोलचाल की राजस्थानी भाषा के अधिक समीप है। इसके क्रिया, कारकों, शब्दों के रूपों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचना काल १२७०—१३०० के लगभग होना चाहिए।

इसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है परन्तु जिस प्रकार हम इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' का सम्मानपूर्वक उल्लेख करते हैं कि वह खड़ी बोली गद्य की सबसे प्राचीन कहानी है और उसमें प्रारम्भिक कालीन

गद्य का उगता स्वरूप मिल जाता है उसी प्रकार डाक्टर उदयनारायण तिवारी के शब्दों में—"केवल इस बात में इस रचना (बीसलदेव रासो) का थोड़ा सा साहित्यिक मूल्य है। वह यह कि यदि सब विद्वान, निश्चित रूप से इसको सं० १२७२ की रचना मान लें तो यह साहित्य की प्राचीनतम उपलब्ध कृति मानी जायगी।"

प्रश्न—५—भूषण की रचनाओं का परिचय देते हुये उनके काव्य की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

उत्तर—भूषण के तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं—शिवराज भूषण, शिवा बावनी और छत्रसाल दशक। इनके अतिरिक्त तीन ग्रन्थों का और उल्लेख किया किया जाता है-भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, और भूषण हजारा परन्तु ये अप्राप्य हैं। शिवराज भूषण अलंकार ग्रन्थ है। रीतिग्रन्थ और अलंकार निरूपण की दृष्टि से यह साधारण ग्रथ है। अनेक स्थानों पर लक्षण और उदाहरण दोनों की न्यूनता हैं। ओज होते हुए भी भाषा अव्यवस्थित है। वाक्य रचना में व्याकरण के नियमों का प्रायः उल्लघन है। शब्दों के रूप विकृत करने में पूर्ण मनमानी की है। शिवाजी से सम्बन्धित ५२ छन्द हैं। इसमें शिवाजी के प्रताप और शौर्य का अत्यन्त ओज पूर्ण भाषा में वर्णन किया गया है। वीर रस प्रधान है। छत्रसाल दशक में महाराज छत्रसाल की प्रशंसा में वीर रस प्रधान दस कवित्त हैं। अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

कवि के रूप में भूषण को अपने युग का प्रगतिशील कवि माना जा सकता है। उन्होंने सुप्त एवं निर्बल हिन्दू जाति में जागृति उत्पन्न करने के लिए, प्रचलित रीतिकाल की परम्परा को त्याग कर एक सर्वथा नवीन पथ का अनुसरण किया। रीतिकाल के वे वीर रस के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते है। उन्हें महा कवि की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। भूषण का प्रधान रस वीर रस है। यद्यपि उन्होंने अपने आश्रय दाताओं की ही प्रशसा की है, परन्तु इस प्रशसा में चाटुकारी का भाव न होकर उन्हें वीर नायक के रूप में प्रस्तुत करने का ही एक मात्र उद्देश्य लक्षित होता है। उनके वर्णन में अतिशयोक्ति के साथ सत्य का अंश भी बहुत हैं। रीतिकालीन शृंगारिक

वातावरण में वीर रस की उद्भावना मे सफल होना उन जैसे कवि का ही काम था। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के वे प्रथम राष्ट्र कवि थे। वीर रस के वर्णन में आपने युद्ध वीर, दानवीर, त्यागवीर, और धर्मवीर चारों प्रकार के वीरो के गुण अपने नायक शिवाजी और छत्रसाल मे स्थापित किये हैं। युद्ध वर्णन के चित्र लोम हर्षक और उत्तेजना पूर्ण हैं। यहा उन्होंने ऊहात्मक प्रणाली का आश्रय लिया हैं। बीर रस के सहायक भयानक और रौद्र दोनों का भी अच्छा परिपाक हुआ है।

भूषण की अलकार योजना मौलिक है। उनकी कविता में न तो प्राचीन युक्तियों का ही पिष्टपेषण है और न नवीन युक्तियो की ही भरमार है। आपका शिवराज भूषण अलकार ग्रन्थ है। परन्तु अलकार निरूपण की दृष्टि से उसे उत्तम ग्रन्थ नहीं माना जाता। उन्होंने अलकारों की अधिक चिन्ता नहीं की है। उन्हें अलकारों में अपनी प्रतिभा व्यय करने का अवकाश नहीं था। इस ग्रन्थ में उन्होंने अलकारों को तो छोड़ दिया है और केवल लक्षण मात्र ही दिये हैं। घटनाओं में स्वाभाविक रुप से ही अलकार आये हैं। उन्होंने एक नवीन अलकार की भी उदभावना की है। उसका नाम है "भाविक छवि"। आचार्य शुक्ल ने भी थोड़े से अन्तर के साथ उसे नवीन उदभावना माना है।

छन्दों में भूषण ने प्राय. कवित्त, सवैया और छप्पय का ही प्रयोग किया है। यह तीनों ही छन्द वीर रस की उदभावना के लिये सबसे उत्तम साधन माने जाते हैं। युद्ध के ओज पूर्ण वर्णन में तो छप्पय की ही प्रधानता मानी जाती है। कवित्त भी वीर रस के वर्णन के लिए सफल छन्द हैं यदि कवि उसे अनुकूल बना सके तो भूषण में यह कवि प्रतिभा थी। उन्होंने जो भाव जिस रुप से व्यंजित करना चाहा है उसमे वे पूर्ण सफल हुये हैं। उनके वीर रस पूर्ण कवित्त प्रसिद्ध हैं।

भूषण की भाषा व्रज भाषा है पर वीर रस की प्रधानता के कारण उसका माधुर्य नष्ट होकर हमे उसका ओजमय और उदण्डरूप ही मिलता है। भूषण की भाषा मे ओज उत्पन्न करने की पूर्ण क्षमता है। हम इस भाषा को व्रज भाषा का शुद्ध रूप नहीं मान सकते। उसमें विदेशी शब्दों की भरमार है।

मुस्लिम पात्रों के वर्णन मे उन्होंने खुलकर अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है। इन भाषाओ के कुछ शब्द तो तत्सम रूप में हैं और कुछ विकृत- पादशाह, तसवीह,हजार, हासिल, रोजा, नमाज, अवरग, कलकाम, पिसानी आदि शब्दोंसे इस कथनकी पुष्टि होती है। विदेशी शब्दोंसे उन्होने हिन्दी के क्रिया पद भी बनाए हैं। कहीं कही बैसवाड़ी शब्दों का भी प्रयोग है। अपभ्रंश और प्राकृत शब्दो के प्रयोग से भाषा में क्लिष्टता आ गई है। इस प्रकार उनकी भाषा साहित्यक दृष्टि से शुद्ध नहीं है। वह एक प्रकार की खिचड़ी भाषा है। उनकी शब्द योजना महाराष्ट्र प्रान्त के अनुरूप है। हमें वह इसलिये खटकती है कि हम उसके अभ्यस्त नहीं है। भूषण की रचनाओं में लोकोक्तियों और मुहावरो को भी उचित स्थान मिला है। "तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के,,। तथा "तारे सम तारे मूंदि गये तुरकन के" आदि अच्छे मुहावरे हैं। अतः उनकी भाषा खिचड़ी होते हुये भी ओजपूर्ण, चुटीली एवं प्रभावोत्पादक है।

शैली की दृष्टि से उनकी शैली वीरोचित है। इसी कारण उसमें नागरिक और प्राकृतिक सौंदर्य का अभाव है। उनके वर्ण्य विषय हैं-युद्ध, शिवाजी का प्रताप, दानशीलता एवं आतङ्क आदि। उन्होंने इन विषयों के निरुपण में मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, गीतिका, माधवी. सवैया आदि छन्दो का प्रयोग किया है। उनकी शैली में सर्वत्र स्वच्छन्द प्रियता की झलक है। इस शैली में तीन विशेषतायें हैं—प्रभावोत्पादकता, चित्रोपमता और सरलता। यह शैली पाठक को आकर्षित करती है तथा अपने सहज प्रवाह से वर्णित विषय का इतना सुन्दर चित्र अंकित करती है कि पाठक स्तब्ध रह जाता है।

प्रश्न ६—भूषण को रीतिकाल का कवि क्यों माना गया है? क्या वे अपने समय के राष्ट्रकवि थे?

उत्तर—भूषण को रीतिकाल का कवि मानने के दो कारण हैं—पहला कारण यह है कि भूषण रीतिकाल मे उत्पन्न हुए थे और दूसरा यह कि उन्होंने रीतिकाल की प्रधान प्रवृत्ति लक्षण ग्रन्थ-रचना को भी अपने काव्य में स्थान दिया था। सामान्यतः उन्हें रीतिकाल मे उत्पन्न वीर कवि ही माना

जाता है। अलकार सम्प्रदाय के अनुकरण में केशव, चिन्तामणि, [illegible] ारी-दास आदि कवि आचार्यों ने अलङ्कार ग्रन्थो का सृजन किया। भूषण की राष्ट्रीय प्रतिभा को भी इस प्रगति ने आकर्षित किया और उन्होने शास्त्रीयता के प्रभाव मे आकर 'कविराज-भूषण' नामक प्रसिद्ध अलकार ग्रन्थ की रचना की। इसमें दोहों में लक्षण देकर कवित्त और सवैयो में उनके उदाहरण लिखे। उनके दूसरे ग्रन्थ 'शवावावनी' मे भी उनका सुझाव अलङ्कारों की ओर ही अधिक है। काव्यागों में भूषण ने केवल अलङ्कारो को ही लिया है। रस, शब्द शक्ति, नायिका-भेद आदि की पूर्ण उपेक्षा की है। काल की प्रधान प्रवृत्ति शृङ्गार के ऊपर उनके दो चार छन्द ही मिले हैं। इस प्रकार रीति ग्रन्थो की रचना में उन्होंने अलङ्कार सम्प्रदाय का तो प्रभाव ग्रहण किया परन्तु नायिका-भेद वर्णन के चक्कर से वे साफ बचकर निकल गए। भूषण का लक्षण ग्रंथ अव्यवस्थित तथा गड़बड़ी से भरा हुआ है। कई स्थानों पर तो लक्षण और उदाहरण दोनों ही अस्पष्ट हैं। अतः इस वर्ग के कवियों की तुलना में भूषण का कोई विशेष महत्व नहीं है। इन्हीं दो कारणों से भूषण को रीतिकाल का कवि माना जाता है।

भूषण का दूसरा रूप एक वीररस के कवि का हैं। इस दृष्टिकोण से उनकी गणना रीतिकाल के उन फुटकर कवियो में होनी चाहिए जिन्होंने तत्कालीन प्रवहमान धारार से हटकर वीर काव्य को प्रश्रय दिया। भूषण के वास्तविक मूल्य का आधार उनकी वीर रसात्मक कविता ही है। रीतिकाल के उस युग में जहाँ लोगो में भक्ति और शौर्य के प्रति बहुत कम आस्था रह गई थी, वहाँ भूषण ने हिन्दू जाति को जागरण का मन्त्र देकर सुषुप्त देश को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख किया। इस प्रकार वे रीतिकाल में एक नवीन धारा के प्रवर्तक अथवा वीरगाथा के सरक्षक के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। यद्यपि उन्होने अपने आश्रयदाताओं की प्रशसा में नर-काव्य की ही रचना की परन्तु उसे वास्तविकता से दूर नहीं हटने दिया। उनका काव्य कौशल भी उच्चकोटि का है। इस प्रकार उन्होंने अपनी निर्भीकता और काव्य कौशल के बल पर निर्भर रहते हुए प्राचीन विलुप्त प्राय वीर काव्य की धारा को पुनरुज्जीवित कर उसे आगे बढ़ाया। वे भारतीय

स्वातन्त्र्य संग्राम के सरक्षक और राष्ट्र की उन्नति हेतु अग्रसर होने वाले सर्व प्रथम राष्ट्रीय कवि थे ।

भूषण को राष्ट्रीय कवि माना जाय या नहीं, यह विवादग्रस्त प्रश्न रहा है । जो सारे भारत को एक राष्ट्र मानते हैं उनकी दृष्टि में भूषण एक सकुचित दृष्टिकोण वाले जातीय कवि थे । उनकी दृष्टि में भूषण की कविता अराष्ट्रीय, द्वेषपूर्ण और हिन्दू मुसलमानों में घृणा फैलाने वाली है । ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि समय समय पर राष्ट्रीयता की परिभाषाएँ परिवर्तित होती रहती है । वीरगाथा काल का एक राज्य विशेष ही राष्ट्र माना जाता था । भूषण के युग में सम्पूर्ण हिन्दू जाति ही राष्ट्र मानी जाने लगी । आज सम्पूर्ण भारत एक राष्ट्र माना जाता है । लक्षण ऐसे हैं कि भविष्य मे सम्पूर्ण विश्व ही एक राष्ट्र माना जाने लगेगा । इसलिए हम भूषण को जब उसी युग में रखकर देखने का प्रयत्न करेंगे तभी उनका महत्व हमारी समझ में आ सकेगा । यदि कवि होकर भूषण अपने युग के हिन्दुओं की उस स्वातन्त्र्य भावना का प्रतिनिधित्व न करते तो वह अपने युग, अपने साहित्य और अपनी कवित्व शक्ति के प्रति घोर विश्वासघात करते जैसा कि अन्य रीतिकालीन कवियों ने किया है ।

रीतिकालीन अनैतिकता पूर्ण गन्दे वातावरण में जन्म लेकर भी सरस्वती के इस वरद पुत्र ने, विलासिता का मार्ग न अपना कर राष्ट्रीयता को अपनाया । आश्रयदाताओं की मनस्तृप्ति के लिये कलुषित प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ नहीं कीं । 'कलिके कविराजन' के विपरीत उन्होंने शिवाजी और छत्रसाल जैसे राष्ट्रनायकों का यश गाया । भूषण से पहले अन्य किसी भी कवि को जातीय जीवन का आदर्श नहीं सूझा था । भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के राष्ट्रीय और जातीय रूप का ही चित्रण किया है । उनके वैयक्तिक जीवन या उनके प्रेम-व्यापार पर उन्होंने एक भी शब्द नहीं कहा । उन्होंने अपने नायकों की प्रशंसा केवल इसलिए की कि उन्होंने "हिन्दुवान द्रुपदि की लाज बचैवे काज" रण ठाना था । आधुनिक युग में जिस प्रकार अँग्रेजो के विरुद्ध एक हिन्दू मुसलमान समन्वित राष्ट्र की भावना का प्रचार किया गया उसी प्रकार उस समय अँग्रेजों के स्थान पर मुसलमान शासीन

थे और हिन्दू उनका विरोध कर रहे थे। इस विरोधका सबसे बड़ा समर्थन केवल भूषण ने ही किया। लाल, सूदन, पद्माकर आदि अन्य वीररस के कवि अधिकतर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने तक ही सीमित रहे। भूषण की भावना व्यापक थी। उनकी दृष्टि में यदि—"शिवाजी न होते तो सुनति होति सब की" का भयङ्कर सकट था उनके लिए "शिव सरजा न, महेश है शिव।"

भूषण अपने नायक को राष्ट्र का प्रतीक मानते हैं। वे उनकी विजय को वैयक्तिक विजय न मानकर राष्ट्र की विजय मानते हैं। इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा था—"भूषण ने जिन दो नायकों की कीर्ति को अपने काव्य का बिषय बनाया, वे अन्याय दमन में तत्पर, हिन्दू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की सम्पत्ति हुए। भूषण की कविता कवि कीर्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है। जिनकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब एक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब रीतिकालीन कवि कामुकता पूर्ण विविध उक्तियों से हिन्दी साहित्य के भण्डार में गन्दगी भर रहे थे, भूषण के भीतर का ओजस्वी कवि तड़प उठा और उसने अपनी तेजपूर्ण वाणी से राष्ट्र पर पड़ने वाली विपत्ति से मोर्चा लेने के लिए लोगों में जीवन फूंक दिया। अतः वह सच्चा राष्ट्र कवि था।

प्रश्न—७—'हम्मीर रासो' के रचयिता जोधराज का संक्षिप्त परिचय देते हुये हम्मीर रासो की संक्षिप्त साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत कीजिए। साथ ही उसकी प्रबन्धात्मकता पर भी प्रकाश डालिए।

उत्तर—अब तक हम्मीर रासो नामक दो ग्रंथ प्राप्त हुए है–एक शार्ङ्ग-धर कवि रचित हम्मीर रासो और दूसरा जोधराज कवि रचित हम्मीर रासो। इनमें से प्रथम आदिकालीन रचना है और द्वितीय अठारहवीं शताब्दी की रचना है। इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थकार नयनचन्द्र सूरि ने 'हम्मीर महा-

काव्य' नामक एक वृहद् काव्य में हम्मीर चरित्र को ऐतिहासिक दृष्टि से भी लिखा है । यहाँ हमारा आलोच्य ग्रन्थ जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' है ।

जोधराज की जीवनी के विषय में अधिक ज्ञात नहीं हो सका है । उनका एक मात्र ग्रंथ 'हम्मीर रासो' है । उसमें उन्होंने आत्म परिचय के रूप में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं जिनसे केवल इतना ज्ञात हो सका है कि पृथ्वीराज के वंश में " राठ पातिशाह" उपाधिधारी चन्द्रभान नामक राजा 'निम्बाण' नामक स्थान का अधिपति था । जोधराज इसी के आश्रित कवि थे । जोधराज ब्राह्मण होने के कारण ज्योतिष शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे । इनके पिता का नाम बालकृष्ण था । अपने आश्रयदाता की आज्ञा से ही जोधराज ने 'हम्मीर रासो' की रचना की थी । यह ग्रन्थ संवत् १७८५ में समाप्त हुआ था जिसका उल्लेख निम्नलिखित दोहे में है—

"चन्द्र नाग वसु पच गिनि, संवत माधव मास ।
शुक्ल सत्रतिया जीव जुत, ता दिन ग्रन्थ प्रकाश ।।"

हम्मीर रासो एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है परन्तु अन्य रासो ग्रन्थो के समान इसमें भी ऐतिहासिकता का उलंघन किया गया है । इसमें अनेक घटनाएं और तिथियाँ इतिहास विरुद्ध है । हम्मीर और अलाउद्दीन दोनों का जन्म सं० इसमे ११४१ बतलाया गया है परन्तु यह इतिहासों के अनुसार गलत है, हमीरका समय संवत् १३५७ के लगभग है और अलाउद्दीनका राज्यकाल संवत् १३५२ से १३७२ तक माना गया है । इसके अतिरिक्त हम्मीर के पिता जैतराव को रणथम्भौर की नींव डालने वाला बताया गया है जो असम्भव है । जोधराज द्वारा इस ऐतिहासिक त्रुटियों का एक कारण है । चितौड़ का राजा रतनसेन जिससे अलाउद्दीन का युद्ध हुआ था, हम्मीर का पुत्र था । यह रतनसेन सिसोदिया वंशीय चित्तौड़ का शासक था । जोधराज ने इसे चौहान वंशीय हम्मीर का पुत्र बता कर यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है इतिहास में दो हमीर हुए है । एक चौहान वंश का तथा दूसरा सिसौदिया वंश का । दोनो के पिता का नाम जैतराव था । दोनों ही समकालीन थे जोधराज ने भ्रमवश दोनो को मिला दिया है । इस त्रुटि के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अलाउद्दीन द्वारा हिन्दू देवी देवताओं की स्तुति कराई गई है जो

अलाउद्दीन ऐसे कट्टर मुसलमान द्वारा असम्भव है। साथ ही उसका बाप शहाबुद्दीन बताया है जो इतिहास से प्रमाणित नहीं होता।

'हम्मीर रासो' रासो परम्परा का एक ग्रन्थ है। वीर गाथा कालीन ग्रन्थ न होने पर भी इसका स्वरूप वीरगाथा कालीन कृतियों का सा ही है। वीर गाथा कालीन कृतियों का मूल विषय युद्ध था जो अधिकाँशतः स्त्री के लिए होता था। हम्मीर रासो में भी ऐसा ही हुआ है। बादशाह अलाउद्दीन की प्रधान बेगम रूप विचित्रा ही हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्ध का कारण है। विचित्रा का अलाउद्दीन के प्रधान मुगल सरदार महिमाशाह से प्रेम सम्बन्ध स्थापित होना, अलाउद्दीन को इसका पता लगने पर महिमाशाह को राज्य से बाहर निकाल देना, महिमाशाह का हम्मीर के यहाँ शरण लेना, अलाउद्दीन का उसे वापस माँगना, हम्मीर का शरणागत की रक्षा करना, अंत में बारह वर्ष तक युद्ध होना, रानियों का जौहर करके मरना, हम्मीर का आत्म हत्या करना आदि ऐसी घटनाएं हैं जो वीर गाथा कालीन ग्रन्थों से मिलती है। वीर काव्य के तीनो विषय प्रेम, आखेट और युद्ध इस ग्रन्थ में है तथा उनका स्वरूप भी वैसा ही है।

रस की दृष्टि से वीर काव्यों में प्रधान रस वीर रहता था। शृङ्गार रस उसका सहायक होता था। रौद्र, भयानक, वीभत्स और करुण रस वीर रस के प्रसंग मे स्वतः ही आ जाते थे। हम्मीर रासो मे भी ऐसा ही है। "तिरिया तेल हमीर हठ' चढ़ै न दूजी बार" वाला हठी हम्मीर शरणागत की रक्षार्थ १२ वर्ष युद्ध रत रहता है। सेना की चढ़ाई, युद्ध, अस्त्रशस्त्रों की चमक, हाथी घोड़ों की चिघाड़, शत्रु का पराजित होकर पलायन करना आदि चित्र स्थान स्थान पर मिलते है। इन प्रसंगो मे वीर रस का परिपाक अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। वीरो के क्रोध में रौद्र, शत्रु के पलायन में भयानक, लाशों के वर्णन में वीभत्स रस की अच्छी अवतारणा हुई है। प्रेम का चित्रण तो समस्त कथानक का आधार है। उसमें शृङ्गार रस की सामग्री मिल जाती है। ग्रन्थारम्भ मे पद्मऋषि की तपस्या भंग होने की

के चित्र भी अच्छे आये हैं। इस प्रकार भाव की दृष्टि से हम्मीर रासो में भी वे ही भाव मिलते है जो वीर गाथा कालीन ग्रन्थो में पाये जाते है।

भाषा की दृष्टि से वीर काव्यों में प्रथम विशेषता यह होती थी कि उनमें वीर रस के वर्णन में द्वित्व और संयुक्त वर्णों का प्राधान्य रहता था दूसरे कोमल रसों के वर्णन में भाषा ब्रज होती थी। तीसरे अनुस्वारान्त शब्दों की भरमार रहती थी। चौथे अरबी फारसी के शब्द पर्याप्त संख्यामें प्रयुक्त होते थे। हम्मीर रासो की भाषा ये सभी विशेषताए मिलती है। पद्मऋषि के तपभंग प्रसंग में और रूपविचित्रता और महिमाशाह के प्रेम प्रसंग में ब्रज भाषा की सुन्दर छटा है। युद्ध वर्णन में भाषा का प्राकृत और अपभ्रंश मिश्रित रूप हैं। मुगल सेना के वर्णन में अथवा उसके सरदारो के कथनों और अलाउद्दीन के सन्देश मे अरबी फारसी का पुट है। अनुस्वारान्त शब्दों की तो भरमार है। साधारण बोलचाल के शब्द और क्रियापद भी पर्याप्त मात्रा में मिलते है। भाषा सर्वत्र भावानुकूल है। वीर रस के प्रसंग में डिंगल के द्वित्व वर्ण वाली शैली अपनाई है तो श्रृङ्गार वर्णन मे कोमलकान्त पदावली का सुन्दर प्रयोग है। सब मिलाकर ढाँचा तो ब्रज भाषा का हैं पर अनुकरण अन्य रासो ग्रन्थो की भाषा का ही है। भाषा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि जोधराज का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उसे भावानुकूल बनाने की कला मे वे निष्णात थे। भाषा साहित्यिक है।

शैली की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उसी परम्परा में आता है। वीर काव्यों में छप्पय, दोहा, पद्धरी आदि छन्दों का प्रयोग होता था। त्रोटक, पद्धरी और भुजंग प्रयात छन्दो का प्रयोग वीर और श्रृङ्गार दोनों रसों में हुआ है। पृथ्वीराज रासो में भी ऐसा ही है। रूप विचित्रा के प्रेम प्रसंग में रीतिकालीन कवियों की भावना का चित्रण है। वह अश्लीलता की सीमा को पहुँचा हुआ है। वह तथा ऋतुवर्णन यह सिद्ध करते हैं कि इस ग्रन्थ का निर्माण रीतिकाल में हुआ था परन्तु शैली वीर गाथा कालीन ही अपनाई गई थी। जोधराज की शैली की विशेषता है कि वह नामों की सूची नहीं गिनाते। वर्णन प्रसगानुकूल होते है। आवश्यक

सामग्री का ही प्रयोग होता है। उपयुक्त सामग्री को जुटाकर संलिष्ट वर्णन करना उन्हें अभीष्ट है। ऋतु वर्णन बहुत थोड़े पदों में किया है। वहाँ अनावश्यक विस्तार नहीं। सर्वत्र इसी शैली का अनुकरण है।

'हम्मीर रासो' वीर रस प्रधान काव्य है। इसकी रचना प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से हुई है और इसमें हम्मीर के चरित्र गत मूल विशेषता-हठ—को आधार बना कर काव्य का ढाँचा खड़ा किया गया है। इसमें हम्मीर द्वारा शरणागत की रक्षार्थ बारह वर्ष पर्यन्त युद्ध करके युद्धस्थल में मरना उसके चरित्र को गौरवान्वित करता है। हम्मीर इतिहास प्रसिद्ध वीर है। जैन ग्रन्थकार नयनचन्द्र सूरि ने 'हम्मीर महाकाव्य' में हम्मीर चरित्र को इतिहास की दृष्टि से लिखा भी है। लेकिन हम्मीर रासो में ग्रन्थ निर्माण के सम्वत् (१७८५) को छोड़कर शेष सभी घटनाएँ अनैतिहासिक हैं। उन घटनाओं के कारण कवित्व सौन्दर्य और नायक तथा उसके पक्ष के वीरों के कुशल चरित्र-चित्रण होते हुए भी उसमें प्रबन्धगत दोषों की भरमार है। यदि केवल महिमाशाह की रक्षा के लिये युद्ध का विधान कर काव्य समाप्त हो जाता तो प्रबन्धात्मकता की रक्षा हो जाती लेकिन कवि ने कल्पना का निरकुश प्रयोग करके सन्तुलन को नष्ट कर दिया है।

उदाहरणार्थ हम महिमाशाह और रूप विचित्रा के प्रेम की घटना को ले सकते हैं। इस घटना की ऐतिहासिकता में सन्देह न भी हो तो भी इस कथा का वर्णन विस्तार इतना अधिक हो गया है कि वह खटकता है। इसके लिए लगभग दस पृष्ठ घेरे गए हैं। फिर इस प्रसग में अश्लीलता इतनी अधिक है कि वह ग्रन्थ की गम्भीरता नष्ट कर देती है। अलाउद्दीन के चूहे से भयभीत होने की कथा भी ऐसी ही है। यह असम्भव प्रतीत होता है। अलाउद्दीन ऐसा कायर नहीं था। इसी प्रकार महिमाशाह की हम्मीर की शरण में जाने की कथा नीरस और अस्वाभाविक जान पड़ती है। प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से यह बहुत बड़ा दोष है। यदि इसका कोई कारण दिया जा सकता है तो यही कि रासो ग्रन्थो मे युद्ध का कारण स्त्री ही होती रही है। इसलिए जोधराज ने भी दरबारी कवि होने के नाते इस

घटना का समावेश किया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में सृष्टिक्रम का अत्यन्त विस्तृत वर्णन नितान्त अप्रासङ्गिक है। उससे कथा की शृङ्खला टूटती है। कवि यदि चाहता तो चौहानों के आदि पुरुष जैतराव से ही वर्णन प्रारम्भ कर सकता था। इसके अतिरिक्त पद्मऋषि के मस्तक से अलाउद्दीन, बक्ष से हम्मीर, भुजाओं से महिमाशाह और मीर गबरू तथा चरणों से बेगम रूप विचित्रा के जन्म होने, अलाउद्दीन की हिन्दू देवताओं की स्तुति करने और रामेश्वर के समुद्र में प्राणान्त करने की घटनाएँ नितान्त अनैतिहासिक और अस्वाभाविक हैं। प्रबन्धकार को इस विषय में सतर्क रहना पड़ता है। आगे चलकर जो युद्ध हुए हैं, उनमें सर्वत्र एकरूपता दिखाई देती है। इसे विवशता भी कहा जा सकता है। परम्परा से यही होता रहा है। बार बार युद्ध के वर्णन में पुनरावृत्ति और शैथिल्य का आ जाना स्वाभाविक है। कोई प्रथम कोटि का कलाकार ही इससे बच सकता है। इस प्रकार इसे तो हम क्षम्य मान सकते है पर अद्भुत और असम्भव घटनाओं के लिए हम कवि को दोषी ठहराए बिना नहीं रह सकते। इन घटनाओं के कारण प्रबन्धात्मकता की रक्षा नही हो पाई है। इनसे कथा में शिथिलता आ गई है और सन्धि का सन्तुलन नष्ट हो गया है। वैसे युद्ध वर्णन और भाषा शैली की दृष्टि से 'हम्मीर रासो' सफल प्रबन्ध काव्य माना जा सकता है।

वीर काव्य—सामान्य प्रश्न

प्रश्न ८—"राजस्थानी साहित्य में वीर रस की उत्साह प्रदायिनी धारा अजस्र प्रवाहित हुई है तथा शृङ्गार के रमणीय स्रोत ने उसकी स्फूर्तिदायिनी पुष्टि की है।" उपर्युक्त कथन की विवेचना कीजिए। साथ ही हिन्दी में वीर रसात्मक साहित्य के विकास का इतिहास लिखिए।

उत्तर—राजस्थान वीर भूमि है। स्वदेश रक्षा में वहाँ अगणित बलिदान और जौहर हुए हैं। ऐसे वीर वीरागनाओं के कृत्यों के वर्णन से राजस्थानी साहित्य भरा पड़ा है। इसके साथ ही शृङ्गार रस का भी

वर्णन हुआ है क्योंकि उस समय युद्ध का मूल कारण स्त्रियाँ होती थीं। राजकुमार राजकुमारियों का बलात् अपहरण कर गान्धर्व विवाह करते थे। इस प्रकार वहाँ वीर और श्रृङ्गार रस की धाराएँ साथ साथ प्रवाहित हुई।

पृथ्वीराज के अनेकों विवाहों का विस्तृत वर्णन 'रासो' में मिलता है। 'वीर-काव्य सग्रह' में पद्मावती समय की कथा मे भी वीर और श्रृङ्गार साथ साथ चलते हैं। पद्मावती पृथ्वीराज की वीरता पर मुग्ध है। पिता अन्यत्र सम्बन्ध करना चाहते हैं। वह विवश होकर पृथ्वीराज को सन्देश भेजती है। पृथ्वीराज आकर पद्मावती का हरण करता है। युद्ध होता है। पृथ्वीराज विजयी होता है और मार्ग में मुहम्मद् गोरी को भी पराजित कर दिल्ली पहुँच जाता है। वहाँ जाकर दोनो में विवाह हो जाता है। इस कथा में पद्मावती के पूर्वराग, वयः सन्धि, रूप-सौन्दर्य का वर्णन, मिलन, आतुरता आदि श्रृङ्गार के अवयवों का अच्छा चित्रण हुआ है। पृथ्वीराज द्वारा प्रदर्शित वीरता का कारण पद्मावती ही है।

इसी प्रकार जोधराज की कविता में भी अलाउद्दीन की प्रधान बेगम रूप विचित्रा तथा महिमाशाह के प्रेम सम्बन्ध का वर्णन है। प्रेम प्रसग मे श्रृङ्गार का पूरा पुट है। इसी नारी के कारण अन्त में हम्मीर और अलाउद्दीन का बारह वर्ष तक लम्बा युद्ध चलता है। इस प्रकार वीरता के प्रदर्शन का मूल यहा भी श्रृङ्गार ही है। राजपूत वीरांगनाओं ने राजपूत वीरो को प्रोत्साहित करने में अपने जीवन का साफल्य समझा है। उनकी वीरतापूर्ण उक्तियों से राजपूत योद्धाओं में उत्साह एव शक्ति का सचार हुआ है। यद्यपि ऐसे प्रसगों में परिपाक वीर रस का ही हुआ है तथापि अप्रत्यक्ष रूप से नारी के श्रृङ्गार का वहाँ वर्णन है। साराश यह है कि राजस्थानी साहित्य में वीर रस की अजस्त्र धारा बही है। उसके साथ ही साथ उस वीरत्व को प्रोत्साहित करने में श्रृङ्गार का सबसे बड़ा हाथ रहा है। इस प्रकार वहाँ वीर रस श्रृङ्गार के सहारे ही खड़ा हुआ दिखाई देता है।

हिन्दी भाषा का जन्म उस समय हुआ था जब हमारे यहाँ मुस्लिम आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। उस समय युद्ध इन नवागत आक्रमणकारियो

के विरुद्ध भी होते थे और राजपूत राजाओं में पारस्परिक मार काट भी मच रही थी। चारण कवि इन सभी युद्धों में योद्धाओं को प्रोत्साहित करते थे। यह काल वीर गाथा काल कहा जाता है। इस समय प्रधान रूप से रासो ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इनमें सेनाओं की चढ़ाइयाँ, वीरों की जयकार, योद्धाओं की मुठभेड़, युद्धक्षेत्र के भयानक और वीभत्स दृश्य, पराजित सेना का भागना आदि के सजीव वर्णन हैं। स्त्री इन युद्धों के मूल में रही है इस कारण शृङ्गार और वीर रस साथ साथ चले हैं। चन्द वरदाई का पृथ्वीराज रासो, नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

भक्ति काल में आकर वीरता का स्वरूप बदल जाता है। भक्त कवि काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करते हैं। आत्म दमन में ही वीरता का सच्चा स्वरूप निहित होता है। तुलसीदास जैसे लोक प्रिय कवि ने रामायण में राम-रावण युद्ध में वीर रस का सुन्दर परिपाक किया है। इसी प्रसंग के कवितावली के छप्पयों और कवित्तों में वीर रस की उत्कृष्ट व्यंजना हुई है। तुलसीदास को छोड़कर भक्तिकाल के अन्य कवियों में आत्मिक वीरता का ही प्रभाव है, जो शान्त रस में पर्यवसित होती है।

रीतिकाल शृङ्गार का युग है। इसके प्रवर्त्तक केशवदास ने रसिक प्रिया और कवि प्रिया में रीतिशास्त्रीय परम्परा के निर्वाह के साथ शृङ्गार का सुन्दर वर्णन किया है। लेकिन "वीरसिंह जू देव चरित" में वीरसिंह की वीरता का सुन्दर चित्रण भी किया है। रामचन्द्रिका में भी राम-रावण युद्ध और लव-कुश युद्ध का वर्णन बड़ा भावोत्तेजक है। केशव के बाद इस काल में जोधराज, भूषण, लाल, मान, पद्माकर आदि ने वीर रस की अच्छी कविता की है। इन सब में भूषण सर्वश्रेष्ठ है। हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म और हिन्दू सगठन पर भूषण ने विशेष बल देते हुए औरंगजेब के विरुद्ध शिवाजी के युद्ध का वर्णन किया है। उनकी कविता बड़ी ओजस्विनी है। भूषण उस काल के राष्ट्रीय कवि हैं।

आधुनिक काल में भारतेन्दु ने अपने "भारत-दुर्दशा" नाटक में

देशभक्ति का पुट देकर सर्व प्रथम वीर भावों का समावेश किया। वे ही वर्तमान राष्ट्रीयता के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उनके बाद देशभक्ति की भावना का विकास द्विवेदी युग में श्री मैथिलीशरण गुप्त में दिखाई दिया। उन्होंने प्राचीन आख्यानों तथा फुटकर कविताओं में देश भक्ति की भावना का पुट दिया। इस काल में राम और कृष्ण की सांस्कृतिक विरासत पर गर्व अनुभव करने में कवि आनन्दित हुए। इसके उपरान्त छायावादी युग में कवि की वृत्ति अन्तर्मुखी हो गई। गाँधीजी के प्रभाव से अत्याचार सहन की प्रेरणा द्वारा साहित्य में आदर्श के लिए मर मिटने की भावना जगी। जेल यात्रा के कष्टों का वर्णन, गोरी सरकार के विरुद्ध घृणा का प्रकाशन और अन्याय के नाश के हेतु जीवनार्पण की ध्वनियाँ इस काल में प्रमुख रहीं। दूसरी ओर विषमतामय विश्व को नष्ट करने के लिए प्रलय का आवाहन भी पूरे जोर से हुआ। माखनलाल, नवीन और दिनकर इस काल के ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने नाश और मरण के त्यौहार मनाने में सुख का अनुभव किया है तथा प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं को छिन्न भिन्न करने की घोषणा की है।

अत्याधुनिक प्रगतिवादी कवियों ने किसान और मजदूरों की महिमा उसी प्रकार गाई है जैसे चारण राजपूत वीरों की महिमा गाते थे। ये मानों किसान मजदूरों के चारण है। इन दोनों को सगठित कर जन क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित करना, शोषण के विरुद्ध आवाज उठाना, नई समाज व्यवस्था का स्वरूप उपस्थित करना प्रगतिवादी कवियो की वीर भावना का प्रतीक है।

इस प्रकार वीरगाथा काल से लेकर आजतक बराबर वीर रसात्मक साहित्य लिखा जाता रहा है। संघर्ष ऐसे साहित्य का प्राण माना गया है और वह किसी न किसी रूप में बराबर बना रहा है। समय के बदलने के साथ ही साथ उसका स्वरूप भी बदलता चला गया है। वीरगाथा काल से लेकर रीतिकाल तक हिन्दू मुस्लिम सघर्ष प्रधान भावना रही है। आधुनिक कालीन साहित्य में वह संघर्ष विदेशी अंग्रेजों के प्रति हुआ है। आज हम स्वतन्त्र हैं और जनता फिर भी कष्ट में है। आज की हिन्दी कविता में

संघर्ष का स्वर अत्यन्त उग्ररूप धारण कर चुका है। यह विरोध पूँजीपतियों और सामन्तों के खिलाफ है जिसका नेतृत्व जनसाधारण कर रहे हैं। यह संघर्ष की भावना दिन प्रति दिन उग्ररूप धारण करती जा रही है। यदि यही दशा रही तो निकट भविष्य में एक भयानक विस्फोट की आशङ्का है। उसके पश्चात् ही जनता के सच्चे जनराज्य की स्थापना होगी।

कबीर

प्रश्न १—कबीर के जन्म काल की विवेचना करते हुए उसकी काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—कबीर की जन्म तिथि के सम्बन्ध मे कबीर पंथियों में यह दोहा प्रचलित है—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए॥

उस दोहे के आधार पर दो बाते मालूम होती हैं—(१) कबीर का जन्म सं० १४५५ जेठ पूर्णिमा चन्द्रवार को हुआ था। (२) उस दिन बरसायत का त्यौहार था। 'बरसायत' शब्द 'बट सावित्री' का अपभ्रंश है। यह 'बट सावित्री' व्रत ज्येष्ठ की अमावस्या को होता है। उस दिन कबीर नीमा और नूरी को मिले थे। इसी आधार पर कबीर पंथियो में बरसाइत महात्म्य ग्रन्थ की कथा प्रचलित है। उसी दिन कबीर पंथी लोग उत्सव मनाते हैं। उपर्युक्त दोनों मान्यताओ में से प्रथम मान्यता ठीक नहीं उतरती क्योंकि गणना करने पर स० १४५५ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को नहीं पड़ती। यदि गए का अर्थ बीत जाना लगाया जाय तो सं० १४५६ को ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चन्द्रवार को पड़ती है। दूसरी ओर सं० १४५५ को ज्येष्ठ की अमावस्या भी चन्द्रवार को ही पड़ती है। इस दिन 'बरसाइत' का त्यौहार भी मनाया जाता है। अनुराग ससार नामक ग्रन्थ में एक पद इस प्रकार भी मिलता है—"नमी गवन अरव मग

सोई। जेठ मास बरसाइत होई।" यह अधिक प्रामाणिक है। इसके अनुसार हम कबीर का जन्म सं० १४५५ की ज्येष्ठ अमावस्या को मानते हैं।

आधुनिक ग्रन्थकारों एवं सम्पादकों में कबीर की जन्म तिथि के विषय में बहुत मतभेद है। बील स० १५४७ (सन् १४९०), फर्कुहर वेस्काट और अण्डरहिल सं० १४९७ (सन् १४४०) मानते है। इन सबको दृष्टि में रख कर स० १४९७ की ओर अधिक झुकाव जान पड़ता है। यदि कबीर और सिकन्दर लोदी का साक्षात्कार की घटना ऐतिहासिक हो तो हमें जन्म तिथि के वर्णन में थोड़ी सहूलियत हो सकती है। लोदी सं० १५५१ (सनू १४९४) में ही निश्चित आगरा आया था। यदि कबीर का जन्म सं० १४९७ माने तो उस समय कबीर ५४ वर्ष के होंगे और यदि स० १४५५ माने तो ९६ वर्ष के ठहरते हैं। किन्तु स० १४९७ को ठीक मानने से रामानन्द और कबीर के साक्षात्कार की बात ठीक नहीं ठहरती, क्योंकि रामानन्द की मृत्यु स० १४६८ में हो चुकी थी। अतएव सं० १४५५ मानने से ये सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

कबीर की जन्म तिथि निश्चित कर लेने के पश्चात् उनकी काव्यगत विशेषताओं पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

शास्त्रों में कवि के लिए प्रतिभा विकास और अभ्यास ये तीनो बाते आवश्यक मानी गई है। कबीर में इन तीनों में से केवल एक 'प्रतिभा' थी। उन्होंने न 'मसि कागज' छुआ था और न हाथ में 'कलम' गही थी। उन्होंने तो केवल 'प्रेमका ढाई अक्षर' पढ़ा था और उसी से वे 'पडित' हुए थे। उन्होंने न तो बिधिवत शिक्षा ही पाई थी और न किसी गुरु के चरणों में बैठकर काव्य शास्त्रों का अध्ययन ही किया था किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनका ज्ञान कम था। उन्होने भले ही पुस्तकों का अध्ययन न किया हो किन्तु सत्सग से उन्होंने जो अनुभव और ज्ञान अर्जित किया था वह अभूतपूर्व था। बहुश्रुत होने के कारण ही उनके काव्य में कवि समयों, प्रतीकों, तथा अलकारों की सुन्दर छटा दिखाई पड़ती है उनके रूपक और उलटवासियों के विरोधाभास तो हिन्दी साहित्य में अद्वतीय है।

कुछ अलोचक कबीर के काव्य में कला पक्ष का पूर्ण अभाव देखते हैं। यदि उन्होंने सहृदयता पूर्वक कबीर का अनुशीलन किया होता तो उनकी यह भ्रांति दूर हो जाती। कविता करना न तो कबीर का लक्ष्य था और न उन्होंने काव्य शास्त्रो का अध्ययन ही किया था। फिर भी उनके काव्य में जो सौंदर्य और विशेषता पाई जाती है उसका कारण यह है कि उनकी कविता सीधी हृदय से निकलती है और हृदय पर ही चोट करती है। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल इसी लिए उनकी वाणी में शक्ति आ गई। कविता के वे स्थल जहाँ विरह और व्यथा का वर्णन है किसी भी सहृदय को रसमग्न करने को पर्याप्त है।

कबीर स्पष्ट शब्दों में पंडितो को पुकार कर कहते थे "तू कहता कागज की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।" इसी अनुभूति की तीव्रता से ही उनका काव्य हृदय स्पर्शी तथा मार्मिक बन गया है। वे प्रतिभाशाली थे इसी लिए उनकी रचना में काव्य के तत्व अनायास ही आ गए। यद्यपि उनका कला पक्ष अधिक सुन्दर और सुष्ठ नहीं बन पड़ा है किन्तु भाव पक्ष अत्यन्त प्रबल है। कबीर का काव्य सदेश प्रधान है। इसीलिए जहाँ उन्होंने खण्डन मण्डन की प्रणाली अपनाई हैं वहाँ रागात्मक तत्व न्यून हो गया है उसमें कल्पना तत्व भी अपेक्षाकृत कम है। इससे उनके अधिकाँश चित्र अस्फुट और अधूरे हैं। पर जहाँ उन्होंने अपने अज्ञात प्रियतम के सम्बन्ध में स्वानुभूति का व्यक्तीकरण किया है वहाँ उनका काव्य अत्यन्त सरस और मर्मस्पर्शी बन गया है। भाषा में भी रागात्मिकता आगई है। ऐसे स्थलो पर सुन्दर साहित्यिक उक्तियों के दर्शन होते हैं जैसे—

माली आवत देखकर कलियन करी पुकार
फूले फूले चुन लिए, कालि हमारी बार ॥

इस पद में बड़ी ही सुन्दर अन्योक्ति है। "पानी ही तो हिम भया, हिम ही गया बिलाय" में रूपकाति शयोक्ति है। उनके काव्य में रूपको की भरमार मिलती है—' जाके मुख माया नहीं नाहीं रूप कुरूप, पुहुपु बासते पातरा ऐसा तत्व अनूप।" तथा "सिंहों के लेहड़ नहीं हंसो की

पाँति" में प्रतिवस्तुपमा है। "साधु ऐसा चाहिए जैसे सूप सुभाव" में उपमा है। इसी प्रकार शब्दों की व्यजना शक्ति इनके रहस्यवादी पदो से बड़ी ही सुन्दर मिलती है—"घूँघट के पट खोलिरी तोहि पिउ मिलेंगे" की भाषा में कितना साहित्यिक सौंदर्य है। "गगन गरज बरसै अमी" म रहस्यवादी प्रतीकात्मकता है। प्रत्येक शब्द अपनी व्यजना लिए है। "जीहड़ियाँ छाला पड़्या नाम पुकारि पुकारि, आँखड़िया झाँई पड़ी पंथ निहारि निहारि।" तथा "ऊठा बगला प्रेम का तिनका उड़ा अकास, तिनका तिनके से मिला तिनका तिनके पास।" इन दोनों में कितना साहित्यिक सौंदर्य है यह अनुभव की वस्तु है। ऐसे दोहे किसी भी सरस साहित्यिक के हृदय को रसमय करने को पर्याप्त हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर की कविता में यद्यपि समष्टि रूप से छन्द अलङ्कार और भाषा गौण वस्तुएँ है परन्तु उनका संदेश इतना महान है कि उनके काव्य मे वह रस बन गया है।

भाषा की दृष्टि से कबीर का काव्य कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इसका कारण यह है कि भाषा का सौंदर्य उनका लक्ष्य नहीं था; अपना संदेश देना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। बहुश्रुत होने के कारण उनकी भाषा में स्वतः ही बहुत सी बोलियों का मिश्रण हो गया। इस प्रकार अनजान में वे एक नवीन भाषा की सृष्टि कर रहे थे जो आगे चलकर 'सधुक्कड़ी' भाषा कहलाई। ऐसा करके उन्होने संस्कृत के कूप जल से छुड़ा कर "जनभाषा के बहते नीर" में सरस्वती को स्नान कराया। अतः काव्य के कलापक्ष के गुणों के अभाव में जो आलोचक कबीर के काव्य को काव्य मानने से इन्कार कर देते हैं वे कबीर के साथ अन्याय करते है। कबीर का भावपक्ष अत्यन्त प्रबल है। भावपक्ष की गहराई में दो चार कवि ही उनकी समता कर सकते हैं। उन्होंने भाषा एवं मतों से दूर रह कर ही अपनी भाषा की सृष्टि की थी। इसी कारण उनके काव्य में समन्वय एवं उदारता की विशेषता है जो किसी भी साहित्यकार के लिए गौरव की वस्तु है।

प्रश्न २—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तो पर विचार करते हुए उनकी रहस्य भावना एवं उलटबासियों पर प्रकाश डालिए।

कबीरदास बहुश्रुत थे। तत्कालीन प्रचलित पन्थों, मतों एव विचारधाराओं का उनपर पूरा प्रभाव पड़ा था जो एक अपढ़ व्यक्ति के लिए अनिवार्य था। मूलतः कबीर का हृदय वैष्णव धर्म की मिट्टी से बना था, और उसमें एकेश्वरवाद की झलक इस्लामी प्रभाव को लक्षित करती है। सूफी मत के प्रभाव से उन्होंने निम्बकाचार्य की सगुण उपासना को सूफी रग में रंगकर अपनाया। प्रेमतत्व, वियोग व्यथा, गुरु मिलन सब सूफियों से ग्रहण किए। परन्तु उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का मूलाधार अद्वैतवाद है। वे आत्मा की नित्यता को मानते है केवल शरीर मरता है। ब्रह्म जीव, माया का सम्बन्ध वे वेदान्तों की तरह से वर्णन करते हैं। भक्ति मार्ग पर उन्हें विश्वास है। हठ योगियो के इला, पिंगला, षट चक्र आदि से भी वे पूर्ण परिचित हैं। कभो कभी अवतारवाद का भी वे समर्थन करते है। वैष्णवों की प्राण अहिंसा उनमें कूट कूट कर भरी है।

मुस्लिम परिवार में लालित पालित होने पर भी उनपर वैष्णव धर्म का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है। इसी कारण उन्होंने भक्ति को सर्व श्रेष्ठ कर्म माना है—"और कर्म सब कर्म हैं भक्ति कर्म निष्कर्म।" साधना के सम्बन्ध में उनपर हठयोग का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। ब्रह्म सूत्र में दो प्रकार का ब्रह्म माना गया है—एक सकल ब्रह्म जो विश्व में व्याप्त है दूसरा शुद्ध ब्रह्म जो जगत की प्रतीत कराता है। कबीर में ब्रह्म के ये दोनों पक्ष मिलते हैं। एक स्थान पर तो वह "सर्व रूप जग रहा समाई" और उसी के साथ वह सबसे परे है—"कहै कबीर सोई जग पूरा जो न्यारा कर गावै।" उसमें और ससार में कोई भेद नहीं है—"कहै कबीर कर्त्ता में सब है कर्त्ता सकल समान।"

परमात्मा को उन्होंने सभी गुणों से परे माना हैं। यह वास्तव में अविदित विदित, निर्गुण और सगुण सबसे परे हैं—

"कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जानै जानन हारा॥"

वह ब्रह्म सज्ञातीत है। उसका ज्ञान गूँगे के गुड़ के समान है। उसे तो

—"सैना वैना कहि समझाओ गूँगे का गुड़ भाई।" उपनिषदों के मत का अनुसरण करते हुए उन्होंने ब्रह्म को स्वयं में ही देखा है—"मोको कहाँ ढूंढ़ै बन्दे मैं तो तेरे पासरे।" उसी ब्रह्म से सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति है। ब्रह्म ही सत हैं और शेष सम्पूर्ण संसार-स्वप्न की भाँति झूठा है। संसार का अस्तित्व तो—"जलतरङ्ग जिमि जल ते उपजै फिरि जलमाँहि समावै" के समान है। उन्होंने पूर्ण अद्वैतता मानी है क्योंकि वहाँ—"कौन कहन को कौन सुनन को दूजा कौन जरा रे।" कारण संसार तो—"दरपन में प्रतिबिम्ब जो भासे आप चहूँ दिसि सोई" के समान है। नदी और लहर की उपमा द्वारा भी उन्होंने अद्वैतता का प्रतिपादन किया है—"दरियाव की लहर दरियाव है जी दरियाव और लहर भिन्न कायम।"

इस एकता के परिणाम स्वरूप उस एक परमात्मा के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं रहती। परमात्मा बाजीगर है और संसार उस बाजीगर का झूँठा खेल है। कबीर ने माया को एक व्यापक शक्ति माना है। उससे देवता भी आतङ्कित है—

"माया महा ठगिनी हम जानी,
तिरगुन फाँस लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी।"

इस माया के दो रूप हैं—एक तो परमात्मा से मिलाती है और दूसरी जो स्वय परमात्मा से दूर करती है—"एक गहावै राम पै एक नरक लै जाय।" इस सर्व शक्ति शालिनी माया से तभी छुटकारा हो सकता है जब परमात्मा की कृपा होगी क्योंकि—"का बल छूटै आपके जो न छुड़ावै पीव।" दूसरी माया मायाविनी है। सारा संसार उसीसे उत्पन्न होता है और फिर उसी के जाल में फँस जाता है। तभी कबीर ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा है—"बाप पूत की नारि एक एकै माय विआय।"

अब हम कबीर की रहस्य भावना तथा उलटवासियों पर विचार करते है। जब भावना के आधार पर जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन होता है तब रहस्यवाद का जन्म होता है। इसे भावात्मक रहस्यवाद कहते हैं। जब इसके विपरीत अप्राकृतिक जटिल अभ्यासों द्वारा अव्यक्तसत्ता से साक्षात्कारका विधान होता हैं तब साधनात्मक रहस्यवाद की सृष्टि होती है।

कबीर में दोनों ही प्रकार का रहस्यवाद मिलता है। कबीरके हठयोग के रूपक साधनात्मक रहस्यवाद के अच्छे उदाहरण है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुंडलिनी चक्र, ब्रह्मरंध्र आदि यौगिक शब्दों या प्रतीकों द्वारा साधना के मार्ग की ओर संकेत कर उन्होने ब्रह्मानन्द का स्वरूप समझाने की चेष्टा है।

स्वाभाविक रहस्यवाद वहा है, जहा परमात्मा से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती हुई आत्मा आलौकिक आनन्द का अनुभव करती है। इस दशा में जो आनन्द होता है उसे प्रकट करना भाषा शक्ति से परे है। इसी से उसमें रहस्यमयता आ जाती है। जिस स्थिति में पहुँच कर रहस्यवादी अपने आनन्द का परिचय देता है, वह सामान्य व्यक्ति के लिए रहस्य ही बनी रहती है। कबीर ने इस स्थिति के लिये कहा है—"हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराय। बूंद समानी समुद में, सो कत हेरी जाय।" आनन्द की अधिक तीव्रता के समय का चित्र देखिये—"गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहर गभीर। चहुँ दिसि दमकै दामिनि, भीजै दास कबीर।" प्रियतम की विरहिणी आत्मा की पुकार है—

"बालम आओ हमारे गेहरे, तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको यही अदेह रे।"

यह अद्वैतवादी रहस्यवाद के उदाहरण है, जिनमें आत्मा परमात्मा के विरह मिलन की अनुभूतियों को वाणी द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया हैं।

बेदांत में सूफी मत की 'पीर' मिलकर कबीर के भावात्मक रहस्यवाद की सृष्टि हुई है। कुछ लोगों की संमति में कबीर का यह रहस्यवाद "सर्वत्रभावुक का रहस्यवाद" नहीं है क्योंकि उसमें ब्रह्म के जगत में व्याप्त होने का भावात्मक वर्णन नहीं हैं जैसा कि जायसी में है। लेकिन ऐसा समझना भूल है। सरसता की दृष्टि से इन दोनों के रहस्यवाद में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल सीमा और क्षेत्र के कारण है। साधारणत: कबीर में साधनात्मक और भावात्मक रहस्यवाद की सफल व्यंजना मिलती है और रसिक के लिये तन्मय होने की पर्याप्त सामग्री उसमें प्रस्तुत है।

उलटवाँसियाँ:—भाव प्रकाशन की शैली मात्र है। किसी भी बात को उलट कर कहने से साधारण पाठक उसे देखकर आश्चर्य चकित हो उठता है। उलटवासियों द्वारा किसी बात को कहने से उसके आकर्षण की शक्ति अत्यन्त तीव्र हो जाती हैं। वे लोग साधारण जनता पर आतक एव प्रभाव जमाने के लिये इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे। यह भाषा 'संध्या भाषा' कहलाती थीं क्योंकि इसका अर्थ भी सध्या के समान सुन्दर होनेके साथ ही साथ संध्या के समान अस्पष्टता और धुंधलापन होता था। समाज में वारुणी पीना महा पाप हैं पर वारुणी पीना जब भले पुरुषो का धर्म बताया गया तो पाठक भयभीत हो उठा। उसका ध्यान इस कथन ओर आकर्षित हुआ। तुरत शंका का समाधान भी होता गया कि तालु के नीचे जो चद्र स्थित हैं, वहां से अमृत झरा करता हैं यही अम्रत रस, वारुणी या महा वारुणी है। दूसरा उदाहरण बाल-विधवा का लीजिये समाज बाल बिधवा का सम्मान माता और बहिन की दृष्टि से करता है। इसके प्रतिकूल कथन है कि 'बालरंडा' को बलपूर्वक ले जाना और इसका उपयोग करना विष्णुपद पाना है। परंतु हमारे समाज मे बलात्कार तो अति ही नीच और घातक कर्म है। परन्तु इस शंका का समाधान यह हुआ कि बालरंडा (बालबिधवा) तो कुंडलिनी है, जिसे सुषम्ना में ऊपर उठाना मुक्ति का साधन है। इस प्रकार के विरोधाभास 'हठ योग प्रदीपिका' में पाये जाते हैं।

कबीर रचित उलटवाँसियो में समाज के विपरीत विषयो को लेकर रूपकों की रचना हुई है। इन रूपकों में प्रथम तो ब्रह्म माया और जीव के रुपक है और दूसरी हटयोग की साधना के। कबीर की उलटवासियो में पाठक और श्रोता के लिये सुलझाने का निमंत्रण भी है। उपदेशो के प्रति उपेक्षा रखने वाला भी एक बार इन आह्वानों की ओर अवश्य आकर्षित हो जाता है जैसे कबीर की ललकार है कि—"पंडित होइ सो पढ़हि बिचारै, मूरख नाहिन बूझै।" और " कहैं कवीर ताहि गुरु करौ, जो या पदहि विचारै।"

उलटवासियों मे विरोधाभास का विषय पशुओ के जन्मगत बैर और

पारिवारिक संबंध है। हमारे निकट की इन सर्व सुलभ घटनाओं का विरोधाभास जनता को अधिक आकर्षित कर सकता है। यदि कहें कि 'गाई नाहर खायौ काटि काटि अंगा' या 'हरीन खायौ चीता' तो सहज में कोई मानने को तैयार न होगा और यदि कहें कि माँ के पहले ही पुत्र उत्पन्न हो गया तो इस असम्भव कथन पर लोगों को हंसी आयेगी। इन रूपकों को जब सुलझाकर स्पष्ट किया जाता था तब श्रोता दाँतो तले उंगली दबा लेता था। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा "एक अचंभा देखा रे भाई, ठाड़ा सिंह चरावै गाई' इसका साधारण अर्थ यह हुआ कि हे भाई एक अचभा देखो, सिंह खड़ा खड़ा गाय को चरा रहा है। यह बात असभव प्रतीत होती है पर जब इसका भावार्थ स्पष्ट किया जाता है तो यह अर्थ निकलता है कि 'ज्ञान द्वारा वाणी समृद्ध होती है।' यहाँ सिंह ज्ञान का प्रतीक है और गाय वाणी की।

प्रश्न ३—सिद्ध कीजिए कि कबीर अपने समय की सांस्कृति और विचार धारा के प्रतिनिधि कवि थे।

उत्तर—कबीर को अथवा उनके काव्य को उस युग की संस्कृति और विचारधारा का प्रतिनिधि माना जा सकता है या नहीं इसके निर्णय के लिये तत्कालीन परिस्थिति, हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतियों एव प्रचलित धार्मिक विचारधाराओं का विवेचन आवश्यक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी युग का प्रतिनिधि अथवा लोकनायक उसे मानते हैं जो विभिन्नविरोधों में समन्वय स्थापित कर सके। कबीर के प्रादुर्भावकालीन भारतीय राजनीतिक स्थित अत्यन्त अशाँत थी। विदेशियो के आक्रमण के उपरात हिंदू-मुस्लिम संघर्ष उत्पन्न हो चुका था। शङ्कर का अद्वैत तथा रामानुज का विशिष्टाद्वैत हिंदू जनता को सान्त्वना न दे सका। हिंदू धर्म खतरे में था हिन्दी भाषा शैशवावस्था में थी। समाज में अंधविश्वास एव कुरीतियाँ फैल रहीं थी धार्मिक विश्वास में अस्थिरता आ गई थी। मूर्तिपूजा और सगुणोपासना की जड़ें हिल गई थी। ऐसी स्थिति में एकेश्वरवाद और निर्गुणोपासना ही पनप सकती थी। कबीर ऐसे ही संक्रांति काल में उत्पन्न हुये थे। उन्होंने इन दो

विरोधी—हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का संघर्ष देखा, एक निष्पक्ष एवं तटस्थ दर्शक की भाँति।

तत्कालीन प्रचलित धार्मिक विचारधाराओं में इस्लामी एकेश्वरवाद, शङ्कर का अद्वैतवाद, सिद्धों का हठयोग, वैष्णवों की भक्ति, सूफियों के प्रेम की पीर जनता में अपना प्रभाव जमाये हुए थे। कबीर ने एक सार-ग्राहक दर्शक के रूप में इनका अध्ययन कर अपने मतलब की वस्तु प्रत्येक से ले ली। उन्होंने अपने को राजनीति से सर्वथा पृथक रखा। उनका क्षेत्र तत्कालीन समाज और प्रचलित विचार धारायें थीं। इस प्रकार वे इन सब विरोधी मार्गों से प्रशस्त चौरस्ते पर खड़े होकर सबकी अच्छाई-बुराई को भली प्रकार देख सके। यह एक भगवदभक्त सुयोग था। कबीर ने इसका खूब उपयोग किया। अस्तु,

कबीर ने दोनों संस्कृतियों के मूलभूत सिद्धान्तों को शिरसा स्वीकार कर दोनों के बाह्याडम्बरों की जी खोलकर निन्दा की। उन्होंने केवल एक ईश्वर की उपासना पर जोर दिया। ईश्वर की दृष्टि में 'कीरी' और 'कुंजर' समान हैं; ब्राह्मण और चाँडाल में कोई भेद नहीं। दोनों में एक ही ब्रह्म की ज्योति है। इस उपदेश द्वारा उन्होंने विभिन्न वादों के महारण्य में भटकती हुई जनता को, जनता की ही बोली में, मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखाया। कठिन और दुरूह धार्मिक सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल सीधी सादी भाषा में जनता के हृदयंगम कराया। जीवन के प्रत्येक अङ्ग की समीक्षा कर उन्होंने धर्म और जीवन को इतना सरल और सुगम साधना सम्पन्न बनाया कि वह प्राणों में निवास करने योग्य बन गया। उन्होंने अपनी अटपटी बानी एवं 'ऊबड़-खाबड़' शब्दावली द्वारा अनजान में ही एक ऐसी अटपटी भाषा का निर्माण किया जिसने सरस्वती को 'संस्कृत के कूपजल' से मुक्त कर भाषा के बहते नीर में स्नान कराया। उन्होंने भाषा और मतों में संकीर्ण क्षेत्र से दूर रह कर ही अपने काव्य की सृष्टि की थी। इसी कारण उनके काव्य में समन्वय एवं उदारता की प्रधानता मिलती है।

उन्होंने अपनी समन्वयात्मक एवं संग्रहात्मक बुद्धि द्वारा हिन्दू धर्म

और इस्लाम की एकता प्रतिष्ठित कर बताया कि संसार का सृष्टा एक ईश्वर है। सबके हृदय में एक ही ब्रह्म है। इस प्रकार दोनों धर्मों के अच्छे सिद्धान्तों का समन्वय कर उन्होंने एक नये पंथ का निर्माण किया। कबीर के धार्मिक मत एवं दार्शनिक विचारों की विवेचना पिछले प्रश्न में कर हमने देखा था कि कबीर मूलतः वैष्णव थे, यद्यपि विभिन्न मतों का उन पर प्रभाव पड़ा था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की सीमायें तोड़कर उन्हें एक करने का प्रयत्न किया। उपर्युक्त समन्वय के अतिरिक्त कबीर ने दोनों धर्मों के अन्धविश्वासों एवं वाह्याडम्बरो की. बिना किसी भेद भाव के अत्यन्त कटु आलोचना की धार्मिक स्थान , नाम ,साधन आदि का उनके निकट कोई मूल्य नहीं उन्हों ने एक अल्लाह, निरंजन , निर्लेप के प्रति लगन को ही अपना लक्ष्य घोषित किया रुढ़ियो और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वे आजीवन जूझते रहे, क्षमा की तलवार उसकाएकमात्र साधन था अकारण सामाजिक ऊँच-नीच मर्यादा के समर्थकों को वे कभी क्षमा नहीं कर सके।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कबीर " सिर से पैर तक मस्तमौला थे , स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़,भक्त के सामने निरीह भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल बाहर से कठोर,जन्म से अस्पृश्य, कर्म से बंदनीय थे। इस प्रकार हमने देखा कि कबीर ने अपने समय की परिस्थिति एवं संस्कृतियों का सुंदर समन्वय उपस्थित किया। उन्होंने खण्डन-मण्डन दोनों का सहारा लिया। उनके काव्य में तत्कालीन समाज का एक सजीव चित्र उतर आया है। कोई भी सहृदय पाठक कबीर के काव्य का अध्ययन कर तत्कालीन दशा का पूर्ण परिचय पा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का काव्य अपने युग का प्रतिनिधि काव्य है। प्रभाव, भावना की गहरी अनुभूति एवं स्वाभाविकता की दृष्टि से उस युग का अन्य कोई भी कवि उनकी समानता नहीं कर सकता। केवल कलापक्ष को ही साहित्य की कसौटी मानने वाले आलोचक भले ही कबीर के साहित्य में कला के दर्शन न कर सकें परन्तु उपयोगिता एवं प्रचार की दृष्टि से कबीर अपने युग के अग्रगण्य है। इसी

विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य हजारीप्रसाद उन्हें "साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के सृष्टा" मानते हैं।

प्रश्न ४—कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तर—कबीर और जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। डा० श्यामसुन्दरदास का मत है कि "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। जायसी आदि का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में थिगली सा लगता है।" इसके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्य-वाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है।" सामान्य पाठक इन दो विरोधी मन्तव्यों को पढ़कर भ्रम में पड़ जाता है।

यह स्पष्ट है कि साधना के क्षेत्र में कबीर और जायसी दोनों साधनात्मक रहस्यवाद (योग, तंत्र, रसायनादि) को मानते हैं। अन्तर केवल साधना के क्षेत्र में है। कबीर में अपने मिथ्यातत्व के कारण प्रकृति तिरष्कृत है परन्तु जायसी में "सर्व खल्विंद ब्रह्म" के कारण वही परमात्मा की झलक का कारण बन गई है। दूसरे शब्दों में कबीर में आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है और जायसी में प्रकृति परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाश होने के कारण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। कबीर में ज्ञान प्रेम पर विजयी हुआ है परन्तु जायसी में प्रेम ने ज्ञान पर विजय प्राप्त की है। परिणाम यह हुआ है कि एक ही लक्ष्य तक पहुँचने वाले इन साधकों की भावनाओं में पर्याप्त भेद हो गया है। वैसे जहाँ दोनों ने प्रेम की तन्मयता की अभिव्यक्ति की है वहा उनकी उक्तियों को देखकर ऐसा लगता है कि दोनो में कहीं भेद ही नहीं है। समानता के लिये विरह का निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा—

"हाड़ भये सब किंगरो, नसै भईं सब ताँति।
रोंव-रोंव सों ध्वनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥"—जायसी

"सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै सांई कै चित्त॥"—कबीर

इसी प्रकार अनेक उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि कबीर और जायसी दोनों की आत्मा का विरही रूप एकसा प्रतीत होता है विरह ही नहीं मिलन में भी उनकी आत्मा का स्वरूप समान प्रतीत होता है—

देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा।
गा अँधियार रैनिमसि छूटी, भा भिनसार किरन रवि फूटी॥

कबीर के प्रसिद्ध पद—'दुलहिन गावहु मंगलचार' में भी इसी उल्लासमय भावना की अभिव्यक्ति है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ विरह और मिलन की तीव्रता का वर्णन है, जहाँ शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर आत्मा के शोक और हर्ष की व्यजना है वहाँ कबीर और जायसी में कोई भेद नहीं है। सूफी सिद्धान्तों के परिणाम स्वरूप अभिव्यक्त होने वाली इस समान अनुभूति में कोई एक दूसरे से पीछे नहीं है। कहीं-कहीं तो यह पता लगाना भी कठिन हो जाता है कि प्रेम, विरह, मिलन की ये समान भावनाएँ जायसी द्वारा पहले लिख गई है या कबीर द्वारा या इन दोनों की प्रेरणा का स्रोत कोई तीसरा ही है।

जहाँ तक अन्तर का प्रश्न, जैसा कि पहले कहा गया है अन्तर प्रकृति को लेकर है। वेदान्तियों ने प्रकृति को जीव (आत्मा) और ब्रह्म (परमात्मा) के बीच बाधक माना है। इसलिए वहाँ प्रकृति या 'माया महाठगिनी' मानी गई है। जो आत्मा को भ्रम में डालकर परमात्मा से उसे दूर रखती है। इस कारण वेदान्तियों में उसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु सूफियों में सब कुछ उस अनन्त ब्रह्म की ही माया है और जो वस्तु उससे सम्बन्ध रखती है वह असत्य, अग्रहणीय और अनादरणीय न होकर प्रेमपूर्वक स्वीकार करने योग्य है। इस कारण वहाँ प्रकृति भी आत्मा के लिए परमात्मा के विरह मिलन की अभिव्यक्ति का एक साधन है। जब कोई सूफी प्रकृति को हर्षयुक्त दृष्टि से देखेगा तो कहेगा—

उन बानन्ह अस को जो न मारा, बेधि रहा सगरौं संसारा।
गगन नखत जो जाहि न गने, वे सब बान ओहि के हने॥

इसी प्रकार वियोग में उसके हृदय के उद्‌गारों का रूप प्रकृति को भी दुखपूर्णरूप में बदल देगा। वहाँ सम्पूर्ण प्रकृति वियोग पूर्ण हो उठेगी।

यदि प्रकृति के ससर्ग से निसृत उद्‌गारो को देखा जाय तो जायसी और कबीर की रहस्यवादी कविता का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। इन्हीं के कारण जायसी अधिक सरस हैं। कबीर मे एक तो ज्ञान की अक्खड़ अभिव्यक्ति ही शुष्क है फिर वहाँ से प्रकृति भी निर्वासित है, इसलिए वह और भी अधिक शुष्क हो उठा है। लेकिन यदि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा के मिलन की शुद्ध सात्विक अनुभूति है तो न कबीर शुष्क रहते हैं और न जायसी रसमय। कबीर ने केवल आत्मा की बात कही है और न जायसी ने जगत को लिया है। कबीर भी यदि कथा का आधार लेते तो जायसी की भाँति सरस होते और जायसी यदि कथा को छोड़ देते तो वह शुष्क होते। प्रकृति सौन्दर्य के पुट ने ही जायसी को सरसता दी है। कबीर जायसी के रहस्यवाद में यही अन्तर है।

प्रश्न १—सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक के जीवन की संक्षिप्त झलक देकर सन्त साहित्य में उसका स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—गुरु नानक का जन्म सम्वत् १५२६ कार्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ। इनके पिता कालूचन्द खत्री जिला लाहौर तहसील शकरपुर के तिलवडी नगर के सूबा तुलार पठान के कारिन्दा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। ये बाल्यावस्था से ही अत्यन्त साधु स्वभाव के थे। सम्वत् १५४५ में इनका विवाह गुरुदासपुर के मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ जिनसे इनके दो पुत्र श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द हुए। श्रीचन्द आगे चलकर उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए।

पिता के भरसक प्रयत्न करने पर भी ये बाल्यावस्था से ही सासारिक व्यवसायों तथा व्यवहारों से दूर रहे। एक बार, इनके पिता ने व्यवसाय के लिए धन दिया जिसे इन्होंने साधुओं और गरीबों में बाट दिया। इसी

प्रकार की उनके विषय में अनेक जन्म साखियां हैं जिनसे इनके जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है जिसमें कुछ कपोल कल्पित भी हो सकती है। ये जन्म साखियाँ अधिकतर पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि में मिलती है।

१—जे० डब्ल्यू यंग सन को अमृतसर में मिली साखी के आधार पर गुरुनानक जनक के अवतार माने गए है। उसमें लिखा है कि राजा जनक ने एक बार नरक की यात्रा की थी जिसमें उन्होंने सत्युग त्रेता और द्वापर के पापियों का तो उद्धार कर दिया किन्तु कलियुग के पापियों का उद्धार नहीं कर सके थे जिनका उद्धार करने के लिए वे ही जनक अब गुरुनानक से रूप में अवतरित हुए हैं।

२—एक साखी का अनुवाद ई० ट्रम्प ने किया है जिसका रचनाकाल १६ वीं शताब्दी का अन्त या १७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है। इस साखी पर पांचवे गुरु श्री अर्जुनदेव के हस्ताक्षर हैं और वह उन अक्षरों में लिखी गई है जिस पर ग्रन्थ साहिब की सबसे प्राचीन लिपि है। अतः यह अधिक विश्वस्त है।

३—एम० ए० द्वारा परिचित कराई गई जन्मसाखी का समय सन् १५८८ माना गया है। उसमें भी गुरुनानक के महत्व को प्रकट करने वाली अनेक कथाएँ हैं।

ये सभी जन्मसाखियाँ नानक के जीवन का काफी परिचय देते हैं।

गुरु नानक का बचपन प्रकृति के आंगण में व्यतीत हुआ था। छुटपन से ही ये मौन रहकर विचारों में डूबे रहते थे। साधु और फकीरों का सङ्ग भी करते थे जिससे पिता इनसे काफी रुष्ट रहते थे। ध्यान मग्न रहने के कारण ये अधिकाँश सभी कार्यों को बिगाड़ दिया करते थे। पिता के आग्रह से इन्हें नौकरी भी करनी पड़ी किन्तु नौकरी के समय तक ये बड़े ही सावधान और आज्ञाकारी रहे। उस बीच में भी ये दिनभर काम करते और रात को गीत बनाया करते थे। इनका एक गायक मित्र भी था जो इनके गाने के समय रबाब बजाया करता था। एक बार वेन नदी में स्नान करते समय इन्हें आत्म-ज्ञान हुआ और इन्होंने ईश्वर की दिव्य विभूति देखी। उसी समय से इन्होंने नौकरी छोड़कर पर्यटन प्रारम्भ किया। और अपने

सिद्धान्तों का प्रचार किया। अन्त में सम्वत् १५९५ में करतारपुर आकर इन्होने अपने परिजनों के बीच महाप्रस्थान किया।

गुरु नानक के दार्शनिक सिद्धान्त अधिकांश में कबीर से मिलते जुलते हैं जो इस प्रकार है—(१) एकेश्वरवाद, (२) हिन्दू मुसलमानों में अभिन्नता, (३) मूर्ति पूजा विरोध।

पंजाब में मुसलमान बहुत समय से बसे हुए थे जिनसे एकेश्वरवाद का सस्कार धीरे धीरे वहाँ पर जमना स्वाभाविक था। फलतः वहाँ के लोग बहुत से देवी देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्वपूर्ण और सभ्यता का चिन्ह समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन पाठन का क्रम मुसलमानों के प्रभाव से उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्वों को समझने की शक्ति लोगों में नही रह गई थी। परिणाम यह हुआ कि जहाँ बहुत से लोग जबरस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौकिया ही मुसलमान बनते जाते थे। ऐसी दशा में 'निर्गुण संत-मत' ही एक बहुत सहारा समझा गया जिसका प्रवर्तन कबीर ने किया था।

गुरु नानक धार्मिक प्रवृत्ति के होने के कारण इस ओर आकर्षित हुए क्योंकि इस प्रकार की उपासना में हिन्दू और मुसलमान समान ही होते हैं। अन्त में उन्होंने भी घर छोड़कर कबीर की निर्गुण उपासना का प्रचार किया सिक्ख साम्प्रदाय के आदि संस्थापक बनकर गुरु नानक के नाम से प्रख्यात हुए।

इन्होंने सिक्खों को आदेश दिया कि साधक निरन्तर हरिनाम श्री वाह गुरु का जप करता रहे, साथ ही दूसरों की सेवा में तन-मन धन से तत्पर रहे। उनके उपदेश में ग्रहस्थाश्रम को पुष्ट करके चरित्र बल को प्रमुख स्थान दिया गया था। इनकी इसी साधना के कारण इनका जन्म स्थान आज 'ननकाणा साहिब' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके बचपन मे कार्य भी इसी प्रकार के होते थे। ये खेलते बहुत कम थे। एक बार माता के आग्रह से कुछ बच्चों के साथ खेलने गए तो सभी बच्चों को पद्मासन लगाकर एक गोल पक्ति में चुपचाप बैठा लिया और कहा कि 'सत्य कर्तार' 'सत्यकर्तार' करते रहो। बड़ी देर तक बच्चे इसी प्रकार समाधिस्थ रहे। आश्चर्य की

बात यह है कि आरम्भ में इनको हिन्दी, संस्कृत और फारसी पढ़ाने के लिए तीन अध्यापक रखे गये किन्तु आगे चलकर गुरु नानन के ये तीनों ही शिष्य बन गये। बाबा कृष्णानंद जी उदासीन ने गुरु नानक की जीवनी बड़े ही विस्तार से लिखी है। इसका नाम "जनम साखी" अथवा 'नानक सत्य प्रकाश' है। इसी प्रकार "नानक सूर्योदय जनम साखी" लगभग ६०० पृष्ठो का एक महान् ग्रन्थ पद्य में लिखा है जिसमें नानक की जीवनी है। यह गुरु मुखी भाषा से भाषातर होकर हिन्दी में आया है। भाषान्तरकार इसके अंत में लिखते हैं—

"हसबुल हुक्म खुदावन्द न्यामत श्रीमान श्री महाराज विजयचन्द साहिब बहादुर वालिए मुल्क कलहूर के कमतरीन बन्दह मुनशी निहालसिंह मुदर्रिस कुम्हारवीं ने गुरुमुखी ग्रन्थ से नागरी अक्षरों में अजमाह मघरतामाह असौज ११ ग्यारह माह अर्से में उत्थान किया और सम्वत् १९५४ असौजगत २० सोमवार के दिन लिखकर सम्पूर्ण किया।"

आप साधु संतों की बड़ी सेवा करते थे। एक बार आटा तौलते समय गिनते गिनते जब १३ पर आये तो गिनती भूल गए और 'तेरा-तेरा कहते हुए सारा आटा दे डाला। आपका ब्रह्म में अखण्ड विश्वास था। आप उसे सर्व व्यापी मानते थे। एकबार जब वे सर्वत्र भ्रमण करते करते मक्का शरीफ पहुँचे तो काबे की ओर पैर करके सो गए। इस पर काजी क्रुद्ध हुआ तो आपने कहा—काजी जी जिधर अल्लाह का घर न हो मेरे पैर उधर ही कर दीजिए कहा जाता है कि काजी ने नानक के पैर जिधर फेरे काबा भी उधर ही फिरता गया। आपके अन्तिम सस्कार के लिए हिन्दू, मुसलमान सिख झगड़ने लगे, क्योंकि वे सबके थे। अन्त में जब इनके कफन का वस्त्र हटाया गया तो वहाँ शव था ही नहीं। अतएव, आधा वस्त्र लेकर मुसलमानों ने कब्र बनाई और आधा वस्त्र हिन्दू सिखों ने लेकर संस्कार किया।

आपके उपदेशों और वाणियों को सिक्खों के पंचम गुरु अर्जुनदेव ने सङ्कलित किया—जपुजी, पट्टी, आरती, दक्षिणीय ओंकार, सिंहगोष्ठी आदि आपकी प्रसिद्ध वाणियाँ हैं। आपने 'संत' का परिचय इस प्रकार दिया है—

जिना सासि गिरासिन विसरै, हरि नामाँ मनि मत ।
धन्नसि सेई नानका, पूरन सोई सन्त ॥

× × ×

आठ पहर निकट करि जानै, प्रभु का कीआ मीठा मानै
एकु नामु संतत आधारु, होइ रहै सभ की पग छारु ॥

संत की रहनि में अन्तर्मुखता, दीनता, सेवा, बन्दगी ये ही चार बातें मुख्य रूप से नानक ने स्वीकार की है। जपुजी सिक्खों की गीता है जिसमें नानक के नाम की महिमा गाई है। उनका कहना है कि जिस प्रकार हाथ पैर में कीचड़ लग जाने पर हम पानी से धो डालते हैं उसी प्रकार यदि हृदय में पाप का कीचड़ लग जाय तो वह हरि के नाम से धोया जा सकता है। यह नाम ही आवागमन को बन्द कर देता है। नाम की साधना से जाति आश्रम, ब्रह्म, चाण्डाल, पुरुष-स्त्री आदि का भेद या प्रतिबन्ध नहीं है। उनका कहना है कि नाम के बिना सारा साधन, उसी प्रकार है जिस प्रकार मुर्दे का सिंगार। 'सरब बियापक' और सरब प्रीत पालक' के दर्शन एकमात्र नाम की साधना से ही हो सकते हैं। किन्तु उसे पाने के लिए न जङ्गल में जाने की आवश्यकता और न भभूत रमाने की आवश्यकता है— "काहेरे बन खोजन जाई' 'वह' तो घर मे ही रहकर मिल सकता है। इस विषय में नानक के निम्न प्रमाण है—

"रे मन राम सों कर प्रीति
श्रवण गोबिन्द गुण सुनो और गाओ रसना गीत।
करि साधु संगत सुमिरि माधो होय पतित पुनीत ॥
काल व्याल सों ग्रस्यौ डोलै मुख पसारे मीत।
कहै नानक राम भजले जात अवसर बीत।"

किन्तु यदि "गुरु प्रसादी राम मुनि बसै, ताफल पावै कोई।" अतः यह नाम गुरु मुख से प्राप्त होना चाहिए। नामकी साधना से ही नाम की सिद्धि होती हैं। सिद्धि रूप नाम में हमारा मन, वाणी, हमारे कर्म एकमात्र उस

'नाम' का उच्चारण करते है—रोम रोम से हरि-हरि का उच्चारण स्वतः ही प्रस्फुटित होने लगता है । इसके लिए नानक ने साधक के सर्वात्म समर्पण, निःशेष आत्म समर्पण को अनिवार्य माना है । उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि जिस प्रकार 'तिरियाँ' अपने 'पुरुष' का स्मरण करती है उसी प्रकार साधक अपने परम प्रियतम प्रभु का स्मरण करता रहे । नानक की साधना का प्राण ही "नाम सिमरण" "हरि-कीरतन" और 'प्रेम भगति" है ।

आपने पाँच बार में नमाज पढ़ने को पाँच शुभ कार्मों के रूप में देखने की आज्ञा दी है—

१—उस सत करतार का जिसने सबको बनाया है—स्मरण करे और बार बार उसी का ध्यान धरे ।

२-धर्माधर्म का ध्यान रखे कि अपने से किसी को दुख न होने पाये ।

३—सदा उस मालिक की नेकी को याद रखे ।

४—अपने चित्त की वृत्ति को रोके कि वह बुरी वासनाओं में न फँसे ।

५—सदैव वाणी से, मन से, प्राण से, साँस से उसी खालिक करतार के नाम की रट न लगाये रहे ।

निम्न पद में नानक के अपने कुटुम्ब का परिचय उनकी अनन्य उपासना का प्रमाण है—

खिमा हमारी माता कहिए, सन्तोष हमारा पिता ।
सत हमारा चाचा कहिए जिन संग मनुआ जीता ।।
भाव भाई संग हमारे, प्रेम जत सो साँचा ।
धी हमारी धीरज बनियें, से सङ्ग हम राँचा ।।
शान्ति हमारी संग सहेली सत्त हमारी चेली ।
ये भी कुटुम हमारे कहिए साँस साँस सग खेली ।।
एक उंकार हमारा खाविंद जिन हम बनत बनाए ।
उसको त्याग अवर को लागे नानक सो दुख पाए ।।

इसी ओंकार का अमृत रस पीकर नानक मस्त हैं—

अवर स्वाद सब फिक्के लागे जब सच नाम सुख दीया ।

कह नानक सो खरा स्वादी एक उंकार रस पीजै ॥

नानक का साथी केवल वही है जो नाम का प्रेमी है— "हमारे मत मह्रँ कोऊ आवै सीताराम गाइ सुख पावै।" इसके लिए वाह्यवेष की आवश्यकता नहीं अन्तर में प्रेम का होना अनिवार्य है। नानक ने उस परम पुरुष सत करतार की आरती कितनी भव्य उतारी है—

गगन में थाल रविचन्द दायक तार का मण्डल जनक मोती।
धूप मल्लान लो पवण चँवरो करे सगल बनाइ फुलत जोती॥
कैसे आरती होइ अब खडवा तेरी आरती अनहदा शब्द बाजत मेरी।
सहस तबनन नैन है तोहि को सहस मूरति नना एक तोही।
सहस पद विमल नन एक पद गध बिनु सहस तब गध इव चलत मोही॥

जहाँ भी जो कुछ चाँदनी है वह उसी परम प्रभु के रूप की परछाहीं है और उसके चरणों में एक लोभी भौंरे की तरह नानक मकरद पान कर रहे हैं—

सब में ज्योति ज्योति है सोई।
तिसके चानणि सब महि चावणि होई॥

हरि चरण कमल मकरद लोभित मनो अनदिनो मोहि अन्हि प्यासा।
कृपा बल देहि नानक कौ होइ जातें तेरे नाई वासा॥

उनके गीतो का सग्रह (सं० १५६१) ग्रन्थ साहब में किया गया है ये भजन कुछ तो पजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्य भाषा में है। यह हिन्दी कहीं तो देश की काव्य भाषा या ब्रजभाषा है, कहीं खड़ी बोली, जिसमें इधर-उधर पंजाबी के रूप भी आगए है; जैसे— चल्या, रह्या। भक्ति या विनय के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा में कहे गए हैं; कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिए टेढ़े-मेढ़े, रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभाव शून्यता का परिचय मिलता है। संसार के सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप एक पद दिया जाता है-

इस दमदा मैनूं कीवें भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह ससार रैन या सुपना, कहीं देखा कहीं नाहिं दिखाया॥

सोच विचार करे मत मन मैं जिसने ढूंढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद पर से निसदिन रानचरन चित लाया॥

प्रश्न २–दादूदयाल के जीवनकाल का परिचय देते हुए उनकी सैद्धांतिक एवं काव्यगति विशेषताओं से परिचय कराइए।

उत्तर—सिद्धांततः दादू कबीरदास के अनुयायी होते हुए भी अपनी विशेषताए अलग रखते हैं। उन्होने अपना अलग पंथ चलाया था जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादू पंथी लोग इनका जन्म गुजरात के अहमदामाद नामक स्थान में चैत्र सुदी अष्टमी गुरुवार विक्रम सं० १६०१ तदनुसार सन् १५४४ को हुआ था। इस प्रकार कवीर के ब्रह्मलोक गमन के २६ वर्ष पश्चात हुआ था। किन्तु डा० रामकुमार वर्मा ने इनका जन्म सं० १६५८ माना है। उन्होंने लिखा है कि दादू अकबर के समकालीन थे। दादू के शिष्य जनगोपाल ने लिखा है कि दादू और अकबर में धार्मिक वार्तालय भी हुआ करता था। गार्साद तासी के अनुसार दादू रामानन्द की शिष्य परम्परा में छठे शिष्य थे। शिष्यों का क्रम इस प्रकार है—रामानन्द कवीर—कमाल—जमाल—विमल —बुद्धन--दादू। दादू पंथियों के अनुसार ये गुजराती ब्राह्मण थे। किन्तु जनश्रुति इन्हें धुनियाँ मानती है। मोहसिन फानी इन्हें धुनियाँ ही मानते हैं। विल्सन ने भी इसी मत का अनुकरण किया है। फर्कहार और ट्रेल इन्हें ब्राह्मण मानते है, किन्तु सुधारक द्विवेदी का कथन है कि दादू मोची थे और मोट बनाया करते थे। पहली स्त्री की मृत्यु होने पर ये वैरागी हो गए। इनका पहला नाम महाबली था। इनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ था किन्तु इन्होंने अपने जीवन का अधिकाँश भाग राजस्थान के नराना और भराना नामक स्थानों में व्यतीत किया। ये इतने अधिक दयालु थे कि लोग इन्हें आगे चलकर दादू दयाल के नाम से पुकारने लगे थे। दादू पंथियों का कहना है कि दादू का जन्म लोदीराम ब्राह्मण के घर में हुआ था। लोदीराम के कोई सन्तान न थी। एक दिन भगवान की दया से साबरमती नदी में बहता हुआ एक सन्दूक देखा और निकाल कर घर ले आये। देखने पर उसमें परम ज्योतिमय छोटासा बालक

हँसता हुआ लेट रहा है। इस भगवान के दिये हुये बालक को लोदीराम ने अपनी स्त्री को दे दिया और बालक को देखते ही उनकी स्त्री के स्तनों में दूध उमड़ आया। कहा जाता है कि ११ वर्ष की अवस्था में स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने इन्हें एक वृद्ध महात्मा के रूप में दर्शन देकर तत्व ज्ञान का उपदेश किया।

उन्नीस वर्ष की अवस्था में ये घर से निकल पड़े और जयपुर राज्य के साँभर गाँव में पहुँचे। बारह वर्ष तक घोर तपस्या और योग साधन द्वारा उन्होंने पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा, छापा तिलक आदि को वे सच्चे साधक के लिए व्यर्थ बतलाते थे। वे अहिंसा, सत्य क्षमा, दया आदि सात्विक गुणो की प्राप्ति के लिए साधन करने वाले को ही साधु मानते है। इनके सत्संग स्थान का नाम 'अलख दरीबाँ' था। हिन्दू और मुसलमान से कोई आग्रह नहीं था। इनके शिष्य दोनों ही थे। दादू पंथियों ने अपने साम्प्रदाय का नाम परब्रह्म सम्प्रदाय रखा। दादू विवाहित थे और उनके दो पुत्र तथा पुत्रियाँ भी थी। दादू का परमपद प्रयाण नारायण नामक कस्वा में १६६० में हुआ था।

दादू पंथियों में दो प्रकार के साधु पाए जाते है—एक भेषधारी विरक्त जो गेरुये कपड़ों में रहते है और पठन पाठन तथा भजन में अपना पूरा समय लगाते है। दूसरे नागा है जो सफेद सादे कपड़ों में रहते है और सभी प्रकार के लोक व्यवहार का कार्य करते हैं ये नागा साधु कहलाते। जिनकी फौज जयपुर मे है। दोनों ही प्रकार के साधु विवाह नहीं करते। कबीर पंथियो की तरह ये भी तिलक कण्ठी आदि कुछ प्रयोग नहीं करते केवल हाथ में 'सुमिरनी' रखते हैं। ये लोग परस्पर मिलते समय 'सत्त राम' कहते है।

दादू की कविता बड़ी ही प्रभावोत्पादिनी है। उसमे विरह की सुन्दर और मार्मिक अभिव्यक्ति है। इस विरह का क्रमिक विकास हमें दादू की कविता में मिलता है। सबसे पहले तो उस 'पीव' (ब्रह्म) से परिचय होना आवश्य है जिससे धीरे-धीरे पहिचान, प्रेम और अधिक गहरापन बढ़ता ही जाता है। उसके बाद दोनों का संयोग होना आवश्यक है।

किन्तु संयोग के पश्चात् ही यकायक एक ऐसा झोंका आता है जो तुरन्त ही वियोग की अवस्था ला उपस्थित कर देता है। दादू की कविता में वियोग का यह क्रम मिलता है और बड़े ही सुन्दर रूप में।

परिचय के लिए किसी अन्य व्यक्ति का होना अत्यावश्यक है जो उस 'पीव' (ब्रह्म) की सम्पूर्ण विशेषताओं उससे मिलने की सम्पूर्ण अवस्थाओं का पूर्ण विस्तार और सूक्ष्मता के साथ वर्णन करता है। इसके लिए गुरू से बढ़कर और कौन हो सकता है। दादू ने भी इसके लिए उसी गुरू का बहुत बड़ा महत्व माना है। गुरू से प्राप्त 'राम नाम' के 'सुमिरन' के सम्बन्ध में दादू साहब ने बड़े ही ओज भरे, आनन्द भरे शब्दों में गाया है—

एकै अन्छर पीव का सोई सतकरि जाणि।
रामनाम सतगुरू कह्या दादू सो परवाणि॥

इसी गुरू द्वारा दादू ने पीव को पहचाना और उसके बिछुड़ने के बाद वियोग की गहरी पीड़ा का अनुभव किया—

दादू तलफै पीवसों विरही जन तेरा
सिसकै साई कारणों मिलि साहिब मेरा
तलफि तलफि विरहिन मरै करि करि बहुत विलाप
विरह अगिनि में जल गई पीव न पूछै बात
पथ निहारत पीव का विरहिन पलटे केस
विरहिनि दुख कासौं कहै कासौं देइ सन्देश
विरह जगावे दरद को दरद जगावै जीव
जीव जगावै सुरति को पच पुकारै पीव

विरह की इस 'तालाबेली' में पिय का पथ निहारते जीवन का सुनहला यौवन खिसक गया, परन्तु प्रीतम न आए। जीवन की हरियाली साध न मिटी—

ना बहु मिलै न मैं सुखी कहु क्यों जीवन होइ।
जिन मुझको घायल किया मेरी दारू सोइ॥

दर्शन कारण विरहिनी वैरागिनि होवै।
दादू विरह वियोगिनी हरि मारग जोवै॥
दादू दरुने दरदनन्द यहु दिल दरद न जाय।
हम दुखिया दीदार के महरवान दिखलाइ॥

उन्होंने अपने विरह वर्णन में सूफी धर्म की चार मंजिलों की ओर इशारा किया है—वे चार मंजिलें हैं—शरीअत, (कर्मकाण्ड) तरीकत, (उपासनाकाण्ड), हरीकत (ज्ञानकाण्ड), मारिफत अर्थात् (विज्ञानकाण्ड)।

जब इन्हें अपने पीव से साक्षात्कार होता है तो प्राणों में एक ही नशा छा जाता है; क्यों कि उसके स्पर्श से प्राण बेसुध हो जाते हैं—

विगसि विगसि दरसन करै, पुलकि पुलकि रसपान।
मगन गलित माता रहै आस पास मिलि प्रान॥
निरखि निरखि निज नाँव ले, निरखि निरखि रस पीव।
निरखि निरखि पिव कौं मिलै, निरखि निरखि जीव॥

जिस प्रकार पानी में नमक घुल जाता है उसी प्रकार आत्मा में परमात्मा का विलय हो गया है—

सूरति रूप सरीर का, पिव के परसै होइ।
दादू तन मन एक रस, सुमिरन कहिए सोइ॥
आमर पतसौ आतमा, ज्यों पानी में लूँण।
दादू तनमन एक रस, तब दूजा कहिये कूँण॥

इस प्रकार दादू साहब ने अपनी रहस्य भावना को विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्त किया है। दादू ने इस आध्यात्मिकता को अनेक सामान्य उदाहरणों द्वारा बड़े ही रोचक और ग्राह्य ढंग से व्यक्त किया है—

दादू दुनियाँ बावरी, कहै चाम से राम।
पीट पाट डागरनि कूँ करै आपनौ काम॥

———

सुन्दरदास जी

प्रश्न १—महात्मा सुन्दरदासजी की भक्ति की अनन्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—महात्मा सुन्दरदास जी दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में से थे। इनके जन्म का वृतान्त बड़ा ही महत्वपूर्ण कुतूहलमय है। इन्हें अपने गुरु की आज्ञा से सती के गर्भ में रहना पड़ा। एकबार दादू के एक प्रेमी जग्गाजी आमेर नगर में अपने वस्त्र बुनने के लिए सूत माँग रहे थे और अपनी उमङ्ग में यह हाँक लगाई—"दे माई सूत ले माई पूत।" एक क्वारी कन्याने सूत देते हुए कहा—"लो बाबा सूत" उधर जग्गा ने कहा—'ले माई पूत'। उस कन्या के भाग्यमे बालक का जन्म था ही नहीं। यह बात जब गुरु को पता चला तो बड़े चिंतित हुए। अन्त में जग्गा जी को ही उस कन्या के गर्भ में वास लेना पड़ा और नौ माह बाद चैत सुदी नवमी सं० १६५३ को उस कन्या के गर्भ से सुन्दरदास जी का जन्म हुआ इसमें सत्य कितना यह है कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

सुन्दरदास ने अपने गुरुदेव की महिमा का गान बड़े ही रोचक और सश्रध्दा गान किया है। उन्हीं की कृपा से सुन्दर को ज्ञान प्राप्त हुआ, ईश्वर की अनन्यता को समझा और अन्य संत कवियों की भाँति उसे अपनी कविता में व्यक्त किया। उन्होंने अपने को पूर्ण रूप से भगवान के हाथ में सौंप दिया था। इतनी पूर्णता के साथ सौंपा कि वे अपने में और भगवान में कुछ अन्तर ही नहीं समझ पाते थे। वस्तुतः उन्होंने इन शब्दों को अपने जीवन में ही चरितार्थ कर दिया—"Seeking nothing, give thyself utterly to me."

आत्मा की वास्तविकता की अनुभूति सुन्दरदास को ही हुई जो भारत की सदैव से ही एक महान विशेषता रही है और इस विशेषता के कारण ही भारत का अस्तित्व है। उपनिषदो में भी यही तत्व पाया जाता है कि अन्त में हमें एक (ब्रह्म) में जाकर लय हो जाना है। उस एक में जिसमें हम अपना नाम रूप खोकर पूर्ण तन्मय तल्लीन तदाकार हो जायंगे।

महात्मा सुन्दरदास जी एक बड़े ही आत्मदर्शी हरिचरणानुरागी सन्त थे। ज्ञान की चरमावस्था में पहुँचकर सन्त का जीवन हरिमय हो जाता है' उसका खाना-पीना, सोना-जागा, उठना वैठना सब हरि के लिये है, हरिमें, हरि के पूजा स्वरूप होता है और उसमें प्रेरणा का अमृत भी प्रतिक्षण उसी हरि के द्वारा प्राप्त होता रहता है। संत का मुख सदैव हरि की ओर ही रहता है। जहाँ आखें गई वहाँ हरि जहाँ हाथ गया वहीं हरि का स्पर्श जहाँ पर भी पैर पहुँचे वहीं हरि का मन्दिर। सत कहीं भी रहे सदैव वहीं उसके समीप रहता है—

बैठत रामहि उठत रामहि।
बोलत रामहि राम रह्यौ॥
जीमत रामहि पीवत रामहिं।
घामहिं रामहि राम गह्यौ है।
देतहु रामहि लेतहु रामहि।
सुन्दर रामहि राम रह्यौ है॥

सुन्दरदास जी ने वास्तविक तत्व को भली प्रकार समझ लिया था कि यह अन्तर का पक्षी (जीव अथवा आत्मा) के लिये ही व्यक्ति का सर्वत्र महत्व है। इसके बिना जड़ शरीर का महत्व ही क्या है। फिर हमें क्यों न उसी अन्तर के 'पक्षी' को पहचानना चाहिए। क्यों न हमें सब कुछ का मोह छोड़ कर उसी 'पक्षी' से नाता जोड़ना चाहिए, क्यों न एकमात्र उसी को अपनावें। क्योंकि उस पक्षी के उड़ते ही शेष सबसे नाता टूट जाता है या सभी नाता तोड़ बैठते है। अत: पिंजड़े का महत्व नहीं उसमें चहचहाते हुये पक्षी का महत्व है।

उनका विश्वास है कि केवल उस ब्रह्म के अतिरिक्त सांसारिक व्यक्त कभी भी अपनी दीनता को दूर नहीं कर सकता। अतः दीनता तो केवल उसी के प्रति लानी है। कऊँकि—

होइ निचिंत करै मत चिंतहिं।
चौंच दई सोइ चिंत करैगो।

पाँव पसारि पर्यो किन सोवत ।
पे दियो सोइ पेट भरैगो ॥
जीव जिते जलके थल के पुनि ।
पाहन में पहुँचाइ धरैगो ।
भूखहि भूख पुकारत है नर ।
सुन्दर तू कह भूख मरैगो ॥

बात भी ठीक है। आदि मध्य और अंत में एकमात्र हरि का ही तो आश्रय होता है फिर चिन्ता क्या करनी। इसीलिए सुन्दरदास जी दृढ़ता और विश्वास के साथ अपनी बात को डंके की चोट कहते हैं—

भाजन आप गढ़े जितने,
मरिहैं मरिहै मरिहै मरिहैं जू।
गावत हैं जिनके गुण कूँ,
ढरिहै ढरिहै ढरिहैं ढरिहै जू॥

× × ×

सुन्दरदास सहाय सही,
करिहैं करिहै करिहै करिहै जू॥

भगवान का प्रेम पतिव्रता का सा अनन्य प्रेम है। उसके लिए सब कुछ हरि ही है। प्राणों की भीषण ज्वाला निश्चय ही एक न एक दिन पतिदेव के दर्शन और स्पर्श मात्र से मिट जायगी। किन्तु पतिप्रेम में अनन्यता की आवश्यकता है। क्योंकि प्रेमगली अति ही सकरी होती है इसमें दो तो किसी भी प्रकार नहीं आ सकते हैं अन्यथा—

जो हरि कौ तज आन उपासन,
सो मतिमद फजीअत होई।
ज्यूँ अपने भरतारहि छाड़ि।
भई विभिचारिनी कामिनी कोई।
सुन्दर ताहि न आदर मान,
फिरै विमुखी आपनी पति खोई॥

बूड़ि मरै किन कूप मँझार ।
कहा जग जीवत है सठ सोई ।।

उसकी दृष्टि किसी अन्य की ओर जाती ही नहीं। यदि ऐसा हो गया तो निश्चय ही पतन है। ठीक भी है और अन्य को देखने की आवश्यकता भी क्या है क्योंकि—

ललन मेरा लड़िला रूप बहुत तुझ माँहि।
सुन्दर राखै पलक में नैन उघारै नाहिं।।

वह तो "पूरन काम" है "सदा सुख धाम" है वह "निरंजन राम" सभी का "सिरंजन हारी" है। वह "दुख भजन, दरिद्र निवारन हारो" है। ऐसे राम को त्याग कर आने में अक्लमन्दी ही क्या है।

सुन्दरदासजी का जीवन के प्रति बड़ा ही विशाल दृष्टिकोण था। यद्यपि उसमें आध्यात्मिकता है अवश्य किन्तु वह व्यावहारिकता से एक साथ ही दूर नहीं जा पड़ी है। उनकी दृष्टि में दुख और सुख भगवान की दो भुजाएँ हैं जिनके द्वारा वह अपने प्रेमी का आलिगन किया करता है। उस आलिग में कभी एक भुजा की प्रमुखता रहती है तो कभी दूसरी की। उस प्रभु से हमारा पतिव्रत का सा जो सम्बन्ध है। यदि वह हमें सुखदे तो सुखी हों किन्तु जब दुख दे तो भी तो सुखी ही होना चाहिए। क्या प्रियतम की चपत में प्यार नहीं होता। अवश्य होता है और उसका रस भी बहुतो ने चखा होगा। यदि वह किसी कारण से अप्रत्यक्ष हो गया तो उसको प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करना चाहिए। सुन्दर उसी अप्रत्यक्ष प्रीतम से पूछते हैं—

पीतम मेरा एक तूँ, सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारने, काहि न परगट होइ।।

किन्तु वह तो धूप छाँह की तरह एक क्षण छिप जाता है तो तुरन्त याद करने पर बाहर भी आ जाता है—

सुन्दर अन्दर पैसिकरि, दिल मे गोता मारि।
तो दिल ही में पाइयो साईं सिरजन हार।।

सखुन हमारा मानिये मत खोजे कहुँ दूरि।
साईं सीने बीच है सुन्दर सदा हजूर ॥
सुन्दर दिल की सेज पर औरति है अरवाह।
हमको आशा चाहिए, साहिब बेपरवाह ॥

प्रश्न १—रैदास की भावभक्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—ये जाति के चमार थे जो रामनन्द जी के शिष्यों में से थे। इन्होंने कई पदों में अपने को चमार कहा है—'कह रैदास खलास चमार' अथवा "ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार।" कबीर के समान ये भी काशी में रहते थे। इनका नाम धन्ना और मीरा ने बड़े आदर से लिया है। इस प्रकार रैदास मीरा के मार्ग दर्शक, कबीर के समकालीन, धन्ना पीपा के संगी थे। प्रभु की मति में न जाति-पाँति ऊँच-नीच का कभी भी विचार नहीं रहा है। सभी सन्त नीच जाति के ही तो थे। रैदास ने तो स्वयं ही कहा है—

जाति भी ओछी, काम भी ओछा, ओछा किसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है कहै रैदास चमारा ॥

रैदास के जन्म की तिथि आज तक असंदिग्ध नहीं है। कबीर के सम सामयिक होने के कारण ई० सन् की पन्द्रहवीं शताब्दी ठहरता है। ये कबीर के सत्सङ्ग में कई बार रहे थे। बचपन से ही साधु सेवी होने के कारण इन पर इनके पिता अधिकाँश क्रुद्ध रहा करते थे। यहाँ तक कि उन्होंने इनको घर से निकाल दिया।

ये बड़े ही फक्कड़ थे। इन्हें न लोक परलोक का ध्यान था और निन्दा स्तुति से मतलब। उनके झोंपड़े के पास ही एक ठाकुरजी का मन्दिर था जिसमें चतुर्भुजी मूर्ति थी। रैदास जूते टाँकते जाते और भगवान के प्रेमानन्द में विभोर होकर भजन गाते जाते थे। उन भजनों में रैदास के सच्चे और पवित्र हृदय की वाणी स्पष्ट सुनाई देती है—

प्रभुजी! तुम चन्दन, हम पानी। जाकी अङ्ग अङ्ग बास समानी ॥
प्रभुजी! तुम घेन, हम बन मोरा। जैसे चितवन चन्द चकोरा ॥

प्रभुजी ! तुम दीपक, हम बाती । जाकी जोति जरे दिन राती ॥
प्रभुजी ! तुम मोती, हम धागा । जैसे सोनहि मिलत सुहागा ॥
प्रभुजी ! तुम स्वामी, हम दासा । ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥

सुनते हैं कि इनके आर्थिक सङ्कट को देखकर भगवान को दया आई और साधु रूप में रैदास के पास आकर उन्हें पारस पत्थर दिया और उससे जूता सीने के एक लोहे के औजार को छुलाकर सोना बनाकर दिखा भी दिया । रैदास ने उस पत्थर को लेने से इन्कार कर दिया किन्तु साधु के हट के कारण रैदास ने लालच होकर कहा कि यदि नहीं मानते तो मेरे छप्पर में खोंसदो । तेरह मास पश्चात् जब वही साधु फिर आया और पत्थर के विषय में पूँछा तो रैदास ने उत्तर दिया कि जहाँ खोंस गए हो वहाँ ही देख लो मैंने तो छुआ भी नहीं है ।

भक्तमाल में रैदास के सम्बन्ध में कई बातें लिखी हैं , उनमें एक यह भी है कि चित्तौड़ की रानी एक बार काशी यात्रा के लिए आयी । वहाँ रैदास की महिमा सुनकर उन्हें अपना गुरू बना लिया । रैदास के सम्बन्ध में कितनी ही ऐसी बातें प्रख्यात है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि भगवान के दरबार में जाति पाँति का कुछ भी विचार नहीं है । काशी में एक ब्राह्मण देवता एक क्षत्री की ओर से रोज गङ्गा में फूल पान चढ़ाया करते थे । एक दिन वही ब्राह्मण रैदास की दूकान पर जूता खरीदने के लिए आया । बातों में गङ्गाजी की महिमा की बाते भी चलने लगी । रैदास ने कहा मैं आपको बिना पैसे के ही जूता देता हूं । कृपाकर गंगा मैया में एक सुपारी मेरे नाम की भी चढ़ा दीजिएगा । ब्राह्मण देवता ने उसे जेब में रख लिया और नहा धोकर जब रैदास की सुपारी चढ़ाई तो गगाजी ने पानी में से हाथ ऊपर उठाकर उस सुपारी को ले लिया । यह तमाशा देखकर वह ब्राह्मण आश्चर्य चकित रह गया ।

१२० वर्ष की आयु में रैदास इस ससार को त्याग कर ब्रह्मपद में लीन हो गए । उनके पंथ के अनुयायियों का अनुमान है कि वे सन्देह ही गुप्त हो गए । उनके पीछे उनका पन्थ चला । गुजरात, बिहार आदि कई प्रान्तों में रैदासी सन्त पाए जाते है ।

रैदास निर्गुण के उपासक थे। अपने भगवान को उन्होंने 'माधो' नाम से सम्बोधन किया है। प्रेम और वैराग्य दोनों का सुन्दर सामंजस्य उनमें था। उन्हें केवल मात्र हरि चरणों का ही आश्रय था। वे तो अपने राम से किसी भी प्रकार नाता तोड़ना नहीं चाहते—

जो तुम तोरो राम, मैं नहीं तोरौं। तुमसों तोरि कवन सों जोरौं॥
तीरथ बरत न करौं अँदेशा। तुम्हारे चरन कॅंवलक भरोसा॥
जहँ जहँ जाओ तुम्हारी पूजा। तुम-सा देव नहीं दूजा॥

रैदास के स्वाभाव में ही सरलता और स्वाभाविकता थी। कृत्रिमता से उनका जीवन बिल्कुल ही दूर था—

नरहरि चचल है मति मेरी, कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तूँ मोहि देखै हौं तोहि देखूँ प्रीति परस्पर होई॥
तूँ मोहि देखै तोहि न देखूँ, यह मति सब बुधि खोई॥
सब घट अन्तर रमसि निरंतर,। मैं देखन नहि जाना॥
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकारन माना॥
मैं तैं तोर मोर असमझि सों, कैसे कर निस्तारा॥
कह रैदास कृष्ण करुणामय ! जै जै जगत अधारा॥

रैदासजी का कहना था कि जब तक अन्तर में स्थिरता नहीं आ जाती तब तक 'निर्मल' भक्ति की साधना नहीं हो सकती। तब तक उसके प्रकाश को जानना असम्भव है। जिस प्रकार भगवान का ध्यान हमारी ओर है उसी प्रकार यदि हमारा ध्यान भी भगवान की ओर हो तो निश्चय ही वास्तविक प्रीति हो सकती है।

रैदास कहीं तो अपने भगवान को सर्व व्यापी जानते हैं—

'थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यौ हरि राई।'

और कहीं कबीर की तरह परात्पर की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—

गुन निर्गुन कहियत नहि जाके।'

रैदास का अपना अलग प्रभाव पछाँह की ओर जान पड़ता है। 'साधो' का एक सम्प्रदाय, जो फर्रुखाबाद और थोड़ा बहुत मिर्जापुर में भी पाया जाता है, रैदास की ही परम्परा में कहा जा सकता है। कारण, स्थापना

(सम्वत् १६००) करने वाले वीरभान उदयदास के शिष्य थे और उदयदास रैदास के शिष्यों में माने जाते है।

इनके फुटकर पद ही 'सन्तवानी सीरीज' में 'बानी' के नाम से संगृहीत हैं। चालीस पद तो आदि गुरुग्रन्थ साहब में दिए गए हैं।

मलूकदास

प्रश्न १—मलूकदास के जीवन और काव्य से परिचय कराइये।

उत्तर—मलूकदास का जन्म लाला सुन्दरदास खत्री बैसाख कृष्णा ५ सम्वत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में सम्वत् १७३६ में हुई। ये औरङ्गजेब के समय में दिल के अन्दर खोजने वाले निगुण मत के नामी सन्तों में हुए हैं और इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल, काबुल तक कायम हुई थी। ये बचपन से ही उदार प्रकृति के थे और साधु सेवा में इनकी तबियत अधिक रहती थी। एक बार एक साधुओं की एक बड़ी जमात उनके घर पर पहुँची इन्होंने घर की सम्पूर्ण सामग्री उनकी सेवा में लगादी। एक बार ये कम्बल बेचने हाट में गए। लौटते समय एक आदमी उनका गठर उनके घर पर पहुँचा गया। कहा जाता है कि वह मजदूर के रूप में भगवान थे। इस घटना से मलूकदास की दृष्टि बदल गई और वे कमरा बन्दकर भगवान का ध्यान करने लगे। चार पाँच दिन तक उसी कमरा में ध्यान लगाते रहे थे। भगवान ने इन्हें दर्शन अनुगृहीत किया

इनके विषय में चमत्कारिक घटनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। एक बार उन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया और रुपयों का तोड़ा गङ्गाजी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेज दिया। उसी प्रकार अकाल में पानी बरसना, अन्तर्धान होकर कहीं का कही प्रगट होना, मृत्यु के मुख से लोगों का बचा लेना।

आपके हस्तलिखित दो ग्रन्थ मिलते हैं—'रत्नखान' और 'ज्ञानबोध' उनके भानजा मथुरादास ने इनकी विस्तृत जीवनी 'परिचयी' नाम से लिखी

है जो अभीतक प्रकाशित नहीं हुई है। गीता के प्रति इनकी बड़ी आस्था थी और ये 'रामनाम' की भक्ति का प्रचार किया करते थे। बात भी ठीक है; सन्तों के राम और भक्तों के राम में बहुत अन्तर है। सन्तों के निर्गुण निराकार निरंजन हैं दूसरे के सगुण साकार।

इनके पदों में सबके दाताराम वाला भाव कितनी ही बार आया है। ऐसी निर्भरता वस्तुतः बड़ी ही कठिन है जिसमें सब कुछ छोड़कर—'सर्वधर्मान्परित्यज्य' एक मात्र प्रभु का आश्रय ले लिया जाता है और फिर जो कुछ होता है सब आनन्द-मङ्गल ही होता है अन्यथा कुछ होता ही नहीं है—

> हरि समान दाता नहीं, सदा विराजै संग
> नाम विसंभर विस्व जियावै, साँझ विहान रिजिक पहुँचावै।

इसीलिए तो वे कहते है—

> अजगर करै न चाकरी, पछी करे न काम।
> दास मलूका कहि गए, सबके दाताराम॥

उसी 'दाताराम' के हाथ अपनी नौका छोड़कर मलूकदास आनन्द में मस्त होकर गा रहे हैं—

> नौका मेरी नीके चलन लागी।
> आँधी मेह तनिक नहिं डोलों साहु चढ़े बड़भागी॥
> रामराम डगमगी छोड़ाई, निर्भय किड़िया लैया।
> गुन लहासि की हाजत नाहीं, आछा साज बनैया॥
> अवसर परै तो परवत बोझै, तहूँ न होवै भारी।
> धन सतगुरु यह जुगति बताई, तिनकी यह बलिहारी॥
> सूखे पड़ै तो कछु डर नाहीं, ना गहरे का संसा।
> उलटि जाय तो बार न बांका, जाका अजब तमासा॥
> कहत कबीर जो बिन सिर खोवै, सो यह रूप बखानै।
> या नैया की अजब कथा कोई बिरला केवट जानै॥

वे उसी भगवान से सब कुछ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। माता पिता,

बन्धु, हितू सब कुछ वही भगवान हैं। इसीलिए वे कहते हैं—

"एक तुम्हें प्रभु चाहों राजा।"

मलूकदास अपने उसी साजन के दीदार में दीवाने बने अलमस्त घूम रहे हैं। सारा धर्म-कर्म छूट गया। पाठ-पूजा, जप-तप, ध्यान धारणा केवल उस एक के ही दीदार में डूबी हुई है—

मैं तेरा दीदार दिवाना,
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ सुन साहेब रहमाना।

इस दीदार में माधव राधा, राधा माधव की तरह प्रेमी प्रियतम और प्रियतम बन जाता है। सन्त और भगवन्त के इस मिलन सम्बन्ध को कबीरदास ने बड़ी ही सुन्दर रीति से लिखा है—

दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा।
एक अकीदा लै रहे, ऐसे मन धीरा॥
प्रेम पियाला पीवते, बिसरे सब साथी।
आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी॥
साहिब मिलि साहेब भए कछु रही न तमाई।
कहैं मलूक तिस घर गए जहँ पवन न जाई॥

यह 'प्रेमाद्वैत' का उदाहरण है। मलूकदास ने वात्सल्य रस की व्यञ्जना भी बहुत ही सुन्दर की है—

जहाँ जहाँ बच्छा फिरे तहाँ तहाँ फिरे गाय।
कहै मलूक जहँ सन्त जन तहाँ रमैया जाय॥

मलूकदासजी गुप्त प्रेम के पक्ष में थे। इसलिए वे कहते थे कि—"जो घर में प्रेम है; तो कहि-कहि न सुनाव, अन्तरयामी जानि है अन्तरगत का भाव।" इसीलिए उनका यह विश्वास भी दृढ़ था कि—"माला जपो न कर जपो, जिभ्या कहो न राम, सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पाया बिसराम।"

ये हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देने में प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुण सन्तों के समान इनकी भाषा में भी फारसी और अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से बोल चाल की खड़ी बोली

का पुठ इन सब सन्तों की बानी में एकसा पाया जाता है। इन लक्षणों के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुन्दर है। कहीं कहीं अच्छे कवियों के से पदविन्यास और कवित्त आदि भी पाए जाते हैं। इन्होंने कुछ पद्य तो बिल्कुल खड़ी बोली मे ही लिखे हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी वाणी ने अपनी मनोहरता का सुन्दर परिचय दिया है। काफी उदाहरण ऊपर दिए जाचुके हैं।

सहजोबाई

प्रश्न—सहजोबाई का जीवन परिचय देते हुए उनकी साहित्य सेवा से परिचित कराइये।

उत्तर—महात्मा चरणदास की शिष्या सहजोबाई का जन्म सं० १८०० वि० के लगभग हुआ था। सहजो और इनकी गुरु-बहिन दयाबाई की जोड़ी भक्ति संसार में अद्वितीय है। इनकी भक्ति की ख्याति न केवल भारतवर्ष में वरन् सम्पूर्ण संसार में है। सहजोबाई ने प्रेम की मधुर, अनुभूति और भगवान् के चरणों में उनकी लौ है। सभी सन्त गुरु को महत्व देते रहे हैं क्योंकि बिना गुरू के भक्ति का होना असम्भव है। सहजोबाई में यह गुरु अनुराग बहुत बड़ी सीमा में है—

गुरु मग दृढ़ पग राखिए, डिगमिग डिगमिग छोड़।
सहजो टेक टरै नहीं सुरसती ज्यों भौंड़॥

कारण गुरू की सहज अनुकम्पा से सभी कार्य हो जाया करते हैं—

चिंउटी जहाँ न चढ़ि सकै सरसों ना ठहराय।
सहजों कूँ वा देश में सतगुरु दई बसाय॥

सहजो ने 'नाम' की महिमा को बहुत महत्व दिया है। जिसने राम-रतन धन पा लिया उसने सभी कुछ तो पा लिया उसे पाने के लिये अब रह ही क्या गया है—

सहजो भव सागर है तिमिर बरस घनघोर।
नामे नाम जहाज है पार उतारै तोर॥

भगवान का नाम तो पारस मणि है जिसे किसी भी प्रकार अपने से दूर नहीं हटाया जा सकता।

जागत में सुमिरन करै, सोवत में लौ लाय।
सहजो इकरस ही रहे, तार टूटि नहि जाय॥

× × × ×

सहजो सुमिरन कीजिये, हिरदे माहि छिपाइ।
होठ-होठ सूँ ना हिलै, सकै नही कोइ पाइ॥

भगवान् का यह नाम स्मरण एक गोपनीय क्रीड़ा है। इसका रस भीतर ही भीतर पीता रहे, उसी रस में अलमस्त रहे बाहर वह मस्ती कहीं झलक न उठे। इसकी सावधानी रखे। किन्तु परम गोपनीय वस्तु को संसार के समक्ष किस प्रकार रखा जाय वह तो बस हृदय में छिपाने की वस्तु है—

सहजो भजि हरि नाम कूँ, तजो जगत सू नेह।
अपना तो कोई है नहीं, अपनी सभी न देह॥
यही कही गुरु देह जू, यही पुकारैं संत।
सहजो तज या जगत कूँ, तोहि तजैगो अन्त॥

सहजो का मन तो प्रभु प्रेम का दिवाना हो गया है। वह उसमें मिल कर एक रस हो गया है। भिन्न अवस्था अभिन्नता को प्राप्त कर चुकी है और जो प्रेम के दीवाने हो चुकते हैं उनका मन चकनाचूर हो जाता है—

प्रेम दिवाने जे भए, मन भयो चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर॥

बस यह प्रेम ही तो परम पुरुषार्थ है। इससे बढ़कर कोई और वस्तु तो है ही नहीं और जिसे यह प्रेम मिल गया उसे सभी कुछ तो मिल गया। फिर तो उसमें और हरि में किसी भी प्रकार का अन्तर रह ही नहीं जाता। वह हरि में और हरि उसमे भासित होने लगते है। यह अपूर्व लीला एक अद्भुत उल्लास तरंग के साथ होती है और बराबर होती ही रहती है। ससार की दृष्टि में ऐसे लोग संसारिक पुरुषो की बुद्धि में ऐसे लोग पागल अथवा बहके हुए से होते हैं—

प्रेम दिवाने जो भए कहै बहकते नैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन ॥
प्रेम दिवाने जे भए जाति वरण गए दूर।
सहजो जग बौरो कहै लोग भए सब कूर ॥
प्रेम दिवाने जे भये नेम धरम गए खोइ।
सहजो नर नारी हँसैं वा मन आनन्द होइ ॥

होते होते सहजो उस अवस्था को प्राप्त कर लेती है जब कि उसके मन की चंचलता स्थिरता में परिणत हो जाती है। मन के सम्पूर्ण विकार दूर हो कर वह निर्मल गंगा के समान हो जाती है। जब मन हरि के रूप हो जाता है फिर इस मन की सम्पूर्ण चाह समाप्त हो जाती है, संसार की असारिता का अनुभव होने लगता है वह अपने स्वरूप को पहचानता है—

सहजो साधन के लिए, मन भयो हरि के रूप।
चाह गई थिरता भई, रंक लख्यौ सोई भूप ॥

एक अंग्रेजी विद्वान के द्वारा कहे गए निम्न शब्द सहजो लिए अक्षरशः सत्य हैं- –

She spents whole nights in prayers oft, repeating: Lord what will thou have me to do? And being one night in a most profound penitence, she said from the bottom of her heart. 'O my Lord! what must I do to please thee? Speak to my soul and it will hear thee" And at that instant she heard, as if another had spoken within her, "Forsake all earthly things separate thyself from the love of creatures, Deny thyself."

नामदेव

प्रश्न १—नामदेव की कविता का मूल्यांकन करते हुए सन्त साहित्य में उसका महत्त्व बताइए।

उत्तर—नामदेव का आविर्भाव कबीर से कुछ समय पहले हुआ था। नाभादास के 'भक्तमाल' में नामदेव के विषय में निम्न पद पाया जाता है—

"नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की।
बालदशा बीठल पानि जाके पै पीयौ॥
मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरनकौं दियौ॥
सेज सलिलपै काढ़ि पहिल जैसी ही होती।
देवल उलटयो देखि सकुच रहे सब ही सोती॥
'पण्डुरनाथ' कृत अनुग ज्यौं छानि सुकर छाई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की॥"

इस पद के आधार पर नामदेव के विषय में कितनी चमत्कार पूर्ण अंतर कथाओं का पता चलता है। इन सभी अन्तर कथाओं का मूलसार यह है कि नामदेव भगवान के अनन्य भक्त थे। वे अपनी इसी भक्ति के बल पर सम्भव असम्भव सब कुछ कर सकने को समर्थ थे। उपर्युक्त पद में 'असुरन' के वर्णन के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नामदेव का समय वह है जब यवन अर्थात् मुसलमान (असुर) भारत में— विशेषकर दक्षिण भारत मे बस गए थे। नामदेव का जन्म की परम्परागत तिथि शक ११६२ या सन् १२७० ई० है।

नामदेव मूर्ति पूजा के विरुद्ध थे। यह वह समय था जब मुगल साम्राज्य बराबर बढ़ रहा था। वे हिन्दुओं की मूर्तियों का खण्डन कर रहे थे। नाम का एक गीत ऐसा मिलता है जिसमें उन्होंने तुर्कों के हाथ से तोड़ी जाने वाली मूर्तियों के विषय में लिखा है। इन सभी बातों के आधार पर भण्डारकर जी ने अनुमान लगाया है कि 'नामदेव सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी के अंत में या उसके लगभग हुए होंगे।

नामदेव महाराष्ट्र के भक्तो मे प्रथम स्थान रखते थे। इन्होंने हिन्दी में तो कविता की है किन्तु मराठी भाषा मे अभंग भी लिखे है। इनकी रचनाएँ कुछ सगुणोपासना से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना से। प्रारम्भ में नामदेव सीधे-सादे सगुण भक्ति मार्ग पर चलते चले आ रहे थे पर पीछे उस नाम पथ के प्रभाव से भी प्रभावित हुए जिसमें अन्तर्मुखी साधना द्वारा सर्व व्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था। इन्हें इस दिशा में लाने वाले थे ज्ञानदेव।

सगुण भक्ति की ओर प्रवृत होने में नामदेव को कोई गुरू नहीं बनाना पड़ा था। वे स्वतः प्रेरित होकर ही इस ओर आए थे। किन्तु निर्गुण भक्ति के लिए अवश्य ज्ञानदेव ने अनेक प्रयत्न किये थे। ये भगवान् के बड़े ही अनन्य भक्त थे। एक बार ये मन्दिर गए थे। जाति के छीपी होने के कारण मंदिर के पुजारियों ने इन्हे बाहर निकलवा दिया इस पर इन्हें बड़ा दुःख हुआ और निम्नलिखित दोहा कहा--

हँसत हँसत तेरे देहुरे आया
भगति करत नाम पकरि उठाया
हीनरी जाति मेरी नाम धराया--
छीपी के जनम काहे को आया।

नामदेव इसीलिए मूर्तियों के विरोधी थे। उनका कहना था कि भगवान् तो अन्तर में व्याप्त हैं। कबीर की तरह उसने भी पत्थरों में भगवान् को नहीं पाया। जाति-पाँति का भी उन्होने विरोध किया है। उनके अनुसार भगवानका दरबार सभी के लिए समान है क्या बड़ा क्या छोटा, क्या ऊंचा क्या नीचा। इसलिये उन्होने हिन्दू और मुसलमान, ऊँच और नीच सभी को अपनी शिष्यता में लिया है।

प्रश्न १ - हिन्दी के सन्त कवियो पर एक आलोचनात्मक निबध लिखिए। उसमें इस बात की छानबीन कीजिये कि उन्होंने देश का क्या उपकार किया ?

उत्तर—ईसी की सातवीं आठवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म विकृत होकर 'बज्रयान' के तन्त्रवादी स्वरूप को ग्रहण कर चुका था। तारा, कृत्या आदि

की पूजा से ये तांत्रिक योगी अवतारवाद में भी विश्वास करने लगे थे। ब्राह्मणों के पाखंड और वाह्याडम्बर का भी प्रभाव उन पर पड़ने लगा था। समाज में अन्ध-विश्वासों का साम्राज्य था। इसी काल में कुछ ऐसे महात्मा हुए जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रांति की। उनके विचारों की व्यञ्जना तत्कालीन काव्य और वाँगमय द्वारा प्रकाश में आई। इनमें हिन्दी के आदि कवि सरहपा, लूहिपा, कणोहपा, करेहिपा मुख्य थे जिन्होंने परम्परागत काव्य भाषा संस्कृत और पाली का त्याग कर, जन भाषा, अपभ्र श मिश्रित हिन्दी में अपनी वाणी मुखरित की।

ये सन्त 'वज्रयानी' सम्प्रदाय से प्रभावित थे। इन्होंने ही सर्व प्रथम सस्कृत की अवहेलना कर उस अपभ्रंश में काव्य रचना की, जो आगे विकसित होकर हिन्दी का रूप धारण करने लगी। ये शिक्षित नहीं थे। इसीलिए इनकी रहस्यात्मक उक्तियाँ अत्यन्त अटपटी वाणी में प्रकट हुई। इन उक्तियों का सांकेतिक अर्थ अध्यात्म से सम्बन्ध रखता था। इन ग्रन्थों का साहित्यिक मूल्य यद्यपि गौण है परन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। इन्हीं की परम्परा मे आगे चलकर सन्त साहित्य की रचना हुई। इसी परम्परा का विकसित रूप गोरखनाथ के नाथ सम्प्रदाय मे एव व्यापक और पुष्ट रूप निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी शाखा मे, जो सन्त काव्य की पराकाष्ठा है, पाया जाता है।

समय व्यतीत होने पर इन प्राचीन सन्तो की अटपटी वाणी का उल्टा अर्थ लगाया जाने लगा जिसके परिणाम स्वरूप कोल, कापालिक आदि कई नई श्रेणियाँ उठ खड़ी हुई। इनमे वासना और भोग लिप्सा का आधार बढ़ा। सिद्धों की सिद्धताई समाप्त हो गई। इसी समय गोरखनाथ ने नाथ पंथ की स्थापना कर इनका विरोध किया। मूर्ति पूजा, तन्त्रवाद आदि का खण्डन कर, योग के आधार पर एकेश्वरवाद की स्थापना की। हठयोग इनका बल पाकर पल्लवित हुआ। इनकी रचनाओं में रहस्यवाद की प्रधानता थी। लेकिन यह रहस्यवाद अटपटा न होकर, भावों और भाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट है। गोरखनाथ के अनुयायियो में जालन्धर, कणेरीनाथ चरपटनाथ आदि प्रमुख महात्मा हुए। इन्हीं की पृष्ठ भूमि पर कबीर ने अपना

साहित्य प्रतिष्ठित किया।

कबीर नाथपन्थ के हठयोग से प्रभावित अवश्य थे परन्तु उनका रहस्य-वाद भिन्न था। सिद्धो का योगमार्ग आचरण या जीवन की साधना का मार्ग है जो अलौकिक सत्ता की ओर ले जाता है। योग की चरमावस्था के उपरांत ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर योग छूट जाता है। अतएव जहाँ योग समाप्त होता है वहाँ से ज्ञान प्रारम्भ होता है। दोनों में प्रधान अन्तर यही है। दूसरे कबीर की साधना मे प्रेम और राग का प्राधान्य है जब कि योगियो में इनका अभाव है। हजारीप्रसादजी के शब्दों में "सहजयानी सिद्धो और नाथपथियों का अक्खड़पन कबीर में पूरी मात्रा में है और उसके साथ ही उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्कड़पन ने मिलकर कबीरदास को अत्यधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।

अपनी अव्यावहारिकता के कारण धीरे धीरे नाथपथ का भी ह्रास हो गया। कबीर का काल प्रौढ़ सन्त मत का काल है। कबीर के अतिरिक्त इस काल मे दादू, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास, पलटू साहब, नानक, भीखा साहब, दयाबाई और सहजोबाई आदि प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। ये सभी सुधारवादी थे। इन्होंने वाह्याडम्बरो का विरोध कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया है। इनके मत पर एक ओर भक्ति योग, एकेश्वरवाद के रूप मे सिद्धों और नाथों का प्रभाव है तो दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता, भक्ति, और माधुर्य उपासना के रूप में सूफियों का तथा वैष्णवो की अहिंसा और प्रेम का प्रभाव है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने मूर्तिपूजा और बहुदेववाद का भी खण्डन किया। पण्डितों के संकीर्ण विधान वाले शास्त्र एव धार्मिक नियम उन्हें अमान्य थे। काव्य रचना करते समय उनका उद्देश्य सुन्दर काव्य का प्रणयन न कर केवल अपने मत का प्रचार था! वे भावुक थे अत. अनजाने ही उनके काव्य में काव्य की सरसता आ जाती थी।

सभी सन्त अक्खड़ थे। उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किया। वे शुद्ध मानवता के प्रेमी थे। प्रत्येक

मानव, उनकी दृष्टि में सम्मान और धर्म का अधिकारी था। उन्हें समाज के रूढ़िवादी कर्णधारों से संघर्ष लेना पड़ा जिससे उनकी वाणी में कर्कशता आ गई। हिन्दू मुसलमान दोनों की तथा उनकी धार्मिक बुराइयों की उन्होंने जी खोल कर कटु आलोचना की। साथ ही सद्गुणों का उपदेश दिया। फल यह हुआ कि सम्पूर्ण सन्त साहित्य धर्म और उपदेश के कारण नीरस और रूखा हो गया। उसमें केवल एक श्रेष्ठ सन्देश का सौन्दर्य अवश्य है परन्तु साहित्यिक दृष्टि से वह हिन्दी वाँगमय का निकृष्टतम कोटि का साहित्य है। उसमे सरसता कहीं-कहीं भूले भटके ही मिलती है।

इन सन्त कवियो के विषय मे एक बात अत्यन्त विचित्र है कि ये सभी अन्त्यज थे। दादू धुनियाँ, कबीर जुलाहा, सदन कसाई, रैदास चमार, नाभादास डोम, नामदेव दर्जी और नानक खत्री थे। इनके लिए शास्त्र, ज्ञान, मन्दिर आदि के द्वार बन्द थे। इसी से उन्हें अपने अन्तर में ही ब्रह्म का साक्षात्कार करना पड़ा। परन्तु इनकी साधना सच्ची थी। इसी के बल पर उन्होंने ईश्वरतत्व की अनुभूति प्राप्त की। उस अनुभूति की व्यंजना ही सन्तकाव्य कहलाई। "उसमे वाणी का चमत्कार या प्रयत्न की बोझिलता नहीं, एक नैसर्गिक स्वच्छता और सरलता है। उनमे भावों की तीव्रता है जो स्वयम् इतनी प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य सम्बल की आवश्यकता नहीं।"

सन्तों का ईश्वर निर्गुण और एक है। साम्प्रदायिकता की संकीर्णता उनमें नहीं है। गुरु की महत्ता है। रहस्यात्मक ढङ्ग से योग के प्रति संकेत है। आत्मा का परमात्मा से मिलन बड़ी कठोर साधना से, प्रतीक्षा के बाद होता है। उनका ईश्वर के प्रति प्रेम अडिग, खरा और निर्मल है। परन्तु "सन्तों के प्रेम में गलदश्रु भावुकता नहीं जो जरा सी आँच से पिघल जाय। भक्ति के अतिरेक में वे झुके नहीं। सिर से पैर तक वे मस्तमौला थे, वेपरवाह दृढ़ और उग्र।" सन्तों में वैष्णवी भक्ति का प्राधान्य है। इस कारण उनका निराकार कुछ-कुछ साकार सा भासित होने लगता है। इसलिए उनको ईश्वरीय भावना अस्पष्ट तथा कुछ कुछ असङ्गत सी है।

सन्त काव्य में गीतों की प्रधानता है। प्रबन्ध काव्य नहीं के बराबर है।

काव्य रचना उनका उद्देश्य भी नहीं था। वह सुधार एवम् साधना का माध्यम मात्र है। इसके लिए प्रबन्ध-पटुता की आवश्यकता भी नहीं थी। गीति ही सबसे सरल और बोधगम्य साधन थे। उनका काव्य शास्त्रीय ज्ञान शून्य था। कबीर से दोहा जैसे साधारण छन्द का भी शुद्ध निर्वाह नहीं हो सका। समस्त सन्त काव्य मे पद या गीत 'शब्द' या 'सबद' के नाम से मिलते हैं। 'झूलना' का भी यत्र तत्र प्रयोग है।

भाषा इनकी सधुक्कड़ी अथवा खिचड़ी थी जिसमे ब्रजभाषा, अवधी खड़ीबोली, राजस्थानी आदि का अद्‌भुत मिश्रण है। ये सन्त भ्रमणशील थे अतः प्रत्येक स्थान की भाषा के शब्दों को अपनाते थे। दूसरा कारण यह है कि उनकी वाणी लिपि बद्ध नहीं हुई; अत: जिस प्रान्त मे उसका सग्रह हुआ वहाँ की भाषा का उस पर पूर्ण प्रभाव पड़ा। प्राय: भाषा शुष्क और नीरस है। कहीं-कहीं लालित्य भी मिल जाता है। प्रधानतया इस काव्य का रस 'शान्त' या भक्ति है। कभी-कभी प्रतीकात्मक उक्तियो के अन्तर्गत विरह वर्णन के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार के भी दर्शन होते हैं। हठयोग में वीभत्स रस है।

इस धारा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन्होंने स्वमत प्रचारार्थ खण्डनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया। वे दलित थे इससे अपनी जाति की उपेक्षा को भूल न सके। इस विरोध की तीव्रता के कारण ही उनका प्रभाव दलित वर्ग तक ही सीमित रह गया। दूसरे उनका निर्गुण दर्शन भी जनसाधारण की समझ मे नहीं आया। साथ ही व्यक्तिगत साधना का प्राधान्य होने से इससे लोकोपकार के आदर्शों का अभाव रहा। शिक्षित एवम् उच्चवर्ग इनसे सदैव दूर रहा। इस वर्ग के प्रति तीव्र विरोध की भावना ने सन्त काव्य में सामाजिक अशिष्टता और उच्छृङ्खलता भर दी। कुछ आलोचक इन्हें इस्लामी परम्परा की उपज बताते हैं परन्तु पद्धति, भाव, विषय, अलङ्कार, भाषा, छन्द, पद आदि से ये पूर्णत: भारतीय ही सिद्ध होते हैं। इस मत की स्थायी देन है—(१) वैदिक और ब्राह्मण धर्म के प्रति अविश्वास तथा साहित्यिक क्रांति की भावना (२) आधुनिक रहस्यवाद और छायावाद।

सन्त मत ने प्रत्यक्ष रूप से तो भारतीय समाज का विशेष उपकार नहीं किया परन्तु उन्हें ही इस बात का श्रेय है कि उन्होंने हिन्दू समाज के दलित वर्ग में स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की। इसके अतिरिक्त अछूतोद्धार की भावना, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य, धार्मिक आडम्बरों के प्रति उपेक्षा, भक्ति का लौकिक दृष्टिकोण, स्त्रियों को भक्ति का अधिकार आदि बातें इनकी ही देन मानी जा सकती हैं परन्तु आंशिक रूप से। सन्तों की परम्परा में आगे चल कर अङ्गद, अमरदास, अर्जुनदेव, आनन्दघन, अक्षर अनन्य, तुरसी, दूलनदास, चरणदास आदि हुए। १८ वीं शताब्दी तक आते-आते वे सम्प्रदाय स्थापना में दत्तचित्त हो गये और वहीं से उनमें आडम्बर और सांसारिक माया मोह का प्रभाव पड़ने लगा। आज इस मत की दशा भी अन्य मतों से अच्छी नहीं है। सुधारवादी सन्त सम्प्रदाय स्वयम् रूढ़ियों में फँस गया है।

प्रश्न २—सन्त-साहित्य में भारतीय ब्रह्मवाद, सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद तथा योगियों के साधनात्मक रहस्यवाद का किस प्रकार समन्वय हुआ? विवेचन कीजिए।

उत्तर—हम पीछे कह आये हैं कि सन्त मत अपने पूर्ववर्ती विभिन्न मत मतान्तरों का अद्भुत मिश्रण है। सन्त कवियों ने जिस सम्प्रदाय अथवा मत में जो बात अच्छी समझी उसे ग्रहण कर लिया और जिस बात में उन्हें आडम्बर और विषमता का रूप दिखाई दिया उसकी कटु शब्दों में निन्दा की। सन्त-साहित्य के इस समन्वयवाद को समझने के लिए पहले यह देख लिया जाय कि धार्मिक क्षेत्र की उस समय क्या दशा थी।

उससमय निम्नलिखित धार्मिक साधनाओं का प्राधान्य था—१—शङ्कर का अद्वैत, २—रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, जिसमें विष्णु और लक्ष्मी की पूजा का विधान था, जिसने आगे चलकर, रामानन्द के समय में, राम सीता की उपासना का रूप धारण कर लिया। ३—दाशरथि राम की भाँति कृष्ण की पूजा भी प्रचलित थी। जयदेव चण्डीदास और विद्यापति ने राधाकृष्ण को अपने काव्य का विषय बनाया था। ४—इस्लामी एकेश्वरवाद जो मूर्ति और अवतार का विरोधी था एव एक अल्लाह तथा सरल जीवन

का पक्षपाती था। ५—सूफी मत, जिसकी उपासना में प्रेम की पीर का प्राधान्य था। ६—नाथपन्थी जो हठयोग की क्रियाओं द्वारा साधनामें रत रहते थे। ७—योगमार्ग, जिसमे सहजिया सम्प्रदाय के तत्व मिल गये थे। कबीर के प्रदेशों में इसी का प्राधान्य था। ८—शक्ति मत, जो पूर्वी हिन्दी प्रदेश से लेकर बङ्गाल तक फैला हुआ था। उपर्युक्त आठों प्रकार की साधनाओं में से प्रमुख सन्त-कवि कबीर ने केवल शाक्तमत का ही घोर विरोध किया है। शेष मतों के आन्तरिक सिद्धान्तो को उन्होंने अपने सामान्य भक्तिमार्ग, जिसे 'सहज-पन्थ कह सकते है मे लिया पर उनके वाह्याचारो का उन्हें बलपूर्वक खण्डन किया।

ऊपर वर्णित आठों सम्प्रदायों में मे शाक्तमत को निकाल कर शेष सात को हम तीन वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं। शङ्कर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत, भारतीय ब्रह्मवाद के दो रूप है। इस्लामी एकेश्वर वाद और सूफियों की प्रेम साधना भावात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत माने जा सकते है। इसी मे जयदेव आदि के प्रेम सम्बन्धी मधुर पदो की गणना भी हो सकती है क्योंकि कबीर आदि ने तन्मय होकर विरह और मिलन के जो पद गाए हैं उन पर इनकी छाया है। नाथपन्थ और योगमार्ग को योग की प्रधानता के कारण साधनात्मक रहस्यवाद की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार सन्त मत मे इन तीनों प्रमुख धाराओं का समन्वय लक्षित होता है।

भारतीय ब्रह्मवाद के रूप में सन्त साहित्य अद्वैत की भावना से प्रभावित है। उनका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त कवि माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। जीव ब्रह्म के मिलन में माया बाधक है। माया के मिटने पर ही दोनों का मिलन होता है। कबीर के राम भी अद्वैत ब्रह्म की भाँति सूक्ष्म और निर्गुण हैं विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति भावना को स्वीकार करते हैं। इसी भक्ति भावना के कारण उन्होंने अपने ब्रह्म को राम, कृष्ण, गोविन्द, हरि आदि कितने ही नामों से सम्बोधित किया है। कबीर के गुरु रामानन्द थे। उनके प्रभाव के कारण सन्तमत की उपासना में एक प्रकार की स्वतन्त्रता सी आगई। रामानन्द ने यह बात

अपने शिष्यों पर छोड़ दी थी कि वे राम को निर्गुण रूप में माने अथवा सगुण रूप में। सन्तमत पर रामानन्द का प्रभाव सबसे अधिक इस बात में पड़ा कि उन्होंने अपने मत में माँस भक्षण-निषेध, वैष्णवी दया और अहिंसा को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

सन्तों ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों का सहयोग माना है। शङ्कर के अद्वैतवाद के रूप में तो उन्होंने ज्ञान की महिमा प्रतिष्ठित की परन्तु बिना भक्ति की सहायता के ज्ञान पगु हो जाता है। इसलिये भक्ति की प्राप्ति के लिए उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय की विशेषताओं को स्वीकार किया। वैष्णव भावनाओं का रूप भी ब्रह्मवाद से ही सम्बन्धित है। वैष्णव-भावना की सबसे महत्वपूर्ण बात व्यक्तिगत ब्रह्म की कल्पना और उसकी भक्ति है। सन्तों ने अनेक पदों में अपने निर्गुण ब्रह्म से व्यक्तिगत प्रेम का सम्बन्ध प्रकट किया है। कभी वे हरि को अपनी जननी कहते हैं, कभी अपने को 'राम की बहुरिया मानते हैं, परन्तु मूल भावना में कोई अंतर नहीं है। वैष्णव भक्ति को ही सब कुछ मानते हैं। सन्त भी यही मानते। वैष्णव गुरु भक्ति और नाम कीर्तन को भक्ति की प्राप्ति के साधन मानते हैं। ये दोनों बातें भी सन्तों में पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। वैष्णव भक्ति का दूसरा अङ्ग इष्टदेव के प्रति रति की भावना है। सन्तों ने इसका वर्णन रहस्वाद की भावना के अन्तर्गत किया है। सन्तमत में लोक भावना का प्राधान्य भी वैष्णवों की देन है।

सन्त-साहित्य पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी यथेष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस पर सूफीमत के सिद्धान्तों का बड़ा गहरा प्रभ्व पड़ा है। सूफियों के प्रेमवाद के कारण सन्तमत बहुत महत्वपूर्ण हो गया। बिना प्रेम की भावना के यह मत भी नाथ पथ की भाँति शुष्क रहता। इस प्रेमतत्व के ग्रहण करने से ही सन्तमत में रमणीयता आई और जनता का उसके प्रति आकर्षण बढ़ा। गुलाबराय जी के शब्दों मे "ब्रह्मवाद पर ही प्रेमवाद की उन्होने बड़ी सुन्दर कलम लगाई है।" साधारणतः वैष्णवों की भक्ति भावना और सूफियों की विरह साधना लगभग मिलती जुलती चीजें हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि भक्ति भावना में ईश्वर

को प्रियतम माना जाता है और सूफियों में ईश्वर को प्रियतमा माना जाता है। कबीर आदि सन्त भारतीय थे अतः उन पर वैष्णव भावना का प्रभाव अधिक पड़ा। उन्होंने ईश्वर से पिता, माँ एव पति का सम्बन्ध जोड़ा। प्रेम की व्यंजना का तीव्रतम रूप पति-पत्नी सम्बन्ध मे ही व्यक्त होता है। कारण पति पत्नी में अंतराय नहीं रहता। कबीर ने इसीलिए अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। निर्गुण ब्रह्म को प्रेम का आधार बनाने के कारण वह सगुण के निकट आ गया है। फिर उसमें मिल गया है सूफी दर्द। सूफियों में दोनों ओर प्रेम पलता है, परन्तु इन सन्तो में केवल प्रेयसी ही विकल होती है, प्रियतम नहीं। सन्तों का ब्रह्म और सूफियों का अल्लाह, दोनों ही निर्गुण हैं। अतः निर्गुण के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने में स्वभावत: रहस्य की भावना आ जाती है। इस प्रेम का मूलाधार भावना होती है। इसी से सूफियों की यह भावना भावात्मक रहस्यवाद कहलाती है।

साधना के क्षेत्र में सन्तों ने साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया है। साधनात्मक रहस्यवाद में हठयोग की योग, तन्त्र, रसायनादि क्रियाओं का विशेष महत्व है। सन्तों पर सिद्धों और हठयोगियों का प्रभाव कई रूपों में पड़ा है। सिद्धों और हठयोगियों दोनों में बाह्य पूजा, जाति पांति, तीर्थाटन आदि को निस्सार बताकर उनका खण्डन किया है। यह परम्परा आगे चल कर सन्तों ने जारी रखी। सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यदर्शी बन क शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों के द्वारा अटपट बाणी में पहेलियाँ बुझाने में सन्तों का मार्ग प्रदर्शित किया। साथ ही उन घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि की साधना करने और ना बिंदु, सुरति, निरति आदि शब्दो की परम्परा विरासत के रूप में दी। साधनात्मक रहस्यवाद में साधक हठयोग की साधना से बलपूर्वक ब्रह्म ... करता है। "यह मिलन शरीर के अङ्गों तथा श्वास पर अधिकार ... उनका उचित सञ्चालन करते हुये एवं मन को एकाग्र कर परमात्म ... स्वरूप का मनन करते हुए, आत्मा के समाधिस्थ हो जाने पर ... है।" गोरखनाथ द्वारा चलाये गये इस हठयोग को सन्तकवियों ने ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताया था।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि सन्त मत में विभिन्न मतों का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने सभी मतों के प्रधान तत्वों को अपने मत में शामिल कर लिया। परन्तु ये सन्त कवि अशिक्षित होने के कारण इन तत्वों के वास्तविक रूप को समझने में पूर्णतः सफल नहीं हुए। उन्होंने सुने सुनाये ज्ञान के आधार पर उच्च दार्शनिक तत्वों को रूपकों और उलटवासियों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया परन्तु साहित्यिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका यह प्रयत्न अटपटा और दुरूह बन गया। इसी से उनके काव्य का अर्थ ढूँढ़ना विद्वानों के लिये भी आकाश कुसुम बन गया है। इनमें विभिन्न मतों की ऐसी बेमेल खिचड़ी है जो इनका एक प्रभावशाली रूप नहीं बनने देती। अशिक्षा के कारण उत्पन्न रहस्योक्तियाँ अशिक्षितों पर ही प्रभाव डाल सकती है, शिक्षितों पर नहीं। उनके विचार भी अपरिपक्व और अशास्त्रीय हैं। एक ओर वे कीर्तन महत्ता बताते हैं दूसरी ओर ज्ञान की। कीर्तन में श्रद्धा का भाव प्रधान है पर वे श्रद्धा को कोई महत्व नहीं देते। एक ओर कर्मकाण्ड के विरोधी हैं और दूसरी ओर हठयोग की साधना करते हैं। इस प्रकार इन विरोधी तत्वों के अनमेल मिश्रण से इनका काव्य भरा पड़ा है।

प्रेमगाथा

प्रश्न १—प्रेमगाथा काव्य की विशेषतायें बतलाते हुए सन्त काव्य तथा प्रेमगाथा काव्य की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

उत्तर—लोक प्रचलित कथानकों को लेकर लोक भाषा में प्रेम-कथानकों के रूप में सुन्दर साहित्य का निर्माण हुआ था। कभी कभी ये काव्य किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम के साथ जुड़े हुए होते थे और कभी इनके नायक पूर्णतः कल्पित भी हुआ करते थे। उस समय इन प्रेम सम्बन्धी कहानियोंको लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। १७ शताब्दी के जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्म-चरित्र में लिखा है कि उन्हें 'मधुमालती' और 'मृगावती' नामक पुस्तकों के पढ़ने का इतना चस्का लगा था कि वे अपना काम काज छोड़ बैठे थे। हजारीप्रसादजी के शब्दों में इन 'निजधरी नायक नायिकाओं की प्रेम कहानियाँ आजकल के सस्ते ढङ्ग के उपन्यास का काम करती थीं।" प्रेम

कहानियों का यही साहित्य हिन्दी साहित्य में प्रेमगाथा काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। जायसी का पद्मावत इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ काव्य माना जाता है और जायसी सर्वश्रेष्ठ कवि। इसके अतिरिक्त कुतवन की मृगावती', मझन की मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली' तथा अन्य अनेक प्रेम कथाएँ लिखी गईं जिनमें 'स्वप्नावती', 'मुग्धावती', 'प्रेमावती', 'इन्द्रावती, 'हँस जवाहर' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमे से कुछ प्राप्य है और कुछ का केवल उल्लेख है। इन कथाओं के लेखक प्रायः सभी सूफी मुसलमान कवि हैं।

सूफी कवियों ने तीन प्रकार की प्रेम कथाएँ लिखी हैं। १—आध्यात्मिक सिद्धान्तो के प्रचार के लिए लिखे गए ग्रन्थ, इनमे मुख्य रूप से सूफी कवियों की प्रेम कहानियाँ आती हैं। २—विशुद्ध लौकिक प्रेम काव्य। ३—अर्द्ध ऐतिहासिक प्रेम गाथाएँ। इन गाथाओं के कवियो में कुछ हिन्दू भी हुए हैं।

प्रेमगाथा काव्य की विशेषताए निम्नलिखित हैं।

१—ये गाथाऐं भारतीय चरित काव्य की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवी शैली में है। इसमें मसनवी पद्धति के अनुसार प्रारम्भ में ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की स्तुति है।

२—प्रेमगाथाओं के रचयिता प्रायः सभी मुसलमान सूफी कवि हैं। इन्हें हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तो, आचार विचारो, रहन सहन आदि का भी सामान्य ज्ञान था जिसका प्रमाण इन ग्रन्थों मे मिलता है।

३—इन कथाओं में अधिकाश हिन्दुओं की कथाए हैं। परम्परा से प्रचलित इन कहानियों को अपना आधार बनाकर इन कवियों ने इतिहास और कल्पना के अद्भुत मिश्रण से सुन्दर प्रेम कथाओं का सृजन किया है। इतिहास की रक्षा वहीं तक है जहाँ तक वह उनके साध्य अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार इन्होंने हिन्दुओ के घरो की प्रेम कथाओ को लेकर अपने धार्मिक सिद्धान्तो को व्यक्त किया।

४—इन कथाओं में लौकिक आख्यानों द्वारा अलौकिक की व्यजना की गई है। इसका कारण इस्लाम का धार्मिक प्रतिबन्ध था। सूफी मत के अनुसार ईश्वर एक है और आत्मा उसी का अंश है। इन गाथाओं के

अलौकिक प्रेम में, जीवात्मा का परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम और साधक के मार्ग की कठिनाइयों का चित्रण है। आत्मा परमात्मा के इस मिलन में शैतान बाधक है। गुरु की सहायता से उसे दूर कर साधक ईश्वर की प्राप्ति करता है। इन कथाओं का प्रतिपाद्य विषय यही प्रयत्न और प्राप्ति का वर्णन है।

५—इन कवियों का केन्द्र अवध प्रान्त था इसलिए इनकी भाषा भी अवधी है। परन्तु इसमे तुलसीदास जी की अवधी की सी साहित्यिकता का अभाव है। कथानक-रूढ़ियों का व्यवहार किया है जो परम्परा से भारतीय कथाओं मे व्यवहृत होती आई है जैसे—चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, शुक-सारिका द्वारा नायिका का वर्णन सुनकर आसक्त होना, पशु पक्षियों के वार्तालाप से भावी घटनाओं की सूचना, मन्दिर या चित्रशाला मे मिलना आदि।

६—सभी सूफ़ी कवियो ने प्राय: दोहा और चौपाई छन्दों में ही अपने काव्यों की रचना की है। जायसी एक प्रकार से, हिन्दी साहित्य में इन छन्दों के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

७—इनके प्रेम के चित्रण में विदेशीपन के साथ साथ भारतीय शैली की भी छाप है। इसी से जायसी ने प्रारम्भ में नायक को प्रियतमा (ईश्वर) की प्राप्ति मे प्रयत्नशील दिखाकर बाद में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष का भी प्रदर्शन किया हैं। पद्मावत मे उन्होने पद्मावती के सतीत्व तथा उत्कृष्ट पति-प्रेम आदि के दृश्य दिखाकर भारतीय पद्धति का परिचय दिया है।

८—इन कवियो ने किसी विशेष साम्प्रदाय का खण्डन मण्डन नहीं किया है। उन्होंने सरल भाषा और साधारण शैली में केवल अपने साम्प्रदायिक भावों की अभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी है। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में आडम्बर का प्रदर्शन नहीं है।

९—इन्होंने अधिकतर प्रबन्ध काव्य लिखे हैं जिनमे कथा की रमणीयता के साथ सुव्यवस्थित सम्बन्ध निर्वाह भी है। परन्तु उन्होंने वस्तु-वर्णन या कथा प्रवाह को वहीं तक महत्व दिया है जहाँ तक वह उनके उस अलौ

किक प्रेम के अभिव्यञ्जन में सहायक है।

१०—इनकी भाव व्यञ्जना अपना विशेष महत्व रखती है। इन्होंने मानव हृदय के अत्यन्त सूक्ष्म भावों तक पैठ कर रति और शोक आदि के अति भाव पूर्ण वर्णन किए है।

११—ये सभी कवि प्रायः मुसलमान थे परन्तु इन पर भारतीय अद्वैत वाद का भी यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है। इन्होंने वैष्णवों से अहिंसा की भावना ली। उपनिषदों के 'प्रतिबिम्ब वाद' की झलक जायसी मे कई स्थानों पर मिलती है। सन्तों के समान उन्होंने हठयोग की क्रियाओ को भी उसी रूप में ग्रहण किया है।

१२—आचार्य शुक्ल के शब्दों में सूफियों के काव्य में रहस्यवाद की बड़ी सुन्दर और सरल व्याख्या हुई है। उसमें सन्तों के रहस्यवाद की सी नीरसता और शुष्कता नहीं है। सूफियों ने प्रेम के द्वारा अव्यक्त सत्ता को प्रकट किया है।

संक्षेप में प्रेम गाथाओं की सामान्य विशेषताएँ यहीं हैं। परन्तु समष्टि रूप से इस काव्य की, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से, सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने हिन्दू सकृति और स्मुस्लिम संस्कृति का समन्वय कराने का, आंशिक रूप से, सफल प्रयास किया। मसनवी शैली, विभिन्न प्रकार की स्तुतियों (अल्लाह, पैगम्बर, बादशाह के प्रति), सूफी सिद्धान्त, इस्लाम में पूर्ण आस्था, इस्लामी प्रेम-पद्धति का अनुसरण विरह, वर्णन में वीभत्सता, मसनवी शैली की वर्णनात्मकता आदि बातें इस्लामी साहित्य एव संस्कृति के अङ्ग हैं दूसरी ओर हिन्दू संस्कृति एव हिन्दी साहित्य के प्रभाव एवं प्रतीक के रूप में उन्होंने अवधी भाषा, दोहा-चौपाई की पद्धति, अनेक धार्मिक और दार्शनिक विचार, हठयोग, रसायन, शृङ्गार के दोनों पक्ष, हिन्दू पात्र, हिन्दू दृष्टिकोण, षटऋतु वर्णन, बारहमासा, अलङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का चित्र आधार आदि एकमात्र हिन्दू संस्कृति और साहित्य से ओतप्रोत है। इसीलिए कहा जाता है कि सन्त कवियों ने हिंदू मुस्लिम धार्मिक एकता का प्रयत्न किया और सूफियों ने हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति को एक दूसरे के अधिक निकट पहुँचाया।

सन्त काव्य और प्रेमगाथा काव्य में निम्नलिखित बातों में विरोध है—

संत काव्य	प्रेमगाथा काव्य
१—माया का स्थान माना है।	१—माया का कोई स्थान नहीं है।
२—ईश्वर की प्रियतम के रूप में कल्पना।	२—प्रियतमा के रूप में कल्पना।
३—भारतीय वेदान्त से प्रभावित।	३—प्रेरणा स्रोत फारस।
४—भिन्न प्रतीत होती हुई ईश्वर की परोक्ष सत्ताकी एकता का आभास	४—भिन्न प्रतीत होती हुई मानव हृदय की एकता का आभास।
५—खण्डनात्मक दृष्टिकोण।	५—खंडन मंडन से सर्वथा दूर।
६—अहं का प्राधान्य।	६—सरलता और नम्रता की भावना।
७—मुक्तक काव्य-प्रबन्ध का अभाव।	७—प्रबन्ध काव्य-मुक्तक का अभाव।
८—खिचड़ी भाषा।	८—व्यवस्थित भाषा-अवधी।
९—ब्रह्म का दर्शन हृदय में।	९—व्यक्त प्रकृति में उसी ब्रह्म के स्वरूप का दर्शन।
१०-ज्ञान ईश्वर प्राप्ति का प्रधान साधन-प्रेम सहायक मात्र।	१०-प्रेम प्रधान-ज्ञान सहायक मात्र।

उपर्युक्त विरोध के अतिरिक्त केवल निम्नलिखित बातों में साम्य दिखाई देता है।

१—निर्गुण ईश्वर, २—गुरु की महत्ता, ३—प्रेममाधुरी, ४—हठयोग, ५—विरह, ६—माया और शैतान का एक ही रूप।

प्रश्न २—सूफी मत की उत्पत्ति तथा विशेषताएं बताते हुए जायसी पर सूफी मत के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—सूफी मत के उद्‌भव को जानने से पहले सूफी शब्द की उत्पत्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। कुछ लोगो का कहना है कि मदीना में मसजिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था। उस पर बैठने वाले फकीर सूफी कहलाए। दूसरे लोगों का मत है कि सूफी शब्द के मूल में सफ

(पंक्ति) है । अन्तिम निर्णय के दिन खुदा के सम्मुख जो सदाचारी आत्माए औरो से अलग एक पंक्ति मे खड़ी होगी वे ही सूफी हैं । तीसरे पक्ष की मान्यता है कि सूफी स्वच्छ और पवित्र होते हैं। सफा होने के कारण ही उन्हें सूफी कहते हैं। चौथा मत है कि सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपान्तर है । परन्तु अधिकाश विद्वानो का मत है कि सूफी शब्द वास्तव में सूफ (ऊन) से बना है । अतः सूफधारी ही सूफी नाम से विख्यात हुए । अनेक इस्लाम धर्म के ज्ञाता भी यही मानते है ।

सूफी मत के उद्भव के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ लोग इसे इस्लाम का ही अङ्ग मानते हैं । सूफियो ने कुरान के कुछ स्थलों की व्याख्या अपने मनोनुकूल कर अपने मत का प्रचार किया । कुछ सूफियो और मसीही सन्तो में कुछ साम्य देखकर आरम्भ में सूफियों को ईसा का शिष्य मानते है । कुछ सूफियो के सुमधुर गानो मे भारतीय वेदान्त के दर्शन करते है । कुछ सूफियों का कहना है कि सूफी मत का आदम मे बीज वपन, नूह में अंकुर, इब्राहीम में कली मूसा मे विकास, मसीह में परिपाक और मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ। इसका अर्थ है कि प्राचीन शामी जातियों में सूफी मत का बीज निहित है । सूफी मत में प्रेम भावना इतनी प्रमुख है कि सूफी मत और प्रे पर्यायवाची से बन गए हैं। सूफियों के इसी प्रेम के आधार पर पश्चिम मे पारिमार्थिक प्रेम का प्रचार हुआ। शामी सन्तों ने इस सूफी प्रेम का सदैव विरोध किया । पर मूसा ने प्रवृत्ति मार्ग पर जोर देकर लौकिक प्रेम का समर्थन किया । सूफी इश्क मज़ाज़ी को इश्क हकीकी की पहली सीढ़ी मानते है। सूफियों की 'इलहाम' और 'हाल' की दशा का मूल भी शामी जातियों में पाया जाता है । कुछ शामी रतिदान से घृणा करने के कारण नवी-सन्तान कहलाए। कभी-कभी ये देवता के वश में होकर जो कुछ बोलते थे वही 'इलहाम' कहलाया और इनकी ऐसी दशा 'हाल'। सूफियों नें पीर-परस्ती और समाधि-पूजा भी शामियों से आई। शामियों की मूर्त्ति चुम्बन की परिपाटी सूफियों में बोसे और बस्ल के रूप में प्रचलित हुई । सूफियों के प्रमुख तत्त्व प्रेम का स्रोत भी शामियों की वह गुप्तमण्डली थी जिसमें निरन्तर सुरा-सेवन होता रहता

था, कहीं हाल आ रहा था, कहीं करामात दिखाई जा रही थी। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सूफियों के पूर्व पुरुष ये नवी ही हैं जो सहजानन्द के उपासक थे और जो आत्म-शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के उपायों का अवलम्बन करके प्रेम का राग अलापते थे। इन्हीं की भावना सूफी मत में पल्लवित-पुष्पित हुई।

सूफी मत की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—(१) इनकी भक्ति भावना का स्वरूप हमारी भक्ति भावना के ही समान है। भिन्नता यह है कि उनके यहाँ साधक अपने को पुरुष और साध्य को स्त्री मानकर चलता है। सूफियों का प्रेम उग्र और बेचैनी से पूर्ण है। उनके यहाँ प्रेम ही सब कुछ है। (२) हमारे यहाँ व्यक्ति विशेष की प्रेमाराधना त्याज्य है, परन्तु सूफियों में सामान्य प्रेम विशेष प्रेम का सोपान माना गया है। वहाँ किसी व्यक्ति के प्रेम में पड़कर ही उस परम प्रेम की प्राप्ति का अनुष्ठान होता है। उनके यहाँ प्रेमपात्र प्रियतम का प्रतीक होता है। इसे माशूक भी कहते हैं। इसी कारण श्रद्धा के अभाव के कारण उनका प्रेम प्रेम ही रह गया, भक्ति न बन सका। तभी सूफी भक्त के स्थान पर आशिक कहे जाते हैं। (३) वे प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त कर उसे भी अपने ही समान विरह मिलन की भावना से युक्त देखते हैं। इस में उन्हें प्रियतम की झलक मिलती है। (४) सूफी प्रियतम के लिए अनेक कष्ट उठाते है। अपने प्राणों की बाजी लगाते है। उद्देश्य प्रियतम को रिझाना मात्र है। वे न तो मरते है न जीते है—सदैव प्रियतम की याद करते रहते हैं। याद करते-करते उन्हें 'हाल' आ जाता है। हाल की दशा में प्रियतम से साक्षात्कार होता है। इसे ही वे मरण कहते हैं। यह मरना नहीं है, प्रियतम के बुलावे पर सजधज कर अपने को निछावर करना है। यही उनकी उपासना का अन्त अथवा मुक्ति है। (६) उनको प्रियतम का पता तो चल जाता है पर वह उन्हें मिलता नहीं। विवश होकर वे उसकी खोज मे निकल पड़ते हैं और थक कर सो जाते हैं। इसी दशा में उनका प्रियतम आकर संजीवन रस छिड़क कर उन्हें शान्त कर देता है। सचेत होने पर उनका विरह और बढ़ जाता है और संसार में वे सर्वत्र प्रियतम को ही देखने लगते हैं। अन्त में स्वप्न में भी वे उसी के दर्शन

करते है। 'मैं' के मिटने पर ही उससे मिलाप सम्भव होता है। (७) उनके यहाँ भावो की उग्रता अधिक है, मृदुता कम। उनके प्रेम में आवेग, मद, उन्माद, मूर्च्छा, मरण आदि भाव व्यापक है। तड़प और हाहाकार का प्राधान्य है। परिणामस्वरूप वहाँ हलचल और उद्वेग की प्रधानता है। भारतीय भक्ति-भावना के समान शान्ति और स्थिरता नहीं है।

जायसी के काव्य में सूफी मत की लगभग सभी विशेषताए मिलती है। 'पद्मावत' नामक ग्रन्थ में तो सूफी सिद्धान्तो का पूर्ण समावेश है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के शब्दो में समस्त कथा मे सूफी सिद्धान्त बादल में पानी की बूंद की भाँति छिपे हुए है। सूफियो मे साधक की चार अवस्थाए मानी गई है—(१) शरीयत, अर्थात् धर्मग्रन्थो के विधि-निषेध का विधिवत पालन, (२) तरीकत, अर्थात् बाह्य कर्मो से रहित होकर भगवान का शुद्ध ध्यान, (३ हकीकत, अर्थात् भक्ति और उपासना के प्रभाव सत्य का सम्यक् बोध, (४) मारफत, अर्थात् सिद्धावस्था। जायसी ने 'अखरावट' में इन चारों अवस्थाओ का उल्लेख किया है। "कही सरीअत चिस्ती पीरु, उधरित असरफ और जहागीरी। राह हकीकत परै न चूकी, पैठि मारफत मार बुड़की।" जायसी साधक के लिए कर्मकाड अवश्य मानते है—

"साँची राह सरीअत, जेहि विश्वास न होइ।
पाँव रखै तेहि सीढ़ी, निरभय पहुँचै सोय॥"

'नफस' के साथ जिहाद करते हुए—इन्द्रिय दमन करते हुए उस परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग 'तरीका' कहलाता है इस मार्ग के राही को भूख-प्यास सहना, एकान्तवास और मौन आवश्यक है। इस मार्ग के पड़ाव 'मुकामात' कहलाते है। जायसी ने चार बसेरे की बात कई बार लिखी है। वह या तो ये 'मुकामात' हैं या ऊपर कही हुई अवस्थाएं। सिंघलगढ़ के वर्णन में जायसी ने कहा है—"नवौ खड नव पौरी, औ तह बज्र किवार। चार बसेरे सौं चढ़े, सत सौं उतरे पार।" यह मुकामात उन आन्तरिक अवस्थाओं के अधीन है जो 'अहवाल' या 'हाल' कहलाती है। इसमें साधक अपने को भूलकर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। यही समाधि है। नीचे की पंक्ति में जायसी ने इसी अवस्था की ओर संकेत किया है—

"कथा जो परम तत मत लावा। घून माति, सुनि और न भावा ॥"

सूफियों की दृष्टि में परमात्मा की सत्ता का सार प्रेम है। सृष्टि से पूर्व परमात्मा का प्रेम अपने तक ही सीमित था फिर अपने प्रेम के बाह्य रूप के लिए उसने 'आदम' की सृष्टि की—"आपुहि आपुहि चाह दिखावा। आदम रूप भेस धरि आवा ॥" सूफियों की यह भी धारणा है कि नित्य पारमार्थिक सत्ता एक ही है। यह नाम रूपात्मक जगत उसी एक ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। यह मत वेदांत के अद्वैतवाद से मिलता-जुलता है। जायसी ने इस धारणा को मानकर ही दर्पण में पद्मिनी के रूप की झलक देखकर अलाउद्दीन से कहलवाया है—

"देखि एक कौतुहौं रहा। रहा अन्तर पट पै नहिं अहा।
सरवस देख एक मे सोई। रहा पानि पै पान न होई ॥"

सूफियों मे 'अनलहक' वाक्य 'अहब्रह्मास्मि' का प्रतिरूप है। अहङ्कार के नाश पर सूफी बहुत जोर देते है। "सर्वत्र मैं हूं" यह भावना अहङ्कार के नाश होने पर ही होती है—"हौ हौं कहत सबै मति खोई। जौ तू नाहि आहि सब कोई।" पद्मावत के उपसंहार में जायसी ने सूफी मत का ही रूपक दिया है। "तन चितउर मन राजा कीन्हा" वाले रूपक से यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि इस ग्रन्थ में जायसी ने सूफी सिद्धान्तों का ही निदर्शन किया है। केवल पद्मावती का सती हो जाना उस परम्परा और सिद्धान्तों के विपरीत है। परन्तु विशेषता यह है कि कवि ने कहीं भी स्पष्ट रूप से इन सिद्धान्तो का विवेचन 'पद्मावत, मे नहीं किया है।

प्रश्न ३—हिन्दी साहित्य में जायसी का स्थान निर्धारित करते हुए उनकी भाषा और शैली पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—जायसी मुसलमान सूफी कवियो की प्रेमाख्यानक परम्परा के एक जगमगाते रत्न हैं। उनका 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि एवं प्रेमाख्यानक परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। जायसी से पूर्व की अन्य प्रेमगाथाएँ प्रायः सभी कल्पित हैं। जायसी ने ही सर्व प्रथम रतनसेन और पद्मावती के ऐतिहासिक वृत्त को अपनी कथा का आधार

बनाया, यद्यपि उसमें आधा इतिहास और आधी कल्पना है। जायसी मुसलमान थे अतः उनका फारसी का काव्य ज्ञान अच्छा था जिसका परिचय 'पद्मावत' में सफलता पूर्वक अपनाई गई मसनवी शैली से मिल जाता है। परन्तु हिन्दी साहित्य और काव्य का उनका ज्ञान केवल सुना सुनाया था। वे न तो काव्य मर्मज्ञ ही थे और न बहुश्रुत ही। उन्हें भारतीय मतमतान्तरों और काव्य शास्त्र का केवल स्थूलज्ञान था। परन्तु उन्होने बड़ेप्रयत्न और कौशल पूर्वक हिन्दुओं के देवी देवताओ, रीति रिवाजों, रहन-सहन आदि का सुन्दर और कुछ सीमा तक यथार्थ चित्रण किया है। काव्यागो में रस, अलंकार आदि का निर्वाह भी सुन्दर है। भाषा शुद्ध अवधी है जिसमे अरबी फारसी के शब्दों, हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली आदि का भी मिश्रण है। भाषा साहित्यिक न होकर बोलचाल की प्रतीत होती है।

अन्य सूफी कवियो ने अपने काव्य में जहाँ प्रेम, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि कोमल भावो का ही निरूपण किया है वहाँ जायसी ने अपने काव्य में लोकपक्ष का समन्वय कर वीरता, उत्साह, क्रोध, ओज, युद्ध आदि का भी वर्णन किया है। उनकी तीन रचनाएँ हैं—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। इनमें पद्मावत का विशेष महत्व है। पद्मावत की कहानी में पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है। इसमें भौतिक प्रेम के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना की गई है। हिन्दी साहित्य में जायसी अपने विप्रलम्भ शृंगार के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उन्होंने वर्णन संयोग और वियोग दोनों का ही किया हैं परन्तु कुछ आलोचकों की दृष्टि में नागमती का विरह वर्णन, हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह वर्णन है। पद्मावत में वेदान्त, हठयोग आदि का भी सुन्दर सम्मिश्रण है। जायसी का रहस्यवाद भावात्मक रहस्यवाद कहा जाता है क्योंकि इसमें प्रेम की प्रधानता है! सन्त कवि ब्रह्म का दर्शन हृदय में करते हैं। सूफी कवि ब्रह्म का दर्शन व्यक्त प्रकृति में करते हैं। इसी से इनके काव्य में अधिक सरसता और रमणीयता है। जायसी ने अपने काव्य में शिक्षाप्रद सूक्तियों, भौतिक तत्वों, मुहावरों और किम्वदन्तियों का भी सुन्दर प्रयोग किया है।

जायसी के ग्रन्थों का मनन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सूफी-

प्रेम-काव्य-परम्परा का पूर्ण परिपाक यदि कहीं हुआ है तो वह जायसी का ही साहित्य है। वे एक विशेष वर्ग के कवि हैं। उन्होंने इस्लामी सूफी धारा को वेदान्त, योग समन्वित भारतीय रूप में उपस्थित किया है। वेदान्त और योग उनके समय की प्रमुख धाराएँ थीं। उनके काव्य में प्रेम की पीर की प्रधानता है। सूफी रहस्यवादी काव्य में प्रेम की पीर का जो महत्व है, इसकी जायसी ने अपने काव्य में अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति की है। धर्म के क्षेत्र में इनकी दृष्टि बड़ी उदार है। ',उनकी उदार प्रवृत्ति, उनके हृदय की कोमलता और उनकी माधुर्य भावना उन्हें अपने वर्ग का और अपने समय का सफल कवि सिद्ध करती है। उनका स्थान सूफी काव्य परम्परा में सर्वोपरि है।"

जायसी ने एकान्तिक तथा आदर्शवादी प्रेम की मसनवी शैली तथा भारतीय व्यावहारिक शैली का समन्वय किया है। नायक नायिका द्वारा आरम्भ में जो विपत्तियाँ सही गई है वे व्यक्तिगत है, उनमें लोक कर्त्तव्य का अभाव है। परन्तु अन्त में राजा के बन्दी होने पर अथवा रानी के सती होते समय प्रेम की जो दृढ़ता एवं समर्पणशीलता दिखाई गई है वह लोक पक्ष से समन्वित है। इस प्रकार के प्रेम का एकान्तिक रूप भावात्मक शैली के अन्तर्गत आता है और पारिवारिक अथवा सामाजिक प्रेम का स्वरूप व्यावहारिक शैली में समाविष्ट होगा। जायसी की प्रेमगाथा मे इन दोनों का सुन्दर मिश्रण है। पद्मावत जैसे शृङ्गार प्रधान महाकाव्य के निर्माण मे इन्हीं की आवश्यकता भी थी।

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है—तुलसी की अवधी से भिन्न एव अपरिष्कृत। तुलसी की अवधी नागरिक अवधी है और जायसी की अवधी ग्रामीण-अवधी है। जायसी की भाषा में कहीं-कहीं हिन्दी के नए-पुराने पश्चिमी रूपों की भी झलक मिल जाती है। इस कारण भाषा अव्यवस्थित हो जाती है; परन्तु जायसी ने चरणों की पूर्ति के लिए शब्दो को कही भी तोड़ा मरोड़ा नहीं है। वाक्य रचना स्वच्छ होने पर भी तुलसी के समान नहीं है। जायसी ने चरणान्त में प्रयुक्त शब्दों को दीर्घ करने की प्रवृत्ति से अपने को बचाया है। ग्रामीण होने के कारण भाषा अत्यन्त सीधी-सादी है।

उसमें माधुर्य है, प्रासादिकता है, परन्तु संस्कृत भाषा की सी मधुरता नहीं है। कारण यह है कि जायसी का परिचय अवध की लोक भाषा तक ही था। उनका अध्ययन सीमित था। वह कबीर के समान प्रतिभाशाली थे। अतः भाषा के क्षेत्र मे जायसी कोई चमत्कार उत्पन्न नहीं कर सके। भावों की गहनता तो उनकी निधि थी, जिसका प्रकाशन साधारण भाषा द्वारा हुआ और अत्यधिक प्रचार पा गया।

हिन्दी साहित्य में चरित-काव्यो का अभाव सा है। ब्रजभाषा में तो एक प्रकार से हैं ही नहीं। उस समय जो दो-एक प्रबन्ध काव्य लिखे भी गए उनमें वे गुण नही थे जो प्रबन्ध काव्य के लिए अपेक्षित हैं। पुरानी हिन्दी मे वीरगाथा काल में 'रासो' आदि अनेक काव्य लिखे गए। पश्चात् पहले पहल अवधी मे ही प्रबन्ध काव्यो का प्रणयन हुआ। इनमे जायसी का पद्मावत अभिनव, अनुपमेय तथा अनुकरणीय रहा। उसने रामचरित-मानस का मार्ग प्रदर्शन किया। इस कारण प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में जायसी का स्थान तुलसी के उपरांत माना जाता है; परन्तु प्रेमगाथा के अन्तर्गत तो जायसी का स्थान प्रथम है। यद्यपि उनका क्षेत्र अत्यन्त सीमित है, परन्तु वेदना की गहन अनुभूति के कारण हिन्दी साहित्य जायसी का सदैव ऋणी रहेगा। यद्यपि साहित्यिक दृष्टिकोणसे जायसी साधारण कवि ठहरते हैं। उनका छंद और अलङ्कारो का ज्ञान अपूर्ण है। व्यवहृत हिंदू कथाओं का ज्ञान भी भ्रांतिपूर्ण तथा सुना सुनाया है। भूगोल, इतिहास आदि के साथ भी उन्होंने मनमानी की है। ज्योतिष के ज्ञानका भी प्रदर्शनमात्र है। परन्तु साहित्य और शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा कवि का व्यावहारिक ज्ञान बहुत श्रेष्ठ है। समष्टि रूप में जायसी हिन्दी साहित्य में प्रबंध काव्य के प्रणेता के रूप में सदैव अमर रहेंगे। उनका शुद्ध साहित्यिक मूल्य परिमाण में कम है। पर इसका यह तात्पर्य नही कि जायसी के काव्य में कला की कमनीय कोमलता का अभाव है। इसके विपरीत जायसी अत्यन्त उच्चकोटि के कवि हैं। उनकी प्रबंध कल्पना का निर्वाह, भाव व्यञ्जना की मार्मिकता सौंदर्य-चित्रण का सुन्दर आकर्षण, चरित्र चित्रण की मनोवैज्ञानिकता और अनुपम अलङ्कार योजना उनके काव्य के कलात्मक उत्कर्ष के साक्षी हैं। आधिकारिक और

प्रासगिक कथावस्तुओं का मधुमय सामञ्जस्य कथानक को कलात्मकता प्रदान करता है। केवल एक त्रुटि खटकती है। मार्मिक परिस्थिति के विवरण और चित्रण के लिए आयोजित घटनावली के विरामों के अतिरिक्त केवल पांडित्य प्रदर्शन के हेतु नियोजित विराम, जहाँ वस्तुओं की नामावली गिनाई गई है ऐसे स्थलों पर नीरसता का उबा देने वाला वातावरण उपस्थित होता है। एक देश प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग के कारण अप्रतीत्व दोष भी आ गया है चरित्र चित्रण में इनके पात्र किसी आदर्श के ढाँचे मे ढले हुए है, फिर भी उनके आदर्श एक देशीय है। उनकी अलङ्कार योजना की भाषा भी भावों के उत्कर्ष में सहायक है। सादृश्य मूलक अलङ्कारो का अधिक प्रयोग मिलता है। हेतूत्प्रेक्षा एव फलोत्प्रेक्षा अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग है। इस प्रकार सामान्य रूप से देखने पर काव्य दृष्टि से भी जायसी एक अत्यन्त उच्चकोटि के कवि ठहरते है।

प्रश्न २--'पद्मावत' के साहित्यिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए तथा जायसी के विप्रलम्भ श्रृङ्गार का वर्णन कीजिए।

उत्तर—'पद्मावत' के निर्माण मे स्पष्ट रूप से दो सस्कृतियों का प्रभाव लक्षित होता है, मुस्लिम और हिन्दू सस्कृतियाँ। मुस्लिम संस्कृति का सर्व प्रथम प्रभाव रचना शैली पर पड़ा है। यह फारसी के मसनवी ढङ्ग की शैली है। समस्त कथा का विभाजन अध्याय अथवा सर्गों मे न होकर घटनाओ के शीर्षकों के आधार पर है जिनकी सख्या ५० है। कथा के प्रारम्भ में स्तुति खण्ड मे ईश्वर स्तुति, मुहम्मद स्तुति, चार मित्रो की वन्दना, तत्कालीन राजा शेरशाह की वन्दना, आदि में फारसी का मसनवी प्रभाव स्पष्ट है। ग्रन्थ मे प्रारम्भ से अन्त तक सूफी सिद्धान्तो का समावेश है। सूफियों की चार अवस्थाओ का स्पष्ट वर्णन है। कथा का रूपक देकर समासोक्ति द्वारा आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। कवि की इस्लाम मे पूर्ण आस्था है। वर्णित प्रेम पद्धति मे पूर्ण इस्लामी प्रभाव है। हिन्दू सस्कृति के विपरीत प्रेमिका के स्थान मे प्रेमी (रत्नसेन) की विरह व्याकुलता अधिक दिखाई है प्रेमिका की कम। हमारे यहाँ प्रेमिका

को ही अधिक विरह व्याकुल दिखाया जाता है। विरह वर्णन में जहाँ रस शास्त्र के सामान्य नियमों के अनुकूल रति भाव अपेक्षित होता है, वहाँ वीभत्सता आ गई है। यह फारसी शैली है। स्थान-स्थान पर रक्त के आँसू, माँस, हाड़ आदि का बीभत्स वर्णन मिलता है। मनसवी की अनावश्यक वर्णन विस्तार की प्रवृत्ति भी मिलती है। घोड़ों की जातियाँ, मिठाइयों के विभिन्न प्रकार, हथियारों की लम्बी सूची आदि प्रस्तुत करना मनसवी शैली है। इससे कथा में नीरसता आ गई है।

हिन्दू संस्कृति के प्रभाव स्वरूप उन्होंने अवधी भाषा में "पद्मावत" की रचना की। दोहा चौपाई मनसबी शैली न होकर योगियों की भारतीय शैली है। धार्मिक दृष्टि से वेदान्त, हठयोग और रसायन आदि का प्रभाव भारतीय है। शृङ्गार के सयोग-वियोग वर्णन में भी इस्लामी प्रभाव के साथ हिन्दू प्रभाव है। नागमती का विलाप इसका प्रमाण है। विरह और षटऋतु वर्णन की मार्मिकता से तथा पात्रों के चरित्र चित्रण का हिन्दू जीवन के उच्च-तम आदर्शों के साथ पूर्ण सामंजस्य से भी हिन्दू प्रभाव की पुष्टि होती है। अलङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग सस्कृत के अनुसार किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दो प्रकार के पात्र पाए जाते हैं—सतोगुणी और तमोगुणी। अन्त में पाप पर पुण्य की विजय होती है। पद्मावती द्वारा प्रेम का आदर्श उपस्थित किया जाता है। यह सब हिन्दू प्रभाव है। अन्त में "दुखान्त" होने का कारण सूफी सिद्धान्त है। इस प्रकार जायसी ने दोनों प्रवृत्तियों के सामंजस्य का प्रयत्न किया है।

जायसी का पद्मावत विप्रलम्भ शृङ्गार प्रधान ग्रन्थ है। हिन्दी के अन्य प्रबन्धकारों और मुक्तककारों से जायसी का विप्रलम्भ शृङ्गार वर्णन उत्कृष्ट माना जाता है। भारतीय और फारसी काव्य पद्धति के सम्मिश्रण से यह बहुत व्यापक हो गया है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं-कहीं पर अत्यन्त अत्युक्ति पूर्ण होने पर भी वह अपनी गम्भीरता नहीं खोता। जायसी ने विहारी की ऊहात्मक पद्धति के साथ उसके वेदनात्मक स्वरूप का बड़ा मार्मिक अनुभव कराया है। वेदना के स्वरूप का विश्लेषण होने के कारण उनकी अत्युक्ति और अतिशयोक्ति हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव

डालती है। जैसे—

"जरत बजागिनि करु पिउ छाँहा। आइ बुझाउ अङ्गारन माँहाँ॥
लागिउँ जरै जरै जस भारू। फिर फिरि भू जेसि तजउँ न बारू॥"

नागमती विरह में जलती हुई कौए के द्वारा जो सन्देशा भेजती है वह और भी मार्मिक है—

"पिउ सौं कहेउ सन्देसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुवाँ हम्ह लाग॥"

विरह ताप के अतिरिक्त विरह के अन्य अङ्गों का वर्णन भी अत्यन्त सम्वेदनात्मक ढंग से किया है। ऐसे वर्णनों में बाह्य प्रकृति मूल आभ्यान्तर प्रकृति का प्रतिबिम्ब सा जान पड़ती। प्रेम योगी रत्नसेन के विरह दग्ध हृदय का प्रभाव समस्त बाह्य प्रकृति पर पड़ रहा है—"रोंव रोंव वै बान जो फूटे। सूतहिसूत रुहिर मुख छूटे॥" तथा "सूरज बूढ़ि उठा, होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता॥" नागमती के आँसुओं से समस्त सृष्टि ही भीगी हुई जान पड़ती है—"कुहुकि कुहुकि जस कोयल रोई। रकतक आँसु घु घुचि बन बोई॥" आदि।

नागमती के विरह वर्णन में तो जायसी ने कमाल दिखाया है। विरहोन्माद की दशा मे नागमती अपना रानी पद भूल कर वनों में पशु पक्षियों से हृदय की व्यथा कहती फिरती है। उसकी विरह वेदना को पशु पक्षी सजीव होकर सुनते हैं और उसको कम करने में सहायक होते हैं। आधीरात के समय नागमती के रुदन से व्यथित होकर एक पक्षी पूछता है—"तू फिरि-फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैन न लागसि आँखी॥" वह एक भारतीय नारी के समान पक्षी द्वारा पद्मावती के पास कितना मार्मिक सन्देश भेजती है—"मोहि भोग सौं काज न बारी। सोह दृष्टि कै चाहन हारी॥"

दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ विरह दशा के वर्णन मे भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है वहाँ कोई घृणोत्पादक वीभत्स दृश्य नही आने पाया। विरह दग्ध, क्षीण काम पद्मावती के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है

यद्यपि उसमें फारसी प्रभाव के कारण कुछ वीभत्सता आ गई है—

"विरह सरागन्हि भूजै माँसू। गिरि गिरि परै रकत कै आँसू ॥
कटि-कटि मांस सराय पिरोवा। रकत के आँसु मांस सब रोवा ॥"

बारह मासा में उद्दीपन रूप में प्रकृति का जो वर्णन किया है, वह यद्यपि परम्परायुक्त है तथापि उसके द्वारा कवि ने विरहिणी की आन्तरिक पीड़ा की अच्छी व्यजना की है। इस बारहमासे में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के वर्णन के साथ साथ दुःख के विभिन्न रूपों और उनके कारणों की उद्भावना का भी वर्णन है।

संक्षेप में, जायसी ने विरहिणी के हृदय की वेदना एवं व्याकुलता का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। विरह-ताप की अनुभूति के साथ-साथ कहीं कहीं मात्रा का भी चित्रण है। 'तुल्यानुराग' की प्रतिष्ठा की है। विरह-जन्य कृशता के मार्मिक एवं गम्भीर वर्णन हैं। उसमें भारतीय और विदेशी पद्धतियों का निश्चित रूप है तथा सर्वत्र स्वाभाविकता, कोमलता, सरसता, सम्वेदनात्मकता और मर्मस्पर्शिता है। भाषा कोमल और सरस है।

प्रश्न ५—पद्मावत में प्रस्तुत अप्रस्तुत के विधान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—पद्मावत में अन्योक्ति और समासोक्ति दोनों का समावेश है। इसलिए पूरी रचना में प्रस्तुत और अप्रस्तुत अच्छा समन्वय मिलता है। ग्रन्थ के उपसंहार में कवि ने समस्त कथा को अन्योक्ति कह दिया है और ग्रन्थ के प्रमुख पात्रों से आध्यात्मिक तत्व की प्राप्ति के लिए सन्मुख साधक की साधना के सहायक उपकरणों का मेल मिला दिया है। इसका कारण यह है कि कवि का उद्देश्य ब्रह्म की अनुभूति का वर्णन करना है। ब्रह्म की अनुभूति का यथातथ्य वर्णन असम्भव है इसलिए इस कथा का सहारा लेना पड़ा है।

ग्रन्थ में वर्णित पद्मावती के लौकिक सौन्दर्य से उस परम ब्रह्म के चरम के सौन्दर्य की झलक मिलती है। राजा रत्नसेन के कैद होने पर पद्मावती

के विलाप से परलोक की ओर संकेत होता है। पद्मावती के मायके से सुसराल जाने में उस परमधाम की यात्रा है और राजा रत्नसेन के मार्ग में मानो साधक के मार्ग की झांकी है। सिंघलगढ़ के वर्णन में योग मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन है। "गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। पुरुष देखि ओही कै छाया॥" आदि में अप्रस्तुत की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना की गई है अप्रस्तुत की व्यंजना निम्नलिखित उदाहरण में मिलती है—

"कँवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय।
अबहुं बेलि फिर पलुहै, जौ पिउ सींचै आय॥"

जहाँ जल कमल अप्रस्तुत प्रसङ्ग द्वारा विरहिणी की दशा के प्रस्तुत प्रसङ्ग की कैसी अद्भुत व्यंजना है कि सौन्दर्य वर्णन के साथ साथ दया और सहानुभूति का भाव भी जागृत होता है।

समासोक्ति अन्योक्ति के अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों के विधान में भी जायसी ने प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) का बड़ा सुन्दर समन्वय किया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा में इसके दर्शन होते हैं। परन्तु जहाँ फारसी पद्धति पर वीभत्स वर्णन है वहाँ प्रस्तुत अप्रस्तुत का ऐसा सामंजस्य नहीं मिलता जिसमें हृदय रम सके। वैसे सर्वत्र कवि ने भावोद्रेक वाले उपमान ही रखे हैं। जैसे—

"सरवर हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ के बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिउ टेका। दीठि दवँगरा मेरवहु एका॥

इसमें सूखते हुए तालाब से विरह दग्ध हृदय और वर्षा की प्रथम झड़ी (दवगरा) से प्रियतम की दृष्टि की उपमा दी गई है। "राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं मात चहहिं अपसवाँ॥" कहकर रतनारे नेत्रों के बीच घूमती हुई पुतलियों की शोभा की ओर संकेत किया गया है।

इन उद्धहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने प्रस्तुत अप्रस्तुत के विधान में विषय के अनुरूप अर्थ विस्तार करने की ओर विशेष लक्ष्य दिया है। इसमें जायसी ने परम्परा का अनुकरण किया है। इस कारण ऐसे उपमान भी प्रयुक्त हुए हैं जो भाव की व्यंजना में सहायक नहीं होते।

पर ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ है। वैसे, जायसी का प्रस्तुत अप्रस्तुत विधान सामंजस्य और समन्वय के तत्व से युक्त होने के कारण अत्यन्त स्वाभाविक है।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिए कि जायसी ने पद्मावत में ऐतिहासिक तथा काल्पनिक तत्वों का सफल मिश्रण किया है तथा पद्मावत एक सफल महा-काव्य है।

उत्तर ६—पद्मावत की कथा को स्पष्ट रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहले भाग में रतनसेन का सिंहल से चित्तौड़ जाना तथा वापस आना है एवं दूसरे भाग में राघव चेतन के देश निकाले से पद्मिनी तथा नागमती का सती होने तक की कथा है। इसी आधार पर प्रथम भाग को पूर्वार्द्ध तथा दूसरे को उत्तरार्द्ध कहा जाता है। पूर्वार्द्ध कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक कथा पर आश्रित।

कर्नल टाड के अनुसार चित्तौड़पति भीमसिंह का सिंहल के चौहान राजा की कन्या पद्मिनी के साथ विवाह हुआ था। पद्मिनी के अद्वितीय रूप की प्रशंसा सुनकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की परन्तु असफल होने पर दर्पण में पद्मिनी के रूप को देखने भर से सन्तुष्ट हो जाने की शर्त रखी। उसे दर्शन कराया गया परन्तु उसने किले से लौटते समय धोखे से भीमसिंह को बन्दी बना लिया। बाद में रानी गोरा बादल की सहायता से राजा को मुक्त करा लाई। पुनः युद्ध हुआ और रानी ने जौहर किया। इस कथा का लगभग ऐसा ही वृत्तान्त 'आइने अकबरी' में भी मिलता है। परन्तु नामों में भेद है। उसमें भीमसी के स्थान पर रतनसी नाम है। रतनसी के मारे जाने का विवरण भी भिन्न है। इन दोनों कथाओं से सिद्ध हो जाता है कि जायसी का रतनसेन नाम कल्पित नहीं है। रतनसेन की मृत्यु कुम्भलनेरगढ़ के राजा देवपाल के हाथ से होना भी 'आइने अकबरी' से प्रमाणित होता है।

जायसी ने कथा में थोड़ा सा हेर फेर अवश्य किया है। राघवचेतन एक काल्पनिक व्यक्ति है तथा अलाउद्दीन द्वारा रतनसेन से उन पाँच वस्तुओं का माँगा जाना भी काल्पनिक है, जो समुद्र ने रतनसेन को दी थीं। दर्पण में

पद्मावती का रूप न दिखाकर आकस्मिक घटना के रूप में चित्रित करना और सुल्तान का मूर्च्छित होना भी कल्पित है। ऐसा करके जायसी ने हिन्दू नारी के आदर्श तथा रतनसेन के पुरुषार्थ की रक्षा की है। एक परिवर्तन और है, वह है रतनसेन का मुग़ल शिविर में बन्दी न होकर दिल्ली ले जाया जाना। सम्भवतः इसकी कल्पना गोरा बादल के पराक्रम के वर्णन, पद्मावती तथा नागमती के विरह वर्णन, देवपाल का दूती भेजना आदि घटनाओं के चित्रण के लिए की गई हो। देवपाल एक प्रकार से अर्द्ध ऐतिहासिक पात्र है। इस प्रकार जायसी ने कल्पना और ऐतिहासिक तत्त्वों के आधार पर 'पद्मावत' की सुन्दर कथा का निर्माण किया। इसका पूर्वार्द्ध काल्पनिक होता हुआ भी उत्तरार्द्ध का अभिन्न अङ्ग ज्ञात पड़ता है।

पद्मावत की रचना में जायसी का उद्देश्य एक मात्र कथा का वर्णन करना ही नहीं था। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कथा तो एकमात्र साधन है। साध्य उसके आध्यात्मिक रूप की व्याख्या करना है। अपने इस उद्देश्य को उपसहार द्वारा कवि ने स्पष्ट कर दिया है। इसी कारण ग्रन्थ में घटित घटनाओं का आदर्शात्मक परिणाम नहीं निकाला गया है। राघव चेतन की घटना इसका उदाहरण है। उसमें सद्सद् का निर्णय नहीं किया गया है। कथा का प्रवाह स्वभाविक रूप से ही चलता है। कहीं पर यदि सद्सद् का निर्णय मिलता भी है तो वह अनजान में स्वाभाविक रूप से आ गया है। ग्रन्थ का अवसान शान्त रस में हुआ है। वैसे उसमें शृङ्गार, वीर और शान्त रस हैं। समष्टि रूप से शान्त रस का ही प्राधान्य है। समासोक्ति मानने से शृङ्गार रस प्रधान हो जाता है। प्रबन्ध काव्य में मानव जीवन का पूर्ण चित्रण किया जाता है। उसमें हृदयस्पर्शी मार्मिक स्थलों का समावेश आवश्यक होता है। पद्मावत में यह दोनों ही गुण पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत है। राजा रतनसेन को केन्द्र मानकर मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का साँगोपांग चित्रण किया गया है। व्यापारों का प्रतिबिम्बित चित्रण है सर्वत्र भावों का चित्रण परिस्थिति के अनुकूल हुआ है। मार्मिक स्थलों में पद्मावती की मायके में कुमारियों के साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा तत्पश्चात् रतनसेन के साथ विदा, नागमती का वियोग, सूली का दृश्य, गोरा

बादल की प्रतिज्ञा, दूती प्रसंग में सतीत्व की व्याख्या, बादल का पत्नी से विदा होना तथा नागमती और पद्मिनी का पति के साथ सहगमन आदि अत्यन्त हृदयस्पर्शी और स्वाभाविक बन पड़े हैं।

कथा के दो भाग हैं—इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। इतिवृत्तात्मक पगडंडी के समान है जो हमें कथा के साथ बढ़ाये चलती है। उसमें रस नहीं है। रसात्मक वह भाग है, जिससे वर्णन करने में कवि की आत्मा रमी है। इतिवृत्त तो केवल जिज्ञासा उत्पन्न कर घटनाओं के प्रति संकेत कर देता है। परन्तु रसात्मक भाव में कवि कथा के प्रवाह को भूल कर रस में तल्लीन हो जाता है और एक दृश्य या घटना विशेष का अत्यन्त मार्मिक और सरस वर्णन करता है। ऊपर बताए गए मार्मिक स्थल कथा के रसात्मक भाग में आते हैं।

कथा पूर्णतः शृङ्खलाबद्ध है। घटनाचक्र परिस्थितियों के अनुकूल चलता है जो नितान्त स्वाभाविक है। अधिकारिक और प्रासङ्गिक कथाओं में पारस्परिक तारतम्य पाया जाता है। प्रासङ्गिक कथाओं में हीरामन तोता, राघव चेतन तथा बादल की कथा प्रमुख हैं। यह सभी घटनाएँ मुख्य घटनाओं को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। कार्यान्वय में कवि पूर्ण सफल हुआ है। कथा को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। जन्म से सिंहलगढ़ तक आदि; विवाह से सिंहलगढ़ त्याग तक मध्य तथा चेतन के देश निकाले से जौहर तक अन्त। स्थान-स्थान पर प्रसगों के वर्णन में आवश्यक विराम मिलते हैं; परन्तु जहाँ विवाह, सेना आदि के वर्णन में लम्बी सूचियों द्वारा बहुज्ञताप्रदर्शन की प्रवृत्ति है वहाँ अनावश्यक विराम आ गये हैं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से देखने पर पद्मावत एक सफल प्रबन्ध काव्य माना जा सकता है। प्रबन्ध काव्य के साथ ही साथ इसमें महाकाव्य के लगभग सभी लक्षण मिल जाते हैं। वृत्तान्त मे उत्तरार्द्ध इतिहास प्रसिद्ध है पूर्वार्द्ध कल्पित। नायक रतनसेन उत्तम वंश का धीरोदात्त नायक है। शृङ्गार, वीर और शान्त मे से एक रस प्रधान है। मसनवी ढङ्ग होने से सर्गबद्ध न होकर खण्डबद्ध है। ग्राम, नगर, वन, पर्वत, समुद्र आदि का सुन्दर वर्णन

है। रतनसेन में क्षत्रिय आदर्शों को तथा रानियों द्वारा पतिव्रत धर्म का आदर्श पालन किया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध कौशल, कथानक के अधिक संघर्षमय विस्तार, प्रकृति चित्रण, विचारों की उदात्तता, रस परिपाक और सांस्कृतिक पक्ष के आधार पर उसे महाकाव्य माना जा सकता है।

प्रश्न ५—नूरमुहम्मद का संक्षिप्त परिचय देते हुए 'इन्द्रावती' की साहित्यिक आलोचना लिखिए।

उत्तर—नूरमुहम्मद का संक्षिप्त परिचय देते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि—"ये हिन्दी के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे और 'सबरहद' नामक स्थान के रहने वाले थे जो जौनपुर जिले में जौनपुर आजमगढ़ की सरहद पर है। पीछे 'सबरहद' से ये अपनी ससुराल 'भादों' (जिला आजमगढ़) चले गये। इनके श्वसुर शमसुद्दीन को और कोई वारिस न था इससे ये ससुराल में ही रहने लगे। नूरमुहम्मद के भाई मुहम्मदशाह सबरहद में ही रहे। नूरमुहम्मद के दो पुत्र हुए— गुलाम हसनैन और नसीरुद्दीन। नसीरुद्दीन की वंश परम्परा में शेख फिदाहुसैन अभी वर्तमान हैं जो सबरहद और कभी-कभी भादों में भी रहा करते हैं।" अपने निवास स्थान के विषय में नूर मुहम्मद ने स्वयं लिखा है कि—

"कवि अस्थान कीन्ह जेहि ठाऊं। सो वह ठाऊं सबरहद नाऊं॥
पूरब दिस कइलास समाना। अहै नसीरुद्दी को थाना॥"

'सबरहद' नामक स्थान पर टिप्पणी देते हुए 'हिन्दी प्रेम गाथा-काव्य-संग्रह' के सम्पादक श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि— "पूर्व दिशा में कैलास के समान रम्य यह 'सबरहद' नामक स्थान कहाँ है इसका पता गजेटियर आदि से भी नहीं चलता। यह कोई मामूली गाँव या कस्बा होगा जो अभी तक कोई प्रसिद्धि नहीं पा सका।" द्विवेदी जी यदि शुक्ल जी का इतिहास देख लेते तो उन्हें इस स्थान का पता चल जाता।

श्री परशुराम चतुर्वेदी कुछ अंशों में आचार्य शुक्ल से सहमत हैं। उनका कहना है कि "इस सबरहद का पता इस समय जौनपुर जिले की शाहगंज तहसील के सबरहद गाँव के नाम से दिया जाता है। परन्तु वहाँ पर इस बात

के लिए भी किया गया कोई संकेत नहीं पाया जाता कि इस स्थान पर किसी नसीरुद्दीन का कोई ऊँचा सा गढ़ भी वर्तमान है या नहीं। अनुराग बाँसुरी के सम्पादक की 'बीती बात' से इतना और भी पता चलता है कि कवि नूरमुहम्मद अपने "अन्तिम दिनो मे बादों (फूलपुर, आजमगढ़) में रहने लगे थे। यहीं आपकी सुसराल थी।" उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नूरमुहम्मद जौनपुर जिले के सबरहद गाँव के रहने वाले थे। प्राय. सभी मुस्लिम सूफी कवि इसी प्रदेश के वासी रहे हैं। अतः नूरमुहम्मद ही इसके अपवाद कैसे हो सकते थे।

इनके जन्म तिथि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिला है। केवल उनके रचनाकाल के विषय में 'इन्द्रावती' में लिखा है कि—

"सन इग्यारह सौ रहेउ, सत्तावन उपनाह।
कहै लगेउ पोथी तबै, पाय तपीकर बाँह॥"

और साथ ही यह भी लिखा है कि—"है कवि नई समय तरुनाई। छूटि न अब ही कवि लरिकाई।" इससे प्रमाणित होता है कि 'इन्द्रावती' का रचना काल सन् ११५७ हिजरी (सम्वत् १८०१) है और उस समय कवि नवयुवक। 'इन्द्रवती' की प्रारम्भिक रचना है। इनकी दूसरी रचना अनुराग वासुरी सं० १८२१ में लिखी थी। इसके अतिरिक्त कवि के किसी फारसी दीवान में यह उल्लेख भी पाया जाता है कि वे सन् १७८० तक विराजमान थे। इस प्रकार नूरमुहम्मद का रचना काल सं० १८०१ से १८३६ तक माना जा सकता है। ये मुहम्मदशाह के समय में थे। मुहम्मद शाह का शासन काल सं० १७७६ से १८०५ तक माना जाता है। परन्तु नूर-मुहम्मद ने 'अनुराग वासुरी' में शाहेवक्त का वर्णन नहीं किया है जिससे प्रकट होता है कि 'इन्द्रावती' की रचना के समय मुहम्मदशाह जीवित थे क्योंकि इन्द्रावती में उनका जिक्र है—

"करौं मुहम्मद शाह बखानू। है सूरज दिल्ली सुलतानू॥"

नूरमुहम्मद फारसी के विद्वान थे। वे 'कामयाब' उपनाम से फारसी में कविता किया करते थे। इनका हिन्दी काव्य भाषा का ज्ञान भी और सब

सूफी कवियों से अधिक था । वे इस भाषा को अपने मत प्रचार का साधन समझते थे। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'इन्द्रावती' की रचना की थी । अपनी इस सफलता से प्रेरित होकर उन्होंने क्रमशः 'नल-दमन' और 'अनुराग बांसुरी' नामक दो ग्रंथ और इस भाषा में लिखे। परन्तु नूरमुहम्मद के समय तक मुसलमान कवियों में भाषा-विषयक साम्प्रदायिक भावना तीव्र हो उठी थी जिसके कारण वे हिन्दी में कविता करना उनका धेय समझने लगे थे। हिंदी भाषा में कविता करने से मुसलमान उन्हें काफिर न समझने लगें, इसलिए अपनी सफाई देते हुए नूरमुहम्मद को 'अनुराग बांसुरी में लिखना पड़ा कि—

"जानत है वह सिरजनहारा । जो किछु है मन परम हमारा ॥
हिंदू मग पर पाव न राखेउं । काजौ बहुतै हिन्दी भाखेउं ॥
मन इसलाम मसलकै मांजेउं । दीन जेवरी करकस भाजेउं ॥

इस वक्तव्य द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि उनकी धार्मिक मनोवृत्ति पर हिंदी भाषा को उसके प्रचार का साधन बनाने से कोई विपरीति प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सम्वत् १८०० तक आते आते मुसलमान हिंदी से किनारा खींचने लगे थे। हिंदी हिंदुओं के लिए छोड़कर अपने पढ़ने-लिखने को भाषा वे विदेशी अर्थात् फारसी ही रखना चाहते थे। इन्द्रावती की रचना करते समय शायद नूरमुहम्मद को समय समय पर यह उपालम्भ सुनने को मिलता था कि—"तुम मुसलमान होकर हिंदी-भाषा में रचनाकरने क्यों गए ।" इसीकी सफाई उन्होने अनुराग बासुरी के ऊपर उद्धृत चौपाइयों में देने का प्रयत्न किया है। नूरमुहम्मद एक कट्टर मुसलमान, कुशल कवि और योग्य पण्डित थे। इनका शास्त्रीय ज्ञान जायसी से भी बढ़ा चढ़ा प्रतीत होता है ।

इन्द्रावती कवि की तरुणाई की सर्व प्रथम रचना है। कवि ने ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से कहा है कि मेरा लड़कपन अभी नहीं छूटा है। मै खेल खेलना जानता हूँ पोथी लिखना नहीं। अतः गुरुजन मेरी इस धृष्टता को देखकर रुष्ठ

न हो। मैंने तो भूतपूर्व कवियों से ज्ञान प्राप्त कर उसे केवल संगृहीत कर दिया है। उनकी नम्रता और विनयशीलता द्रष्टव्य है—

"कवि है नूर मुहम्मद नाऊं। है पछलग सब को जग ठाऊं॥
चुनि कविजन खेतन सों बाला। करैं चहत खलिहान विसाला॥

× × × ×

चूका देखि सभारिकै, जोरेहु अन्तर टूट।
दाया कर मोहि दीन पर, दोस न लायहु कूट॥"

सूफी कवियों की स्वाभाविक विनयशीलता के दर्शन नूरमुहम्मद में अपने चरम रूप में होते हैं। कवि के ग्रन्थ में अपनी वंशावली या गुरु परम्परा के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। मसनवी शैली के अनुसार इन्होंने सर्व प्रथम 'सिरजनहार' ईश्वर की स्तुति की है और उसके पश्चात् पैगम्बर मुहम्मद साहब का स्मरण किया है। इसके उपरान्त 'शाहेवख्त' मुहम्मद 'रंगीले' को अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम पूर्वक स्मरण किया गया है।

इस ग्रन्थ मे कालिंजर राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राज-कुमारी इन्द्रावती की प्रेम कहानी है। कवि ने अपनी कहानी की भूमिका बाँधते हुए लिखा है।

"मन-दृग सो इक राति मँझारा। सूझि परा मोहि सब ससारा॥
देखेउं एक नीक फुलवारी। देखेउ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा बरनिन जाई। चन्द सुरुज उतरै भुइं छाई॥
तपी एक देखेउ तेहि ठाऊँ। पूछेउ तासौं तिनकर नाऊँ॥
कहा अहैं राजा औ रानी। इन्द्रावति औ कुंवर गियानी॥"

इससे स्पष्ट है कि कवि के स्वप्न में किसी तपस्वी द्वारा इस कथा की अन्त, प्रेरणा मिली। माली रूपी गुरु ने उसे रास्ता दिखाया। कवि का हृदय एक फुलवारी के समान था। वहीं माला गूँथने की सामग्री मिल जाती। यदि माली द्वार खोल देता तो दर दर भटकने की जरूरत नहीं रहती। कथा की सामग्री तो मिल गई। अब आवश्यकता इस बात की थी कि मन रूपी समुद्र में गहरा गोता लगा कर, मोती के समान कवि-वचन-सुधा प्राप्त कर,

उन मोतियों से दोहा चौपाई का हार गूँथ कर राजकुँवर और इन्द्रावती के गले में पहनाते। कवि ने अपनी शक्ति भर यह्रा किया। इससे सिद्ध होता होता है कि यह कथा पूर्ण काल्पनिक है। इसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। इसमें केवल कालिंजर अवश्य एक ऐतिहासिक स्थल है परन्तु पात्र सभी कल्पित हैं।

कथा का निर्वाह 'पद्मावत' की मसनवी पद्धति के अनुसार ही किया गया है। इसमें स्वप्न-दर्शन-विधि के अनुसार नायक को नायिका के दर्शन होते हैं फिर नाना प्रकार की घटनाओं के उपरान्त इनका मिलन होता है। बीच की कथा को जोगी खण्ड, सुवा खण्ड, युद्ध खण्ड आदि में विभाजित किया गया है। अन्त में—

"आगमपुर इन्द्रावती कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुते दोउन्ह कहँ, दीन्हा अलख मिलाय॥"

'अलख' शब्द से कवि का रहस्यवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। 'अलख', 'निरञ्जन', माया' आदि शब्दों का व्यवहार सन्तों और सूफियों के काव्य में विशेष रूप से हुआ है। ये शब्द वर्णित विषय की लौकिकता पर अलौकिकता का आवरण चढ़ा देते है। इनका सम्पूर्ण काव्य अन्त में जाकर अन्योक्ति का रूप धारण कर लेता है। हम आरम्भ से जिस कथा को शुद्ध प्रेम कथा मान कर पढ़ते चले आते है वह अन्त में जाकर रहस्यवादी रूप धारण कर हमारी उस शुद्ध प्रेम-भावना को नष्ट कर देती है। हम अचकचा कर यह सोचने लगते हैं कि इस रसमय वातावरण में यह रहस्यवाद की जटिलता और नीरसता कहाँ से आ गई। यद्यपि नूरमुहम्मद ने जायसी के समान अन्त में इसका स्पष्ट संकेत नहीं किया है परन्तु पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से इसका संकेत अवश्य मिल जाता है।

नूर मुहम्मद ने हठयोग के प्रभाव को ग्रहण नहीं किया है। वह नाथ पंथियों तथा सन्तों के एकेश्वरवाद को तो मानता है परन्तु हठयोग को नहीं। उसकी प्रणाली प्रेम की है। उसका ध्येय उसी प्रेम की प्राप्ति है। इस प्रकार इस काव्य में उमर खय्याम के रहस्यवाद की मधुरता अपने सुन्दरतम् रूप में

उभर कर आई है। उनका यह प्रेम उसी प्रियतमा (अलख) की प्राप्ति के हेतु है—

"अलख प्रेम कारन जग कीन्हा। धन जो सीस प्रेम में दीन्हा ॥
जाना जेहिक प्रेम महँ हीया। मेरे न कबहूँ सो मर जीया ॥
प्रेम खेत है यह दुनियाई। प्रेमी पुरुष करत वो वाई ॥
जीवन जाग प्रेम को अहई। सोवन मीच वो प्रेमी कहई ॥
आग तपन जल चाल समूझो। पुनि टिका माटी कहँ बूझो ॥"

"प्रबन्ध रचना जायसी और उसमान के ढ ग पर ही है। खण्ड-विभाग और कथा का विकास प्राय: समान है। भाषा की प्रौढ़ता उसमान से घटकर है। नवयुवक कवि की रचना तो है ही। ढाचे में एक खास कली है कि इन्होने पॉच पॉच चौपाई के बाद दोहा बैठाया है और जायसी आदि ने सात सात के बाद। हॉ, निसार ने नौ चौपाई का क्रम रखा है और इन्होंने दोहा चौपाई के सिवा सोरठा, कवित्त, सवैया आदि अन्य छन्दो का भी यथा स्थान उपयोग किया है और उन स्थानों पर इनकी भाषा में ब्रजभाषा की छटा आए बिना नहीं रह सकी है।" भाषा इनकी शुद्ध अवधी है। उसमें ठेठ और ग्रामीण शब्दों का बाहुल्य है।

कवि की 'अनुराग बॉसुरी' प्रौढ़ रचना है। इसके विषय में आचार्य शुक्ल का मत है कि—"यह पुस्तक कई दृष्टियों से विलक्षण है। पहली बात तो इसकी भाषा है जो और सब सूफी रचनाओं से बहुत अधिक संस्कृत-गर्भित है। दूसरी बात है हिन्दी भाषा के प्रति मुसलमानों का भाव ···। कवि ने इसकी रचना अधिक पांडित्यपूर्ण रखने का प्रयत्न किया है और विषय भी इसका तत्वज्ञान सम्बन्धी है। शरीर और जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक खड़ा करके कहानी बाँधी है और सब सूफी कवियों की कहानी के बीच बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है, पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं। एक विशेषता और है। चौपाइयों के बीच बीच में इन्होंने दोहे न रखकर बरवै रखे हैं। प्रयोग भी ऐसे ऐसे संस्कृत शब्दों के हैं जो और सूफी कवियों में नहीं आए हैं।" इस विवेचन

से स्पष्ट होता है कि नूरमुहम्मद का काव्य-ज्ञान, विशेष रूप से संस्कृत और प्रचलित काव्य भाषा का ज्ञान अत्यन्त गम्भीर और परिमार्जित था। परन्तु उनकी रस योग्यता के दर्शन 'इन्द्रावती' में नहीं हो सके क्योंकि वह उनकी प्रारम्भिक रचना थी। 'इन्द्रावती' का महत्व प्रेम-गाथा होने के कारण ही विशेष रूप से है। साहित्यिक दृष्टि से उसका उतना मूल्य नहीं माना जा सकता जितना कि 'अनुराग बाँसुरी' का।

प्रश्न ६—उसमान का संक्षिप्त परिचय देते हुए 'चित्रावली' की साहित्यिक आलोचना लिखिए।

उत्तर—ये मुग़लबादशाह जहाँगीर के समकालीन और गाजीपुर के रहने वाले थे। 'चित्रावली' में कवि ने अपना निवास स्थान, व्यक्तिगत परिचय और ग्रंथ रचनाकाल का पर्याप्त विवरण दिया है। अपने निवास स्थान गाजीपुर का इन्होंने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

"गाजीपुर उत्तम अस्थाना। देवस्थान आदि जग जाना॥
गंगा मिलि जमुना तह आई। बीच मिली गोमती सुहाई॥
तिरधारा उत्तम तट चीन्हा। द्वापर तहँ देवतन तप कीन्हा॥

इनके पिता का नाम शेख हुसैन था। ये पाँच भाई थे— उसमान, शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह और शेख हसन। ये पाँचों भाई किसी न किसी कला में पारगत थे। उसमान ने कहा है कि हम पाँचों भाई 'पाँच मियाँ' (पण्डित) के रूपों में प्रसिद्ध थे। इतना होने पर भी उसमान ने स्वयं को 'अच्छर चारि' का ज्ञाता ही कहा है। उसमान का उपनाम 'मान' था। यद्यपि अन्य मसनवी कवियों की भाँति इन्होंने अपने पिता की वंश परम्परा या गुरु परम्परा का कोई उल्लेख नहीं किया है परन्तु ग्रन्थारम्भ में इन्होंने शाह निजामुद्दीन चिश्ती तथा एक हाजी बाबा की प्रशंसा की है। इसी के आधार पर आचार्य शुक्ल इन्हें हाजी बाबा का शिष्य मानते हैं। स्वयं उसमान ने भी हाजी बाबा को अपना गुरु माना है-

"बाबा हाजी सिद्ध अपारा। सिद्धि देत जेहि लाग न वारा॥
मोहि माया के एक दिन, भवन लागि गहि माथ।

गुरु मुख बचन सुनाय के, कलिमंह कीन्ह सनाथ ।।"

परन्तु इस हाजी बाबा का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता और न उसके निवास स्थान का ही पता चलता है। इतना निर्विवाद है कि साम्प्रदायिक रुप से उसमान चिश्ती सम्प्रदाय के शिष्य थे क्योंकि इन्होंने शाह निजाम नामक एक चिश्ती औलिया की अत्यन्त प्रशंसा की है— "कश्ती सकल जहान के, चश्ती साह निजाम।" हाजी बाबा भी चिश्ती सम्प्रदाय के ही बताये जाते हैं।

ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में कवि ने लिखा है कि— "सन सहस्र बाइस जब सहे। तब हम बचन चारि एक कहे।" अर्थात् हिजरी सन् १०२२ (सं० १६७०) में मैंने दो चार बातें कह डालीं। चित्रावली का यही रचना काल है। बादशाह जहाँगीर का शासनकाल भी सं० १६६२ से १६८४ तक है इस कारण इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। जायसी की रचना इनसे केवल ७५ वर्ष पहले की है। इसी कारण इनकी भाषा शैली और प्रबन्ध कौशल आदि पर जायसी का स्पष्ट प्रभाव है। केवल भाषा में थोड़ा सा अन्तर है। इनकी भाषा जायसी की भाषा से अधिक परिमार्जित और साहित्यिक है। इसी समानता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि— "कवि ने इस रचना में जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक में रखे हैं उन विषयों पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कहीं-कहीं तो शब्द और वाक्य-विन्यास भी वही है। जायसी के पहले के कवियों ने पाँच-पाँच चौपाइयों के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात-सात चौपाइयों का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है।" इसी समानता के आधार पर रामकुमार वर्मा 'चित्रावली, को 'पद्मावत' की छाया मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि 'चित्रावली' की कथा 'पद्मावत' की कथा के समान ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध न होकर पूर्णरूपेण काल्पनिक है।

इस विषय पर प्रकाश डालते हुए स्वर्गीय जगमोहन वर्मा ने लिखा है कि— "कवि ने इस ग्रन्थ में ठौर-ठौर पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखलाने में कमी नहीं की है। कथा ऐतिहासिक घटना से नहीं ली गई

जान पड़ती बल्कि कल्पना प्रसूत है। नैपाल के राजसिंहासन पर एक भी पंवार राजा नहीं हुआ है। कथा विचारने से आध्यात्मिक प्रतीत होती है।" चित्रावली की सम्पूर्ण कथा उसमान के उर्वर मस्तिष्क की ही उपज है। उन्होंने प्राचीन कथाओं का आधार नहीं लिया है। ये मानो अन्य कवियों को चुनौती सी देते हुए कहते हैं— "जाकी बुद्धि होइ अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥" पुराण और इतिहास से सामग्री लेकर तो बहुतों ने कथाएं बनाई हैं परन्तु—

"कथा एक में दिए उपाई। कहत मीठ और सुनत सोहाई॥
कहौं 'बनाय' जैस मोहि सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा॥"

इससे सिद्ध होता है कि इस कथा की उत्पत्ति कवि के हृदय से हुई थी जिसे उसने बना सवार कर उपस्थित किया है। इस कथा के निर्माण और कथन में कवि को बहुत परिश्रम करना पड़ा है— "एक एक बचन मोति जनु पोवा" और इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि इसे पढ़कर— "कोऊ हँसा कोउ पुनि रोवा।" कवि की दृष्टि में यह कथा इतनी रोचक बन पड़ी है कि बालक, युवा, बृद्ध, रोगी, योगी, भोगी सभी इसका आनन्द उठा सकते हैं।

संक्षेप में कथा इस प्रकार है—नैपाल के राजा धरनीधर पंवार का सुजान नामक कुमार रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली का चित्र देखकर उस पर मोहित हो गया। उधर राजकुमारी चित्रावली भी सुजान का चित्र देखकर उस पर आसक्त हो गई। सुजान ने चित्रावली को प्राप्त करने के प्रयत्न में अनेक कष्ट सहे और एक बार वह घूमता फिरता सागरगढ़ की राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी में विश्रामार्थ ठहर गया। वहाँ कँवलावती ने उसके रूप पर मोहित होकर उसे कैद करवा लिया। अन्त में सुजान ने कँवलावती से, चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा कर विवाह कर लिया। तत्पश्चात् अनेक संकटों के उपरान्त चित्रावली से उसका विवाह हो गया। इसी बीच कँवलावती ने अपना एक दूत भेज कर सुजान को अपनी याद दिलाई। इस पर सुजान चित्रावली को लेकर स्वदेश लौटा और मार्ग

में उसने कँवलावती को भी ले लिया। मार्ग में समुद्र में तूफान आया। अन्त में राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और अपनी दोनों रानियों सहित अनेक वर्षों तक राज्य किया।

उपर्युक्त कथा का गठन पद्मावत की कथा जैसा ही है इसलिए यह भी उसी की भांति अन्योक्ति मानी जाती है। जायसी ने ऐतिहासिक कथानक के आधार पर अपने सूफी सिद्धांतों का प्रतिपादन करना चाहा था जो उनकी बहुत बड़ी भूल थी। उसमान ने इस भूल का परिमार्जन करने के लिए एक पूर्ण कल्पित कथा ली जिस पर अन्योक्ति का पूर्ण निर्वाह हो सकता था। ऐतिहासिक महाकाव्य और मसनवी ढग की प्रेमगाथाएँ दो भिन्न वस्तुएँ हैं। उसमान इस अंतर को जानते थे। इसी कारण उन्होंने अपने कथानक का संगठन और पात्रों का नामकरण इस प्रकार किया था जो उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण का पूरा निर्वाह कर सके। वे इसमें पूर्ण सफल हुए। चित्रावली की रचना बहुत कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने कुमार सुजान को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलम्बन करके उसे परम योगी शिव के अंश से उत्पन्न तक कहा है। महादेवजी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—"देखु हेतु हौं आपन अंसा। अब तोरे होइहो निज बंसा।" कमलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या का रूप हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानी है। साधना कालमें अविद्या को दूर रखे बिना विद्याकी प्राप्ति नहीं होती। इसीसे सुजानने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँमलावती से समागम न करने की प्रतिज्ञा की थी। सुजान अर्थात् वास्तविक ज्ञानी बिना विद्या के प्राप्त किए अपनी साधना पूरी नहीं समझता।" इसी प्रकार विचारने से सभी पात्र-पात्रियों तथा उनको सारे कार्य-कलाप को हम आध्यात्मिक साधना, तज्जनित विघ्न बाधाएँ और अंतिम निर्वाण के रूप में पढ़ सकते हैं।" सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढग से कवि ने 'ईश्वर की प्राप्ति' की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ़ ले उसकी जीत समझी जायगी।

चित्रावली का कथानक, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, पूर्ण कल्पित

है। फिर भी कवि ने अपने काव्य कौशल द्वारा सभी पात्रों को सजीव बना दिया है। उनके दुख में हमारा मन उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करता है और उनके सुख में हम भी प्रसन्न हो उठते हैं। कथा में घटनाओं की शृङ्खला बहुत लम्बी और कौतूहलपूर्ण है। उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत रूप देने के लिए जबर्दस्ती विपत्तियों की कल्पना की गई है। दो राजकुमारियों से विवाह करने के पूर्व जितनी कठिनाइयाँ सामने आती हैं उनका विस्तृत वर्णन किया है। आध्यात्मिकता के साथ-साथ इस ग्रंथ में 'नीति' के भी दर्शन होते हैं। इस नीति का आधार उसमान की लोकोक्तियाँ है जो समस्त ग्र थमें बिखरी हुई हैं। विरह वर्णनके अंतर्गत षट्ऋतु का वर्णन अत्यत सरस और मनोहर है विरह वर्णनमें जायसी का अनुकरण दिया गया है जिसमें फारसी पद्धतिकी ऊहा के दर्शन होते हैं।

इस ग्रन्थ मे भूगोल का भी यथेष्ट वर्णन। 'कुँवर ढूँढन खण्ड' के अंतर्गत कई ऐसे देशों के भी नाम आए हैं जिनका आज कही अस्तित्व नहीं मिलता। स्वर्गीय बाबू जगमोहन वर्मा ने लिखा है—"सबसे अचम्भे की बात तो यह है कि कवि ने उसमें अङ्गरेजी का नाम भी लिखा है और उनके देश और उनके आचार व्यवहार का वर्णन उसने दो चौपाइयों में किया है। उस समय अङ्गरेजों को आए इस देश में बहुत थोड़े दिन हुये थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सन् १६०० में लंदन में बनी थी और १६१२ में सूरत में कम्पनी ने अपना गोदाम बनाया था। उसके एक वर्ष बाद १६१३ का रचा हुआ यह ग्र थ है। उस समय कवि का एक साधारण गाजीपुर ऐसे छोटे नगर में रहकर अङ्गरेजों के विषय में इतनी जानकारी रखना कोई साधारण बात नहीं है।" इससे कवि की तत्कालीन परिस्थितिकी विस्तृत जानकारी का प्रमाण मिलता है। साथ ही इन्होंने काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, रूम, साम, मिश्र, गुजरात, सिंहल आदि देशों का भी वर्णन किया है।

भाषा और शैली में पूर्णरूप से जायसी का अनुकरण किया गया है। भाषा, व्याकरण, प्रबन्ध, शैली, खण्ड विभाग आदि सब जायसी के समान हैं। परन्तु भाषा मे परिमार्जन और प्रौढ़ता जायसी की अपेक्षा अधिक है। कवि ने चित्रावली के प्रति जो उपदेश उसकी माता द्वारा दिलवाए हैं वे

संस्कृति ग्रन्थों का स्मरण दिलाते हैं। यदि इन्हें संस्कृत का भी ज्ञान होता तो इनकी भाषा-प्रौढ़ता तुलसी से टक्कर लेती।

प्रश्न ७—आलम कवि का संक्षिप्त परिचय देते हुए 'माधवानल-काम कन्दला' नामक ग्रन्थ की साहित्यिक आलोचना कीजिए।

उत्तर—आलम नाम के दो भिन्न-भिन्न कवि कहे जाते हैं जिसमें से एक का समय अकबर का शासनकाल है और दूसरे का रचना काल संवत् १७४०-१७७० अनुमान किया जाता है। दोनों की भाषाओं में भी अन्तर दिखलाया जाता है। आचार्य शुक्ल ने भी दो आलम कवि माने हैं। इनमें से एक की गणना उन्होंने भक्तिकाल के फुटकल कवियों में की है जो 'माध्यान्तर काम कन्दला' का रचयिता है। दूसरे की गणना रीतिकाल के फुटकल कवियों में कर उसे 'आलम केलि' का कवि माना है। शेख रङ्गरेजिन का सम्बन्ध भी इसी द्वितीय आलम से माना है। 'प्रेमगाथा काव्य-संग्रह के सम्पादक ने भी इन दोनों को पृथक माना है परन्तु परशुराम चतुर्वेदी इन दानों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। 'माधवानल काम कन्दला' के कवि ने ग्रन्थारम्भ में ही सम्राट अकबर और अपने आश्रयदाता राजा टोडरमल की प्रशंसा करते हुए कहा है—

"दिलिय पति अकबर सुल्ताना। सप्त द्वीप में जाकी आना॥
सिंहन पति जगन्नाथ सुहेला। आपतु गुरु जगत सब चेला॥

× × × ×

आगरैंवु महामति मंडनु। नृप राजा टोडरमल डंडनु॥"

ग्रन्थ रचनाकाल का निर्देश करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"सत नौ सौ इक्यानुवै आइ। करौं कथा अब बोलौं ताहि॥" इससे स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ की रचना हिजरी सन् ६ सौ इक्यावन तदनुसार सम्वत् १६४० में हुई थी। यही समय अकबर के शासनकाल का भी है। आलमकेलि के रचयिता आलम इनके ठीक सौ वर्ष बाद हुए थे। उनका रचनाकाल सम्वत् १७४० -६० तक माना जाता है। इन्होंने विशुद्ध ब्रजभाषा में शृङ्गार

सम्बन्धी फुटकल पद लिखे थे। इसके विपरीत प्रथम आलम अवधी भाषा के कवि थे। अन्य सूफी कवियों के समान इन्होंने भी अपनी वंशावली या गुरू-परम्परा के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला है। इनके जन्म-मरण, माता, पिता, भाई, स्थान आदि का कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

'माधवानल काम कन्दला' मौलिक रचना न होकर इस नाम के एक संस्कृत नाटक का अनुवाद सा है। माधवानल और कामकन्दला की प्रेमकथा प्रमुख रूप से तीन कवियों द्वारा कही गई है। पहले कवि हैं जैसलमेर के वाचक कुशल लाभ। इन्होंने सम्वत् १६१६ में रावल मालदे के राज्यकाल में कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ ५५३ पद्यों में यह कथा लिखी। इस रचना का नाम 'माधवानल कामकन्दला चरित्र' है। दूसरे कवि हैं अकबर के समकालीन आलम जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। तीसरे कवि गणपति। इन्होंने सम्वत १५८४ में राणा नाम के राज्यकाल में दोहों में यह रचना लिखी। इसका नाम 'माधवानल प्रबन्ध दोग्धबन्ध कवि गणपति कृत' है। इधर अभी हाल में 'माधवानल काम कन्दला का रस विलास' नाम की एक रचना और मिली है जिसके कवि का नाम अज्ञात है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आलम द्वारा अपनाई उपर्युक्त कथा एक अत्यन्त लोक प्रसिद्ध कथा थी जिसका वर्णन संस्कृत और भाषा काव्य दोनों में हो चुका था। परन्तु आलम ने इसका यथावत् अनुकरण नहीं किया है। अपनी आवश्यकतानुसार उसमें घटाया बढ़ाया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इसमें कुछ मेरा अपना है और कुछ 'परिकृति' की चोरी है—

"कुछ अपनी कुछ परिकृति चोरौं। यथा सकति करि अच्छर जोरौं॥
सकल सिंगार बिरह की रीति। माधौ काम कन्दला प्रीति॥'

उन्होंने—"कथा सस्कृत सुनि कछु थोरी। भाषा बांधि चौपही जोरी॥"

इस रचना का संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—पुष्पावती का राजा गोपीचन्द धर्मनिष्ट था। उसके नगर में माधव नाम का एक निपुण एवं रूपवान ब्राह्मण रहता था। वह विद्वान और सङ्गीतज्ञ था। उसकी वीणा

सुनकर स्त्रियाँ मोहित हो जाती थीं। फलतः शान्ति भङ्ग की आशङ्का से लोगों ने उसे वहाँ से हटा देने के लिए राजा से अनुरोध किया, जिसने परीक्षा लेकर उसे निकाल दिया। वहाँ से माधव कामावती नगर में आया। यहाँ राजा कामसेन की वेश्या कामकन्दला रहा करती थी। वह एक दिन दर्बार में नृत्य करने गई। माधव भी उसकी प्रसिद्धि सुनकर सभा में गया परन्तु उसे बाहर ही रोक दिया गया। वहीं से बैठकर सुनते समय ज्ञात हुआ कि दरबार के भीतर मृदग बजाने वालों मे से एक की थाप बेसुरी पड़ रही है। उसने द्वारपाल के द्वारा यह बात राजा तक पहुँचा दी। राजा ने जाँच कर इस बात को सत्य पाया और माधव के गुण से प्रभावित होकर उसे भीतर बुला लिया। वहाँ उसका सङ्गीत हुआ जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उसे अपना मुकुट तथा दो करोड़ रुपए इनाम के दिए। कामकन्दला इससे बहुत प्रभावित हुई। फिर जब कामकन्दला अपने सिर पर पानी से भरा कटोरा लेकर कठिन नृत्य करने लगी और उसके वक्षस्थल पर एक मधुमक्खी बैठकर काटने लगी तो उसने उसे श्वासों की साधना देकर उड़ा दिया जिसे केवल माधव ही देख और समझ सका। इस अद्भुत कला प्रदर्शन पर मुग्ध होकर उसने कामकन्दला को राजा की दी हुई सारी सामग्री दे दी। राजा के पूछने पर जब माधव ने इस रहस्य का उद्घाटन किया तो उससे वहाँ के लोगों की अनभिज्ञता तो प्रकट हो गई परन्तु राजा ने अपने को अपमानित अनुभव किया। क्षुब्ध होकर उसने माधव को नगर से निकल जाने की आज्ञा दी।

परन्तु कामकन्दला उस पर आसक्त हो चुकी थी। इसी कारण उसने माधव से सीखने के बहाने चोरी से अपने घर में छिपा लिया। फिर भी माधव वहाँ अधिक दिन नही रह सका और कामकन्दला को विरहिणी बना कर निकल भागा। किन्तु वह भी स्वय विरही बन गया। इस कारण अपनी वीणा पर विरह के गीत गाता हुआ सम्राट विक्रमादित्य के नगर में जा पहुँचा। उसने राजा से मिलने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। एक दिन एक मन्दिर में, जहाँ सम्राट प्रतिदिन जाया करता था, एक दोहा लिखकर उसने सम्राट का ध्यान आकर्षित किया। सम्राट ने उसकी

खोज कराई और अपनी दूती से माधव का सारा रहस्य जान लिया। कामकन्दला के माधव के लिए प्राप्त करने के लिए उनने कामावती नरेश पर आक्रमण कर दिया और जब इस बात की परीक्षा करली कि दोनों प्रेमी एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकते तो युद्ध कर उसने इन दोनों का मिलन करा दिया। परीक्षा के समय जब सम्राट ने देखा कि एक दूसरे की मृत्यु का समाचार सुनकर सचमुच मर जाता है तो उसने स्वयं भी चिता में जलकर मर जाना चाहा। जब सम्राट के वैताल को इसका पता चला तो उसने माधव और कामकन्दला को जीवित कर सम्राट को बचा लिया। इस प्रकार इन दोनों प्रेमियों का मिलन हुआ।

आलम ने अपनी इस रचना के अन्तर्गत अच्छा काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है। इनके रूपक कहीं-कहीं अत्यन्त सुन्दर हैं। इन्होंने रागों के विविध नाम भी गिनाए हैं। सिखों के 'गुरू ग्रन्थ साहब' के अन्त में दी गई राग-माला आलम की इस रचना से ही उद्धृत कर ली गई थी। कर्मवाद एवं कामशास्त्र की रहस्यमय बातों का भी उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का प्रधान रस शृङ्गार ही है, किन्तु वीर एव वीभत्स रस के भी कुछ सुन्दर उदाहरण मिल जाते है। फिर भी इसकी विशेषता इसके प्रेम भाव के विशद वर्णन में ही लक्षित होती है। प्रेम ही वस्तुतः आलम का प्राधान वर्ण्य विषय है और उसी की व्याख्या उसकी सम्पूर्ण रचना में मिलती है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कहते है—

"आलम ऐसी प्रीति पर, सरवस दीजै वार।
गुपत प्रकट अंखियन मिलै, दिए कपट पट डार॥"

अर्थात् उसी प्रेम भाव पर अपना सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिए जिसमें कपट का पर्दा कुछ भी नहीं रहा करता और सभी कुछ, गुप्त हो या प्रकट, आँखों से ही स्पष्ट हो जाया करता है। भाषा की दृष्टि से इसकी भाषा परिमार्जित अवधी है।

प्रश्न ८:—शेख निसार का संक्षिप्त परिचय देते हुए 'यूसुफ जुलेखा' की साहित्यिक आलोचना कीजिए।

उत्तरः—हिन्दी के अन्य सभी प्रेमाख्यानक कवियों के समान शेख निसार ने भी अपनी रचना 'यूसुफ जुलेखा' के प्रारम्भ में अपना परिचय और निर्माण का काल दे दिया है। इसका रचना काल दिल्ली अन्तिम मुगल सम्राट शाह आलम के समय में था—"आलम शाह हिन्द सुलताना। तेहि के राज यह कथा बखाना॥" साथ ही उन्होंने अवध के नाव व आसिफुद्दौला का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके हिन्दू मन्त्री बड़े कुशल और राजनीतिज्ञ और न्याय प्रिय थे। अपने जन्म स्थान का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी वंश परम्परा का भी परिचय दे दिया है—

"शेखपुर इत गाँव सुहावा। शेख निसार जनम तहँ पावा॥
शेख हबीबुल्लाह सुहाए। शेखपुर जिन आन बसाए॥"

ये शेख हबीबुल्लाह इनके पूर्वज थे। आगे चल कर इन्हीं के वंश में--

"तेहि के शेख मुहम्मद बारा। रूपवन्त भू के अवतारा॥
ता सुत गुलाम मुहम्मद नाऊँ। सो हम पिता सो ताकर नाऊँ॥
वस मौलवी रूम के, शेख हबीबुलाह।
जेहि के मनसवी जगत में, आगम निगम अवगाह॥

शेख निसार अनेक भाषाओं के विद्वान और बहुश्रुति व्यक्ति थे। उन्हें अरबी, फारसी और संस्कृत सभी का ज्ञान था और उन्होंने इन तीनों भाषाओं में ग्रन्थ रचना की थी परन्तु उनके इन भाषाओं के ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। इन्हीं के अनुसार इन्होंने सात ग्रन्थ लिखे थे जिनमें तीन गद्य, एक दीवान, एक अलङ्कार ग्रन्थ तथा एक भाखा काव्य था।

ये हिन्दी गद्य के आदि प्रणेताओं में से एक मुंशी इन्शाअल्ला खाँ के समकालीन थे। जिस समय इन्होंने 'यूसुफ जुलेखा' की रचना की उस समय इनकी अवस्था ५७ वर्ष की थी। ग्रन्थ का निर्माण-काल देते हुए उन्होंने लिखा है कि—

"सतावन बरस बीते आयू। तब उपज्यो यह कथा क चाऊ॥
सात दिवस महँ कथा समापत। दुरमति नाम रह्यो सो समत॥
हिजरी सन बारह सौ पाँचा। बरनेउ प्रेम कथा यह साँचा॥

इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना हिजरी सन् १२०५ तदनुसार सम्वत् १८४७ में हुआ था। १८४७ में से ५७ वर्ष घटा देने से कवि का जन्म सम्वत् १७६० तदनुसार ई० सन् १७२२ में हुआ था।

इनका जन्मस्थान शेखपुर फैजाबाद जिले में है जिसका आधुनिक नाम 'शेखपुर जाफर' है। वह एक छोटा सा गाँव है। यह अयोध्या तथा बाराबंकी जिले के रुदौली नामक स्थान के मध्य में स्थित है। शेख निस्तर ने रुदौली का उल्लेख करते हुए कहा भी है कि—"अवध रुदौली के मंझठांवा। सेखपूर अति सुन्दर गांवा॥" कवि द्वारा उल्लखित एक अत्यंत पुराना इमली का वृक्ष भी उन घरों के निकट वर्तमान है जो इनके पूर्वजों के बताए जाते हैं। कुछ लोगो ने इस शेखपुर को रायबरेली जिले का शेखपुरा नामक कस्वा माना है जो प्रमाणों के अभाव में उचित नहीं प्रतीत होता। 'निसार' वस्तुतः कवि का उपनाम था। उनका वास्तविक नाम गुलाम अशरफ माना जाता है। ये सब चार भाई थे जिनमें अन्य तीन भाइयों के नाम गुलाम सादिक, गुलाम रसूल और गुलाम गौस थे। कवि ने तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का भी सुन्दर परिचय देते हुए दिल्ली अवध के शासन का अन्तर दिखाया है।

इनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'युसुफ जुलेखा' का आधार प्रसिद्ध फारसी काव्य 'युसुफ जुलेखा' है। इस काव्य की रचना का कारण बताते हुए शेख निसार ने लिखा है कि उनके २२ वर्षीय पुत्र लतीफ की असामयिक मृत्यु से इन्हें अत्यन्त वेदना हुई। वे पुत्र वियोग में पागल से हो गए। उधर युसुफ जुलेखा की कथा में युसुफ के पिता याकूब को भी पुत्र वियोग का यही कष्ट उठाना पड़ा था। याकूब और अपनी परिस्थिति में साम्य देखकर कवि ने इस काव्य की रचना की। पुत्र के विरह में रो रो कर उसने यह कथा लिखी। अन्त में उसने विनती की कि मैं तो रहूँगा नहीं पर यह कहानी सदा रहेगी। जो इस कथा को पढ़े सुने उनसे विनती है कि मुझे आशीर्वाद दें कि मेरी सद्गति हो। इस ग्रन्थ निर्माण का दूसरा कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि उनके समय तक प्रचलित अन्य सभी प्रेम काव्य प्रेम रसपूर्ण तो हैं किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ अधिकतर काल्पनिक कथाओं से भरी

पड़ो है। इसी कारण वे यह सच्ची कहानी कहने जारहे है। साथ ही वे इसे अन्य प्राचीन भाषा में न कहकर 'भाखा' में इसलिए कहने को उत्सुक हैं कि आज तक किसी ने भी इस महत्वपूर्ण घटना का वर्णन इस प्रकार नहीं किया है। कवि अपनी इस रचना को सभी प्रकार अनुरूप और अद्वितीय समझता है और इसकी रचना द्वारा अपने उद्धार की भी आशा करता है!

सक्षेप में 'युसुफ जुलेखा' की कथा इस प्रकार है—नबी याकूब किनआँ नामक नगर में रहते थे जिनके कई सन्ताने थीं। युसुफ इन्हीं का पुत्र था जिसे वे सबसे अधिक प्यार करते थे। इससे युसुफ के अन्य भाई उससे चिढ़ते रहते थे। एक बार उन्होने युसुफ को मार डालने का प्रयत्न किया परन्तु उसमें असफल होने पर उसे चुपचाप एक सौदागर के हाथों गुलाम के रूप में बेच दिया। युसुफ अत्यन्त रूपवान व्यक्ति था जिसे देखकर नर नारी मोहित हो जाते थे। साथ ही उसमें उदारता, नम्रता, आदि मानवीय गुणों का बाहुल्य था। उसने चलते समय अपने भाइयों से उसे क्षमा कर देने की प्रार्थना की।

उधर पश्चिम दिशा में तैमूस नामक सुल्तान राज्य करता था जिसके जुलेखा नामक एक अत्यन्त रूपवती पुत्री थी। बड़े बड़े बादशाहों के विवाह के प्रस्तावों को सुल्तान तैमूस ने स्वीकार नहीं किया। इधर जुलेखा ने स्वप्न में युसुफ को देखकर उस पर अपना तनमन वार दिया और उसके विरह में व्याकुल रहने लगी। पुनः स्वप्न में युसुफ के दर्शन होने पर जुलेखा ने उससे उसका पता पूछा। इस पर युसुफ ने कहा कि तुम मिश्र के वजीर के यहाँ आवो तो मुझसे भेंट होगी। जुलेखा की शादी अन्त में उसी वजीर से हो गई परन्तु अपने पति को देखकर उसे अत्यन्त निराशा हुई क्योंकि यह वही व्यक्ति न था जिसे उसने स्वप्न में देखा था। एक दिन युसुफ गुलाम के रूप में बाजार में बिकने के लिए आया। उसके रूप गुण की प्रशंसा सुनकर जुलेखा भी अपनी दासी के साथ बाजार आई। उसने युसुफ को देखते ही पहचान लिया कि उसका वही स्वप्न-पुरुष है। वह वजीर से आग्रह कर उसे खरीद कर ले गई और अपनी सेवा में नियुक्त कर लिया। अब जुलेखा खुश रहने लगी। क्रमशः उसने अपना प्रेमभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया परन्तु

युसुफ की ओर से उदासीनता ही मिली। इससे तिलमिला कर उसने युसुफ पर झूठा आरोप लगाकर उसे कारावास का दण्ड दिया परन्तु वजीर सब रहस्य समझ चुका था। कारावास में भी जुलेखा ने उसे प्राप्त करने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु असफल रही। इधर मिश्र में जुलेखा की बड़ी निन्दा हुई। उसने एक बार वहाँ की नारियों को बुलाकर एवं युसुफ का अद्भुत रूप दिखाकर उन्हें मोहित कर दिया तथा यह सिद्ध किया कि युसुफ के रूप के आकर्षण की अवहेलना करना किसी भी नारी के लिए सम्भव नहीं है।

एक दिन सुल्तान ने अपने एक स्वप्न का युसुफ द्वारा उचित अभिप्राय जानकर उसे मुक्त कर अपना वजीर बना लिया। इसमें जुलेखा का प्रधान हाथ था। वजीर ने क्रोध में आकर जुलेखा को त्याग दिया। युसुफ का सम्मान बढ़ता गया। एक बार उसके भाई वहाँ अन्न वस्त्र से दुखी होकर आए। वे युसुफ को न पहचान सके परन्तु वह पहचान गया। उसने उन्हें यथेष्ठ सामग्री देकर कहा कि यदि वे अपने छोटे भाई इब्नअमीं को लेकर आएँ तो उन्हें और भी सामान मिलेगा। वे पुनः आए। इब्नअमीं ने युसुफ को पहचान लिया। अन्त में याकूब भी मिश्र आया। तीस वर्ष बाद पिता पुत्र मिले। इसी समय सुल्तान की मृत्यु हो गई और युसुफ सुल्तान बना।

इधर जुलेखा को युसुफ के विरह में तप करते हुए ४० वर्ष हो गये। वह बूढ़ी हो गई और रोते रोते उसकी आँखें फूट गई। एक दिन नगर में युसुफ की सवारी निकली। जुलेखा उसके मार्ग में जा खड़ी हुई। युसुफ ने उसे पहचान कर उसकी इस दशा का कारण पूछा। उसने युसुफ को ही उसे इस दशा तक पहुँचाने वाला बताया। याकूब को भी सब हाल मालूम हुआ। उन्होंने जुलेखा को दुआ दी जिससे वह फिर अनिद्य सुन्दरी बन गई। अन्त में युसुफ जुलेखा का विवाह हो गया। पर जब सब कुछ हो गया तब आखिर जुलेखा को शरारत सूझी। उसने युसुफ को छकाने की ठानी ताकि उसे पता तो चले कि कैसे हमने यह ३० वर्ष बिताए है। आखिर को युसुफ को नाकों चना चबवा कर तब अन्त मे जब उसके मरने की नौबत आई तब जुलेखा ने आत्म समर्पण कर दिया। सत्तेप में कथा यही है।

इस कथा के विषय में परशुराम चतुर्वेदी लिखते है कि—"कवि निसार

ने अपने कथानक को शामी भण्डार से चुना है और उसे स्वभावतः विदेशी क्षेत्रों में विकसित भी किया है। उसकी रचना के प्रधान पात्र युसुफ और जुलेखा शामी जाति के लिए सुपरिचित व्यक्ति हैं। कवि का दुख दलित हृदय उनके आदर्श प्रेम का चित्रण करने के साथ ही उनकी विभिन्न दुरवस्थाओं के भी विवरण दिला देता है जिस कारण प्रेमरस का माधुर्य करुणारस की मर्मान्तिक घटनाओं के द्वारा कुछ विचित्र ढंग का हो जाता है।····कथानक की एक विशेषता यह भी जान पड़ती है कि उसकी कहानी के सभी पात्र पूर्ण लौकिक नहीं हैं। वे अलौकिक प्रेम के अति निकट हैं।" यह कथा अन्य प्रेमाख्यानकों से पूर्णतः भिन्न है। इसमे भारतीय लोकप्रसिद्ध ऐतिहासिक कथानक के स्थान पर मिश्री लोकप्रसिद्ध कथा का आश्रय लिया गया है। अतः इसका भारतीय समाज और संस्कृति से कोई सम्बन्ध न होकर ईरानी या मिश्री समाज और जीवन से है।

स्वप्न में किसी को देख कर उसके प्रेम में पागल हो जाना भारतीय काव्य और रस पद्धति के लिए एक सर्वथा नई वस्तु है। हमारे यहाँ ऐसा सम्भव नहीं है। यह फारसी परम्परा की ही देन है। दूसरी बात यह है कि अन्य मसनवी काव्यों में प्रेम का आकर्षण दोनों तरफ से रहा है परन्तु यहां केवल जुलेखा ही प्रेम में तड़पती रहती है। युसुफ पर प्रेम का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। वह जुलेखा की ओर से पूर्णरूप से उदासीन रहता है। इस अस्वाभाविक एवं एक पक्षीय प्रेम का एक कारण है। इसमें नायक के दो रूप हैं—लौकिक और अलौकिक। इस्लाम में युसुफ 'नवी' या ईश्वर के प्रतिनिधि माने गए हैं। वे मानव भी हैं और 'नवी' भी। कवि ने उनके इन दोनों रूपों—मनुष्यत्व और ईश्वरत्व का चित्रण करने का प्रयत्न किया है इसीसे यह अस्वाभाविकता आ गई है। इन दोनों रूपों का एक साथ निर्वाह असाधारण प्रतिभा सम्पन्न कवि ही कर सकता है जैसे तुलसी ने राम के दोनों रूपों का चित्रण किया है। निसार में इतनी अपेक्षित काव्य प्रतिभा नहीं थी अतः उसके इस चित्रण में असंगतता आ गई।

युसुफ दर्प-विषाद-रहित महामानव के रूप में चित्रित किया गया है। परन्तु वह अपने इस रूप का निर्वाह नहीं कर सका। कामातुर होकर जुलेखा

की ओर झपटना उस जैसे महान व्यक्तित्व के लिए अस्वाभाविक और अशोभनीय है। इस स्थान पर उसका चरित्र गिर जाता है। जुलेखा का चरित्र तो बहुत ही निम्न कोटि का सा हो गया है। उसके चरित्र की केवल एक विशेषता है कि वह अपने प्रियतम की एकमात्र और एकनिष्ठ प्रेमिका है और उसे उचित अनुचित किसी भी उपाय से प्राप्त करना चाहती है। भारतीय प्रेम कथाओं में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त भाइयों का पारस्परिक द्वेष भी भारतीय परम्परा के विरुद्ध है।

काव्य की दृष्टि से भी निसार का काव्य अन्य मसनवी काव्यों से भिन्नता रखता है। इसकी भाषा अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों के समान अवधी तो अवश्य है परन्तु उसमें और उसकी पूर्ववर्ती रचनाओं की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। इसकी भाषा परिमार्जित अवधी है। उसमें 'पद्मावत' के से ठेठ और ग्रामीण शब्दों के प्रयोग कहीं भी नहीं मिलते। कहीं-कहीं तो उसकी भाषा 'मानस' की भाषा से भी परिष्कृत प्रतीत होती है। अरबी, फारसी के शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के शब्दों का भी यथेष्ठ प्रयोग किया गया है। ऋतुवर्णन और बारहमासा वर्णन में कवि ने कवित्त और सवैये भी लिखे हैं जो प्रेमाख्यानक काव्यों के लिए सर्वथा नई वस्तु है। भाषा में ब्रजभाषा की भी छाया है। समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ को सी परिष्कृत, परिमार्जित और प्रौढ़ अवधी भाषा के दर्शन 'रामचरित मानस' को छोड़ कर सम्पूर्ण अवधी साहित्य में दुर्लभ हैं।

अलङ्कारो का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। यहाँ तक कि कवि में अनुप्रास जैसे साधारण और सर्व प्रचलित अलङ्कार के प्रति भी कोई मोह नहीं है। रस में करुणा रस का प्राधान्य है। यद्यपि इसमें शृङ्गार के वियोग पक्ष का चित्रण होना चाहिए था परन्तु कवि ने विरह को प्रधानता न देकर करुणा रस को प्रधानता दी है। इसका कारण उसका स्वय का पुत्र-शोक ही प्रतीत होता है। अपने पुत्र के वियोग को कम करने के लिए ही कवि ने इस ग्रंथ का निर्माण किया था।

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों के समान इसमें इस बात का कहींभी संकेत नहीं किया गया है कि यह अन्योक्ति

हैं। न इसमें सूफी सिद्धान्तों का ही निर्वाह किया गया है क्योंकि इसमें प्रारम्भ में ही 'प्रेम की पीर' का उद्भव नायक में न होकर नायिका में होता है। इसमें शैतान, गुरु, माया आदि का प्रतीक कोई पात्र ही है। अतः प्रयत्न करने पर भी इसमें अन्योक्ति के कहीं भी दर्शन नहीं होते।

प्रश्न ६—सूफी-साहित्य पर एक संक्षिप्त आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—सूफी-साहित्य की सभी प्रारम्भिक रचनाएँ अरबी भाषा में लिखी गई थीं। प्रत्येक देश का सूफी कवि 'कुरान शरीफ' की भाषा में ही अपना ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ करता था। साहित्य के प्रारम्भिक एवं मध्य-कालीन विदेशी लेखकों ने स्वमत प्रचारार्थ कुछ निबन्ध आदि भी लिखे। इब्न अरबी नामक एक सूफी लेखक ने 'फतूहात मक्किया' एवं 'फुसूहुल हिकम' की रचना कर अपने मत का विशद प्रतिपादन किया। आगे चलकर सुहवर्दी नामक लेखक का 'अवारिफुलम्वारिफ' नामक ग्रन्थ सूफियों का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया। महमूद शबिस्तारी का 'गुलशने राज' नामक ग्रन्थ भी इसी कोटि की रचना है।

सूफी साहित्य का एक दूसरा अङ्ग सूफियों के परिचय का जीवन वृत के रूप में पाया जाता है। इनमें अरबी और फारसी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध सूफी सन्तों एवं कवियों का विस्तृत चमत्कारपूर्ण परिचय मिलता है। साथ ही उन सूफियों के आचरणादि के द्वारा सूफी मत पर भी प्रकाश पड़ता है। हुज्विरी ने 'कश्फुल महजूब' में प्रसिद्ध प्रसिद्ध सूफियों का परिचय देकर उनकी चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है। फरीदुद्दीन अत्तार ने 'तजकिरातुल औलिया' में काव्यमय गद्य के द्वारा उनकी जीवनियों का सारतत्व संगृहीत किया है। सूफियों की जीवनी लिखने की यह परम्परा बहुत पीछे तक उसी रूप में चलती गई। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अधिकांश उचित हिन्दी कवियों के समान उनका जीवन वृत अन्धकारमय और अज्ञात होने से बच गया।

सूफी-साहित्य का सबसे प्रधान अङ्ग उसके काव्यों द्वारा पुष्ट किया गया है। अरबी भाषा में प्राचीन काल से प्रेम काव्य की रचना होती चली आई थी परन्तु उन प्रेम-गाथाओं का सम्बन्ध प्रायः युद्धादि से ही रहता था। उसमें सूफियों की 'प्रेम की पीर' का अभाव था। "शुद्ध व्यक्तिगत प्रेम अथवा ईश्वरीय प्रेम के प्रतीकात्मक वर्णन की परम्परा ईरान देश की विशेषता बनकर फारसी के द्वारा आगे बढ़ी। फारसी के प्रतिभाशाली कवियों ने न केवल अपनी गजलों द्वारा गम्भीर से गम्भीर प्रम भाव का उद्घाटन किया, अपितु ईश्वरीय प्रेम के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने मसनवी पद्धति का एक ऐसा उपयुक्त सहारा लिया जिससे उनका उद्देश्य पूर्णतः सिद्ध हो गया और प्रेम तत्व के प्रतिपादन वा उसके वर्णन की उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई।"

सूफियों ने प्रेम के गूढ़ भाव का व्यक्तिगत व्यक्तीकरण गजल एवं रुबाइयों के द्वारा किया। ये 'दीवान' अथवा 'कुल्लियत' के रूप मे सगृहीत हुई। इन छन्दों द्वारा कवियों ने अपना प्रेम-भाव सकेत रूप मे किसी कल्पित व्यक्ति को मान कर किया है। वह व्यक्ति प्रायः पुरुष रहा है प्रेम-पात्र को ईश्वर का प्रतीक होने के कारण पुरुष रूप में स्वीकार करना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। उमर खय्याम की रुबाइयाँ संसार प्रसिद्ध है। उनमें इसी प्रेमभाव का प्रदर्शन है। उमर खय्याम ने अपने प्रेमोद्गार के के अतिरिक्त व्यंगात्मक शैली में कर्मकाण्ड की भी आलोचना की है। कर्मकाण्ड की आलोचना सूफियो ने गजलो द्वारा भी की। जलालुद्दीन रूमी की इस प्रकार की गजलें अत्यन्त प्रसिद्ध है। अपनी इन गजलो मे रूमी ने सूफी के लिए 'परमेश्वर का मानव' शब्द का प्रयोग किया है और उसे ईश्वरीय प्रेम द्वारा मदोन्मत्त रूप में चित्रित किया है। रूमी के अतिरिक्त सनाई, सादी एवं हाफिज ने भी इसी प्रकार की गजलें लिखी हैं। इनमें हाफिज सर्वश्रेष्ठ है।

उमर खय्याम की रुबाइयात, हाफिज की गजलें जिस प्रकार प्रसिद्ध है उसी प्रकार मौलाना रूम की मसनवियाँ भी सर्व प्रसिद्ध माना जाती है। इसी विशेषता के आधार पर कुछ लोगों ने उन्हें 'आचार्य' कहकर भी

पुकारा है। इनके अतिरिक्त सनाई और अत्तार ने भी मसनवियाँ लिखी थीं परन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ रूमी ही माने जाते हैं। "जिन बातों का ठीक ठीक प्रतिपादन तर्क प्रणाली द्वारा सम्भव नहीं और जो साधारण उपदेशों द्वारा भी अपना प्रभाव नहीं जमा पातीं उन्हे रूमी ने केवल छोटे छोटे आख्यानो के आधार पर ही प्रतीकों के सहारे स्पष्ट कर दिया है और वे पूर्णत: आकर्षक भी हो गई हैं।" रूमी की मसनवी 'कुरानी पहलवी' भी कही जाती है और उसे ससार की सर्वश्रेष्ठ पुस्तको में स्थान दिया जाता है। इसकी कथन शैली अत्यन्त सरल, सरस और भावपूर्ण है।

फारसी साहित्य का भारतीय उर्दू साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अनेक उर्दू कवियो ने इस प्रभाव को ग्रहण कर गजलें, रुबाइयाँ और मसनवी लिखीं हैं। गोलकुण्डा का सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह उर्दू का सर्व प्रथम कवि माना जाता है। इसके अतिरिक्त तबई, मुहम्मद नसरत आदि कवियों ने भी अनेक प्रकार की मसनवियाँ लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। यह धारा दक्षिण मे खूब फली फूली। वहाँ 'वली' नामक उर्दू कवि ने इसे दिल्ली में प्रचारित किया। 'वली' स्वय सूफी था। इसके प्रभाव से दिल्ली और लखनऊ के उर्दू कवियों का रुझान इस तरफ हुआ। यह समय सूफीमत के प्रचार का था। परन्तु उर्दू के अधिकाश कवि उनकी धार्मिक भावना की रक्षा न कर सके और उर्दू काव्य में अश्लीलता छा गई। वास्तविक सूफी मनोवृत्ति के साथ रचना करने वालों मे ख्वाजा मीर 'दर्द' नामक एक विद्वान सूफी का प्रधान हाथ रहा है। उनकी सूफी विचार धारा में 'इश्क हकीकी' की गम्भीरता पाई जाती है। इनके समकालीन कवियों में मीर हसन, मीर तकी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सूफी मनोवृत्ति के आधुनिक उर्दू कवियो में सर मुहम्मद इकबाल सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनकी पुस्तक 'असरारे खुदी' फारसी भाषा की सूफी रचना है।

उर्दू पर फारसी साहित्य का पूर्ण प्रभाव था परन्तु हिन्दी ने इस प्रभाव को नहीं माना। हिन्दी के पास अपनी उन्नत भाषा थी। अलङ्कार, छन्द आदि के अपने विधान थे। उसकी परम्परा संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत जैसी समृद्ध भाषाओं से सम्बद्ध थी। उसने सूफीमत से उसकी विचारधारा का

केवल सारतत्व ले लिया और उसे अपने स्वदेशी ढाँचे में ढाल दिया। छन्दों में गजल के स्थान पर उसने दोहा चौपाई को अपनाया। गुल, बुलबुल, चमन, मदिरा आदि के लिए कमल, पपीहा, वाटिका और मधु को स्वीकार किया। विदेशी प्रेम कहानियों के स्थान पर स्वदेशी उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती, रतनसेन-पद्मावती को अपना आधार बनाया। "हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत यद्यपि सूफी मत-विषयक निबन्धों का अभाव है और सूफियों के जीवन वृत्तों का फारसी या उर्दू तक की भाँति भी अस्तित्व नहीं है फिर भी इसकी प्रेमगाथा का भण्डार पूर्ण कहा जा सकता है और इसके फुटकर प्रेमकाव्य की भी कमी नहीं है।"

हिन्दी में सूफी प्रेमगाथाओं का आरम्भ, सर्वप्रथम, किस समय में हुआ इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। बहुत से लेखकों ने इसके लिए जायसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रामाणिक मानी हैं—

"विक्रम धँसा प्रेम कै बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा वैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कहँ जोगी भएऊ॥
साधु कुँवर खडावत जोगू। मधु मालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लागि अनुरुध वर बाँधा॥"

इससे प्रकट होता है कि जायसी से पूर्व चार प्रेम कहानियाँ—सपनावती, मुग्धावती, मृगावती और मधुमालती—प्रचलित थीं। इसके अतिरिक्त 'खडरावती' और 'प्रेमावती' नामक दो और प्रेमाख्यानक काव्यों का पता चला है जो जायसी से पूर्व लिखे गए थे। परन्तु इनकी कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है। उनका केवल उल्लेख मात्र प्राप्त है। मुल्ला दाऊद सूफी परम्परा के सबसे प्राचीन कवि हैं। इन्होंने 'नूरक और चन्दा' नामक प्रेमकथा लिखी थी। इनके उपरान्त 'प्रेमघन जीव निरञ्जन' नामक ग्रन्थ की रचना रंजन ने की। सन् १५०१ में शेख कुतबन ने अवधी भाषा और दोहा चौपाई छन्दों में 'मृगावती' लिखी। यह सूफी साहित्य का हिन्दी में लिखा हुआ, प्रथम प्राप्य ग्रन्थ है। कहा जाता है कि इसी ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी साहित्य में सूफीमत का प्रवेश हुआ था। कुतबन के उपरान्त मंझन की 'मधु-

मालती' की गणना की जाती है। इसमें विस्तृत वर्णन एवं विशद कल्पना की विशेषता है। इसके उपरान्त सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य मलिक मुहम्मद जायसी इस क्षेत्र में अपने 'पद्मावत' को लेकर आये। जायसी के पूर्व की सभी कथाएँ कल्पित थीं। जायसी ने अपनी कथा में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय किया। प्रबन्धात्मकता, कवित्व गुण और भाषा की दृष्टि से जायसी अन्य सूफी कवियों से श्रेष्ठ हैं।

जायसी के पश्चात् जमालुद्दीन का 'जमाल-पचीसी' नामक एक हस्त-लिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है। बाद में जहांगीर के समय में उसमान ने 'चित्रावली' लिखी। इसकी रचना 'पद्मावत' के ढङ्ग की है। 'चित्रावली' के योगी अंग्रेजों को भी देख आए थे। हिन्दी साहित्य में सम्भवतः अंग्रेजों का स्पष्ट उल्लेख सर्व प्रथम इसी पुस्तक में मिलता है। चित्रावली के उपरान्त शेख नबी ने 'ज्ञानदीप' नामक एक प्रेमाख्यान लिखा। इसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवयानी की कथा वर्णित है। जटमल की 'गोराबादल की बात' भी इसी परम्परा में मानी जाती है। इसके पश्चात् खड़ी बोली मिश्रित भाषा में लिखी हुई 'प्रेमी' नामक सूफी सन्त की 'प्रेम परकास' नामक एक पुस्तक प्राप्त हुई है। इसमें 'प्रेम और विरह का सुन्दर वर्णन है। कासिमशाह की 'हंस जवाहर' और नूरमुहम्मद की 'इन्द्रावती' की रचना भी अपना विशेष महत्व रखती है। 'इन्द्रावती' में दोहा चौपाई के बीच में बरवे छन्द का भी प्रयोग हुआ है। फाजिलशाह ने 'प्रेमरतन' नामक ग्रन्थ में वैराग्य, विरह और प्रेम का सुन्दर वर्णन किया है।

इधर आधुनिक काल में खड़ी बोली में भी कुछ प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए हैं। कुतुबशाह, मुहम्मदअली तथा मुहम्मद कुतुबशाह ने कुछ प्रेमगाथाओं की रचना की है। खड़ी बोली एवं फारसी छन्दों में लिखी हुई इब्नु निशाती की 'फूलबान' और रहमीनुद्दीन की 'किस्सए काम रूप और कला' भी इस श्रेणी की सुन्दर रचनाएं मानी जाती हैं। गद्य में मौलाना वजीद ने 'सब रस' नामक एक प्रेम कहानी लिखी है। नसरती ने मसनवी शैली में 'गुलशने इश्क' और दालिमी ने 'युसुफ जुलेखा' नामक ग्रन्थ इसी

काव्य परम्परा में लिखे हैं।

उपर्युक्त प्राप्त प्रेमगाथाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी प्रेम गाथाएं हैं जिनका केवल उल्लेख मात्र मिलता है। इनमें शेख रिज़कल्ला मुश्ताकी (स० १५४६—१६३८) की रचना 'प्रेमवत जोव निरंजन' की चर्चा की जाती है और कहा जाता है कि वह सूफी मत का था, 'हिन्दुई' में बड़ी योग्यता रखता था और उसका उपनाम राजन था। इसके अतिरिक्त मुहम्मद अफजल की रचना 'बारहमासा' उर्फ विकट कहानी (स० १६४८) तथा फाजिलशाह द्वारा लिखी गई नूरशाह एव माहेमुनीर की प्रेम कथा 'प्रेम-रतन' (सं० १६०५) के सम्बन्ध में भी अनुमान किया जाता है कि वे सूफी प्रेमगाथाए रही होगी किन्तु इस बात के लिए कोई उपलब्ध प्रमाण नहीं है। प्रेमगाथा के लेखकों में जानकवि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने 'कनकावति', 'कामलता', 'मधुकर', 'मालती', 'रतनावति', और 'छीता' नामक अनेक कहानियाँ लिखीं। वे इस प्रकार की रचना करने में से सिद्धहस्त थे कि उन्हें केवल दो ढाई दिन के अल्प समय में ही पूरा कर लेते थे। परन्तु इनकी कोई भी रचना 'पदुमावति', 'मधुमालति' वा 'चित्रावली' के समकक्ष नहीं उतर पाई है।

उत्तमा दिग्दर्शन प्रथम खण्ड

प्रश्न पत्र—२

भक्तिकाव्य और रीतिकाल

क: भक्तिकाव्य—

१—उत्तरकाण्ड (तुलसीदास)
२—विनयपत्रिका (तुलसीदास)
३—मीराबाई पदावली
४—भ्रमरगीत सार (सूरदास)
५—रासपञ्चाध्यायी तथा भँवरगीत नन्ददास)

ख: रीतिकाल—

१—बिहारी सतसई
२—कवित्त रत्नाकर (सेनापति)
३—संक्षिप्त रामचन्द्रिका (केशव)
४—देवदर्शन (हरदयालुसिंह)
५—रसखान और घनानन्द

————

तुलसीदास

(उत्तरकांड और विनय पत्रिका)

प्रश्न १—'रामचरितमानस' पर एक परिचयात्मक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—'रामचरितमानस' गोस्वामी जी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है। भाषा, भाव, रस, सिद्धाँत, प्रबंध कल्पना तथा लोक कल्याण भावना किसी भी दृष्टि से देखें यह ग्रन्थ अद्वितीय है। राजप्रसाद से लेकर रंक-कुटी तक इसका समान आदर है। उत्तरी भारत के प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में यह ग्रन्थ इतनी गहराई से समाया हुआ है कि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी बात करते में इसकी एक न एक चौपाई तो कह ही देगा। काव्य की दृष्टि से इसमें लोकोत्तर आनन्द देने की क्षमता है, भक्ति की दृष्टि से इसमें शाँति की संजीवनी और नीति की दृष्टि से उसमें समाज को आदर्श पथ पर ले जाने का संकेत है। इसमें सब प्रकार के व्यक्ति अपने मन के अनुकूल समाधान पा लेते हैं इसलिए यह सबका कण्ठहार है। इसके सम्बन्ध में विदेशी विद्वानों और देशी महापुरुषों ने जो सम्मतियाँ दी हैं वे इसके महत्व को प्रतिपादित करने वाली हैं। उनमें से कुछ यहाँ दी जाती हैं—

१—"हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास का स्थान निस्संदेह सर्वोच्च है और उनकी रामायण न सिर्फ भारत में ही वल्कि सारे संसार में सुप्रसिद्ध है। वह यथार्थतः ख्याति के योग्य है।" —'के' — हिन्दी लिटरेचर पृष्ठ ४७

२—"हिन्दुओं के धार्मिक सिद्धान्तों और उनकी संस्कृति का सर्वोच्च सुन्दर चित्र जैसा कि रामायण में मिलता है वैसा शायद अन्य किसी ग्रन्थ में न होगा।"— मैक्फी— मैन्ट्रलथीम पृष्ठ १६ ।

३—"तुलसी कृत रामायण का उत्तर भारत की करोड़ों पढ़ी और बे पढ़ी जनता में इतना अधिक मान है और प्रचलन है कि जितना सामान्य ईसाईयों

में बाइबिल का नहीं।"— ग्रियर्सन—एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स १६२१ पृष्ठ ४७१

४—"गोस्वामीजी की रचना जन समाज के लिए इतनी अनुकूल पड़ी है कि उनके बचनों को जनता कहावतों मे स्तैमाल करती है। इनना ही नहीं वल्कि सैद्धांतिक दृष्टि से भी उनकी रचना बड़ी उत्कृष्ट है। वर्तमान समय में हिन्दुओं के ऊपर उनके उपदेशो का जो प्रभाव पड़ा है वह अन्य किसी का नहीं। अन्य साम्प्रदायिक साधुओं की तरह उन्होने अपना कोई निज का सम्प्रदाय नहीं चलाया तथापि उनको भारत की तमाम हिन्दू जनता अपने चरित्र निर्माण और धार्मिक कार्यों में एक बहुत ही आम और प्रामाणिक पद प्रदर्शक मानती है।"—'करपेंटर' थियालाजी आफ तुलसीदास पृष्ठ २

५—"तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और मै उसे अद्वितीय ग्रन्थ मानता हू।"— महात्मा गाँधी

६—"रामायण को काव्य कहना उसका अपमान करना है। उसमें तो भक्ति रस का प्रवाह बहता है, जो जीवन को पवित्र कर देता है।"

—मदनमोहन मालवीय।

७—रामचरितमानस की कथा का श्रोत सर्व प्रथम भगवान् शंकर के हृदय में उमड़ा था। उनसे लोमश ऋषि को यह प्रसाद मिला, जिसे उन्होने भुशुण्डिजी को अधिकारी मानकर दे दिया। भुशुण्डिजी ने इसे ऐसा सरल और सरस रूप दिया कि स्वय शकरजी उसके रसास्वदन के लिए मराल बन कर रहे और गरुड़ जी को अपनी शंका निवृत्ति के लिए वहाँ भेजा। फिर शकरजी ने वह कथा पार्वती जी को सुनायी उसके पश्चात् योगी याज्ञवल्क्य ने भुशुण्डि से उस कथा को लेकर ज्ञानी मुनि भारद्वाजजी को सुनाई। वही गुरु परम्परा से तुलसीदासजी को मिली। तुलसीदासजी ने सुजनों के लिए वही कथा ग्रंथ रूप में रखदी। ग्रन्थ रूप मे पहुँचते पहुँचते इस मानसरोवर के चार घाट हो गए। प्रथम घाट शकर-पार्वती संवाद, दूसरा काक-भुशंडि-गरुड़ सवाद, तीसरा याज्ञवल्क्य-भारद्वाज सवाद और चौथा तुलसीदास तथा सुजनों का संवाद है—

सभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥

सोइ शिव काक भुशुंडिहिं दीन्हा । राम चरित अधिकारी चीन्हा ।।
तेइ सन जाग वलिक पुनि पावा, तिनि पुनि भरद्वाज प्रति गावा ।।

× × × ×

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेऊँ अचेत ।।

यह ग्रन्थ गोस्वामीजी ने कब और कहाँ बनाया इसका पता नही चलता कारण, अन्त में न समय ही लिखा है और न स्थान ही, केवल महिमा लिखकर ही ग्रंथ समाप्त कर दिया है । अनुमान यह किया जाता है कि गोस्वामीजी ने उसे अरण्यकाण्ड तक अयोध्या में और किष्किंधा से उत्तर तक काशी में बनाया क्योंकि अन्य कहीं काशी का वर्णन करके किष्किंधा के उत्तर में लिखा है—

मुक्ति जनम महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानिकर ।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइअ सकत ।।

इस कथा का आदि स्रोत बाल्मीकि रामायण है । आदि रामायणकार होने के कारण गोस्वामी जी ने इन कवीश्वर की वन्दना भी की है । इसके साथ हनुमान की भी वदना की है क्योंकि 'हनुमंतनाटक' से भी उन्होंने सहायता ली है । उनके अतिरिक्त योग वशिष्ठ अध्यात्मक रामायण, महाभारत, भुशुन्डि रामायण, याज्ञवल्क्य रामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत भरद्वाज रामायण, प्रसन्न राघव, अनर्घ्य राघव, रघुवश आदि अनेक ग्रंथों की छाया रामचरितमानस में है किंतु अधिक काकभुशुडि रामायण की है । वहीं से 'रामचरितमानस' नाम भी लिया गया है । काकभुशुंड जी कहते है—

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा । रामचरितमानस तब भाखा ।।

बाल्मीकि रामायण से रामचरितमानस की कथा में कई स्थानों पर भेद है । मुख्य भेद ये हैं—

१—बाल्मीकि ने परशुराम का मिलन विवाह के पीछे लौटते समय लिखा है परंतु गोस्वामी जी ने धनुष टूटने के बाद ही ।

२—जयन्त की कथा बाल्मीकि ने सीता के मुख से सुंदरकाण्ड में हनु-

मान के मुख से कहलाई है जिसमें हनुमान रामचन्द्र जी को सीता के मिलने का प्रमाण दे पर मानस में उनका यथा स्थान वर्णन किया गया है।

३—बाल्मीकि ने सेतु बाँधने पर शिव की स्थापना नहीं लिखी है केवल लङ्का से लौटते समय पुष्पक विमान पर से रामचन्द्र सीता को समुद्र तट दिखाते हुए कहते हैं कि 'यहाँ पर सेतु बधने से पहले शिव ने मेरे ऊपर अनुग्रह किया था।'

४—बाल्मीकि रामायण में युद्ध काण्ड में ही भरत मिलाप राज्याभिषेक आदि सब कुछ हो जाता है।

५—मानस में 'आध्यात्मक रामायण' के अनुसार कौवे का सीता के चरण में चोंच मारना लिखा है पर बाल्मीकि ने स्तनान्तर में।

वस्तुतः मूल कथा बाल्मीकि पर आधारित है पर छोटे छोटे ब्योरे अन्य ग्रंथों से लिए गए हैं। उदाहरण के लिए वर्षा और शरद के वर्णन श्रीमद्-भागवत से लिए हैं। छोटी छोटी अनेक उक्तियाँ तो संस्कृत ग्रंथों से मथ कर निकाली गई है कि वे उनकी अपनी ही जान पड़ती है।

इस ग्रन्थ के सम्बध में कहा गया है कि बालकाण्ड के आदि, अयोध्याकाण्ड के मध्य, और उत्तरकाण्ड के अन्त की गम्भीरता की थाह बहुत डूबने से मिलती है। यह सत्य भी है क्योंकि मानव जीवन की दशा के अनुसार बालकाण्ड में आनंदोत्सव को भरमार है, अयोध्याकाण्ड में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति का दर्शन होता है, अरण्य, किष्किधा और सुन्दर में कर्म, उद्योग और समय की सूचना है और लङ्का में विजय और विभूति का चित्र दिखाई पड़ता है। उत्तरकाण्ड में उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों और भक्ति की स्थापना की है।

रामायण तुलसीदासजी ने भाषा में की थी। इस पर सस्कृतज्ञ बड़े रुष्ट हुये थे और उन्होंने इसकी प्रामाणिकता मे संदेह किया। उस समय यह निश्चय हुआ कि रात को रामायण विश्वनाथजी के मन्दिर में रखी जाय। यदि विश्वनाथ जी की उस पर सही हो जाय तो उसको प्रामाणिक अन्यथा अप्रामाणिक माना जाय। कहते हैं कि सबेरे देखा गया तो विश्वनाथ जी ने उस पर अपनी स्वीकृति लिख दी थी।

प्रश्न ७—'तुलसी के राम' इस विषय पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

उत्तर–तुलसी के राम के सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो याद रखनेकी यह है कि वे मानव भी हैं और ब्रह्म भी। इसलिए उनके कुछ चरित्र प्रकट है और कुछ गुप्त—'सूझहि रामचरित मनि मानिक। गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खानिक।' अर्थात् प्रकट चरित्र से वे मानव हैं और गुप्त से वे ब्रह्म। जहाँ उनके प्रकट चरित्र में कभी दोष दिखाई देता है तुलसीदास जी उसमें अलौकिकता दिखाकर उसका परिहार कर देते हैं। तुलसी ने कहा है—

अति विचित्र रघुपति चरित, जानहि परम सुजान।
जे मतिमन्द विमोहवस, हृदय धरहि कछु आन॥
उमा राम गुण गूढ़, पण्डित भ्रमि पावहिं विरति।
पावहि मोह विमूढ़ जे हरी विमुख न धरम रति॥

तुलसी के राम विष्णु के अवतार नहीं वे साक्षात् ब्रह्म हैं इसीलिए तो तुलसी ने उनको "विधि हरि संभु नचावन हारे" कहा है। तुलसीदास जी उनकी वन्दना करते हुए मानस के आरम्भ में लिखते हैं—

यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुरा।
यत्सत्वादि मृषैव भाति सकल रज्जौ यथाहेर्भ्रमः॥

तुलसी ने स्थान स्थान पर इस तत्व का उल्लेख किया है कि राम ब्रह्म हैं, चराचर स्वामी हैं, अखिल ब्रह्माड के कारण हैं और सबके प्रेरक है। जब भी तुलसी के उमा, भारद्वाज, गरुड़ आदि श्रोताओं में से कोई शङ्का करता है कि ब्रह्म किस प्रकार नरचरित करता है तो तुलसीदास उसकी शङ्का समाधान इस प्रकार कर देते हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित करि नाना॥

तुलसी ने राम को दैवी गुणों से पूर्ण बनाया है और उसमें भक्त वत्सलता, शरणागत वत्सलता के साथ ही अलौकिक शील और अलौकिक सौन्दर्य का होना भी उसमें दिखाया है। उनके राम के परब्रह्म निरूपण का सारांश यह है—

१ — निर्गुण ब्रह्म (राम) जो साधारणतया अज, अगम, अगोचर और सर्व व्यापक है। स्वयं तो अकर्ता है परन्तु उनकी प्रकृति काम करती है। वे निर्गुण ब्रह्म भक्त के वश में होकर सगुण राम का रूप धारण कर अनेक प्रकार के चरित करते हैं—

व्यापक ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ एक भगवन्ता॥
सोइ सच्चिदानन्द घनश्यामा। अज विज्ञान रूप गुण धामा॥
अगुण अदम्य गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्गुण निराकार निर्मोहा। नित्य निरजन सुख संदोहा॥

भक्त हेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥

किन्तु नर रूप में भी उनका ऐश्वर्य ब्रह्म से कम नहीं है। काक भुशुंडि को राम के विराट रूप का जो दर्शन हुआ है उससे इसका पता भली प्रकार से। लग जाता है नर रूप में सगुण राम भी दाशरथि राम के रूप में है। वे अनादि अनन्त और सर्वोपरि हैं। वे काल से परे हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश उनकी पूजा करते हैं। वे साकेत के धाम में निवास करते हैं। इस रूप में उनकी प्रकृति या माया सीता हैं। उनके इस रूप में भी सम्पूर्ण ब्रह्माड समाया हुआ है। काक भुशुंडि ने उस सबका इतना स्पष्ट वर्णन तो किया है—

उदर माँझ सुनि अण्डजराया। देखेउ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
अति विचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एकते एका॥
कोटिक चतुरानन गौरीशा। अगणित उडगण रवि रजनीसा॥
अगणित लोकपाल यमकाला। अगणित भूधर भूमि विसाला॥

२—वह सगुण ब्रह्म दाशरथि राम के रूप में अनेक कालों में अवतार लेता है और इसी प्रकारकी तथा अनेक प्रकार की लीला करता है। यही राम कथा के नाम से प्रचलित है। वह सगुण और निर्गुण दोनों है या यों कहिए कि उसके सगुण और निर्गुण रूप में कोई भेद नहीं है। तुलसी ने इस बात को बहुत स्पष्ट कहा है—

सगुणहिं अगुणहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

३—सीता राम से अभिन्न है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वाणी और अर्थ, जल और लहर—

'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।'

अथवा—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजत जगु, पालति, हरति, रुख पाय कृपानिधान की॥

४—किन्तु तुलसी के इस सगुण नर रूप में मानव का रूप स्पष्ट है। इस मानव राम के चरित्र दो प्रकार के होते हैं—असामान्य और सामान्य। असामान्य चरित्र का सम्बन्ध तुलसी राम के अवतारी रूप से जोड़ते हैं और कहते हैं—

जो चेतन कहँ जड़ करै, जड़हि करै चेतन्य।
उस समरथ रघुनायकहिं, भजै जीव ते धन्य॥

जहाँ तक सामान्य चरित्र का प्रश्न है, उसका विषय चित्रण तो तुलसी ने अपने सम्पूर्ण रामचरितमानस में ही किया है। पुरजन, परिजन, और माता पिता के प्रिय राम इन सबके मोह में अपना कर्त्तव्य नहीं भूल जाते। वे सदैव कर्त्तव्य पालन के लिए बहुत ही सजग रहते हैं। उन्हें अपनी शक्ति पर अभिमान नहीं है किन्तु आत्मगौरव उनका प्रधान लक्ष्य है। वे शाति की प्रतिमूर्ति हैं किन्तु अपने क्षत्रित्व से कभी भी विमुख होना नहीं सीखा है। इसीलिए वे "एक बार कालहु किन होइ" उससे भी सोत्साह लोहा लेने के लिए प्रस्ततु हैं। उनके विशिष्ट गुणों के कारण उनके शत्रु भी उनकी प्रशसा करते हैं। वे आदर्श पुत्र, आदर्श राजा, आदर्श स्वामी, आदर्श सखा और सब कुछ आदर्श ही हैं। इसीलिए वे आवश्यकतानुसार एक ओर 'कुलिश' से भी कठोर हैं तो दूसरी ओर कुसुम से भी कोमल हैं।

प्रश्न ३—उत्तर काण्ड की कथा का संक्षिप्त परिचय देते हुए उत्तर काण्ड की प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।

उत्तर—यह काण्ड २११ दोहों में समाप्त हुआ है। आरम्भ के दो

श्लोकों में श्री रामचन्द्र जी की और तीसरे में शङ्कर जी की स्तुति की गई है। इसके पश्चात भरत के उस विलाप का वर्णन है जो उन्होंने रामचन्द्र के अयोध्या लौटने का समाचार न पाकर किया है। भरत शोक के समुद्र में मग्न है कि हनूमान जी द्वारा रामचन्द्र के आने का सम्वाद मिलता है और इतना सुनते ही राम को लिवाने के लिए भरत बड़ी धूमधाम से तैयारी करते हैं। राम का पुष्पक विमान दिखाई देता है। भरत को देखकर विमान नीचे उतरता है। इसके पश्चात भरत मिलाप होता है और अन्य भाई भी परस्पर सप्रेम मिलते हैं। इस विलाप के सनन्तर राम का अयोध्या में प्रवेश होता है। जहाँ जाकर भगवान सब माताओं से मिलते हैं। तत्काल ही राज्याभिषेक की तैयारी होने लगती है। अवध की शोभा इस समय दर्शनीय हो उठती है। वेद भगवान की स्तुति करते हैं और उनकी महत्ता को प्रकट करते हैं। भगवान वानरों को विदा करते हैं और राज्यकार्य में सलग्न हो जाते हैं। यहाँ तुलसी ने रामराज्य का जो वर्णन किया है अत्यन्त ही उत्कृष्ट है। एक अच्छे राज्य में जो विशेषताएँ होनी चाहिए उसको तुलसी ने यहाँ एकत्रित कर दिया है।

भगवान राज्य सचालन के समय भी पारिवारिक उत्तरदायित्व और स्नेह भाव से दूर नहीं है, यह दिखाने के लिए तुलसी ने सब भाइयों के पारस्परिक प्रेम का अच्छा वर्णन किया है। राम के राज्यकाल में अयोध्या की विभूति और शोभा का वर्णन तो अत्यन्त ही हृदय ग्राही है।

आगे चलकर सनकनन्दन सम्वाद आता है। यहीं भरत भगवान से प्रश्न करते हैं जिस पर भगवान उन्हें सन्त और असन्तो के लक्षण समझाते हैं। इसके पश्चात् वशिष्ठ और नारद के स्तुति करने का वर्णन है आगे चलकर शिव पार्वती को काकभुशुण्डि और गरुड़ की कथा सुनाते हैं। फिर सक्षिप्त रामचरित का वर्णन है।

इस सबके अन्तर ज्ञान और भक्ति के निरूपण का प्रसग आता है, जो तुलसी के दार्शनिक विचारों का रहस्योद्घाटन करने वाला है। ऐसा ही महत्वपूर्ण प्रसङ्ग एक और है जिसमे अलङ्कारिक प्रणाली से मनुष्य के मानसिक रोगों का वर्णन किया है और उनके निदान का उल्लेख करके ईश्वर

भक्ति की अमोघ औषधि का सेवन करने का विधान लाभप्रद बनाया गया है। ये दोनो ही प्रसङ्ग उत्तरकाण्ड के प्रारम्भ में है।

भक्ति का प्रतिपादन करके तुलसी रामायण महात्म्य और फल स्तुति लिखकर अपने इस महाकाव्य को समाप्त किया है। इस प्रकार उत्तरकाण्ड को संक्षिप्त कथा कहने के बाद अब हम इसकी प्रमुख प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करते हैं जो इस प्रकार हैं—

१—उत्तरकाण्ड की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें रामकथा विशेष नहीं है। केवल १३ वें दोहे तक ही रामकथा चलती है। शेष काण्ड तो रामकथा से केवल परोक्ष रूप से सम्बन्धित है। वास्तव में उत्तरकाण्ड का लक्ष्य दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं का निरूपण करना है।

२—'राम राज्य' का वर्णन उत्तरकाड की दूसरी विशेषता है। आज हम स्वतन्त्र होकर राम राज्य की स्थापना में प्रयत्नशील हैं। गोस्वामी जी ने जो कल्पना की है उससे अधिक श्रेष्ठ राज्य नहीं हो सकता है। आज कीसी विषमता उस राज्य में नहीं थी, यह राम का प्रताप था—"वैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।" विषमता रहित राज्य की विशेषता भी देखिए—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य नहि काहुहिं व्यापा।
सब कर करहि परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म विरत श्रुति रीती॥
चारिहु चरन धरम जगमाहीं। पूरि रहा, सपनेहु अघ नाही॥
राम भगति रत सब नरनारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुन्दर सब विरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोइ अबुधि न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धरम रत दुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनज्ञ पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट अमानी॥

यह तो मनुष्यों की स्थिति थी। अब तनिक अयोध्या की शोभा और विभूति का वर्णन भी देखिए—

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहि देहरी विद्रुम रची।
मनि खंभ मोति विरचि विरची कनक मनि मरकत रची॥

सुन्दर मनोहर मंदिरायत अति रुचिर फाटक रचे।
प्रति द्वार-द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रहि खचे॥

× × × ×

वापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुन्दर नीर निरमल देखि सुर मुनि मोहही॥
बहु रंग अंग अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारही॥

३—रामराज्य के साथ-साथ उत्तरकाण्ड में कलियुग का वर्णन भी उल्लेखनीय है। हमारी वर्तमान अधोगति अवस्था से वह वर्णन कितना मिलता जुलता है यह बात ध्यान देने योग्य है—

बरन धरम नहि आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नरनारी॥
द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहि मानि निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जाकहँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारम्भ दंभ रत जोई। ताकहुँ संत कहँ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवन्त खाबना॥
निराचार जो स्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोइ ज्ञानी सो विरागी॥

४—भगवान् राम राजा होने पर भी अपने भाइयों पर पूर्ववत स्नेह करते हैं और उनका मन रखते हैं। यह उनके शील स्वभाव का द्योतक है। भाई भी उनके अनुकूल कार्य करते हैं। सीता नौकर नौकरानियों के होते हुए भी अपने हाथ से ही सारा कार्य करती हैं। पति भक्ति के साथ ही उनका अपनी सासों के साथ का व्यवहार भी आदर्श और प्रशँसनीय है। उत्तरकाँड की इस पारिवारिक स्नेहपूर्ण झलक से तुलसी ने यह बतला दिया है कि यह उनके रामचरित मानस की एक प्रधान विशेषता है।

५—भरत के प्रश्न करने पर भगवान् ने सन्तों के जो लक्षण दिये हैं वे योगी से मिलते-जुलते हैं। गीता में स्थित प्रज्ञ के जो लक्षण भगवान कृष्ण ने दिए हैं वे ही तुलसी ने यहाँ सन्तों के लक्षण बताए हैं—

विगत काम भय नाम परायन । साँति विरति विनती मुदितापन ॥
सीतलता सरलता मयंत्री । द्विप पद प्रीति धरम जनयत्री ॥
समदम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष बचन कबहूँ नहि बोलहि ॥
निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज ।
ते सज्जन मम प्राण प्रिय, गुन मंदिर सुख पुंज ॥

असन्तों के सम्बन्ध में उनका मत है --

काम क्रोध मद लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
बयरु अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥
झूठहि लेना झूठहि देना । झूठहि भोजन झूठ चबेना ॥
बोलहिं मधुर बचन जिय मोरा । खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ॥
पर द्रोही, परदार रत, परधन, पर अपवाद ।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरे मनुजाद ॥

६—उत्तरकाण्ड से राम के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है । वे साक्षात् ब्रह्म हैं और भक्तों के लिए ही नर रूप धारण कर के अनेक प्रकार के चरित्र कर रहे है—

व्यापक ब्रह्म अखण्ड अनन्ता । अखिल अमोघ एक भगवन्ता ॥
सोइ सच्चिदानन्द घनश्यामा । अज विज्ञान रूप गुरु धामा ॥
अगुण अदभ्य गिरा गोतीता । समदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्गुण निराकार निर्मोहा । नित्य निरञ्जन सुख सन्दोहा ॥
भक्त हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ।
किए चरित्र पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥

परन्तु नर रूप में भी उनका ऐश्वर्य ब्रह्मा से कम नहीं है काकभुशुंड को जिस विराट रूप का दर्शन हुआ है उससे उसका पता अच्छी प्रकार से लग जाता है । नर रूप में भी वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश से बड़े हैं—

उदर माँझ सुन अंडजराया । देखेउँ बहु ब्रह्माड निकाया ।
अति विचित्र तहँ लोक अनेका । रचना अधिक एक ते एका ॥
कोटिक चतुरानन गौरीशा । अगणित उडगण रवि रजनीशा ।
अगणित लोकपाल यम काला । अगणित भूधर भूमि विशाला ॥

७—उत्तरकाण्ड से यह भी पता चलता है कि तुलसी माया के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—

व्याप रह्यौ संसार में माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाखंड ॥

किन्तु प्रभु की कृपा से इस माया से भी छुटकारा मिल सकता है इस ओर भी तुलसी ने सकेत किया है। वह भगवान के संकेत पर नटी की भांति नाचती है—

सो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहुन पावा।
सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥

८—यद्यपि तुलसीदास अद्वैतवादी हैं तथापि वे ईश्वर, माया और जीव की स्वतन्त्र स्थिति में विश्वास रखते हैं। उत्तरकाण्ड में उन्होंने कहा है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।
सो माया बस भएउ गोसाईं। बंधेउ कीट मरकट की नाईं ॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कटिनई ॥
तबते जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥

× × ×

ज्ञान अखण्ड एक सीता वर। माया वस्य जीव सचराचर ॥
जो सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहिं कहहु भेदकस ॥
माया वस्य जीव अभिमानी। ईश वस्य माया गुन खानी ॥
परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

६—उत्तरकाण्ड में ज्ञान-दीपक के प्रसङ्ग में तुलसीदास ने विशुद्ध ज्ञान और उसकी प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया है। दीपक में घृत, बत्ती, दीवट आदि सामग्री होती है। इसके साथ ही उसमें अन्धकार का नाश भी होता है। इन सभी बातों को एक रूपक में तुलसी ने बड़े ही कौशल से रखा है—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बस आई ॥
जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभकर्म अपारा ॥

तेइ त्रण हरित चरै जब गाई । भाव बच्छ शिसु पाइ पिन्हाई ॥
सोई निवृति पात्र विश्वासा । निर्मल मन अहीर निज दासा ॥
परम धर्म मय पय दुहि भाई । अब है अनिल अकाम बनाई ॥
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ाबै । धृति सम जीवन देह जमाबै ॥
प्रमुदित मथै विचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुवानी ॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता । विमल विराग सुभग सुपुनीता ॥

जोग अगिनि करि प्रकट तब कर्म भसुासुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत, ममता मल जरि जाइ ॥
तब विज्ञान स्वरूपिनी, बुद्धि विसद घृत पाइ ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दिअटि बनाइ ॥
तीन अवस्था तीन गुन, तेहि कपास तें काढ़ि ।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करै सुगाढ़ि ॥
ऐहि विधि लेसै दीप, तेज राशि विग्यान मय ।
जातहि जासु समीप, जरहि मदादिक सलभ सब ॥

सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा । दीप सिखा सोइ परम प्रचण्डा ॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा । तब भव मूल भेद भ्रम नासा ॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटहि अपारा ॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा । उर गृह बैठि ग्रंथ निरुआरा ॥
छोरन ग्रन्थि पाव जो सोई । तब यह जीव कृतारथ होई ॥

ज्ञान मार्ग की इस प्रणाली से आत्मानुभाव का सुख होता है यह बात तुलसीदास जी ने कितने सुन्दर ढंग से कहदी है, जिससे उनके प्रकाड पाडित्य और विशद ज्ञान पर आश्चर्य होने लगता है ।

१०—किन्तु तुलसीदास जी भक्ति मार्ग के समर्थक थे । इसलिए उन्होंने राम भक्ति-चिंतामणि को ज्ञानदीपक से अधिक महत्व दिया है क्योंकि ज्ञान का मार्ग कठिन है—

कहत कठिन समुझित कठिन साधन कठिन विवेक ।
होइ घुनाक्षर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥

इस बाधा पूर्ण मार्ग से बचकर राम भक्ति चिंतामणि का सहारा लेने से जीव का कल्याण हो जाता है। वह चिंतामणि किस प्रकार की है इसका वर्णन तुलसीदास इस प्रकार करते हैं।

राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसहि गरुड़ जाके उर अन्तर॥
परम प्रकास रूप दिनराती। नहिं कछु चहिए दिया घृतबाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अविद्या तम कटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उरमाहीं॥

कठिन ज्ञान पथ से भिन्न भक्ति के इस सरल पथ से चल कर सहज ही मोक्ष मिल सकता है यद्यपि भक्ति-लब्ध महात्मा मुक्ति को पसन्द नहीं करते—

ज्ञानक पथ कृपानक धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पथ निर्बहही। सो कैवल्य परम पद लहई॥

× × × ×

राम भगति सोइ मुक्ति गोसाईं। अन इच्छित आवै बरिआई॥
अस बिचारि हरि भगति सियाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

तुलसीदास ने भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए एक और भी रूपक दिया है। उन्होंने कहा है माया और भक्ति दोनों स्त्रियाँ हैं और ज्ञान पुरुष है। स्त्री, स्त्री पर मोहित नहीं होती, जब कि पुरुष स्त्री की ओर भटक जाता है। इसलिए ज्ञानी माया में फँस सकता है भक्त नहीं फिर भक्ति रघुवीर को प्रिय है, उनकी पटरानी है और माया है नर्तकी। नर्तकी की पटरानी के आगे कोई सत्ता नहीं है। रूपक की पँक्तियाँ इस प्रकार हैं—

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह चरित अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि वर्ग जानौ सब कोऊ॥
पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी विचारी॥
भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अतिमाया॥

वैसे ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही संसार के दुखों से मुक्ति दिलाने वाले हैं—

ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा॥

११—उत्तरकाण्ड में गरुड़ द्वारा पूछे गए सात प्रश्नों के उत्तर में काक-भुशुंडि ने कहा है कि नर शरीर सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि उससे प्रभु प्राप्ति हो सकती है। दरिद्रता सबसे बड़ा दुख है और सन्त-मिलन सबसे बड़ा सुख है। सन्त वह है जो दूसरो के लिए दुख सहे और असन्त वह है जो दूसरों के दुख का कारण बने। सबसे बड़ा पुण्य है अहिंसा और सबसे बड़ा पाप है पर-निन्दा। इसके पश्चात् उन्होंने मानसिक रोगो का वर्णन किया है—

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिनतें पुनि उपजैं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जो तीनिउ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥
ममता दादु कडु इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरति सोई छई। कुष्ट दुष्टता मत कुटिलई॥
अहङ्कार अति दुखद डमरूआ। दम्भ कपट मदमान नहरूआ॥
तृष्णा उदर वृद्धि अतिभारी। विविध ईसना तरुन तिजारी॥
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहं लगि कहौं कुरोग अनेका॥

इन रोगों को नष्ट करने की क्या विधि है यह उन्होंने बताई है—

राम कृपा नासहिं सब रोगा। जो इहि भाँति बनै सयोगा॥
सद् गुरु वेद वचन विश्वासा। संजम यह न विषै कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
इहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहित जतन कोटि नहिं जाहीं॥

और भी—

बारि मथे घृत होत बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भगति न भव तरिय, यह सिद्धांत अपेल॥

१२—उत्तरकाण्ड मे भक्ति का प्रतिपादन तुलसीदास का प्रमुख ध्येय है। उसके साथ हृदय के निर्मल होने के ऊपर विशेष बल दिया गया है क्योंकि बिना हृदय की निर्मलता के रामभक्ति का अंकुर नहीं जम सकता। स्तुतियों में, ज्ञान और भक्ति के निरूपण में, मानसिक रोगों के वर्णन में सर्वत्र भक्ति की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए महात्मा तुलसीदास परम

विश्रामदाता राम का आश्रय पाने के लिए हृदय को निर्मल रखने का सकेत किया है और अन्त में अनन्यता प्रदर्शित करते हुए प्रार्थना की है—

मो सम दीन न, दीन हित, तुम समान रघुवीर।
अस विचारि रघुवंस मनि, हरहु विषम भवपीर॥
कामहिं नारि पियारि जिमि, लोभहिं प्रिय जिमि दाम।
त्यों रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

प्रश्न ४—तुलसीदासजी के काव्यगत सौन्दर्य का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनकी प्रतिभा, कल्पना, प्रकृति निरीक्षण तथा व्यवहारिक ज्ञान अत्यन्त उच्चकोटि का एवं अद्वितीय है। कविता उनके भक्त हृदय का प्रतिबिम्ब थी। उनका उद्देश्य राम गुण गान था। उन्होंने स्वय कहा है—"एहि मंह रघुपति चरित उदारा, अति पावन पुरान स्रुति सारा।" राममय जीवन के कारण ही उन्होंने प्राकृत तथा लौकिक जनों की प्रशसा कर अपनी वाणी को कलंकित नहीं किया। उन्होंने कहा—"कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुन गिरा लगा पछुताना।" स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा" लिखने वाले भक्त कवि से यही आशा थी। 'स्वान्तः सुखाय' होते हुए भी अपनी रचनाओं में उन्होंने जनता के हित की इतनी सामग्री उपस्थित करदी है कि जिसे देखकर आलोचक स्तब्ध रह जाते हैं। भारतीय सस्कृति की ऐसी कोई धारा नहीं जो कवि से छूट गई हो। राम का शील-शक्ति सौन्दर्य समन्वित आदर्श की रचना कर उन्होंने मृत प्रायः हिन्दू जाति को जीवित कर लिया। उनके राम ब्रह्म हैं और "विधि हरि शंभु नचावन हारे" है। नर में नारायणत्व की झांकी दिखाई देती है। यह अद्भुत समन्वय उनकी विशेषता है।

तुलसी को काव्योपयोगी स्थलों का पूर्ण ज्ञान है। उनका मार्मिक स्थलों का चुनाव अद्भुत है। जहाँ आवश्यकता पड़ी है वहाँ कल्पना से भी काम लिया है। परिणामस्वरूप उनके काव्य में सभी रसों का सुन्दर समावेश हो गया है। शृङ्गार रस तुलसी के मर्यादावाद के कारण

अधिक प्रस्फुटित नहीं हुआ है। संयोग और वियोग दोनों में मर्यादित शृङ्गार का सुन्दर वर्णन मिलता है। 'पुष्पवाटिका' में राम सीता का स्नेहारम्भ होता है। सीता के आभूषणों की झंकार से राम आकर्षित होते हैं। "कंकण, किंकिणि नुपुर धुनि सुनि" राम चकित होकर लक्ष्मण से कहते हैं—"मानहुँ मदन दुन्दभी दीनी, मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं।" रघुवश की मर्यादा का ध्यान कर तुलसी राम को अधिक विचलित नहीं दिखाते क्योंकि रघुवशी कभी कुपथगामी नहीं होते। इसी से राम कहते हैं—

"जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अङ्ग सुन भ्राता।"

और परिणाम स्वरूप दोनों का विवाह हो जाता है। कवितावली में विवाहोपरान्त वर्णन में भी शृङ्गार रस का उज्वल रूप मिलता है। "दुलह श्री रघुनाथ" और "दुलही सिय" मन्दिर में बैठे हैं। "राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाई" और वह इसमें इतनी तन्मय हो गई कि "याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं।" कितना सुन्दर मनोवैज्ञानिक वर्णन है।

वियोग शृङ्गार का वर्णन भी मर्यादित है। राम के विरहोन्माद की ये पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—"हे खग हे मृग मधुकर सेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।" हनुमान जी ने राम का सीता को जो सन्देश दिया है वह बड़ा मर्मस्पर्शी है।

शृङ्गार के अतिरिक्त वीर रस का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। मानस की कथा मूलतः वीर काव्य का विषय है। सुन्दरकांड और लङ्काकांड में वीर रस का अच्छा परिपाक है। जनक सभा में लक्ष्मण के रूप में मूर्तिमान वीर रस अवतरित होता है। अङ्गद-रावण सम्वाद तो वीर रस का भण्डार है। कवितावली में अङ्गद के पादरोपण-उत्साह का सुन्दर चित्र मिलता है। वीर रस के साथ-साथ रौद्र रस का आना आवश्यक है। जनक सभा में लक्ष्मण परशुराम सम्वाद एवं कैकेयी के राजा दशरथ के वरदान न देने पर क्रोध के समय रौद्र रस के चित्र मिलते हैं।

लङ्कादहन के वर्णन में भयानक और वीभत्स रस का अच्छा परिपाक हुआ है। इन दोनों रसों के उदाहरण कवितावली में अच्छे मिलते है। कवितावली के रणक्षेत्र का वीभत्स रस वाला कवित्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। हनुमान जी का पहाड़ लेकर द्रुतगति से आकाश मार्ग से जाने में तथा राम में देवत्व की स्थापना में अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। दशरथ मरण, रामवनवास, लक्ष्मण को शक्ति लगना आदि प्रसंगों में करुण रस उमड़ा पड़ता है। नारद मोह में तथा कवितावली के "विन्ध्य के वासी उदासी" वाले छन्द में हास्य रस की झलक है। सारी राम कथा का पर्यवसान शान्त रस में होता है। विनय-पत्रिका और कवितावली के उत्तरकाड में शुद्ध शान्त रस है। वात्सल्य रस के वर्णन के लिए गीतावली और राम-चरित मानस के बालकाड दृष्टव्य हैं। इस प्रकार तुलसी में सभी रसों का सुन्दर परिपाक मिलता है।

अलङ्कार—तुलसी चमत्कार प्रिय कवि नहीं। उनके काव्य में अलङ्कार गौण हैं। फिर भी उनका अलङ्कार निरूपण अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर बन पड़ा है। उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग चार रूपों में किया है— (१) भावों के उत्कर्ष की व्यंजना में सहायक, (२) वस्तुओं का रूप (सौन्दर्य, भीषणता आदि) का अनुभव तीव्र कराने में सहायक, (३) गुण का अनुभव तीव्र कराने में सहायक (४) क्रिया का अनुभव तीव्र कराने में सहायक। रंगभूमि में राम के पदार्पण के साथ ही सूर्योदय होता है। तुलसी तत्काल "अपन्हुति" जड़ देते हैं—"रवि निज उदय व्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्हि दिखाया।" सन्तों और असन्तों के मध्य का अन्तर "व्याघात" द्वारा दिखाया है—"बन्दौ सन्त असज्जन चरना। दुख-प्रद उभय बीच कछु बरना॥ मिलत एक दारुन दुख देही। बिछुरत एक प्रान हर लेहीं॥" तुलसीदास जी ने कहीं भी अलङ्कारों के कारण भावों की अवहेलना नहीं की है। उनका भाव विश्लेषण अतीव मनोवैज्ञानिक है। इसी कारण भावो की तीव्रता के लिए वे अलङ्कारो पर निर्भर नहीं है। उन्होंने कतिपय अलङ्कार संस्कृत काव्य ग्रन्थो से लिए है परन्तु उनमें किंचित रूप परिवर्तन कर देने से उनका सौन्दर्य द्विगुणित हो

गया है। श्लेष, यमक, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लाने वाले अलङ्कारों का कम प्रयोग किया है। रूपकातिशयोक्ति, रूपक, उपमा, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों का अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर प्रयोग किया है। वस्तुत: वे सिद्ध कवि थे और अलङ्कार का प्रयोग काव्य सौन्दर्य की वृद्धि के लिए ही करते थे।

भाषा और छन्द—भाषा पर तुलसीदास का जैसा अधिकार था वैसा और किसी हिन्दी कवि का नहीं। उन्होंने ब्रज और अवधी दोनों में पूर्ण सफलता एव अधिकार पूर्ण काव्य रचना की। 'मानस' मे अवधी के पूर्वी पश्चिमी दोनों रूप हैं। कवितावली, विनय पत्रिका, गीतावली तीनों ब्रजभाषा के ग्रन्थ हैं। पार्वती मगल, जानकी मगल, राम लला नहछू तीनों में पूर्वी अवधी का प्रयोग है। उनकी भाषा प्रसगानुकूल है। कहीं सस्कृत गर्भित है तो कहीं चलती हुई मुहावरेदार। विनय पत्रिका मे उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है। उनकी वाक्य रचना बड़ी व्यवस्थित है। एक भी शब्द भरती का नहीं। थोड़े में बहुत कहने की प्रवृत्ति है। साधारणत: उन्होंने तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। प्राकृत के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं और कहीं-कहीं सस्कृत की "मनसि" जैसी विभक्तियाँ भी है। फारसी अरबी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। जैसे गरीब-निवाज, गनी, दाद आदि। उनकी भाषा मे स्वाभाविकता, सरलता और प्रासादिकता पर्याप्त मात्रा में है। प्रान्तीय बोलियों में भोजपुरी, बुन्देलखण्डी आदि के शब्दों का भी प्रयोग तुलसी में मिलता है। इनका सफल प्रयोग एक विशेषता है। तुलसी की भाषा जहाँ साधारण और लौकिक होती है वहाँ उक्तियाँ तीर के समान चुभती हैं। जहाँ प्रतिपाद्य-विषय शास्त्रीय अथवा गम्भीर होता है वहाँ भाषा के गाम्भीर्य के दर्शन होते हैं। उन्होने भाषा के द्वारा भी समन्वय की चेष्टा की। इसी कारण विभिन्न बोलियो और शब्दों को समाहृत किया। सरल भाषा ही उनके काव्य का आदर्श रही।

छन्दों के प्रयोग में तुलसी ने अपने गम्भीर पाण्डित्य एव ज्ञान का परिचय दिया है। उन्होंने जिस सफलता से दोहा और चौपाई का प्रयोग

किया है वही उन्हें अमर बना गया है। इसके अतिरिक्त रामलला नहछू में सोहर छन्द, वैराग्य सन्दीपनी मे दोहा, सोरठा और चौपाई बरवै रामायण में बरवै छन्द, पार्वती मगल में अरुण या मगल और हरिगीतिका, कृष्णगीतावली में पद, बाहुक में छप्पय, झूलना, मत्तयचन्द और घनाक्षरी छन्द, कवितावली में सवैया, कवित्त, छप्पय, मानस में दोहा चौपाई आदि १८ छन्दों का प्रयोग किया है। इस क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वय का परिचय दिया है। चन्द बरदाई के छप्पय, कबीर के दोहे, सूर के पद, जायसी की दोहा चौपाई, रीतिकारो के सवैया-कवित्त, रहीम के बरवै, गाँव वालों के सोहर आदि विभिन्न प्रकार की छन्द पद्धतियो को अपना कर तुलसी ने अपनी असाधारण प्रतिभा से रग कर नए ढाँचे मे ढाल कर प्रस्तुत कर दिया।

शैली—उनकी शैली भी समन्वयात्मिका है। 'नानापुराण निगमागम' से उन्होने सचय किया और उसे अपनी सरल, सरस और सुबोध शैली द्वारा जन साधारण के हृदयगम करा दिया। उनकी शैली में रूक्षता नहीं है, उसमें एक आकर्षण है, मधुरता है और स्पष्टता भी है। कबीर की भाँति उलटबाँसियो से, जायसी की भाँति रूपकों से अथवा सूर की भाँति दृष्टिकूट पदो से उन्होंने अपनी शैली को भारभूत नहीं बनाया है। वे कठिन से कठिन विषय का प्रतिपादन करते समय भी उतने ही सरल और स्पष्ट हैं जितने साधारण विषय का निरूपण करते समय। उदाहरण के लिए भक्ति और माया का भेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है— "मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह नीतिअनूपा॥" इस साधारण से कथन द्वारा उन्होंने यह व्यक्त कर दिया कि भक्त पर माया कोई प्रभाव नहीं डाल सकती परन्तु ज्ञानी पर डाल सकती है क्योकि ज्ञान पुरुष है और भक्ति नारी अत: माया के द्वारा ज्ञानी भ्रमित किया जा सकता है। साधारण शब्दो मे असाधारण बात कह देना ही इनकी शैली की विशेषता है।

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिए कि बुद्धदेव के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे।

उत्तर—प्राचीन काल से भारतीय समाज में अनेक परस्पर विरोधिनी सस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, प्रचार निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रच-

लित रही हैं और है। जब कभी इस विस्तृत भारतीय समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न होकर उसके नष्ट भ्रष्ट होने का भय हुआ है उसी समय किसी न किसी ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ है जिसने सम्पूर्ण विरोधों का शमन कर पारस्परिक सहयोग और समानता की भावना का प्रसार किया है। महाभारत काल में भारतीय समाज में भयंकर विशृङ्खलता फैल गई थी। उस समय भगवान् कृष्ण का जन्म हुआ। उन्होंने महाभारत के युद्ध द्वारा दुष्ट राजाओं का दमन कर ज्ञान, कर्म और भक्ति के पारस्परक समन्वय का उपदेश दिया। इस घटना के ढाई हजार वर्ष उपरान्त पुनः ब्राह्मण धर्म के रूढ़ि ग्रस्त हो जाने से समाज में विशृङ्खलता फैल गई। उस समय सारा देश विशृङ्खल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्श हीन और लक्ष्य हीन हो रहा था। उस समय भगवान् बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ। उन्होंने समाज एव धर्म में प्रचलित कुरीतियों, विरोधों तथा असमानताओं को दूर कर, सब का समन्वय कर मध्यम मार्ग ग्रहण किया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "भारत का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके।" भगवान कृष्ण और बुद्धदेव समन्वय करने में सफल हो सके थे। तुलसीदास के समय में भी भारतीय समाज में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की विशृङ्खलता फैल रही थी। समाज के सामने कोई उच्च आदर्श नहीं था। उच्च वर्ग विलासी था। निम्न वर्ग की दशा अत्यन्त हीन थी। वे दरिद्र, अशिक्षित, रोगग्रस्त होने के कारण अत्याचारों के शिकार बन रहे थे। वैरागी हो जाना साधारण बात थी। एक ओर सन्त नामधारी साधु वेद, पुराण की निन्दा कर अपने मत का प्रचार कर रहे थे, दूसरी ओर योगमार्गी अपने चमत्कार से लोगों को भ्रमित एव आतङ्कित कर रहे थे। नाना सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो चुका था और हो रहा था। सन्त-महात्माओं के कारण नीच जातियों में आत्मविश्वास भर गया था; परन्तु ये अशिक्षित और असंस्कृत अपने दुरूह गर्व के कारण मिथ्या विचार एवं झूठे अहं का प्रचार कर रहे थे।

राजनीतिक स्थिति और भी शोचनीय थी। मदान्ध मुस्लिम शासक अपनी धर्मान्धता में निरीह जनता का बलपूर्वक मुसलमान बनाने का प्रयत्न

कर रहे थे। हिन्दुओं को अपनी रक्षा का कोई मार्ग नहीं दीखता था। तुलसी से पूर्व कबीर की हिन्दू-मुस्लिम एकता का शासक वर्ग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कबीर के उपरान्त जायसी आदि सूफियों ने शर्करावेष्टित कुनैन की गोलियों के समान भारतीय कथाओं को अपने काव्य का आधार बना कर अप्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म का प्रचार करना चाहा। सूफियों के पश्चात् कृष्ण-भक्त कवि भी जनता के सम्मुख कोई शक्तिशाली आदर्श उपस्थित करने में असमर्थ रहे। अन्त में अत्याचारों से त्रस्त जनता को तुलसी के आदर्श भगवान् राम के रूप में अपना रक्षक मिला। तुलसी के राम सर्वशक्तिमान हैं, दीन-प्रतिपालक हैं। तुलसी के राम का कार्य ही यह है कि—

"जब जब होहि धरम की हानी। बाढ़हि असुर महाअभिमानी ॥
तब तब धरि प्रभु मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भव पीरा ॥'

इसी विश्वास और भरोसे के बल पर हिन्दू जनता सन्तुष्ट और निर्भय हो सकी। समाज में फैले हुए विष के प्रतिकार हेतु जनता को तुलसी प्रणीत आदर्श चरित्रों में एक प्रेरणा और साहस मिला। तुलसी समन्वयकारी थे। वे स्वयं विभिन्न सामाजिक स्तरों में रह चुके थे। ब्राह्मण वंश में जन्म लेने पर भी उनका बचपन दरिद्रता में कटा था। गृहस्थ-जीवन की निकृष्टतम आसक्ति का उनको शिकार होना पड़ा था। उनका सम्पर्क अशिक्षित एवं असंस्कारी प्राणियों से लेकर काशी के दिग्गज पण्डितों तक से रह चुका था। संस्कृत एवं लोकभाषा साहित्य का उनका अध्ययन गम्भीर और विशाल था। लोक और शास्त्र के इस व्यापक ज्ञान ने उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्रदान की।

उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और सन्यास का समन्वय' भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय आदि के द्वारा रामचरित मानस में प्रत्येक विभिन्नता में एकता के दर्शन होते हैं। शैवों, वैष्णवों तथा शाक्तों में घोर वैमनस्य था। तुलसी ने शिव और राम की एकता स्थापित कर इस शैवों और

ब्राह्मणों के विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने राम के मुँह से स्वयं को शिव का दास कहलाया और शिव के द्वारा स्वय को राम का उपासक। सीता 'आदि शक्ति' है, पार्वती का द्वितीय रूप ही दुर्गा है। इस प्रकार शैव, वैष्णव और शाक्तों का सॉमजस्य उपस्थित किया। उन्होंने विनय पत्रिका द्वारा अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, पुष्टिमार्ग आदि विभिन्न वादों की एकता का भी प्रतिपादन किया। इसके साथ ही ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय करने का भी प्रयत्न किया।

कबीर के समान तुलसी ने भी धार्मिक बाह्याडम्बरों का घोर विरोध कर सामाजिक एकता का प्रयत्न किया। उनकी भक्ति का साथ माया से नहीं हो सकता। वह माया से मुक्त होने के लिए ही विनय पत्रिका उपस्थित करते है परन्तु इसके कथन में कटुता के स्थान पर मिठास ही अधिक है। तुलसी घोर मर्यादावादी है। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्ति, पूजा, तीर्थ, वर्ण व्यवस्था, लोकमत आदि की वे पूर्ण रक्षा करते है। इसी कारण हिन्दू समाज में वे इतने लोकप्रिय हुए। उनका काव्य भी उच्च कोटि का है। उसमें काव्य के सब गुण वर्तमान हैं। उनके प्रत्येक पात्र का कोई न कोई लक्ष्य होता है। मानव जीवन के किसी अंग पर उनसे प्रकाश पड़ता है। वे आदर्श वादी थे और अपने काव्य से भावी समाज की स्थापना कर रहे थे। इसीसे उन्होंने सूर के समान लीला के लिए लीलागान कहीं नहीं किया। भारत में कवि सदैव से भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा समझा जाता रहा है। तुलसी ऐसे ही भविष्य स्रष्टा थे। "आज तीन सौ वर्ष बाद इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि उन्होंने सचमुच भावी समाज की सृष्टि की थी। आज का उत्तर भारत तुलसीदास का रचा हुआ है। वही उसके मेरुदण्ड हैं।"

तुलसी ने बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि की भाँति कोई नवीन मत तो नहीं चलाया पर हिन्दुत्व के क्षेत्र में आज तुलसी का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं। आज उनका 'मानस' हिन्दू मात्र के गले का कंठहार हो रहा है। उनका शिक्षित, अशिक्षित सर्वत्र समान आदर है। अतः हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि तुलसी कवि थे, भक्त थे, पण्डित सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य

के स्रष्टा थे। यही कारण था कि उन्होंने सब ओर से समता की रक्षा करते हुए एक ऐसे अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तर भारत का मार्ग दर्शक रहा है और आज भी नवीन भारत उससे प्रेरणा ग्रहण करता है। महात्मा गाँधी के रामराज्य का स्वप्न तुलसी के 'मानस' पर ही बना था।

प्रश्न ६—"तुलसी-मत क्या है" ? उसकी विशेषताएँ लिखिए।

उत्तर—तुलसी मत-मतान्तरों के झगड़ों में नहीं पड़ते थे। उन्होंने पथ-निर्माण में तत्पर व्यक्तियों की सदैव भर्त्सना की। उनका कथन है कि—

"श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।
तेहि परिहरहिं मोहवस, कल्पहिं पन्थ अनेक॥"

उपर्युक्त दोहे में तुलसी मत के दर्शन होते हैं। उनका सिद्धान्त "श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ" है, जिसमें वैराग्य और विवेक का योग है। यही तुलसी-मत है। यह मत इतना व्यापक है कि उसमें सभी धर्मों का सार तत्त्व सन्निविष्ट हो जाता है और वह अपनी विशेषताएँ भी अक्षुण्ण रखता है। उसे मानने में अपने मत या पन्थ का परित्याग नहीं करना पड़ता।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्धिवाद और हृदयवाद का सुन्दर समन्वय है। बुद्धिवादियों के लिए ज्ञान की गम्भीरता और रहस्यात्मकता है तथा हृदयवादियों के लिए भक्ति की भागीरथी है। बुद्धिवादियों के समान तुलसी ने नाम जाप के अतिरिक्त अन्य किसी भी बाह्य विधान पर बल नहीं दिया। उनका प्रयत्न रहा है कि धर्म में पाखंड न आने पावे। उन्होंने अद्वैतवाद को प्रधानता दी है। यही एक ऐसा सिद्धान्त है जहाँ सब धर्मों के सिद्धान्त आकर विराम पाते हैं। शङ्कराचार्य और गोस्वामीजी दोनों ही मुक्ति के लिए भक्ति को आवश्यक मानते हैं परन्तु अन्तर इतना ही है कि प्रथम का साध्य मुक्ति है और साधन भक्ति पर द्वितीय का साध्य और साधन दोनों भक्ति है क्योंकि भक्ति के साथ मुक्ति स्वतः ही चली आती है। कुछ बुद्धिवादियों के विचार में रामनाम द्वारा परममुक्त हो जाने की बात कहकर पाप को प्रोत्साहित किया है पर ऐसा कहना अज्ञानता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"करहिं मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥

काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता । सुभ और असुभ करम फलदाता ॥"

"मानस" के उत्तरकाण्ड में उन्होंने मोह को सब व्याधियों का मूल बताया है—'मोह सकल पापन कर मूला ।' साथ ही इससे छूटने के उपाय भी बताए है । वस्तुतः इस नश्वर जगत में आया हुआ जीव पापों से कैसे मुक्त हो, यही विवेचन करने में तुलसी मत की समस्त निधि व्यय हुई है ।

तुलसी मत के बुद्धिवाद के साथ ही साथ हृदयवाद का भी प्राधान्य है । इसके लिए उनका आदर्श चातक का प्रेम है । चातक की लगन, कष्ट सहिष्णुता और दूसरे जल के प्रति घोर विरक्ति को तुलसी ने भक्त के भगवान के प्रति प्रेम का आदर्श बनाया है । यह प्रेम 'सहज' होना चाहिए । इसके साथ इसमें लोक कल्याण की भावना भी होनी चाहिए । यदि यह न होगी तो प्रेम का आदर्श गिर जायगा । इसके लिये भी विवेक और वैराग्य की आवश्यकता है । इसलिए उनके भगवान के प्रति प्रेम में विवेक और वैराग्य का मिश्रण होने से वह लोक कल्याण का साधक बन जाता है । तुलसी मत की एक प्रधान विशेषता यह है कि वह हिन्दू धर्म का शुद्ध रूप है । हिन्दू धर्म में भारतीय सस्कृति और मानव धर्म का मेल है । तुलसी ने इसीलिये भारतीय सस्कृति और मानव धर्म पर एक ही साथ बल दिया है । उन्होंने केवल मनुष्य की सेवा ही नहीं जड़-चेतन दोनों को अपना लक्ष्य बनाया है । क्योंकि "जड़ चेतन जगजीव जगत, सकल राममय जानि ।" वह तो 'सीयराम मय सब जग' जान कर उसे प्रणाम करते हैं ।

तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्टा पर अधिक बल दिया है और ब्राह्मण पूजा का सकेत किया है इसके साथ ही उन्होंने जातिगत वैषम्य की अनेक स्थानों पर निन्दा भी की है । उनके दृष्टिकोण से ब्राह्मण वही है जो सदाचारी और राम का भक्त हो । राम नाम ही एक मात्र मुक्ति का साधन है । वहाँ तो 'स्वपच, सबर, खस, जमन, जड़, पाँवर, कोल, किरात ॥ राम कहत पावत परम होत भुवन विख्यात ।' वाला सिद्धान्त मान्य है । जो व्यक्ति अज्ञात स्वर्ग सुख के लोभ में लोक धर्म को त्याग देते हैं वे तुलसी मत की दृष्टि में पापी हैं । साधुमत और लोकमत का समन्वय आवश्यक है । लोक की सेवा ही प्रभु की सेवा है और इसमें शील आवश्यक है । इसी

लिए तुलसी ने शील पर बल दिया है। शील के द्वारा हृदय में विशालता आती है, जो समस्त वैर विरोध और ईर्ष्या द्वेष से बचकर आत्म कल्याण के साथ लोक कल्याण की ओर प्रेरित करती है।

साराँश यह है कि तुलसी मत में हरिभक्ति का प्राधान्य है और हरि भक्ति ऐसी है जो 'श्रुति सम्मत' और 'विरति विवेक' से सम्मत होकर जीव मात्र के कल्याण की साधिका है। उसमें व्यक्ति धर्म और मानव धर्म के सिद्धान्तों का समन्वय है और भारतीय संस्कृति की महानता का दिग्दर्शन है।

प्रश्न ४—तुलसीदास जी की भक्ति भावना तथा दार्शनिक एवं सामाजिक विचारों से परिचय कराइए।

उत्तर—भक्ति भावना—तुलसीदास जी परम भक्त थे। भगवान राम के शक्ति, शील और सौन्दर्य समन्वित आदर्श को खड़ा कर के उस आदर्श के महत्व की अनुभूति करते-करते वे लघुता की उस सीमा तक पहुच गये थे, जहां एकाकार होने की स्थिति आ जाती है। उनकी भक्ति की यही सबसे बड़ी विशेषता है। उनका कथन है कि—'राम सो बड़ो है कौन, मोसौ कौन छोटो। राम सौ खरो है कौन मोसौ कौन खोटो।' भगवान की महत्ता की अनुभूति के कारण वे इतने दीन हो जाते हैं कि न होने पर भी अपने दुर्गुणों को बढ़ा चढ़ा कर कहने में उन्हें आनन्द आता है—

'जानतहू निज पाप जलधि जिय, जल सीकर सम सुनत लरौ।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि सम रजते निदरौं।।''

इस प्रकार व्यक्तिगत अहङ्कार के नाश द्वारा वे प्रभु के निकट तक पहुँचना चाहते हैं।

अनन्यता उनकी भक्ति का प्राण है। केवल भगवान् से अनन्य सम्बन्ध अनन्य प्रेम ही उन्हें प्रिय है। चकोर, पपीहा और मीन जैसे चन्द्रमा, बादल और जल से प्रेम करते हैं वैसे ही वे भगवान् से प्रेम करते हैं। चातक उनके प्रेम का प्रतीक है—'एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास। एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।।' लेकिन इस अनन्यता में कोई लेन देन का भाव नहीं है, निष्काम भक्ति है। स्वर्ग-अपवर्ग की चाह से भक्ति

करने वाले को कोई फल नहीं मिलता। वह तो "जन्म जन्म सिय राम पद यह वरदान न आन" चाहते हैं। उनकी भक्ति सेव्य सेवक भाव की है। 'सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।' इसके साथ ही उन्होंने भक्ति और ज्ञान में भी अन्तर नहीं माना है। "ज्ञानहिं भगतहि नहि कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।" कहकर दोनों को समान माना है। परन्तु ज्ञान, का पथ कृपाण की धारा' है। इसलिए भक्ति मार्ग सुगम है। वह राजपथ के समान है। लेकिन ज्ञान के बिना भक्ति असम्भव है और प्रभु को जानना प्रभु कृपा बिना असाध्य है— "जाने बिनु न होई परतीती। बिनु परतीति होई नहिं प्रीती।" और "सोइ जानहिं जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहिं होइ जाई॥"

ऐसी भक्ति की प्राप्ति के लिए उन्होंने श्रद्धा, विश्वास, निश्चलता और लोक सेवा, विवेक और वैराग्य, नाम-जप और सत्सङ्ग आदि साधनों का विधान किया है। उनकी इस प्रकार की भक्ति द्वारा जो भगवान् का सान्निध्य मिलता है वह ज्ञान द्वारा प्राप्त मोक्ष से ऊपर है। योगी की भाँति माया मोह से छूट कर अविचल हरिभक्ति की प्राप्ति ही तुलसी का ध्येय है। उनकी भक्ति लोक कल्याण की संजीवनी से युक्त होने के कारण ससारी और असंसारी दोनों के काम की है।

उन्होंने भक्ति के नौ साधन बताये हैं— भजन, शरणागत भाव; चरित्र श्रवण, मनन, कीर्तन आदि; सत्सङ्ग; सन्त स्वभाव प्राप्ति का साधन; राम के स्वरूप का ध्यान; राम से सम्बन्धित गङ्गा; चित्रकूट का सेवन, ब्राह्मण सेवा, शिव भक्ति और हनुमान भक्ति भावना में विनय, भक्त की दीनता, मान मर्षता, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य विचारणा आदि सातों भूमिकाएँ भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार तुलसी की भक्ति सर्वाङ्ग पूर्ण और सुलभ है।

दार्शनिक विचार—गोस्वामी जी के दार्शनिक विचारों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई उन्हें अद्वैतवादी तथा कोई विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध करता है। सर्व श्री गिरधर शर्मा, डाक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र, प० श्रीधर पन्त आदि उन्हें अद्वैतवादी मानते हैं। इसके विपरीत आचार्य

शुक्ल, वियोगी हरि, रामकुमार वर्मा, बाबू गुलाबराय आदि उन्हें विशिष्टाद्वैत वादी मानते हैं। स्वयं गोस्वामीजी ने निश्चित रूप से किसी एक मत का प्रतिपादन नहीं किया। विनय पत्रिका में वे कहते हैं—

"कोऊ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥"

वे इन मत मतान्तरों से पृथक रह कर आत्म साक्षात्कार करने के पक्ष में हैं।

इतना होने पर भी दर्शन शास्त्र की मुख्य समस्याओं से वे उदासीन नहीं हैं। उन्होंने बराबर ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है। इन्हीं स्थलों के कारण उनके विषय में शंका उत्पन्न हो जाती है। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है। ब्रह्म निर्गुण है, उसमें सजातीय, विजातीय, स्वगत आदि किसी प्रकार का भेद नहीं। जीव, ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है। जगत केवल माया के कारण भासित होता है। तुलसीदासजी ने भी शङ्कर मत के प्रभाव से संसार के सम्बन्ध में मायावाद की पदावली का प्रयोग किया है—"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानउ भाई॥" और "सोवत सपने सहै सासत सताप रे, बूड़ो मृगवारि खायो जेवरी को साँप रे।" इसमें शङ्कर मत का प्रभाव है।

विशिष्टाद्वैतवाद में जीव, ब्रह्म और जगत तीनों की एकता मानी जाती है। यह अद्वैतवाद तो है पर इसमें विशिष्टता यह है कि चित (जीव और अचित (जड़ जगत) दोनों विशेषण रूप से ब्रह्म के साथ जुड़े हुए हैं। एकाकार होने पर भी सूक्ष्मरूप से वे उसके साथ रहते है। स्थूल रूप में जीव और जगत दोनों ही सत्य हैं। इनका ब्रह्म सजातीय और विजातीय भेदों से तो रहित है पर उसमें स्वगत भेद है। इसलिए जीव और जाति को ईश्वर का अंश कहना रामानुज का विशिष्टाद्वैत है। इसी कारण गोस्वामी जी सारे संसार को परमात्मा का रूप मानते हैं—

"सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।" और

"ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुख रासी ।।" परन्तु "सो मायावश भयेउ गोसांई । बँधेउ कीर मरकट की नाईं ।।"

राममय जगत को मानने वाले तुलसी के लिए जब संसार सत्य है तो वे उसे कभी-कभी झूठा क्यों बताते हैं ? इसका कारण यह है कि वे ज्ञान, वैराग्य की उत्पत्ति के लिए संसार से घृणा उत्पन्न कराने के लिए ही ऐसा करते हैं। अगुण-सगुण में उन्होंने कोई भेद नहीं पाना। शंकर मतानुसार सगुण भक्ति का लक्ष्य बनता है, जिससे ज्ञान रूपी लक्ष्य की प्राप्ति होती है पर तुलसी के लिए भक्ति ही साध्य है। तभी तो वे उस मोक्ष को आदरणीय नहीं मानते जो शंकर के ज्ञान से मिलती है "अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।।" सारांश यह है कि गोस्वामी जी में विशिष्टद्वैतवाद की ओर अधिक झुकाव है। वैसे तो वे एक सफल समन्वयवादी हैं। वे तो सीधे सादे भक्त थे। अनन्यता उनकी स्वभावगत विशेषता थी।

सामाजिक विचार—गोस्वामी जी ने वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया है। उनका 'रामचरित मानस' परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व की शांति रक्षा के लिए मनुष्य के कर्त्तव्य का निश्चय करने वाला काव्य है। माता-पिता का पुत्र के प्रति और पुत्र का माता पिता के प्रति, राजा-प्रजा का पारम्परिक कर्तव्य, गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध, स्वामी-सेवक पति-पत्नी आदि सामाजिक सम्बन्धों का पारस्परिक क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, इसे यदि देखना हो तो उनके 'मानस' को उठाकर देखिए। साथ ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के कर्तव्यों का भी उन्होंने पृथक पृथक विधान किया है। इसके अतिरिक्त गुरुओं के प्रति अवहेलना का परिणाम, सन्त-असन्त लक्षण आदि के द्वारा समाज के स्तर को उठाने का प्रयत्न किया है।

वे ब्राह्मण को समाज का नेता मानते थे। उनके अनुसार—"पुण्य एक जग में नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्रपद पूजा" लेकिन निरक्षरता और अज्ञानता के प्रति उन्हें चिढ़ है—"विप्र निरक्षर लोलुप कामी, निराचार शठ वृषली स्वामी।" से वे घृणा करते हैं। उन्होंने उन शूद्रों की भी निन्दा

की है जो यज्ञोपवीत धारण करते थे और ब्रह्म चर्चा भी करते थे—"शूद्र द्विजनि उपदेसहिं ज्ञाना, मेलि जनेउ लेहिं कुदाना।" और फिर अहङ्कार में भरकर—"वादहिं शूद्र द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि।" क्योंकि उनकी दृष्टि में "जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि।"

गोस्वामी जी प्रत्येक वर्ण की मर्यादा के पक्षपाती थे। रामराज्य की कल्पना ही उन्होंने इस आधार पर की थी। उनकी रामराज्य की कल्पना विश्वशान्ति की प्रतीक थी। उसमें सब अपना अपना कर्म करते हुए सुखी थे। उसमें—"दैहिक, दैविक भौतिक तापा" किसी को नहीं व्यापता था। कुछ लोग गोस्वामी जी को रूढ़िवादी और पुराणपन्थी समझते हैं। पर उनका लोकादर्श इससे परे की वस्तु है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "राजा-प्रजा, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र, सबल निर्बल, शासित-शासक, मूर्ख-पण्डित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेक रूपात्मक सम्बन्ध प्रतिष्ठित हैं उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव) वचन और कर्म की व्यवस्था है।

गोस्वामी जी पर स्त्री और शूद्रों की निन्दा का आक्षेप है। वे मर्यादा-वादी थे अतः उन्होंने केवल उच्छृंखल स्त्रियों की ही निन्दा की है जो उचित है। "जिमि स्वतन्त्र होहि बिगरहिं नारी" से इन्हीं पथभ्रष्ट स्त्रियों के प्रति संकेत है। जो महात्मा सीता को जगन्माता के रूप में चित्रित कर सकता है वह कभी नारी का अपमान नहीं कर सकता। उन्होंने स्त्री की निन्दा विरक्ति पथ में बाधक होने के कारण भी की है क्योंकि वे स्वयं वैरागी थे। "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥" जैसे कथन उनके अपने सिद्धान्त वाक्य नहीं हैं वे नीच पात्रों द्वारा कहलाए गए हैं इसलिए त्याज्य हैं। शूद्रों को भी वे कर्त्तव्यहीन होने पर ही बुरा कहते हैं। वर्ण व्यवस्था के भंग होने से समाज में अव्यवस्था फैलने का भय रहता है। ऐसी स्थिति में हमें समझना चाहिए कि उनकी स्त्री तथा शूद्रों की निन्दाओं द्वेष भावना नहीं है। एक विरक्त महात्मा के रूप में वे कल्याण पथ के लिए जो उचित समझते थे वही उन्होंने किया।

प्रश्न ७—'विनय पत्रिका' के महत्व पर विचार करते हुए उसमें प्रदर्शित तुलसी की दैन्य भावना पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। साथ ही यह भी सिद्ध कीजिए कि उक्ति वैचित्र्य और अर्थ गौरव का जैसा जीता जागता वर्णन 'विनय पत्रिका' में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

उत्तर—गोस्वामी जी की विनयपत्रिका उनके रामचरितमानस के बाद सबसे महत्वपूर्ण एव प्रसिद्ध रचना है। उन्होंने कलियुग द्वारा सताये जाने पर इनकी रचना की थी। उन्होंने राजदरबार में भेजी जाने वाली अर्जी के समान लिखा है। मुक्तक काव्य होते भी यह एक क्रमबद्ध रचना है। इसमें शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य और गणेश इन पाँच देवताओ की स्तुति की गई है। उन्होंने सब देवताओं की स्तुति कर उनसे रामभक्ति का वरदान माँगा है। इससे देवताओं के प्रति उनके हृदय की विशालता एवं उदारता तथा राम के प्रति अनन्यता का परिचय मिलता है। यह गोस्वामी जी के आध्यात्मिक विचारो का ज्ञान कराने वाला प्रमुख ग्र थ है। इसमें उनकी भक्ति भावना, आत्म-निवेदन और दैन्य प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ऐसा लगता है जैसे उन्होंने कलियुग से पीड़ित जनता के प्रतिनिधि के रूप में यह पत्रिका लिखी हो।

विनय पत्रिका दास्य भक्ति का सबसे पहला पदों में रचा गया ग्र थ है। इनसे पहले विद्यापति और कबीर ने ही पद रचना की थी। विद्यापति में वासनात्मक शृङ्गार के चित्र हैं और कबीर में शुष्कता पर तुलसी में पवित्रता और गहराई दोनों हैं। गहराई की दृष्टि से वे सूर से भी आगे हैं। इनके पद राग-रागनियों में हैं। ये भावों के अनुसार चलती हैं। हर्ष और करुणा की भावना में जयत् श्री, केदारा, सोरठ और आसावरी वीर की भावना में मारू और कान्हरा; शृङ्गार की भावना में ललित, गौरी, विलावल, सूहों और शान्त की भावना में रामकली, वर्णन में विभास, कल्याण और टोड़ी का प्रयोग है। इससे ज्ञान होता है कि तुलसीदास जी को संगीत का श्रेष्ठ ज्ञान था।

विनय पत्रिका गोस्वामी जी के प्रकांड पांडित्य और गम्भीर अनुभव पर प्रकाश डालती है। पढ़ लेने पर दर्शन, साहित्य और धर्म का गम्भीर एवं

विस्तृत ज्ञान हो जाता है। भाषा की क्लिष्टता से कुछ लोग घबड़ा जाते हैं परन्तु जो धैर्य से पढ़ते हैं, उन्हें उसमें सरसता भी मिलती है। इसका रस बड़ा गहन है और अधिकारी व्यक्ति ही इसका पान कर सकते हैं। यह बड़ी प्रौढ़ रचना है। कुछ लोग तो इसे 'मानस' से भी ऊँची बताते हैं। इसमें उन्हीं विचारों का दिग्दर्शन है जो मानस की आधार भूमि है। काव्य के चमत्कार में भी इसका उक्ति वैचित्र्य अत्यन्त उच्चकोटि का है। साथ ही भाषा के क्षेत्र में भी यह लेखक की महानतम कृति है। इसकी भाषा में लालित्य तथा सौन्दर्य 'मानस' से भी अधिक पाया जाता है। इसके पदों में संस्कृत तत्सम शब्दों का इतना आधिक्य है कि पढ़ते समय श्लोक पाठ का आनन्द आता है। परन्तु भाषा के कारण कहीं भी सरसता में अधिक अन्तर नहीं आया है।

भक्ति के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं—एक भगवान की अपार वैभव शालीनता, शक्ति परिपूर्णता और सर्वगुण सम्पन्नता का अनुभव और दूसरी अपनी तुच्छता आत्मग्लानि, दीनता और असमर्थता का ज्ञान। दूसरी बात से ही पहली की ओर बढ़ा जा सकता है यह विचार कर तुलसीदास ने अपनी दीनता का परिचय अत्यन्त बढ़ा चढ़ाकर दिया है—

"राम सो बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन, मोसों कौन खोटो॥"

भक्त को अपनी दीनता प्रदर्शित करने में बड़ा आनन्द आता है। भगवान की महत्ता के सम्मुख अपनी तुच्छता बताने से भक्त की आत्मा पवित्र होती है। इसलिये वह अपने पापों और बुराइयों का जी खोल कर वर्णन करता है। ऐसा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक है क्योंकि पापों को प्रकट कर देने से उनका बोझ हलका हो जाता है। वे ही पाप जब पापनाशक प्रभु के सम्मुख कहे जाते हैं तो और भी लाभ होता है। यही सोचकर तुलसीदास जी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में अपने दोषों का उद्घाटन करने वाले पदों को अधिक रखा है। कहीं-कहीं तो ऐसे पद अत्युक्ति से प्रतीत होने लगते हैं। जैसे—

"जानतहू निज पाप जलधि जिय, जल सीकर सम सुनत लरौं।
रज सम पर अवगुन सुमेरु करि, गुन गिरि सम रज ते निदरौं ॥"

इन वचनों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि ये दैन्य भावना के उत्कर्ष की व्यञ्जना के लिए कहे गए हैं। यह तुलसी के स्वय के दोष न होकर लोक सामान्य प्रवृत्ति की व्यञ्जना है।

तुलसीदास जी ने प्रभु से कहा है कि मेरा मोक्ष प्राप्ति का प्रत्येक साधन व्यर्थ गया। मैं किसी भी प्रकार अपने मन को वश में नहीं कर पाता हूँ। आप ही कृपा करें तो मेरा उद्धार हो सकता है—

"हौं हारियौ करि जतन विविध विधि अतिसैं प्रबल अजै।
तुलसीदास बस होई तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥"
तथा—"हारि परयौ करि जतन बहु विधि ताते कहत सवेरो।
तुलसीदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो ॥"

गोस्वामी जी की यह दीनता अत्यन्त मार्मिक और गहरी है। यह प्रभु भक्तों का सबसे बड़ा बल है। मोह माया से दूर उद्धार की अति कामना से भरपूर जब तुलसी कह उठते हैं—

"तुम जनि मन मैलो करो, लोचन जनि फेरो
सुनहु राम रावरे, लोकहुँ, परलोकहुँ कोऊ न कहूँ हितू मेरो ॥"

तो उनका आत्म विश्वास दीप्त हो उठता है। उनकी दीनता चरमोत्कर्ष तक पहुँच जाती है। सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर वे केवल राम नाम पर ही निर्भर हो जाते हैं। "देव ! दिन हूँ दिन बिगरि है, बलि जाऊँ। बिलम्ब किए, अपनाइए सबेरो।" में जो ही दीनता है, उससे उन जैसे दीन का मुख दीनता और परम विश्वास के कारण अत्युज्ज्वल हो उठता है।

उक्ति वैचित्र्य का अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को अधिक मार्मिक बना देता है। ऐसी उक्तियों मे लक्षणा, व्यञ्जना शक्तियों का या वक्रोक्ति अलङ्कारों का सहारा लिया जाता है। इन उक्तियों में अर्थ-गाम्भीर्य छिपा रहता है साधारणतः गोस्वामी जी की प्रत्येक रचना में उक्ति

वैचित्र्य और अर्थ गौरव का समावेश है पर इसका सर्वोत्कृष्ट रूप विनय-पत्रिका में मिलता है। नीचे के उदाहरण इस कथन को स्पष्ट कर देंगे—

गोस्वामी जी राम से कहते है—"हौं सनाथ ह्वै हों सही, तुमहू अनाथ पति, जो लघुतहि न भितैहौ।" लघुता से भयभीत होना" विलक्षण उक्ति है परन्तु है सच्ची। बड़े लोग छोटों से क्यों बात नहीं करते? लघुता के भय से ही न? वे डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बात करते देख कर लोग क्या कहेंगे? लघुता से भयभीत होने में जो एक प्रकार का विरोध सा दिखाई देता है वह हृदय पर बड़ा तीव्र प्रभाव डालता है। गोस्वामी जी को विश्वास था कि कभी न कभी तो स्वामी सुधि लेंगे ही। यही सोच कर चुपचाप बैठे रहे पर जब बहुत देर हो गई, तो अधीर होकर कहने लगे-"जदपि नाथ! उचित न होत अस प्रभु सौं करौं ढिठाई। तुलसिदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हार निठुराई॥" साधारतः इन पंक्तियों में कोई विशेष अर्थ नहीं दिखाई देता है परन्तु जब सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तब पता चलता है कि अर्थ कितना गहरा है। उनका भावार्थ यह है कि हे नाथ! आपके साथ ढिठाई करना यद्यपि ठीक नही है पर करूँ क्या? उसके बिना काम ही नहीं चल सकता। कहाँ तक चुप रहूँ? फिर आप यह पूछेंगे कि अच्छा कह क्या कहना चाहता है, तो सुनिए मैं और कुछ नहीं कहना चाहता यही कहूँगा कि आप निष्ठुर हैं पर दुख मुझे होता है क्योंकि मैं अपने स्वामी को निर्दोष देखना चाहता हू। आपकी निठुराई की निन्दा सुनकर मुझे अतीव कष्ट होता है। इसी से यह ढिठाई कर रहा हूँ। कहने का कैसा अद्भुत ढंग है। यदि गोस्वामी जी चाहते तो कह सकते थे कि आप निठुराई छोड़ कर मुझ पर कृपा करिए। उन्होंने ऐसा न कह कर "तुलसीदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हार निठुराई" कह कर अर्थ में अद्भुत चातुर्य और विदग्धता भर दी है।

जब संसार रूपी सर्प से गोस्वामी जी बहुत भयभीत हुए तब उनके मुख से भगवान का जो नाम निकला वह कितना सामयिक और अर्थ संगत है—"तुलसीदास भव व्याल ग्रसित तव सरन उरग रिपु गामी।" उरगरिपु गरुण का नाम है। इसका अर्थ है सर्पों का शत्रु। इसलिए भग-

वान् के विशेषण के लिए गरुड़ गामी शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि वे 'भव व्याल' से ग्रसित हैं। उस 'भवव्याल' को भक्षण करने के लिए 'गरुड़-गामी' को ही पुकारना उचित है। भगवान की कृपा में देर होते देख धमकी भी देते हैं कि तुम्हारी पोल खोल दूंगा—

"हौं अबलौ करतूति तिहारिय चितवत हुतौ न रविर चेते।
अब तुलसी पूतरौ बांधि है सहि न जात मोपै परिहास एतौ॥

अब तक मैं तुम्हारी करतूत को देखता रहा हूँ पर तुमने आँख भी न उठाई। अब तुलसी तुम्हारे नाम का एक पुतला बांधेगा क्योंकि उससे अब यह उपहास नहीं सहा जाता। यहाँ 'पुतला बाँधना' और 'उपहास' शब्द विशेष द्रष्टव्य है। नट खेल दिखाने के उपरान्त कुछ माँगते हैं। न मिलने पर एक सूम का पुतला बना कर बाँस पर टाँग देते हैं और कहते हैं कि देखो यह सूम है। उस पुतले पर कुछ धूल डाल देते हैं। इससे सूम लज्जित होकर कुछ न कुछ दे ही देते हैं। इसी प्रकार गोस्वामी जी भी राम के नाम का पुतला बाँधना चाहते हैं जिससे भगवान् लज्जित होकर उन्हें अपना लें। शरण में शीघ्रातिशीघ्र जाने का कैसा सुगम मार्ग उन्होंने सोचा है।

अन्त में गोस्वामी जी ने लिखा—' विनय पत्रिका दीन की बापु आपुही बाँचौ" और पढ़कर "हिए हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिए पाँचों।" कारण यह है कि पंच लोग कहीं मेरी भाँजी न मार दे। यह पत्रिका योंही नहीं लिखी गई है। बहुत ही विचार पूर्वक लिखी गई है। इसमें अशुद्धि की सम्भावना नहीं इसलिए पहले आप इस पर सही कर दीजिए फिर पाँचों (पंचों) से सलाह लेना। 'बापु' शब्द के प्रयोग से दैन्य भी प्रकट है और निकटता भी। कि तुलसीदास ने कितनी चतुराई से इन पंक्तियों में उक्ति वैचित्र्य के सहारे गम्भीर अर्थ को भर दिया है।

प्रश्न ८—तुलसीदास के आध्यात्मिक विचारों का जितना स्पष्ट, यथातथ्य और तर्क पूर्णपरिचय में 'विनयपत्रिका' के पदोंमें मिलता है उतना कदाचित उनकी अन्य रचनाओं में से किसी में नहीं।

उत्तर—विनय पत्रिका तुलसी के आध्यात्मिक विचारों का भण्डार है।

अन्य ग्रन्थों में जो विचार व्यक्त हुए है वे कथा के अन्तर्गत हैं पर 'विनय-पत्रिका' में स्वतन्त्र रूप से उनका स्पष्टीकरण हुआ है। यहाँ तुलसीदास को अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए कोई बंधन नहीं रहा। वे मुक्त कंठ से अपनी आत्मा की बात कहते प्रतीत होते हैं नीचे हम विनय पत्रिकामें व्यक्त उनके आध्यात्मिक विचारों पर विचार करेंगे।

'विनय पत्रिका' से पता चलता है कि तुलसी के राम के दो रूप थे एक निर्गुण और दूसरा सगुण। सगुण रूप में वे नर देह धारण करने वाले भूप रूप दाशरथि हैं—

'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुण ब्रह्म,
मुनि राम नर भूप रूप।'

वे ही क्षीर सागर निवासी विष्णु भी हैं—

'उरगनायक तरुन सयन पंकज नयन,
क्षीर सागर अयन सर्ववासी।'

यह राम अवतार क्यों लेते हैं इसका कारण 'विनय-पत्रिका' में भक्त वत्सलता कहा गया है—

जब जब जग जाल व्याकुल करम काल,
सब खल भूप भए भूतल भरन।
तब तब तनु धरि भूमि भार दूर करि,
थापे मुनि सुर साधु आश्रम सरन॥

जीव और ब्रह्म के भेद को स्वीकार कर तुलसी ने अद्वैतवाद से भिन्न विशिष्टाद्वैतवाद की सी बात कही है—

हौं जड़ जीव ईस रघुराया।
तुम माया पति हौं बस माया॥

सृष्टि या जगत वस्तुतः राम रूप है। वह राम से भिन्न नहीं है। "सिया राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि युग पानी।" की भाँति 'विनय पत्रिका' में भी तुलसीदासजी कहते हैं—

प्रकृति महत्व शब्दादि गुन देवता, व्योम मरुदग्नि अमलाँबु उर्वी।
बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्रान, चित्तात्मा, काल, परमानु चिच्छक्ति गुर्वी॥

सर्व में वात्र तद्रूप भूपाल मनि व्यक्त अव्यक्त गत भेद विष्णो।
भुवन भुव दंस कामारि बदति पदद्विद्वि मंन्दाकिनी जन जिष्णो ॥

राम से शून्य जगत ही असत्य है। ऐसे स्थलों पर वे शंकर के माया वाद की पदावली का प्रयोग करते हैं और अद्वैतवादी जान पड़ते हैं पर ऐसा उन्होंने केवल विषय लीन जीवों के मन में विराग उत्पन्न करने के लिए ही किया है—

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुआँ कैसे धौर हर देखि मत भूलि रे ॥

× × × ×

बूझ्यौ मृगवारि खायौ जेवरी को साँप रे।
सोवत सपनेहु सहै ससृति संताप रे ॥

'विनय पत्रिका' से यह पता चलता है कि तुलसीदासजी भी किसी वाद के बंधन में बधना भ्रम समझते हैं—

कोउ कह सत्य झूठ कह कोउ, युगल प्रबल करि मानै।
तुलसीदास परि हरैं तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

फिर यह ससार का बन्धन—यह माया मोह भगवान् की कृपा के बिना नहीं छूट सकता—

तुलसीदास यहि जीव मोहरजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।

× × × ×

माधव अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया।
ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं ॥
तुलसीदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस जिय माहीं ॥

इस मायासे छूटने के दो उपाय हो सकते हैं—ज्ञान और भक्ति, जिनमें से ज्ञान का मार्ग कठिन है—

जोग मख विवेक विरति वेद विहित करम।
करिबे कहँ यह कठोर सुनत मधुर नरम ॥

इसलिए वे भक्ति पर ही जोर देते हैं। यद्यपि भक्ति मार्ग भी कठिन है किन्तु वह हरि कृपा से सुलभ है—

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई ॥

भक्ति द्वारा प्रभु प्राप्ति को तुलसीदास इसलिए सरल बताते हैं कि अन्य मार्गों में बहुत झगड़ा है—

बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि, जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो ॥

भक्ति के साधनों की ओर भी 'विनय-पत्रिका' में संकेत है। उनमें सर्व प्रमुख है अनन्यता। चातक, चकोर और मीन का प्रेम जैसा क्रमशः बादल, चन्द्रमा, और जल से होता है वैसा ही तुलसी भगवान् से चाहते हैं—

(१) राम नाम नव नेह मेह को मन हठि होहु पपीहा।

× × × ×

(२) रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजै।

(३) राम कबहुँ प्रिय लागि हौ जैसे नीर मीन को।

अविचल हरि भक्ति के लिए तुलसीदास का बताया हुआ उपाय नीचे के पद में व्यक्त है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपाते संत सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सों कछु न कहौंगो।
परहित निरत निरतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन परगुन नहि दोष कहौंगो ॥
परि हरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु यहि पथ लहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥

इस प्रकार 'विनय पत्रिका' में तुलसीदास के आध्यात्मिक विचार बड़ी ही सुन्दरता से व्यक्त हुए हैं। उनका भक्त हृदय आरंभ से ही हरि प्रभु की

भक्ति को लालायित है। सभी देवताओं से रामभक्ति का वरदान माँगा है। अन्तर की शुद्धि ही भक्ति की कसौटी है। उसके लिए प्रभु कृपा अपेक्षित है। ज्ञान भी भक्ति के लिए साधन है। उससे स्वरूप का ज्ञान होता है जो प्रेम के लिए आवश्यक है। प्रेम भी सहज होना चाहिए। इसी सहज प्रेम के लिए 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर संकेत किया है। प्रभु प्राप्ति का साधन भी यही है।

प्रश्न ६-"शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलम्बन स्थिर कर के तुलसी ने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित कर के दिखाया है।" इस कथन की तर्क पूर्ण मीमाँसा कीजिए।

उत्तर—शील के असामान्य उत्कर्ष के बिना आलम्बन में वे गुण नहीं आ सकते, जिनको देखकर भक्त स्वाभाविक रूप से उसकी ओर आकर्षित होकर अपने हृदय को शुद्ध कर सन्त पद प्राप्त कर सके। इसलिए तुलसीदास जी ने अपने आराध्य राम में शील का असामान्य उत्कर्ष दिखाया है। उन्होंने कहा है—

सुनि सीता पति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाऊ।।
सिसुपनते पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सलाऊ।
कहत राम बिधु बदन रिसौहैं सपनेहु लखा न काऊ।।

इस शील तक पहुँचना भक्त के लिए सहज नहीं है क्योंकि यह आन्तरिक वृत्ति है। तुलसीदासजी ने इसके पहिले के दो सोपानों—सौंदर्य और शक्ति की ओर भी ध्यान दिया है और तीनों को—सौंदर्य, शक्ति और शील, मिलाकर भक्ति के आलम्बन में पूर्णता का समावेश किया है। सौन्दर्य से हम सहज ही आलम्बन की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और हम उसका सान्निध्य प्राप्त करना चाहते हैं। हमारी स्थिति उन ग्राम बन्धुओं की सी होती है, जो वन मार्ग से उन्हें जाते हुए देखकर कहते हैं—

धरि धीर कहैं चलु देखिय जाय जहाँ सजनी रजनी रहि हैं।
सुख पाइ हैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहि हैं।"

इस उत्कण्ठा से हृदय के भीतर आप से आप त्याग की भावना जाग

उठती है। ग्राम बधुएँ कहती हैं—

कहि हैं जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपन तो लहि हैं।

इन बचनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें कहीं भी काम वासना का पता नहीं है। ये शुद्ध प्रेमोद्गार हैं। तुलसीदासजी ने सदैव इस बात का ध्यान रखा है कि आलम्बन के सौंदर्य शक्ति और शील के वर्णन में कहीं भी ऐसी व्यंजना न हो जाय जो दुराचार की झलक दे सके। राम मार्ग में जाते हुए सीता की ही ओर देखते हैं ग्राम बन्धुओं की ओर नहीं और वह भी आदर के साथ यह देखकर ग्राम बधुएँ मुग्ध हो रही हैं और पूछती हैं कि ये "साँवरे से सखि रावरे को हैं?" जोकि—

"सादर बारहि बार सुभाय चितै तुमत्यो हमरो मन मोहैं।"

शक्ति का भी ऐसा वर्णन किया है जिस पर भक्त को आश्चर्य होता है। उनकी शक्ति का इससे बढ़कर और क्या प्रभाव हो सकता है कि—
"लव निमेष परमानु जुग, काल जासु कोदण्ड।" सौन्दर्य से हृदय मोहित हो जाता है शक्ति से आश्चर्य चकित और शील से तद्रूपता प्राप्त करता है। शील की साधना के लिए ही तुलसीदास जी कहते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा ते संत सुभाव गहौंगो॥
यथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो॥
परहित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम तिबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह स्रवनि सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम सीतल मन, पर गुन नहिं दोख कहौंगो
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु यहि पथ लहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो॥

योगीसे इन लक्षणों को मिलाइए। गीता के स्थिति प्रज्ञ की सी स्थिति है यह। यही संतत्व है। इस प्रकार की स्थिति होने पर हमारा व्यक्तित्व परमात्मा में लीन हुआ समझिए। किन्तु ऐसी स्थिति हो कैसे? इसके लिए भगवान की शरण में आना आवश्यक है। भगवान की दयालुता से जब हमारे हृदय की भक्ति भावना का सम्बन्ध हो जायगा तो स्वय यह अवस्था

प्राप्त हो जायगी । तुलसीदास जी कहते हैं कि हे प्रभु ! मुझे अपनालो । संकोचवश प्रत्यक्ष रूप से नहीं अपना सकते तो मन से ही सही—

प्रण करिहौं हठ आज ते राम द्वार परयौ हौं ।
'तू मेरौ' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निवरयौ हौं ॥
प्रकट कहत जो सकुचत अपराध भरयौ हौं । काल विलोकि हरयौ हौं ॥

प्रश्न यह उठता है कि अप्रत्यक्ष रूप से (मन से) राम ने अपना लिया है इस बात का पता किस प्रकार चल सकता है ? इसकी विधि भी तुलसीदासजी ने स्वयं ही बतलाई है—

तुम अपनायो तब जानि हों जब मन फिरि परिहै ।
सुत की प्रीति, प्रतीत मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै ॥
हरिषि है न अति आदरे निदरे न जरि भरिहै ।
हानि लाभ, दुख सुख सबै समचित, हित अनहित-
कलि कुचालि परिहरि है ॥

सदाचार की इससे बड़ी साधना क्या हो सकती है ? भगवान के द्वारा भक्त को अपनाया जाना क्या है ! यही, उत्कृष्टतम सदाचारी बना देना है । इसे और भी अधिक स्पष्टता से तुलसीदास जी ने निम्नलिखित दोहे में रखा है—

प्रीति राम सौ, नीति पथ चलिय, राग रिसि जीति ।
तुलसी सतन के मते इहैं भगति की रीति ॥

यही गोस्वामी जी की श्रुति सम्मति हरि भक्ति है । इसमें शील ही प्रधान है । तुलसीदास जी के लिए सदाचार और भक्ति पर्यायवाची हैं । वे इसी भक्ति के समर्थक हैं ।

तुलसीदास जी की सम्मति में शील द्वारा जो सदाचार का आभास होता है वह सुगम होता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध हृदय से होता है । ऐसे शील की प्राप्ति के लिए भक्ति आवश्यक है । इस भक्ति के लिए तुलसीदास जी दो मार्ग उपयुक्त समझते हैं—या तो राम तुम्हें अच्छे लगें या तुम राम को अच्छे लगो—

कै तोहि लागहि राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो, कीवै तुलसी सोहि॥

राम अच्छे लगें इसके लिए उनके सौन्दर्य, शक्ति और शील का ध्यान करो और इस प्रकार सौन्दर्य तथा शक्ति समन्वित शील को जीवन में उतारो। राम को तुम अच्छे लगो, इसके लिए तुम्हें स्वयं पवित्र होना पड़ेगा।

कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि भगवान पापों का नाश करते हैं इस लिए सदाचार की आवश्यकता ही नहीं है। गणिका, अजामिल आदि पापियों के तारने का उदाहरण भी देते हैं यह भूल है। उन्होंने ऐसा इसलिये किया है कि वे भगवान की 'भक्ति वत्सलता दिखाना चाहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि सदाचार और कलि का कोई सम्बन्ध नहीं है और मनुष्य पाप करते हुये भी भक्त कहला सकता है। वे तो बिना सदाचार के भक्ति की कल्पना भी नहीं कर सकते, वह तो पहली शर्त है। साथ ही सदाचार भी बिना भक्ति के नहीं आ सकता। भक्ति बिना मुक्ति के लिए उनका कहना है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गुरुआई।
बिनु हरि भजन इदारुन के फल तजत नहीं अरुआई॥
कीरति कुल करतूति भूति मलि सील स्वरूप सलौने।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग सलौने॥

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास जी ने शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलम्बन बना कर सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित दिखाया है।

प्रश्न ६—तुलसीदास के मत का निर्देश करते हुए उसकी विशेषताओं से अवगत कराइए।

उत्तर—तुलसीदास जी मत मतान्तरों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहते थे। उन्होंने ऐसे लोगों को सदैव बुरा भला कहा है जो पथ निर्माण में तत्पर हुए हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं—

श्रुति समति हरि भक्ति पंथ, संजुत बिरति विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहिं पथ अनेक॥

इस दोहे में जहाँ पंथों अथवा मतों की कल्पना करने वालों को मोह-ग्रस्त कहा है वहाँ उन्होंने अपने उस सिद्धान्त की ओर भी संकेत कर दिया है जिसे वे मानते थे। वह सिद्धान्त ही तुलसी के जीवन का लक्ष्य था उसे ही उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' तथा अन्य ग्रन्थों द्वारा जनता के सम्मुख रखा। वह सिद्धान्त; जैसा कि दोहे के प्रथम चरण में स्पष्ट है, 'श्रुति सम्मत हरि भक्त पथ' है जिसमें वैराग्य और विवेक का योग है। यही तुलसी का मत है। इस श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ को हम अन्य पंथों की कोटि में नहीं रख सकते क्योंकि इसके लिए किसी साम्प्रदायिक विधि विधान की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए अपने परम्परागत धर्म अथवा सम्प्रदाय के छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। तुलसी मत इतना व्यापक है कि उसमें सभी धर्मों का सार तत्व सन्निविष्ट हो जाता है और वह अपनी विशेताओं को भी बनाये रखता है।

इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्धिवाद और हृदयवाद दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। बुद्धिवादियों के लिए ज्ञान की गम्भीर समस्या और रहस्यात्मकता का समावेश है और हृदयवादियों के लिए भक्ति की भागीरथी की धारा है। बहुधा बुद्धिवादी किसी मत की बाह्याचार सम्बन्धी क्रियाओं से ही घृणा करते हैं। तुलसी ने नाम जप के अतिरिक्त किसी भी बाह्य विधान पर जोर नहीं दिया है। उन्होंने सर्वत्र भरसक प्रयत्न किया है कि कहीं भी पाखण्ड को प्रश्रय देने वाली बात न आ जाय।

तुलसी के मत में अद्वैतवाद के सिद्धान्त की प्रधानता है। यही एक ऐसा मत है जहाँ सभी धर्मों के सिद्धान्त आकर विराम पाते हैं। इसी से चित्त को पूर्ण समाधान मिलता है। लेकिन शङ्कराचार्य और गोस्वामी जी दोनों ही मुक्ति के लिए भक्ति की आवश्यकता समझते हैं। परन्तु दोनों में अन्तर इतना ही है कि शङ्कराचार्य का साध्य मुक्ति है और साधन भक्ति किन्तु गोस्वामी जी के लिए साध्य भी भक्ति है और साधन भी भक्ति ही। इसका कारण यह है कि भक्ति के सहारे मुक्ति अनायास ही चली आती है। इस प्रकार तुलसी मत में अद्वैतवाद की प्रधानता है।

कुछ बुद्धिवादियों का कहना है कि तुलसीदास जी ने राम की पाप नाश-

कता पर जोर देकर पापियों को पार करने की खुली छुट्टी देदी है। पर ऐसा कहना सरासर अज्ञानता है। तुलसी ने स्पष्ट लिखा है—

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ और असुभ करमफल दाता॥

'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में मानस राम प्रकरण में उन्होंने मोह को सब रोगों का मूल बताया है—'मोह सकल पापन कर मूला।' साथ ही इससे छूटने के उपाय बताये हैं। वस्तुतः इस नश्वर संसार में आया हुआ जीव कैसे पापों से मुक्त हो, यही विवेचन करने में तुलसीदास जी की समस्त निधि व्यय हुई है।

हम पहले कह आए हैं कि तुलसी मत में बुद्धिवाद के साथ साथ हृदयवाद की प्रधानता है। हृदयवाद के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१—अभीष्ट विषय की ओर लगन।

२—विघ्न बाधाओं में भी अविचल स्थिति से लगन को बनाए रखना।

३—विरोधी विषयों के परित्याग के लिए पर्याप्त मनोबल।

इन सबके लिए उनका आदेश चातक का प्रेम है। चातक की लगन को कष्ट सहिष्णुता और दूसरे प्रकार के प्रेम का आदर्श बनाया है। यह प्रेम सहज होना चाहिए। साथ ही इसमें लोक कल्याण की भावना भी होनी चाहिए। यदि लोक कल्याण की भावना न होगी तो प्रेम का आदर्श गिर जायगा। लोक कल्याण के लिए भी वे विवेक और वैराग्य की भावना बताते हैं। क्योंकि अविवेक और आसक्ति से जब जीव का ही भला नहीं हो सकता तो लोक का क्या भला होगा। इसलिए उनके भगवान के प्रति प्रेम में विवेक और वैराग्य के तत्व और मिल जाने से वह लोक कल्याण का साधन भी स्वतः हो जाता है।

तुलसी मत की एक प्रधान विशेषता यह भी है कि वह सनातन हिन्दू धर्म का विशुद्ध रूप है। सनातन हिन्दू धर्म बड़ा व्यापक है क्योंकि उसमें भारतीय संस्कृति और मानव धर्म दोनों का मेल है। भारतीय संस्कृति के कारण तो वह हिन्दू राष्ट्रीयता का साधक है और मानव धर्म के सिद्धान्तों के कारण अनेक आघात सहकर भी जीवित है। मनुष्यता ही उसका प्राण है।

जिससे वह सनातन बना हुआ है। तुलसीदास जी ने इसीलिए एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति पर जोर दिया है वहाँ दूसरी ओर मानव धर्म पर भी लक्ष्य रखा है और इस प्रकार अपने मत में सनातन हिन्दू धर्म काम विशुद्ध रूप रखा है। मनुष्यों की सेवा ही नहीं उन्होंने जड़ चेतन मात्र की सेवा को अपना लक्ष्य बनाया है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै भगवन्त।
मैं सेवकु सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त॥

यही नहीं वे जड़ चेतन सभी का सम्मान करते हुए कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव गत, सकल राममय जानि।
बन्दउ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ, जल, थल वासी॥
सीय राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर भी जोर दिया है और स्थान स्थान पर ब्राह्मण पूजा की ओर संकेत किया है। इसे उन्हें रूढ़िवादी समझना अपने अज्ञान का परिचय देना है। सच तो यह है कि उन्होंने जातिगत वैषम्य की अनेक स्थानों पर निन्दा की है। उनकी उच्चता का मापदण्ड भक्ति है। वे खण्डन, मण्डन की शैली को न अपनाकर केवल सरल भाव से राम के प्रति आस्था रखने वालों को ही बड़ा बताते हैं—

स्वपच, सवर, खस, जमन, जड़, पाँवर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात॥
कोटि विप्र वध लागइ जाहू। आए सरन तजउ नहिं काहू॥
कह रघुपति सुनि भामिनि बाता। मानउ एक भगति करि नाता॥

तुलसी मत इसकी आज्ञा नहीं देता कि लोग अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आशा में लोक कर्त्तव्य को भुलादें। वह सदाचार पर आश्रित ऐसा मत है जहाँ साधुमत और लोकमत का समन्वय हो जाता है। उसका प्रचार ही लोक दृष्टि से किया गया है। लोक की सेवा ही प्रभु की सेवा है और यह दृष्टि बिना शील के नहीं आ सकती। इसलिए तुलसीदास जी ने शील पर ही विशेष जोर दिया है। शील की परिभाषा पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों

में इस प्रकार है—"शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप ही आप करती है।" ऐसे शील की प्रतिष्ठा होने से ही हृदय में आप ही आप प्रेरणा आती है जो समस्त बैर-विरोध और ईर्ष्या-द्वेष से बचकर आत्मकल्याण के साथ लोक कल्याण की ओर भी प्रेरित करती है।

सारांश यह है कि तुलसी मत में हरि भक्ति प्रधान है और हरिभक्ति ऐसी है जो श्रुति सम्मत तथा विरति और विवेक से युक्त होकर मानव ही नहीं जीवमात्र के कल्याण की साधिका है। उसमें व्यक्ति और मानव धर्म के मूल सिद्धान्तों का समन्वय है और भारतीय संस्कृति की महत्ता का दिग्दर्शन है।

सूरदास

प्रश्न १—सिद्ध कीजिए कि सूर के पदों में काव्य के अंतरग एवं बहिरग—दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं।

उत्तर—महाकवि सूर भाव जगत के सम्राट हैं। अपने परिमिति क्षेत्र में नवीन उद्भावनाओं, कोमल कल्पनाओं और वाग्वैदग्ध पूर्ण व्यंजनाओं के कारण वे हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सूर की सी गहन तल्लीनता अन्यत्र दुर्लभ है। हृदय की जितनी गहरी थाह सूर ने ली है उतनी और किसी कवि ने नहीं। संयोग और वियोग की ऐसी अनेक मानसिक दशाओं का सूर ने वर्णन किया है, जिनका साहित्य शास्त्र में पता तक नहीं है। इसके साथ ही उनके काव्य का कलापक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ है। भाषा की चित्रमयता, सरसता और प्रासादिकता; अलङ्कारों का सुष्ठ प्रयोग और काव्यगत गुणों के समावेश से उनका काव्य चमक उठा है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है उसमें रसात्मकता और चमत्कारवादिता का सुखद संयोग हुआ है। संक्षेप में सूर के काव्य में अन्तरग और बहिरंग दोनों ही पक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुंचे हुए हैं। सूर के पदों में हमें भावपक्ष में भक्ति और शृङ्गार दोनों के दर्शन होते हैं और कला पक्ष में रीति, रस तथा अलङ्कार निरूपण के। अब हम उनके काव्य से उद्धरण देकर सविस्तार अपने मत की पुष्टि करेंगे।

अलङ्कार—सूर केशव के समान अलङ्कारों के पीछे दौड़ने वाले कवि

नहीं हैं। अलङ्कारों के स्वाभाविक और सुष्ठ प्रयोग से उनका काव्य खिल उठता है। उन्होंने कभी भी सप्रयत्न अपने काव्य में अलंकारों को जमाने को चेष्टा नहीं की है। इसीलिए उनके काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग होते हुए भी उनके अधिक प्रयोग की नीरसता ने हृदय की सरसता को सुखा नहीं दिया है। वरन् उनके अलङ्कारों के प्रयोग से पता चलता है कि उनकी दृष्टि कितनी गहरी और तीव्र थी। मन्द मन्द मुसकराते हुए कृष्ण मुरली बजा रहे हैं—

अधर बिम्ब बिहसनि सुमनोहर, मोहन मुरली राग।
मानहुँ सुधा पयोधि घेरि घन ब्रज पर बरसावन लाग॥

बिम्बाफल के समान लाल अधरों से हास्य की छटा छिटकाते हुए कृष्ण मुरली की ध्वनि से समस्त ब्रज को निनादित कर रहे हैं, यह दृश्य ऐसा मालुम होता है मानो श्यामल जलद ब्रज को चारों ओर से घेर कर अमृत के पारावार की वर्षा कर रहे हैं। इसमें एक ओर तो मुरली का प्रभाव व्यक्त है तो दूसरी ओर उपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की अद्वितीय छटा छिटकी पड़ती है।

गोपियों की हृदयस्थ वेदना का चित्र सूर ने कितनी कुशलता से नीचे के पद में खींचा है—

ऊधो अब यह समुझि भई।
नन्द-नन्दन के अङ्ग-अङ्ग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल कुटिल भँवर भरि भाँवरि मालति भुरै-लई।
तजत न गहिरु कियो कपटी जब जानत निरस गई॥
आनन इन्द्र वरन् संपुट तजि कर सेते न नई।
निर्मोही नहिं नेह कुमुदिनी अन्तहु हेम हई॥
तन घनश्याम सेई निसि बासर रटि रसना छिजई।
सूर विवेक हीन चातक मुख बूँदौ तो न सई॥

कृष्ण के अङ्ग प्रत्यंग से दी गई उपमाएँ इसलिए सार्थक जान पड़ती है कि वे छल कपट और क्रूरता से पूर्ण है। कृष्ण के कुन्तलों की कुठिलता में काले भ्रमरों की कुटिलता छिपी है, जिन्होंने गोपियों को मालती के समान भ्रम में डालकर छोड़ दिया। कुमुदिनी चन्द्रमा से प्रेम करती है पर

चन्द्रमा उसकी परवाह नहीं करता। वह हिमसे गलकर नष्ट हो जाती है। चातक घनश्याम के प्रेम में ही अपने को सुखा डालता है किन्तु स्वाति घन उसके मुख में पानी की एक बूँद भी नहीं डालता। गोपियों की भी यही दशा है। सादृश्य मूलक अलङ्कारों द्वारा गोपियों की पीड़ा का इतना उत्तम चित्र खींचकर सूर ने अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

कृष्ण पक्ष की रात्रि को सूर ने काली नागिनि बना दिया है—

पिया बिनु नागिनि काली राति।
कबहुँक जामिनि होत जुन्हैया डसि उलटी हो जाति॥

यद्यपि नागिनि से काली रात्रि की उपमा कोई नई नहीं है किन्तु सूरदास ने यहाँ उसे किसी और ही उद्देश्य पूर्ति के लिए रखा है। नागिनि का ऊपरी भाग काला और पेट का भाग सफेद होता है और उसका नियम है कि वह डसकर उलटी हो जाती है। कृष्ण पक्ष की रात भी अपने प्रथम भाग में अन्धकार से काली हो जाती है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना पीछे निकलकर कालिमा को श्वेतता में परिवर्तित कर देती है। इसी से सूर ने काली नागिनि की विरहिणी को डसकर उलट जाने की बात लिखी है। इसके अतिरिक्त मुरली और नेत्र सम्बन्धी पदों में सूर ने अनेक पद ऐसे लिखे हैं, जिनमें कलापक्ष और भावपक्ष का अद्भुत संयोग हुआ है। वहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति आदि अलङ्कारों के सहारे सूर ने बड़ी गम्भीर भाव व्यंजना की है। मुरली सम्बन्धी एक पद यहाँ उद्धृत है—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनरी सखी जदपि नंदनंदहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाँय ठाढ़ो करि, अति अधिकार बनावति।
कोमल अङ्ग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ो ह्वै आनति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधरि नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सैया पर, कर पल्लवसन पद पलुटावति॥

मुरली क्या है एक धृष्ट स्त्री है, जो अपने पति को अनेक प्रकार से नचाया करती है। इतनी धृष्ट है कि जो चाहती है वही कृष्ण से करा लेती

है। आशा पालन करते करते बेचारे कृष्ण की कमर भी टेढ़ी हो गई है फिर भी वे गर्दन झुकाए अधर शय्या पर लेटी हुई मुरली महारानी के पैर दबाते रहते हैं। रूपक द्वारा पाठकों के समक्ष न केवल कृष्ण की बाह्य दशा का चित्र वरन् गोपियों के क्षोभ और अन्तर्वेदना की भी व्यंजना है।

नीचे के पद में चकई के दृष्टान्त द्वारा गोपियों की विरह व्यथा का अनुभव कराते हुए सूरदास लिखते हैं--

हमको सपनेहू में सोच।
जादिन ते बिछुरे नन्दनन्दन यह तादिन तें पोच॥
मनो गोपाल आए मेरे आँगन हँसि करि भुजागही।
कहा कहौं वैरिन भई निंदिया निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि के आनन्दी प्रिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जलआनि॥

चकई तालाब के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे चकवा समझकर आनन्दित होती है। वायु द्वारा जल के चंचल होने से वह प्रतिबिम्ब मिट कर अस्पष्ट हो जाता है। जागने पर देखे हुए स्वप्न की स्मृति भी ऐसी ही हो जाती है। पोच निंदिया आदि शब्दों में कितनी कोमलता है तथा उनमें व्यथा को व्यक्त करने की कितनी व्यञ्जना है यह अनुभव की वस्तु है। 'पवन मिस' में कैतवा पह्नुति अलङ्कार है। ये गोपियों की मनोदशा यहाँ बड़ी ही सादगी और स्वाभाविकता से व्यक्त की गई है।

यमुना से अपनी तुलना करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई विरह ज्वर जारी।
मनु पर्यंङ्क के परी धरनि धुकि तरङ्ग तलफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर जल भरी प्रस्वेद पनारी॥
विगलित कच कुच कास पुलिन पर पंकज काजल सारी।
मनो भ्रमरतें भ्रमर फिरत हैं निशिदिन दीन दुखारी॥
निशिदिन चकई वाद बकत है प्रेम मनोहर हारी।
सूरदास प्रभु जोइ जमुना गति सोइ गति भई हमारी॥

रूपक द्वारा गोपियों की विरहाकुल दशा का बाह्य चित्र नहीं आंतरिक स्वरूप ही व्यक्त है। मानसिक भ्रमा और सन्निपात की भी व्यञ्जना है। 'तरङ्ग, नलनन्न', 'कच कुच कंस,' 'पुलिन पर पकज', निशिदिन दीन दुखारी', में अनुप्रास की बड़ी स्वाभाविक और सुन्दर छटा तो है ही भाषा की चित्रमयता भी दर्शनीय हैं।

रस—सूर के साहित्य की आत्मा शाँत रस है। विनय के पदों में शांत रस प्रवाहित हो रहा है। वात्सल्य रस के चित्रण में वे अद्वितीय हैं। इस क्षेत्र में वे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वात्सल्य के भी दो पक्ष हैं–संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य। माता यशोदा के हृदय कासूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण जिस कौशल से सूरदासने किया है वैसा अन्य कोई नहीं कर सकता है। सयोग वात्सल्यके आलम्बन कृष्ण हैं क्रीड़ाएँ उद्दीपन है यशोदा को प्रसन्नता आदि अनुभाव हैं। इसको सूर ने सर्वत्र स्वाभावोक्ति अलंकार द्वारा चित्रित किया है। सूर बाल मनोविज्ञानके पूरे विद्वान हैं। इसके अतिरिक्त गोपी-कृष्ण एवं राधा-कृष्ण विषयक पदों में शृङ्गार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग—की पूर्ण उद्भावना हुई है। कृष्ण की बाल चेष्टाओं में हास्य और अद्भुत रस मिला है। भ्रमरगीत करुण रस का समुद्र है। यद्यपि अन्य सभी रस भी मिलते है किन्तु सूर ने जो कौशल वात्सल्य शृङ्गार और करुण रस में दिखाया है वह अन्यत्र नहीं पाया जाता है। वे कोमल रसों के पडित थे। इसीलिए परुष रसों के चित्रण में उनकी रुचि नहीं जमी है।

सूरदास में शृङ्गार और वात्सल्य रसों का पूर्ण परिपाक होने का एक कारण था और वह यह कि उन्होंने उसमें बराबर स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया है। उनके आराध्य राधा कृष्ण हैं। उनकी प्रेम लीला का गान ही सूर की कविता का लक्ष्य है। यह प्रेम शैशव से ही अंकुरित होकर धीरे धीरे पल्लवित और पुष्पित होकर यौवन की प्रौढ़ता को पहुँचता है। इसमें रूप लिप्सा अथवा कृष्ण के सौंदर्य के प्रति आकर्षण की प्रधानता है। कृष्ण का यह सौन्दर्य रूप सौन्दर्य और चेष्टा या कार्य व्यापार-सौन्दर्य दो प्रकार से हमारे सम्मुख आता है। सूर ने इसीलिए बाललीला और यौवन के हास

विलास का, जिसमें शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्ष आ जाते हैं, वर्णन किया है। यह वर्णन सूर ने बड़े विस्तार के साथ किया है। विस्तार से वर्णन करने के कारण सूर को कल्पनाओं और नई नई उद्भावनाओं का सहारा लेना पड़ा है। एक ही बात को अनेक प्रकार से कहने में तब तक नवीनता नहीं रह सकती जब तक कि उसे भिन्न भिन्न अलंकारों और वाग्वैदग्ध के सहारे न कहा जाय। इसीलिए सूर के काव्य में हृदय पक्ष की प्रधानता के साथ साथ कलापक्ष की भी प्रधानता हो गई है।

छन्द योजना—छन्द योजना में सूर ने जयदेव और विद्यापति की परम्परा को अपनाया है। इन दोनों ने ही गीति काव्य का आश्रय लेकर कृष्ण चरित का वर्णन किया था अतः सूर भी उसी परिपाटी पर चले और उन्होंने भी 'गीति' को ही अपनाया जिसे पद कहते हैं। सूर सङ्गीतज्ञ एवं कुशल गायक थे। इसलिए उन्होंने अपने पदों को विभिन्न राग-रागनियों के अनुसार ही सजाया था। उनके पदों का सङ्गीत अत्यन्त श्रेष्ठ माना जाता है। यदि काव्य और सङ्गीत का प्रकृत सामञ्जस्य कोई कवि कर सका है तो वह सूरदास हैं।

शैली—शैली की दृष्टि से सूर को जयदेव और विद्यापति की परम्परा में माना जाता है। सूर की रचना गीति काव्य की शैली पर है पर इसमें वे मौलिक हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों से शृङ्गार भावना और कोमल कान्त पदावली अवश्य ली है पर उसे पूर्ण मौलिकता प्रदान करदी है। सूरकी रचना में जो व्यंग्य, सजीवता, चित्रमयता, मनोवैज्ञानिकता, स्वाभाविकता, भावगाम्भीर्य पाया जाता है वह जयदेव आदि में नहीं। सूर का शब्द-चयन सुन्दर और सार्थक है। कहीं-कहीं चमत्कार प्रदर्शन की भावना भी है। गाम्भीर्य और सरलता दोनों ही गुण उनके काव्य में विद्यमान हैं। जहाँ वे अलङ्कारों की सहायता से अथवा प्रतीकों के द्वारा भावों को व्यक्त करते हैं वहाँ उनकी शैली दुरूह हो जाती है।

भाषा—भाषा के क्षेत्र में सूर के तीन रूप मिलते हैं—कवि, भक्त और कथाकार। कथाकार सूर की भाषा गौण तथा हीन है। वहाँ उनकी वृत्ति नहीं रमी है। भाषा का चलताऊ रूप है। भक्त सूर की भाषा शान्त होती

है और जहाँ उन्हें अपने कविरूप का ज्ञान होता है वहाँ उनकी भाषा चमत्कार पूर्ण, कलात्मक और उज्ज्वल हो उठती है। भाषा अलङ्कार और ध्वनि से पुष्ट है। भाषा के दृष्टिकोण से सूर प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिकता प्रदान की है। उससे पूर्व ब्रजभाषा साधारण व्यवहारों की माध्यम मात्र थी। सूर ने अपने गीतिकाव्य में संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक भाषा का सर्व प्रथम प्रयोग किया। भाषा में ग्राम्य एव विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया गया है परन्तु उन्हें साहित्यिक बाना पहना कर। सूर भाषा के धनी थे। भाषा विषयानुवर्तिनी होकर चली है।

सूर हिन्दी साहित्य के महाकवि हैं। उन्होंने भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य का कायाकल्प भी और ब्रजभाषा का आश्रय लेकर, धार्मिक जगत में कृष्ण काव्य की विशिष्ट परम्परा का सूत्रपात किया है। इस प्रकार वे नवीन प्रवृत्तियों को जन्म देने वाले प्रगतिशील कवि हैं। वे अपने क्षेत्र के सम्राट हैं। काव्य के दोनों पक्ष उनके हाथों में पड़कर निखर उठे हैं।

प्रश्न २—सूर के भ्रमरगीत का उद्देश्य निर्धारित करते हुए बताइए कि सूरदास सच्चे प्रेम मार्ग के त्याग और पवित्रिता को ज्ञान मार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब सफल हुए हैं।

उत्तर—भ्रमरगीत की रचना सूर ने सगुण के मडन और निर्गुण के खण्डन के लिए की है। कृष्ण ने अपने सखा उद्धव को ब्रज में भेजा ही इसलिए था कि उनको अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था और वे प्रेम या भक्ति मार्ग की उपेक्षा करते थे। इसीलिए कृष्ण चाहते थे कि किसी भी प्रकार उद्धव ब्रज में जाय और गोपियों के प्रेम को देखकर सगुण भक्ति की महत्ता को स्वीकार कर अपने नीरस निर्गुणवाद का अहकार त्याग दें।

जदुपति जानि उद्धव रीति।

विरह दुख जहँ नाहिं जानत नाहिं उपजत प्रेम।
रेख रूप न वरन जाके यह धरयो वह नेम॥
त्रिगुण तन करि लखत हमको, ब्रह्म मानत और।
बिना गुण क्यों पुहुमि उधरै यह कर मन ठौर॥

विरह रस के मंत्र कहिए क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भरयौ हंकार ॥
प्रेम भजन न नेकु जाके जाय क्यों समुझाय।
सूर प्रभु मन यहै आनी ब्रजहिं देहु पठाय ॥

ब्रह्म को जगत की नाना विभूतियों से भिन्न मानना भक्तों को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं है। ऐसे नीरस उपदेशों से जगत का कल्याण नहीं हो सकता। उनका प्रभाव भी जनता पर कुछ भी नहीं पड़ता। जनता को सगुण साकार ही एक सहारे का काम दे सकता है। वही उनको 'थिरक' कर रिझा सकता है, वही उनकी गायों को चरा और दुह सकता है। वही माखन खा-खा कर उनके साथ अपनत्व स्थापित कर सकता है। वह निर्गुण जिसका न रूप न रंग न हाथ न पैर; जो केवल भावना मात्र है हमारे अर्थात् जनता के किस काम आ सकता है। वह तो केवल भावना की ही बात रह जायगी हमारे क्रियात्मक जीवन के लिए तो वह एकदम बेकार है। इसी तथ्य की पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए भ्रमरगीत की रचना हुई है।

कृष्ण के भेजने पर उद्धव भी यही अनुभव करते हैं। उन्हें बड़ा हर्ष और गर्व होता है कि प्रेमी कृष्ण पर उनके ज्ञान की धाक आखिर जम ही गई, वे उनके ज्ञान की वास्तविकता तथा उनके महत्व को समझ ही गए। इसीलिए तो उन्होंने प्रेम विह्वल गोपियों के अन्तर में झूठे प्रेम मोह को समाप्त कर ज्ञान का वास्तविक दीपक जलाने केलिए मुझे भेजा है। फिर उद्धव तो क्यों ना करें जब उनको एक व्यक्ति महत्व देता है। महत्व देने की बात भी अलग है उनके सिद्धाँत का प्रतिपादन जो हो रहा है। और अपने सिद्धाँत को सभी अधिकाधिक फैलाना चाहते हैं। अब क्या है कृष्ण के भेजे हुए उद्धव बड़े उत्साह में भर कर ब्रज की ओर रवाना होते हैं। ब्रज में जाते ही गोपियों के बीच पहुँच कर उपदेश आरम्भ कर देते हैं किन्तु उद्धव जो कुछ सोच कर आए थे यहाँ बात उससे बिल्कुल भिन्न होगई। उद्धव का दिया हुआ ज्ञान का उपदेश गोपियों को प्रिय लगने की अपेक्षा तीर की तरह से सालने लग गया। इस सन्देश को सुनकर वे व्याकुल हो जाती हैं। उद्धव के ज्ञान का उपदेश उनकी विरह-व्यथा को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ। अब

उद्धव बड़े परेशान। उनकी विह्वलता देखकर उद्धव का सारा अहंकार चूर-चूर हो गया। जब वे उसे बनाने लगती हैं, उसका उपहास करने लगती हैं तब तो वे और भी घबरा जाते हैं। यह देखकर गोपियाँ कहती हैं—

उद्धव जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधउ गाँठि कहूं जनि छूटै, फिर पाछै पछिताहु॥
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानौ और।
ब्रज-बासिन के नाहि काम की तुम्हरे ही है ठौर॥

ज्ञान और योग के सम्बन्ध में इसमें कितनी मीठी चुटकी ली है। सच ही है कि जो वस्तु केवल एकाध ही व्यक्ति के काम की हो वह सब के काम फिर किस प्रकार आ सकती है। यदि ऐसी बात है तो वह वस्तु सामान्य जनता के किस मतलब की। यदि उससे भला हो सकता है तो उच्चकोटि के पहुँचे हुए ज्ञानियों का ही।

आगे निर्गुण ब्रह्म और योग का उपहास करती हुई वे कहती हैं—

निर्गुण कौन देस को वासी।
मधुकर हँसि समुझाइ सौंह दै बूझत साँच न हाँसी।
को है जनक जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी?

कितनी हास्य और उपहास मय चुटकी है। कितना अजीब प्रश्न है कि वह निर्गुण किस देश में रहता है। किन्तु बात भी पूछी है तो अनर्गल नहीं; पते की ही पूछी है। यही तो पूछा है कि वह किस देश का वासी है कौन माता पिता हैं उनकी पत्नी का नाम क्या है, उसका क्या कार्य है और क्या वेष है किस रस का प्रेमी है? आदि आदि। इन प्रश्नों में दो प्रकार की व्यंजना स्पष्ट मिल जाती है। एक तो वह इन प्रश्नों द्वारा उद्धव के ब्रह्म का उपहास कर के उद्धव को छकाना चाहती हैं जिससे वे लज्जित होकर हट जाय क्योंकि वह ब्रह्म तो इन सभी प्रश्नों की पहुँच से परे है। उसके लिए तो इन सभी प्रश्नों के उत्तर में नकारात्मक उत्तर ही मिल सकेगा। और जब नकारात्मक उत्तर मिलता है तो गोपियों के पास उत्तर भी सुन्दर है कि यह हमारे किस काम का है इसे तो आप अपने पास ही रखिए। दूसरी

बात यह है कि इन प्रश्नों के उत्तर में यदि कहीं कृष्ण का स्वरूप मिल जाता तो गोपियों को उद्धव को असन्तुष्ट करना भी अच्छा नहीं लगता। वे तो अपने कृष्ण को चाहती हैं उसी रूप को चाहती हैं। यदि वह ब्रह्म के नाम से मिल जाय तो भी कोई परेशानी नहीं।

गोपियाँ एक और प्रश्न पूछती हैं—

ऊधौ जोग कहा है कीजत ?
ओढ़ियत है कि डासियत है किधौं कहियत किधौं जुपतीजत ?

× × + ×

की कछु भलौ खिलौना सुन्दर की कछु भूखन नीको ?
हमरे नन्द नन्दन जो कहियत जीवन जीवन जीको।

कितनी सुन्दर बात कह डाली है कि तुम्हारे योग का काम क्या होता है ? अथवा वह कोई मन बहलाने का खिलौना है या आभूषण है। कारण पता जानने के पश्चात् उसकी गति विधि और उसका कार्य भी जान लेना आवश्यक ही हो जाता है।

अभी वे गोपियाँ उस ब्रह्म के समर्थक उद्धव पर ही बड़े तीव्र व्यंग्य करने लग जाती है—

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप यह ग्यान जोग की ब्रज में आइ उतारी।
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरी निपट सुधारी॥

× × × ×

किन्तु जब उन्हें क्रोध आता है तो वे खीझ कर

जोग ठगौरी ब्रजन बिकै है।
यह ब्यौपार तिहारो ऊधौं ऐसे ही चलि जै है॥

प्रश्न ३—"सूर भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुँच गए थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान नहीं रहा।" इस कथन की उपयुक्तता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

रहुरे मधुकर मधु मतवारे ।
कहा करौ निर्गुन लैकै हौ जीवहु कान्ह हमारे ॥

किन्तु यह खींझ अधिक समय तक नहीं रह पाती । कुछ ही देर में वे ऊधव के प्रति विनम्र हो जाती हैं। हो भी क्यों न जाय आखिर ऊधव उनके दुश्मन थोड़े है । उनमें प्रेमी कृष्ण के सखा जो है। उन्हें चिढ़ ऊधव से थोड़ी है चिढ़ तो ऊधव के बताए गए ब्रह्मज्ञान से है उनके दिए गए उपदेश से है और उनके उन विचारो से है जिनमें कृष्ण को छोड़ देने की बात कही गई थी । इसीलिए वे थोड़ी देर में विनम्र होकर कहती हैं—

ऊधौजी हमहिं न जोग सिखैये ।
जेहि उपदेश मिलै हरि हमको सो व्रत नैम बतैये ॥

इसका कारण खोजने मे अधिक कठिनाई नहीं जान पड़ती । वह बिल्कुल स्पष्ट है । वे स्वय ही उसे अपने मुख से कह डालती हैं—

अखियाँ हरि दरसन की भूखी ।
कैसे रहैं रूप रस रॉची ये बतियॉ सुन रूखी ॥

केवल आँखों की ही बात होती तब भी किसी प्रकार संतोष किया जा सकता था वहाँ तो मन भी श्रीकृष्ण के पास चला गया है । कोई 'दस वीस' मन तो ये नहीं । एक ही मन था वह श्याम के साथ चला गया है । ऐसी अवस्था में योग साधना करना और ब्रह्म की आराधना करना एक ऐसी समस्या हो गई है जिसका समाधान किया ही नहीं जा सकता । सवाल यह है कि एक तो मन, उसे भी हरि रथ पर चढ़ाकर पहले ही मथुरा लेजा चुके हैं अब वह मन उनके हाथ का कहाँ रह गया । अब उनका उसपर कुछ तो अधिकार नहीं है—

१—ऊधौ मन नहीं दस बीस ।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सग को आराधौ ईस ॥

नोट—पृष्ठ १६२ पर प्रश्न ९ अनावश्यक है । विद्यार्थी उन तीन पंक्तियो को छोड़दें ।

२—ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाइ हरि संग लै गए मथुरा जबहिं सिधारे॥

उन्हें केवल उद्धव के अथवा उनके ब्रह्मज्ञान पूर्ण उपदेश तथा उनकी योग आदि को ही वे दोष पूर्ण नहीं मानती। वे तो बिना किसी अचकचाहट के अपनी अज्ञानता अथवा सीमित बुद्धि को भी स्वीकार कर लेते है। उनकी हो सकती है कि उद्धव की यह बताई हुई ज्ञान-योग की कथा बहुत काम की हो, उसमें बहुत कुछ तत्व भरा हो किन्तु वह गोपिकाओं की समझ से परे की वस्तु है क्योंकि गोपिकाएँ बेचारी गवारिन हैं और उस कथा का 'वचन-बनाव' बड़ा ही उच्चकोटि का है। इसमें एक ओर तो उनके हृदय की सरलता, स्पष्टता और निष्कपटता के दर्शन होते हैं किन्तु दूसरी ओर उस योग कथा की असारता एव उसका उपहास सा भी जान पड़ता है—

ऊधौ ब्रज की दशा विचारौ।
ता पाछैं यह ज्ञान आपनी योग कथा विस्तारो॥
अपनो ज्ञान कथा यह ऊधो मथुरा ही लैजाव।
नगरि नारि नोके समझगी तुम्हरौ वचन बनावट॥

किन्तु जब उद्धव इतने पर भी नहीं मानते तो क्रुध हो उठती है वे अच्छी प्रकार से जानती हैं कि उद्धव उन्हें सीधे मार्ग पर जाने से रोक रहे हैं। इस पर उन्हें कड़ी फटकार पिलाती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनहु मधुप, निर्गुण कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधौ॥

यह ठीक है कि बात आवेश के साथ कही है किन्तु इसमें गलत और अनुचित कुछ भी नहीं है। उनके लिए सगुण रूपोपासना राजमार्ग के समान सरल, सुगम और सुरुचिकर है किन्तु यह निर्गुण का उपदेश उस राजमार्ग निर्गुण के समान है। इस निर्गुण का विचार न सरस, न सुगम और न हर एक के लिए सम्भव ही है क्योंकि वह निर्गुण बिल्कुल बेकार है उसमें कुछ भी तो ऐसा नहीं है जिससे हमारा कुछ भी कार्य बन सके।

यदि कुछ हो तो ऊधव ही बतावे यह वे ऊधव से पूछती हैं—

रेख न रूप वरन नहि जाके ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ दरस ऐसे को तुम कबहूं हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन बनबन चारत।
नैन विसाल भौंह बंकट करि, देख्यौ कबहूं निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपुधरि, पीताम्बर तेहि सोहत।
सूर स्याम जो देह हमें सुख त्यों तुमको सोउ मोहत॥

उद्धव का ज्ञान गौरव गोपियों के इस तर्क के कारण नष्ट हो जाता है, गोपियों के प्रेम के कारण उनके नियम व्रत छूट जाते हैं और वे कृष्ण के गुण गाने लगते हैं—

सुन गोपिन कौ प्रेम नेम ऊधव कौ भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यौ॥

भ्रमरगीत प्रसग के अन्त में उद्धव की यह पराजय सगुण की निर्गुण पर विजय ही घोषित करती है और यह सिद्ध करती है कि भ्रमरगीत सार का मुख्य उद्देश्य निर्गुण वाद का खण्डन और सगुणवाद का प्रतिपादन है।

प्रश्न ३—भ्रमरगीत काव्य परम्परा का उल्लेख करते हुए विभिन्न प्रकार के भ्रमरगीत की रचनाओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर—हिन्दी काव्य में भ्रमरगीत अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। सूरदास, नन्ददास, रत्नाकर, हरिऔध तथा सत्यनारायण जी ने इस सम्बन्ध में बड़े सुन्दर काव्य की रचना की है। यह वास्तव मे गोपी-उद्धव सवाद है। उद्धव जी कृष्ण के भक्त होने के साथ ही साथ निर्गुण मार्ग के अनुयायी थे। उन्हें अपने ज्ञान का गर्व था। कृष्ण ने इसी गर्व को भङ्ग करने के लिए उन्हें गोपियो के पास अपना सन्देश कहने को भेजा। वे उद्धव को भक्ति और प्रेम की तीव्रता का अनुभव कराना चाहते थे। साथ ही उनका अभिप्राय था कि गोपियाँ उन्हे भूल जायँ क्योंकि अब व्रज मे लौटकर उन प्रेमगाथाओं की पुनरावृत्ति न हो सकेगी। उद्धव जी कृष्ण का सन्देश लेकर गोपियों के पास गए। उनके और गोपियों के बीच अनेक तर्क वितर्क हुए।

मान मिलाप भी हुए, उपालम्भ भी दिए गए। अन्त में उद्धव प्रेम की महत्ता स्वीकार कर कृष्ण के पास लौट आए। संक्षेप में यही कथा है।

भ्रमरगीत प्रधानतः व्यंग्यकाव्य है। कृष्ण, उद्धव, कुब्जा तथा मथुरा की कल्पना करली गई है। गोपियों के सब व्यंग भ्रमर को आधार मानकर किए गए हैं। भ्रमर का होना दो दृष्टियों से बड़ा आवश्यक था। उद्धव गोपियों के अतिथि और प्रियतम के सन्देशवाहक थे। घर आये महमान का अनादर करना घृणित है। इसी से गोपियों ने अपने हृदय के गुबार भ्रमर को माध्यम मानकर निकाले। भ्रमर की उपमा भी अत्यन्त सुन्दर और सङ्गत है क्योंकि कृष्ण, उद्धव दोनों भ्रमर के समान ही काले थे। दूसरे भ्रमर प्रेम की रीति नहीं जानता। वह केवल रसलोभी होता है। उधर कृष्ण भी मथुरा में कुब्जा को अपनी प्रेयसी बनाकर इसी 'पावन' कार्य का सूत्रपात कर रहे थे। इस प्रकार भ्रमर के साथ कृष्ण और उद्धव की तुलना करना समीचीन और सार्थक है।

इस काव्य का मूल स्रोत भागवत का दशम स्कन्ध है। वहाँ गोपी उद्धव वार्तालाप के मध्य एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ आ गया। तब गोपियों ने उसे ही व्यग्यबाणों का लक्ष्य बनाया। काव्यरूप में सर्वप्रथम सूरसागर में वर्णित है। सूरदास ने भ्रमर की स्थिति प्रारम्भ से ही मानी है। बीच बीच में भी मधुप मधुकर अलि आदि शब्दों द्वारा इस भ्रमर की ओर संकेत किया है—"मधुकर यह मन बिगरि परे" तथा "कहि अलि क्यों बिसरत वे बातें" आदि। सूर के काव्य में तर्क वितर्कों के लिए बहुत कम स्थान है। वैसे तो यह पूरा सवाद ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण तथा हृदय और मस्तिष्क का सङ्घर्ष है। सूर हृदयपक्ष को लेकर आगे बढ़ते हैं। उनकी गोपियाँ तर्क नहीं करतीं। उनका कथन तो केवल यह है कि हम अबला हैं, मूर्ख हैं और तुम्हारा निर्गुण का पन्थ बहुत दुष्कर है। इसके साथ ही साथ "ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे" क्योंकि "रथ चढ़ाय हरि सङ्ग लै गए, मथुरा जबहिं सिधारे।" हम तो तुम्हारे रुचि पूर्वक लाए हुए जोग को स्वीकार कर लेतीं परन्तु 'हम तो झकत श्याम की करनी, मन लै जोग पठाए।' इसके अतिरिक्त हमारे पास एक ही मन है इसलिए अब तुम्हारे निराकार ब्रह्म की

उपासना कौन करे क्योंकि उस मन को तो श्याम ले गये। गोपियाँ यह भी स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं कि आपका निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म से बहुत ऊँचा है उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। लेकिन इस मन को क्या करें। एक बार जिसमें मन लग जाता है फिर उसकी अच्छाई, बुराई, गुण, अवगुण नहीं देखता। इसी से अन्त में उद्धव के निर्गुण ब्रह्म को निराश पथिक के समान लौटना पड़ा।

नन्ददास के भ्रमरगीत में एक दूसरा ही रूप उपस्थित किया गया है। उनकी गोपियाँ प्रेम के साथ साथ तर्क और प्रमाण का आधार मानकर चलती है। वहाँ उद्धव और गोपियों के बीच निर्गुण और सगुण के ऊपर लम्बा विवाद चलता है। उद्धव भगवान् को निर्गुण बताते है—"जो उनके गुन होंय वेद क्यों नेति बखानै" तो गोपियाँ तुरन्त ही पूछ बैठती हैं—"जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ ते" यह जरा समझने की बात है। इसी प्रकार जब उद्धव ब्रह्म को अलक्ष्य और गुणातीत बताते हैं तो गोपियाँ उत्तर देती हैं—'जिनकी वे आँखे नहीं देखें कब यह रूप।' क्योंकि दिव्य दृष्टि के बिना वे गुण देखे नहीं जा सकते इसलिए तुम उन्हें निर्गुण कह कर सन्तोष कर लेते हो। नन्ददास की गोपियाँ तर्क के साथ साथ बड़ा सुन्दर मजाक भी कर लेती हैं। यह परिहास की प्रवृत्ति उद्धव की ज्ञान गठरी को एक दम विलीन कर देती है। इसके साथ ही वे उद्धव को बहुत बड़ी भर्त्सना भी देती हैं—"यह नीचो पदवी हुती गोपीनाथ कहाय, अब जदकुल पावन भयौ दासी जूठन खाय।" परन्तु अन्त में नन्ददास की गोपियों का भी सारा तर्क समाप्त हो जाता है और इसके साथ ही साथ उद्धव के ज्ञानवाद की भी वहीं अन्त्येष्टि हो जाती है—"ता पीछे इक बार ही रोईं सकल ब्रजनारि, हा! करुनामय नाथ हो केशव कृष्ण मुरार।"

रत्नाकर जी के काव्य में हम इन सभी बातों का सामञ्जस्य पाते हैं। उनमें जहाँ एक ओर सूरदास के हृदय की बेवसी है वहाँ दूसरी ओर नन्ददास का तर्क और परिहास भी है। इनके 'उद्धवशतक' में गोपियाँ प्राचीन स्मृति के आधार पर ही कृष्ण के जीवन के तुलनात्मक चित्र उपस्थित करती हैं। साथ ही वे यह भी मान लेती हैं कि कान्ह और ब्रह्म वास्तव में एक ही हैं

परन्तु एक भक्त हृदय अद्वैत की भावना को स्वीकार नहीं कर सकता। वह प्रेम के लिए द्वैत का व्यवधान चाहता है। इसलिए रत्नाकर की गोपियाँ अपने और भगवान् के बीच इस द्वैतता के सम्बन्ध को शाश्वत रखना चाहती हैं। वे मुक्ति भी नहीं चाहतीं। इसके अतिरिक्त जो भगवान् रूप और रस से हीन है उसमें आसक्ति नहीं हो सकती। रत्नाकर जी के वर्णन में व्यंग्य के साथ साथ मार्मिकता भी गहरी है। उन्होंने हृदय के उन कोमल भावों का, जिनके सामने तर्क नहीं चलता, चित्र खींचा है। कृष्ण की स्मृति, गोपियों की दशा, उद्धव का उपदेश तथा उसकी प्रतिक्रिया के चित्र अत्यन्त मार्मिक और मनोरम हैं। गोपियो के 'नन्दलाला' मुक्ति और ब्रह्म से भी श्रेष्ठ हैं। उनकी प्राप्ति के लिए वे सब कुछ करने को प्रस्तुत है यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि वे उसके द्वारा अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकेंगी "सहिहैं तिहारे कहै सासति सबै पै बसि, एती कहि देउ कि कन्हैया मिलि जायगो।" परिणाम स्वरूप उद्धव अन्त में निर्गुण और ज्ञान का सन्देश भूल कर, प्रेमरस में थके हुए लौटते हैं जिनके—"एक कर राजे नवनीत जसुदा को दियो, एक कर वंशी वर राधिका पठाई है।"

इसके पश्चात् हम वर्तमान कवियों के विकसित रूप की ओर आते हैं। कृष्ण का माखन चुराने वाला और विलासी रूप अब एक समाज सुधारक का रूप धारण कर लेता है। वियोग की भावनाओ में भी अन्तर आ जाता है। 'प्रियप्रवास' में हम भ्रमरगीत के इसी रूप को देखते हैं। यह ठीक है कि उनके काव्य मे किसी भ्रमर का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं आता किन्तु परम्परा के कारण भ्रमरगीत वास्तव में गोपी उद्धव सम्वाद का ही नाम है। यहाँ गोपियाँ कृष्ण के केवल उन लोकोपकारी कार्यों की याद करती हैं जो कृष्ण ने अपने निवासकाल में किये थे। प्रियप्रवास की राधा का रूप केवल शृङ्गार और वासना को ही लेकर नहीं चला है। इसमें राधा एक स्वदेशानुरागिनी नायिका के रूप में आई है जिसने विश्व के दुख के साथ अपना दुख मिला दिया है। वह दुखियों की सेवा में अपने चिर दुख को भुला देना चाहती है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें गोपियों के अतिरिक्त नन्द तथा यशोदा का भी सन्देश है।

अब हम व्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि कवि सत्यनारायण जी पर आते हैं। यहाँ सन्देश मथुरा से नहीं वरन् गोकुल से मथुरा को जाता है और इस सन्देश को भेजने वाली कृष्ण की कोई प्रियतमा नहीं वरन् यशोदा माता हैं जो अपने हृदय मे विशाल वेदना को छिपाये हुए हैं। वह इस सन्देश के लिए भ्रमर को सबसे उपयुक्त समझती हैं क्योंकि उनको अपने पुत्र मे और भ्रमर में बड़ा भारी साम्य दिखाई देता है—"तेरो तन घनश्याम, श्याम घनश्याम उतै सुन" आदि। इस सन्देश में माता ने अपने व्यक्तिगत दुख का वर्णन नहीं किया अपितु अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मार्मिक वर्णन किया है। वर्तमान सभ्यता का अभिशाप, प्रवासियों की समस्या, स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों पर वर्तमान फैशन का प्रभाव, भारतीयों की दुर्दशा आदि के बड़े मार्मिक चित्र हैं जैसे—"अब की गोपी मदभरी अघर चले इतराय", तथा 'जो तजि मातृभूमि से ममता होत प्रवासी तिन्हें विदेशी तङ्ग करत दै विपदा भारी" आदि सत्यनारायण जी के काव्य पर वर्तमान राजनीतिक सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। "अपनी अपनी ढापुली अपनो अपनो राग" शब्द उस काल के विच्छिन्न राजनीति वातावरण के प्रतीक हैं। इसमें भावों के सौन्दर्य के साथ साथ भाषा में सङ्गीत और सौन्दर्य अधिक है।

उपर्युक्त विवेचना से भ्रमरगीतो की सरसता, मार्मिकता और काव्यत्व का पता चल जाता है। हृदय की विवशता, अकाट्य तर्क, तीखे व्यग्य, समाज सौर देश प्रेम की भावना तथा तत्कालिक समस्याओं के सफल चित्रण हमें इस काव्य परम्परा में देखने को मिल जाते हैं। इन सभी भ्रमरगीतों का विषय एक ही है। अन्तर केवल भिन्न-भिन्न कवियों की मौलिकता का है।

प्रश्न ४—"सूर भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुँच गए थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान नहीं रहा।" इस कथन की उपयुक्तता अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—हम पहले कह आए है कि रामोपासक कवि राम के लोकरक्षक रूप को प्रधानता देकर काव्य क्षेत्र में आए थे और कृष्णोपासक कवि कृष्ण

के लोकरंजक रूप को । तुलसी के पथ प्रदर्शनार्थ कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं थे। उन्होंने रामानन्दीय सम्प्रदाय में अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं परिष्कार कर उसे एक लोकधर्म के रूप में उपस्थित कर अपने मार्ग का निर्माण स्वयं किया था। इसी से उनका काव्य समन्वय का काव्य कहा जाता है। सूर बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। पुष्टिमार्ग के अपने निश्चित सिद्धान्त और नियम थे। माधुर्य भाव की उपासना उसका आधार था। इसी अभिप्राय से बल्लभस्वामी ने सूर को कीर्तन मडल का प्रधान नियुक्त किया था। भगवान का मन्दिर उनका संसार था और भगवान की दैनिन्दनी लीलाओं का वर्णन उनका कार्य। पुष्टिमार्ग में कृष्ण के लोकरक्षक रूप की उपेक्षा कर केवल उनके बाल और किशोर रूप की माधुर्यपूर्ण उपासना पर ही पूर्ण बल दिया गया था । इस उपासना पद्धति में महाभारत के कृष्ण के लिए कोई स्थान नहीं था। जब पुष्टिमार्ग में ही कृष्ण के लोकरक्षक रूप की पूर्ण अवहेलना की गई थी तो उसके अनुयायी को साथ लेकर कैसे चल सकते थे । इसी कारण कृष्णोपासक कवियों के लिए लोक सदैव उपेक्षित रहा । उनमें भक्त हृदय की पूर्ण तन्मयता थी। वे स्वयं और उनके भगवान ही उनका लोक था। परिणाम स्वरूप इन कवियों में भक्ति की पूर्ण तन्मयता तो मिली परन्तु लोक कल्याण की भावना का पूर्ण अभाव रहा। लोक की उपेक्षा का यही प्रधान कारण था।

बल्लभ सम्प्रदाय में बालकृष्ण की उपासना का विशेष महत्त्व है। बालकृष्ण की लीला में भाग लेना भक्तों का सर्वस्व है। यह भक्ति माधुर्य भाव की होने के कारण रागानुगा है, वैधी नहीं । इस भक्ति में प्रेम का ही महत्त्व है परन्तु वैधी भक्ति में लोकाचार और वेदविधि के पालन का विधान है। रागानुराग भक्ति का यह प्रेम का आदर्श गोपियों के प्रेम के रूप में चरम विकास को प्राप्त हुआ है । यद्यपि नन्द यशोदा के वात्सल्य-भाव का भी बल्लभ सम्प्रदाय में पर्याप्त स्थान है परन्तु भक्ति का पूर्ण परिपाक राधा कृष्ण और गोपियों के प्रेम के रूप में ही हुआ है। प्रेम में व्यवधान नहीं रहता। इससे सम्पूर्ण लीलाओं में राधा कृष्ण और गोपियाँ पूर्ण तन्मय रहते हैं। ये सब लीलाएँ भक्त और भगवान एवं जीव और ब्रह्म के व्यव-

धान को लोप करने की साधन हैं । सूर को बल्लभ ने अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करते समय केवल भगवद्लीला का वर्णन करने का ही आदेश किया था । सच्चे शिष्य की भांति सूर ने उसका एकनिष्ठ मत से पालन किया । उस लीला वर्णन में सूर इतने तन्मय हुए कि उन्हों अपने पथ प्रदर्शक गुरु के प्रति एक भी शब्द नहीं कहा । कहा भी तो दूसरों के सुझाने पर और यह भी अन्त में । लीलागान में ऐसे तन्मय भक्त को समार की क्या चिंता हो सकती है ।

दूसरी बात यह है कि कृष्ण की यह लीला, जो ब्रज मे हुई, शाश्वत है । वृन्दावत गोलोक का प्रतीक है, जहाँ सदैव आनन्दमय रास होता रहता है । कृष्ण ब्रह्म हैं, राधा उनकी शक्ति और गोपियाँ आत्माएँ हैं । प्रत्येक भक्त अपने को इस लीला का अंश समझता है कृष्ण प्रतिदिन उठते, कलेवा करते, गाय चराते, और घर लौटते और शयन करते हैं । प्रतिदिन, प्रतिमास और प्रति ऋतु में उनके जीवन की विशेष विशेष बातों के लिए उत्सव होते हैं । इस प्रकार भक्तों के लिए मन्दिर ही एक अलग विश्व होता है, जहाँ से वे बाहर नहीं जाते । जाये भी कैसे, उनके आराध्य भी तो नहीं जाते । उस आराध्य को छोड़ कर जाना भक्ति के अभाव का द्योतक होता है । इसी लिए सूर ने श्रीनाथ जी के मन्दिर में हरिलीला गाने मे ही अपनी मुक्ति समझी, वे बाहर नहीं गए ।

तीसरी बात यह है कि कृष्ण के लोकरक्षक स्वरूप की ओर, महाभारत के कृष्ण की ओर, बल्लभाचार्य ने ध्यान तक नहीं दिया । इसीलिए सूर ने भी नहीं दिया । माधुर्य की उपासना में पौरुष के लिए स्थान ही कहाँ है । सूर की मथुरा तीन लोक ते न्यारी' थी । वे केवल मथुरा और कृष्ण मे ही सीमित होकर रह गए उनकी समस्त चेतना इसी मथुरा मे बन्दी हो गई । तुलसी की भाँति राजनीति, धर्म और समाज के मङ्गल की उन्हें नहीं थी । वे तो "तन-मन-धन गुरनई जी के अर्पण" वाले सम्प्रदाय में दीक्षित थे । उनकी मर्यादा सम्प्रदाय की थी, लोक या समाज की नहीं । उस सम्प्रदाय मर्यादा में जो जितना उठा वह उतना ही उच्चकोटि का भक्त हुआ । सूर भक्तराज थे । वे उन भक्ति के क्षेत्र में इतने गहरे पहुँच गए थे कि उन्हें

सम्प्रदाय तक का ध्यान नहीं था । इसलिए अष्ट छाप के कवियों में सूर को सबसे कम साम्प्रदायिकता मिलती है ।

सूर को रचना 'स्वान्तः सुखाय' थी । पुष्टिमार्गी भक्त भगवान की कृपा के अतिरिक्त अन्य साधनों में विश्वास नहीं करता । भगवान का अनुग्रह नहीं करता । भगवान का अनुग्रह ही उनका सर्वस्व है । इसलिए तन्मयता के क्षेत्र में केवल भक्त और उनके भगवान ही रह जाते हैं । भक्त को भगवान का चिन्तन करने में हो अपूर्व आनन्द मिलता है । भगवान अपने लोक को स्वयं ही सम्हाल लेंगे । भक्त को उसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता जहाँ अपनी सभी वृत्तियों में 'कृष्णार्पमस्तु' की दृढ़ भावना हो वहाँ समाज की ओर क्या देखना ? सूर ने तो सुन्दरता के संसार को अपने आराध्य में ही सब कुछ देख लिया था । उनके कृष्ण सामाजिक मर्यादाओं के भंजक थे । इसीसे उनकी सम्पूर्ण लीलाएँ सामाजिक मर्यादा के विपरीत थी । लीलाओं का आनन्द समाज के समक्ष कहाँ सम्भव था । गोपियाँ स्वयं इन मर्यादाओं को तोड़कर कृष्ण में सम्मिलित होती थीं । यदि सूर सामाजिक मर्यादाओं का ध्यान रखते तो उन्हें इन लीलाओं में इतना आनन्द कैसे आता ।

सूर के काव्य में समाज की उपेक्षा होने का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि सूर अन्धे थे । उनका संसार अत्यन्त सीमित था । वे स्वयं न तो यात्रा ही कर सकते थे और न संसार की भलाई बुराई को देखकर अनुभव ही कर सकते थे । तुलसी के समान न तो उनका अध्ययन ही विशाल था और न कबीरके समान वे अथक पर्यटक और बहुश्रुत ही थे । वल्लभस्वामी से भेंट होने के पूर्व वे गऊघाट पर भजन गाया करते थे । और फिर श्रीनाथ जी के मन्दिर में जा विराजे । मन्दिर का वातावरण सदैव कृष्णलीला से गुञ्जायमान रहता था समाज की विषमता वहाँ प्रविष्ट नहीं हो पाती थी । इसी से अन्धे सूर को ससार का अनुभव नहीं हुआ ।

आचार्य शुक्ल लोक और समाज की उपेक्षा का कारण बतलाते हुए कहते कि—"सब सम्प्रदायों के कृष्णभक्त और भागवत में वर्णित कृष्ण की बाल लीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा । महत्व की भावना में उत्पन्न

श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्म संस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी।.... उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई।.... ये अपने रूप में मस्त रहने वाले जीव थे, तुलसीदास जी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा था, इस बात की परवाह ये नहीं रखते थे।" अपना सम्प्रदाय, तन्मयता और एकाङ्गी दृष्टिकोण ने ही सूर को समाज से अलग रखा। सूर भक्तराज थे। भक्त की पूर्ण तन्मयता उनके पदों में मिलती है। इसी से "सूर भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुँच गये थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा।

प्रश्न ५—सूरदास की जीवनी का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिए। साथ ही उनकी काव्यगत विशेषताओं से भी परिचय कराइए।

उत्तर—महात्मा सूरदास की जन्म तिथि अभी तक संदिग्ध है। किम्बदन्तियों तथा अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी किसी सन्तोषजनक निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है। सूरदास के एक दृष्टिकूट के आधारपर वह चन्दवरदाई के वंशज सिद्ध होते हैं। इसमें सूर ने स्वयं को जगात कुल का ब्राह्मण माना है। मुन्शी देवीप्रसाद ने सूर को ब्राह्मण न मान कर 'भाट' माना है, जिसकी पदवी राय होती है। अन्तःसाक्ष्य से उनके जन्मांध होने का भी समर्थन नहीं होता। इतना अवश्य स्पष्ट है कि मृत्यु के समय वे अन्धे थे। सूरदास के पदों के आधार पर उनका जन्म सं० १५४० या उसके लगभग ठहरता है। भक्तमाल, चौरासी वैष्णव की वार्ता, आइने अकबरी, गोसाईं चरित आदि, जो बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत आते हैं, सूर पर प्रकाश डाला गया है। भक्तमाल में सूर काव्य की प्रशंसा है तथा 'वार्ता' में जीवन से सम्बंधित घटनाओं का निर्देश है। गोसाईं चरित के अनुसार संवत् १६१६ में सूर और तुलसी का मिलन बताया जाता है। इसी अवसर पर सूर ने अपना सूरसागर तुलसी को दिखाया था। 'भाव प्रकाश' नामक टीका के आधार पर, जो हरिराय ने लिखी है, सूर का जन्म १५४० में माना जाता

है। बाह्य साक्ष्य का मंथन-शोधन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सूरदास का जन्म संवत् १५४०, प्रसिद्धि संवत् १५८० और मृत्यु संवत् १६४२ होना चाहिए। इस प्रकार उनकी अवस्था १०२ वर्ष की प्रमाणित होती है।

कुछ आलोचक सूर को सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। सूर बल्लभाचार्य के शिष्य थे। पहले वे गऊ घाट पर विनय के पद गाया करते थे। महाप्रभु बल्लभ ने उनके भजनों से मोहित होकर उन्हे श्रीनाथ के मंदिर का प्रमुख गायक नियुक्त किया। उन्होंने गुरु के आदेश से श्री भागवत के आधार पर कृष्णलीला विषयक सवालाख पद बनाए जिनमें से अब तक छः सात हजार पद ही उपलब्ध हुए हैं। अन्त में संवत् १६२० के लगभग गोवर्द्धन के पास पारसोली नामक स्थान में उन्होंने शरीर त्याग दिया।

सूर का सर्वप्रधान ग्रन्थ 'सूरसागर' है। उनके नाम से पाए जाने वाले अन्य ग्रन्थों की संख्या लगभग ११ बताई है। दो ग्रन्थ सूरजदास के नाम से भी पाए जाते हैं। यदि उनको भी जोड़ लें तो कुल संख्या १३ हो जाती है। इन सब में सूरसागर ही प्रामाणिक माना जाता है। शेष ग्रन्थ या तो उसके रूपांतर हैं या उसी में से संगृहीत हैं। साधारणतः इनके पाँच ग्रंथ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) सूरसागर, (२) साहित्य लहरी, (३) सूरसारावली, (४) नल दमयन्ती, (५) व्याहलो। इनमें से केवल प्रथम तीन ही प्राप्य हैं, अंतिम दो अप्राप्य हैं। साहित्य लहरी में सूर के दृष्टिकूट पद संग्रहीत हैं। सूर सारावली एक प्रकार से सूरसागर की अनुक्रमणिका है। सूरसागर श्रीमद्भागवत का रूपांतर माना जाता है।

सूरसागर का रचना काल संवत् १५८७ के पश्चात् माना गया है। बल्लभ स्वामी का शिष्यत्व ग्रहण करने के उपरांत उन्हीं के आदेश से उन्होंने इसकी रचना की थी। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने इसे अपने जीवन काल में ही पूर्ण कर लिया था, जिसमें सवा लाख पद थे। सूरसागर में १२ स्कंध हैं। पहले स्कंध में अधिकतर विनय के पद हैं। दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध में कृष्ण का बाल जीवन वर्णित है जो माधुर्य और वात्सल्य भाव से ओतप्रोत है। इस स्कंध के विस्तार का कारण बल्लभ-सम्प्रदाय द्वारा

बाल कृष्ण की उपासना थी। इसी बालरूप की उपासना के कारण सूर कृष्ण के लोकरंजक रूप का ही चित्रण कर सके, कृष्ण का लोकरक्षक रूप सर्वथा उपेक्षित रहा।

नाभादास जी के भक्तिमाल में एक छप्पय सूर की महत्ता को प्रदर्शित करने को लिखा है। वह छप्पय इस प्रकार है—

उक्ति चोज अनुप्रास वरन् अस्थिति अतिभारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक भारी॥
प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन स्रवननि करै।
सूर कवित मुनि कौन जो नहि सिर चॉलन करै॥

इस पद में सूर की काव्य-सम्बन्धी सभी विशेषताएँ आ गई हैं।

संक्षेप में सूर की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) सूर ने वल्लभ सम्प्रदाय में मान्य कृष्ण के बाल जीवन को अपने काव्य का विषय बनाया है। वे इस क्षेत्र का कौना-कौना झाँक आए हैं। जन्म से लेकर बड़े होने तक बालक की एक-एक चेष्टा का विशद वर्णन किया है। मातृ हृदय का चित्रण उनकी प्रमुख विशेषता है—(२) शृङ्गार रस के दोनों पक्षो—सयोग वियोग की सभी दशाओं का चित्रण किया है। वियोग वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट है। (३) 'भ्रमरगीत' के गोपियो के उपालम्भ भावुको के लिए रस की खान है। उन्होंने प्रेम की ज्ञान पर तथा सगुण की निर्गुण पर विजय दिखाई है। (४) नेत्रो और मुरली पर उनकी अनेक मौलिक उद्भावनाओं से उनकी कवि दृष्टि एव प्रखर कल्पना का परिचय मिलता है। (५) कृष्ण की क्रीड़ा भूमि व्रज के प्रति उनका स्वाभाविक अनुराग है। वहाँ की प्रकृति के साथ सूर के हृदय का पूरा-पूरा मेल है। उन्होने प्रकृति के कोमल रूप को ही अधिक अपनाया है, रोद्र रूप को कम। (६) विनय और भक्ति के पदों में सूर के अन्तर की आध्यात्मिक भावना, विरक्ति और साधना का सुन्दर प्रदर्शन है। (७) जयदेव और विद्यापति की शैली मे सूर की रचना

गेय पदों में है। वहाँ विभिन्न राग रागनियों के अद्भुत दर्शन होते हैं। संगीत का सफल समावेश है। (८) व्यंग और हास्य सूर काव्य की शैली की विशेषता के साथ उसका प्राण है। ६) भाव और कला दोनों का चरम उत्कर्ष है। कहीं गूढ़ भावों को सरल भाषा में भर दिया है और कहीं अलङ्कारो की छटा से सजाकर उन्हें रक्खा है। (१०) कृष्ण चरित्र के वर्णन में तत्कालीन जीवन के प्रत्येक रीति-रिवाज का सुन्दर परिचय मिलता है। (११) सजीव भाषा लिखने में सूर अद्वितीय हैं। व्रजभाषा के चलते साहित्यिक रूप में ग्रामीण प्रयोग, मुहावरे तथा कहावतों का अच्छा प्रयोग किया है। (१२) उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलङ्कारों का विशेष प्रयोग किया है। (१३) उनका साहित्य युग का न होकर युग-युग का है। उसमें साम्प्रदायिकता का पूर्ण अभाव है। (१४) सूर की रचना भक्तों के लिए कण्ठहार होने के साथ-साथ प्रेमियों के लिए भी बहुमूल्य है। ऐसी तन्मयता पूर्ण रचना कृष्ण भक्त कवियों में अन्यत्र नहीं है।

प्रश्न ६—"रस-निरूपण-पद्धति में बाह्य प्रकृति को आलम्बन नहीं बनाया गया है। वह केवल उद्दीपन के रूप में वर्णन की गई है।" इस कथन के आधार पर सूर के काव्य की विवेचना कीजिए।

उत्तर—महा कवि सूर ही भक्ति काल के ऐसे कवि है जिन्होंने प्रकृति वर्णन में सबसे अधिक रुचि दिखाई है। इसके तीन कारण हैं—एक तो यह कि उनके आराध्यदेव की क्रीड़ा स्थली व्रजभूमि रही है, जो अपनी प्राकृतिक सुषुमा के लिए विख्यात है। यह सत्य है कि कृष्ण मथुरा गए, द्वारका बसाई, हस्तिनापुर और कुरुक्षेत्र में पराक्रम का प्रदर्शन करते रहे परन्तु सूर को कृष्ण का वह किशोर रूप ही भाया, जिसका विकास व्रज में यमुनातट के निकट कुंजों में हुआ। दूसरा कारण यह है कि स्वयं सूर व्रज के निवासी थे, जिससे उन्हें इस प्रदेश की प्रकृति से स्वाभाविक अनुराग था। तीसरा कारण यह है कि आचार्य बल्लभ ने श्री नाथजी की स्थापना इसी प्रदेश के अन्तर्गत की थी, जिसके कारण लीला गान में बराबर प्रकृति का सहारा लिया जाता रहा। इस प्रकार देखा जाय तो सूर के काव्य में प्रकृति का बहुमुखी व्यक्तित्व देखने को मिल सकता है। किन्तु

यहाँ हमारा अभीष्ट सूर के उस प्रकृति वर्णन से है, जो उन्होंने उद्दीपन रूप में किया है।

सूर ने शृङ्गार रस के सयोग और वियोग दोनों पक्षों में प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन किया है। राधा कृष्ण के सयोग की जितनी भी लीलाएँ हैं वे सब ब्रज के मधुर प्राकृतिक वातावरण में ही होती हैं। अँधेरी रात है। बिजली चमक रही है। भयङ्कर वर्षा होने लगी है, पवन झकझोरने लगा है। दोनों के अङ्ग पुलकित होने लगे हैं। मदन जग गया है, नए द्रुम पुंजों के कुंजों में राधा और कृष्ण विलास करने लगे—

गगन गरजि गहराइ जुरी घटा कारी।
पवन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर॥
सुवन तन चितै नन्द डरत भारी।
कह्यौ बृषभानु की कुँवर सों बोलिकै॥
राधिका कान्ह घर लिए जारी।
दोउ घर जाहु संग, नभ भयो॥
स्याम रंग कुँवर नह्यौ है बृषभानु बारी।
गए वन और नवल नन्द किशोर,
नवल राधा नए कुंज भारी।
अंग पुलकित भए तिनतन—
जपे सूर स्याम स्याम बिहारी॥

इसके बाद अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब ब्रज के लता कुंज और उनकी ऋतुएँ राधा-कृष्ण के मिलन के साधन जुटाती हैं। कृष्ण लीला का अधिकाश भाग ग्राम के बाहर कालिन्दी तट पर बसे हुए लता कुंजों में होता है। संयोग के समय प्रकृति राधा माधव के आनन्द में वृद्धि करती है। ऋतुओं में परिवर्तन के साथ लीला का प्रसङ्ग भी बदलता है। शरद ऋतु में उसका स्वरूप देखिए—

आज निशि शोभित शरद सुहाई।
शीतल मंद सुगंध पवन बहै रोम रोम सुखदाई॥

यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि रचि मंडली बनाई।
राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥

गोवर्द्धन लीला के प्रसङ्ग में 'भय' के उद्दीपन रूप में मेघ की घन घोर घटाओं का चित्रण देखिए—

ऐसे बादर सजल करत अति महाबल,
चलत घहरात करि अन्ध काला।
चकित भए नन्द सब महर चकित भए,
चकित नर नारि करि हरि ख्याला॥
घटा घनघोर घहरात अररात अति,
दररात सररात ब्रज लोग डरपैं।
तड़ित आघात तररात उतपात भुवि,
नर नारि सकुचित तनु प्राण अरपैं॥

संयोग के वर्णन में उद्दीपन रूप में वर्षा और शरद के अतिरिक्त वसन्त का भी वर्णन हुआ है—

कोकिल बोली, बन-बन फूले मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयो भोर, टोर बंदिन को मदन महीपति जागे॥

वियोग के समय भी कवि इन्हीं प्राकृतिक दृश्यों को सामने लाता है। जो प्रकृति अपनी सुन्दरता के कारण संयोग में आनन्द की सृष्टि करने वाली थी, वहाँ अब वियोग में दुखदायी हो गई। चांदनी रात भी प्रियतम के वियोग में नागिनि सी जान पड़ती है—

पिया बिनु नागिनि कारी राति।
कबहुक जामिनि होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥

इसी प्रकार गोपाल के वियोग में कुञ्ज बैरिन हो गई हैं; शीतल लताओं से अग्नि की लपटें निकलती हैं, यमुना जल का बहना कमल का फूलना, भौंरों का गूँजना सब कुछ व्यर्थ है। पवन पानी, कपूर भी व्यथा शान्त करने में असमर्थ हैं। चन्द्रमा की किरणें, भानु की किरणें बन जला रही हैं, मार्ग देखते देखते आँखें गुंजासी लाल हो गई हैं—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं ।।
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार संजीवन दधिसुत किरन भानु भई भुंजैं ।।
ये ऊधो कहियो माधव सौं विरह करद करि मारति लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई वरन ज्यौं गुंजैं ।।

शृङ्गार रस के निरूपण में प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन सूर ने अत्यन्त रुचि के साथ किया है। किन्तु सूर की विशेषता इतने में ही नहीं है। सूर को विशेषता तो इसमें है कि उन्होंने प्रकृति को गोपियों के हृदय का दर्पण बना दिया है। कालिन्दी यदि काला है तो श्याम के विरह से काली है, पपीहा चिरंजीवी हो तो इसलिए कि वे रात दिन नाव लेकर बोलते रहा करते हैं और विरह ज्वार में काला पड़ गया है। पशु पक्षी भी कृष्ण के विरह के कारण उल्लास रहित हैं, ब्रज की शोभा ही जाती रही है। कृष्ण के वियोग में प्रकृति की क्या अवस्था है यह नीचे की पंक्तियों में देखने से पता चलता है—

नाचत नाहीं मोर ता दिन ते बोलेन वर्षा काल।
मृग दूवरे तुम्हारे दरस बिनु सुनुत न वेणु रसाल।
वृन्दावन हर्यौ होत न भावत देखो श्याम तमाल ।।

सूर की राधा और यशोदा की भाँति सूर की प्रकृति भी कृष्ण के सयोग में पूर्णतः सयोग और वियोग में पूर्णतः वियोग का अनुभव करती है। वियोग में उसका रूप और भी खिल जाता है क्योंकि तब वह हमारे अधिक निकट आजाती है।

प्रश्न ७—'हृदय के पारखी सूर ने सम्बन्ध भावना की शक्ति का अच्छा प्रसार दिखाया है।' इस पर अपना विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—सम्बन्ध भावना की शक्ति के प्रसार से अभिप्राय उस मानसिक प्रतिक्रिया से है जो अपने प्रिय से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति होती है। कृष्ण गोपियों के प्राणवल्लभ हैं उनसे सम्बन्धित मुरली उद्धव कुब्जा आदि

के सम्बन्ध में गोपियों ने रीझि या खीझ कर जो बातें कहीं हैं उन सबका समावेश सम्बन्ध भावना की शक्ति के प्रसार के अन्तर्गत आवेगा। सूर हृदय के सच्चे पारखी थे इसलिए गोपियों द्वारा उनके आराध्य कृष्ण से सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ कहलाया है उससे गोपियों की मनोदशा का अच्छा परिचय मिल जाता है। सूर का मनोविज्ञान यहाँ अपने अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है।

मुरली कृष्ण के अधरों का रस पीती है और क्षण भर के लिए भी अलग नहीं होती। यह देखकर गोपियाँ उसे सौत समझती हैं। सौतिय डाह से बेचैन होकर गोपियाँ कहती हैं—

अधर रस मुरली लूटन लागी।
जा रस के षटऋतु तप कीन्हों सो रस पीवत अभागी।
कहाँ रही कहँते है आई कौसे वाहि बुलाई।
सूरदास प्रभु हम पर ताकें, कीन्हीं सौति बजाई॥

फिर मुरली सौत ही नहीं है एक कुलटा स्त्री भी है। उसने कृष्ण को मोहित ही नहीं किया उनका सर्वस्व ही हर लिया है। उनकी ऐसी दशा कर दी है कि वे एक पैर से कमर झुकाए खड़े रहते हैं और यह मुरली उनकी अधर सेज पर पौढ़ी हुई उनसे पैर दववाती है। उसे इतने ही से सन्तोष नहीं होता हमसे क्रोध भी कर वाती है।

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनरी सखी यदपि नन्द नन्दहि नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाँइ ठाढ़ौ करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अङ्ग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति॥
अति अधीन सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सैया पर करसों पद पलुटावति॥
भ्रकुटि कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोप कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छुन अधर सुसीस डुलावति॥

और वे यह सब सहन न करने के कारण चाहती हैं कि मुरली को चुरा लिया जाय। क्यों नहीं चुरावें? इसी ने कृष्ण को उनसे अलग कर

रखा है। वे कभी भी इसे छोड़ते नहीं हैं। यदि कभी अधरों से हटाली तो कटि में खोंसली। इसने कृष्ण पर जादू कर दिया है। इसीलिए वे इसे चुरा कर रख लेना ही अच्छा समझती हैं।

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गोपाल अपने वस कीन्हें प्रीति सबनि की तोरि॥
छिन इक घर-भीतर निसि वासर धरत न कबहूँ छोरि।
कबहूँ कर कबहूँ अधरनि कबहूँ कटि खोसत जोरि॥
ना जानौं कछु मेलि मोहिनी राखे अँग अँग चोरि।
सूरदास प्रभु को मन सजनी बँध्यो राम की डोरि॥

जब उद्धव ज्ञान का सन्देश लेकर मथुरा जाते हैं तब गोपियाँ उनसे सब कुछ कहती हैं। भ्रमर के रूप में उन्होंने उद्धव को सब प्रकार की खरी खोटी सुनाई हैं—

मधुकर तुम रस लम्पट लोभा।
कमलकोस रहत निरंतर हमहि सिखावत जोगा॥
अपने काम फिरत ब्रज अन्तर निमिष नहीं अकुलात।
पहुप गए बहुरै बेलिन को बहुरि न नेरे जात॥

तुम वस्तुतः ठग हो। हम तुम्हारी सभी बाते जानती हैं। तुम ब्रज में बिना कार्य आए हो और कटु बचन बोलकर हमें सताते हो। तुम्हारे मित्र ने तो दासी को घेर लिया है और तुम बाते बनाते हो। तुम सभी बड़े निर्लज्ज हो ढीठ हो—

ऊधो बात तिहारी जानी।
आए हो ब्रज को बिनु काजहि कहत हृदय कटु बानी॥
दासी घेर रहे हरि तुम यहाँ गढ़ि गढ़ि बात बनाई।
निपट निर्लज्ज अजहुं न चलत उठि, कहत सूर समुझाई॥

इसी प्रकार—

मधुकर जानत है सब कोऊ।
जाके तुम हो और मीत तुम्हारे गुननि निपुन हौ दोऊ॥

पाके चोर हृदय के कपटी कपटी तुम कारे औ बोऊ ॥

× × × ×

ऐसे ही जन दूत कहावत।
वचन कठोर कहत कहि दाहत अपनी कहत गवाँवत।
आपुन निलज रहत नख शिख तौ ऐसे पर पुनि ग्यावत।
सूर करत परसंसा अपनी, हारेहु जीति कहावत ॥
विलगि जनि मानहु ऊधौ प्यारे।
वे मथुरा काजर की कोठरी जे आवहिं ते कारे ॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे मधुप भँवारे।

सम्बन्ध भावना के कारण श्याम की भेजी हुई पत्री को राधिका अपने हाथ से लेती है तो उसकी क्या दशा हो जाती है यह नीचे के पद से स्पष्ट हो जायगी—

निरखत अंक श्यामसुन्दर के बार बार लावति जाती।
लोचन-जल कागद मसि मिलिकै है गई स्याम स्याम की पाती ॥

इसी प्रकार कुब्जा को भी खरी खोटी सुनाती हुई कहती हैं कि जीवन तो उस मुँह चाही का ही अच्छा है जो प्राण प्रिया का सान्निध्य पाकर रात दिन आनन्द मनाती है—

जीवन मुँह चाही कौ नीकौ।
दरस परस दिन राति करति है प्राण पियारे पीकौ ॥

कभी कुब्जा की बनावटी प्रशसा करके भी अपने अन्तर का क्षोभ प्रकट करती हैं—

बरु वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधौ मो कछुक सिरात हियो ॥
सूर तनिक चन्दन चढ़ाइ तन ब्रजपाति वस्य कियो।

उद्धव जो संदेश उद्धव लाए हैं उसके सम्बन्ध में उनका विश्वास है कि वह कृष्ण का नहीं कुब्जा का है—

मधुकर कान्ह कही नहिं होही।
यह तो नहीं सखी सिखई है निज अनुराग वटोही॥
सचि राखी कूवरी पीठि पैये बातें चक चोही।

सूरदास में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें सम्बन्ध भावना की शक्ति का प्रसार दिखाया गया है। सूर की व्यंग्य और उक्तिभरी शैली के लिए इस प्रकार के पदों का महत्त्व है। निस्संदेह इनसे पता चलता है कि सूरदास जी को हृदय की बड़ी परख थी। तभी तो उन्होंने इन सम्बन्ध भावनाओं को व्यक्त करने के लिए ऐसी ऐसी बातें कहीं हैं किन्तु उनमें अस्वाभाविकता कहीं भी नहीं आ सकती है सर्वत्र स्वाभाविकता प्रसरित है यही कारण है कि सूर की कविता प्रत्येक के मर्म को स्पर्श करने में बड़ी ही कुशल है। वस्तुतः बात भी कुछ अजीव नहीं है। सूरदास ने अपने हृदय की स्वाभाविक भावनाओं और अनुभूतियों को स्वाभाविक रूप से जो व्यक्त किया है। इसीलिए वह अत्यन्त सफल हुए हैं अपनी लक्ष्य प्राप्ति में और अपने उद्देश्य की पूर्ति में।

प्रश्न ८—सूर की रचनाओं ने जीवन और साहित्य को किस परिमाण में प्रभावित किया है?

उत्तर—महात्मा सूरदास का व्यक्तित्व तुलसीदास से नितान्त भिन्न था। उन्होंने तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोक व्यापिनी दिशाएँ अपने वर्णन में नहीं ली थीं। उन्होंने शक्ति, शील और सौन्दर्य भगवान् की इन तीनों विभूतियों में से केवल सौन्दर्य तक ही अपने को सीमित रखा है, जो प्रेम को आकर्षित करता है और फिर पारिवारिक और सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्ण चरित्र का जो थोड़ा बहुत सम्बन्ध दिखाई पड़ता है उसका सम्यक निर्वाह भी नहीं हो पाया है। इसलिए उनका प्रेम पक्ष लोक से न्यारा है—एकांतिक है। उसमें लोक धर्म के किसी भी अंग की साधना नहीं है। यह जीवन को बहुत कम अंशों में प्रभावित करता है। वास्तव में बात भी ठीक है वे न सुधारक थे न ज्ञानमार्गी साधक। किसी को कुछ सिखाने का भी मान उन्होंने नहीं किया है। वे कभी भी किसी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति विशेष के प्रति कटु नहीं हुए।

यद्यपि यह उनके सरल स्वभाव का ही परिणाम है किन्तु वे कबीर की भाँति लांच्छित समाज से नहीं आये थे—ऐसे समाज से जिसमें गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा अधिक कठिन था। सूरदास ऐसे समाज मे पले थे जिनका गृहस्थ जीवन विलासी था, मिथ्याचार और फरेब से पूर्ण था। वह यौवन-मद, धन-मद, जन-मद, बुद्धि-मद आदि का जीवन था। दूसरे शब्दों में वे तुलसीदास जी की भांति दृढ़ चेता सेनानायक नहीं थे जो समाज की कुरीतियों को नष्ट कर सके, वे नन्ददास की तरह ऐसे तार्किक भी नहीं थे जो अन्य विद्वानों की युक्तियों को अपने अकाट्य तर्कों के द्वारा समाप्त करदें। सूरदास जी केवल श्रद्धालु भक्त थे जिनको कृष्ण लीला भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ सोचने का अवकाश ही कहाँ था। इसलिए सूरदास जी में सामाजिक जीवन को प्रभावित कर देने वाली बात तो कहीं ठहरती ही नहीं थी। किन्तु उनका अपना व्यक्ति अपना है।

यह तो माना ही जा सकता है कि सूरदास के साहित्य ने अवश्य प्रभावित किया है। उन्होंने साहित्य में ऐसे मार्ग का खोज निकाला जिसमें वास्तविकता थी, गहराई थी, ऐसा मार्ग जिस पर सूरदास स्वयं तो लगा ही हुआ था साथ ही अपने परवर्ती लोगों को भी अपनी ओर आकर्षित किया और तब से अब तक यही कृष्ण काव्य आगे बढ़ती गई। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी। यद्यपि बल्लभाचार्य से मिलने से पहले ये दास्य भाव की उपासना करते थे किन्तु वे बालक हृदय लेकर जो पैदा हुए थे और अन्त तक उसी में उन्होंने अपनी यात्रा पूरी की। बल्लभाचार्य के संसर्ग में आने पर उन्होंने लीलागान करने को दीक्षा ली थी। बल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवाद के प्रवर्तक थे जिसमें साधक को भगवान् की कृपा का अधिक बल रहता है अपेक्षाकृत अपनी साधना के। यह पुष्टिमार्ग की उपासना कहलाती है। सूरदास ने इस पुष्टिमार्ग को आगे प्रशस्त किया। विट्ठलनाथ जी द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों में सूरदास जी सर्वप्रथम थे। शुक्ल जी ने लिखा है "आचार्य की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने के लिए उठीं जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झङ्कार अन्धे कवि सूर की वीणा की थी।" उन्होंने अपने हृदय की कोमल वृत्तियों

की अभिव्यक्ति के लिए भगवान् का प्रेममय रूप ही लिया है। इन्होंने मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण माधुर्य पक्ष को हमारे समक्ष प्रस्तुत कर जीवन के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न किया है, जिसके द्वारा जीने की चाह ने निराश जनता के अन्दर आनन्द की एक नई हिलोर उत्पन्न की।

सूर ने बाल्यकाल और यौवनकाल की नाना मनोरम परिस्थितियों से उन्मुक्त चित्रण द्वारा जीवन की भव्यता को रमणीय रूप में सजा कर रखा है। वे वात्सल्य और शृङ्गार के एकछत्र सम्राट हैं। इन दोनों क्षेत्रों का जितना सुन्दर चित्रण "सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया है उतना किसी और कवि ने नहीं। वास्तव में इन क्षेत्रों का वे कोना कोना झाँक आए हैं।" उन्होंने रतिभाव के तीनों रूपों को तो भगवद् विषयक रति, वात्सल्य रति और दाम्पत्य रति के रूप में लिया है साथ ही उन्होंने और रसों में अपनी कला का प्रदर्शन किया है। पहले हम एक दो वात्सल्य के उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि ऐसा वात्सल्य वर्णन किसी साहित्य में किसी भी कवि द्वारा नहीं किया गया है—

१—शोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेनु तनु मण्डित, मुख दधि लेप दिए॥
२—मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहत बल की बैनी ज्यों ह्वै है लाबी मोटी॥
३—खेलन में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति पाँति हमतैं कछु नाहीं, न बसत तुम्हारी छैयाँ॥
अति अधिकार जनावत यातै अधिक तुम्हारे गैयाँ।

यही क्यों मैया यशोदा के हृदय का वर्णन भी कितना सजीव किन्तु अद्वितीय है। उन्होंने यशोदा के हृदय का चढ़ाव उतार कितने मार्मिक रूप में अङ्कित किया है—

१—'सूर श्याम मो गोधन की सूँ हौ माता तू पूत"—मे यशोदा का कृष्ण पर पूर्ण अधिकार प्रकट हो रहा है किन्तु—

२—"है कोउ ब्रज में हितू हमारो।

× × ×

.... चलत गुपालहिं राखै" में अधिकार में कमी आ जाती है। यशोदा कृष्ण को मथुरा जाने से रोकने में दूसरों का सहारा टटोलती है क्योंकि अब कृष्ण पर न केवल यशोदा माता का ही अधिकार है वरन् सभी समाज का अधिकार होता जारहा है और उससे आगे—

३—'संदेशौ देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तुम्हारे सुत की दया करत नित रहियो।'

में आत्म समर्पण है। यहाँ तक यशोदा यह समझ जाती है कि अब तक कृष्ण पूर्ण समर्थ हैं। अब उनका उत्तरदायित्व बढ़ चुका है। अब समाज का ही उन पर पूरा पूरा अधिकार है। ऐसी अवस्था में वे अपने स्नेह के बन्धन में कृष्ण को बाँध कर कर्तव्यच्युत नहीं करना चाहती। इसीलिए वे तटस्थता लाने के लिए अपने को 'धाय' कहने में ही सन्तोष पा लेती हैं।

सूर का शृङ्गार वर्णन भी अद्वितीय है। "सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है।

बालक्रीड़ा के सखा सखी यौवनक्रीड़ा के सखा सखी हो जाते हैं। राधा और कृष्ण प्रेम का आरम्भ सूरदास ने रूप के आकर्षण से ही किया है—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गए श्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल, भाल दिए रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन मिले मिलि परी ठगोरी॥

यह संयोग शृंगार का प्रारम्भ है। आगे यह संयोग अधिक प्रगाढ़ होता जायगा तभी तो वह अवस्था आएगी जिसे वियोग कहते हैं। कृष्ण और राधा का आपस में परिचय होता है—

बूझत श्याम कौन तू गोरी।
"कहाँ रहत, काकी तू बेटी, देखी नाहिं कबहुँ ब्रजखोरी ॥"
"काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी ॥"
सुनति रहति स्रवनन नन्द ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी ॥
तुम्हारो कहा चोर हम लै हैं? खेलन चलौ संग मिलि जोरी ॥"
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी ॥

राधा और कृष्ण का साथ अब तो बन में भी हो जाता है। राधा कृष्ण के घर भी आती है और यशोदा उस पर सन्देह करके उसे आने से बरजती है—"बार-बार तू ह्याँ जनि आवै।" उस उत्तर में राधा द्वारा कृष्ण की रति का कितना उत्कृष्ट अङ्कन किया गया है—

मैं कहा करौं सुतहि नहि बरजति घरते मोहि बुलावै ॥
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान ॥
छोह लगत मोको सुनि बानी, महरि तिहारी आनि ॥

कितना सुन्दर और पूर्ण चित्रण है जिनमें आलम्बन और उद्दीपन दोनों पक्षों का कितना स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार के सैकड़ों पद हैं। मुरली के विषय में कहे गए पद भी सब संयोग शृंगार के हैं।

वियोग में भी सूर की वृत्ति उससे कम नहीं रमी है। उसमें भी मार्मिक से मार्मिक वर्णन मिलते हैं। सम्पूर्ण भ्रमरगीत ही वियोग शृंगार का उत्तम उदाहरण है। इन्होंने वियोग की सभी अन्तर दशा का रूप दिया है। विरह के आवेश में आकर गोपियाँ मधुवन से किस प्रकार कहती हैं—

मधुवन तुम कत रहत हरे!
विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे।

बरसात में रात उन वियोगिनियो को साँपिन-सी लगती है। सांपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काट कर उलट जाती है, जिससे उसका सफेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अँधेरी रात में कभी-कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह ऐसी ही लगती है—

पिया बिन नागिन काली रात।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटो ह्वै जाति ॥

तथा कभी बादल कामदेव की सैना कल्पित किए गए हैं—

१—देखियत चहुँ दिसितें घनघोर।
मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बन्धन तोरे ॥

२—वरु ये बदराऊ बरसन आए।

३—हौं तो मोहन के बिरह जरी रे! तू कत जारत?

सूरदास में अलङ्कारों का विधान बहुत सुन्दर और स्वाभाविक है। वर्ण्य विषय की परिमति के कारण वस्तु विन्यास का जो सङ्कोच सूर की रचना में दिखलाई पड़ता है उसकी बहुत कुछ कसर अलङ्कार से पूरी की। रूपक को तो उन्होंने बड़े ही सुन्दर ढंग से सजाया है। उसमें बड़ी अनूठी-अनूटी उक्तियाँ हैं जो सूर के हृदय की भावुकता, कोमलता और स्वाभाविकता को व्यक्त करती हैं।

भाषा की दृष्टि से भी सूर उत्तम है। उनकी भाषा व्रज की चलती बोली होने पर भी साहित्यिक भाषा के रूप से मिलती है जिसमें अन्य प्रान्तों के कुछ प्रचलित शब्दों और अव्ययों के साथ पुरानी काव्य भाषा अपभ्रंश के शब्दों को भी लिए हुए है। उनकी भाषा एक व्यापक काव्य भाषा थी। भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण लीला का वर्णन करते हुए सूरदासजी के सवा लाख पद लिखे हुए बताए जाते हैं लेकिन दस हजार से अधिक नहीं मिलते हैं। ये दस हजार भी सूर की प्रतिभा के परिचय के लिए कम नहीं हैं। उन्होंने जयदेव और फिर विद्यापति से चली आई हुई गेय पदों की शैली में अपनी कविता लिखी जिसका अनुकरण पीछे के सभी कवियों ने किया। उन्होंने भ्रमरगीत के प्रसंग की एक नई सृष्टि करके हिन्दी साहित्य को बड़ा प्रभावित किया और पश्चात् कितने ही लोगों ने उसी आधार पर लिखने का प्रयास किया। अपनी अनूठी उक्तियों से हिन्दी साहित्य पर सूर ने बड़ा प्रभाव जमा रखा है। इस प्रकार सूर ने हिन्दी साहित्य को प्रभावित भी किया और उसको सम्पन्न भी बनाया।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिए कि सूर वात्सल्य क्षेत्र के सम्राट हैं।

उत्तर—कहा जाता है कि बाल-मनोविज्ञान का जैसा अनुभव सूर को था वैसा ससार को किसी भी कवि में नहीं पाया जाता। सूरकाव्य का श्रेष्ठतम भाग वह माना जाता है जहाँ उन्होंने कृष्ण की बाल लीला का वर्णन किया था अथवा गोपियों की विरह व्यथा का चित्रण किया है। दोनों ही क्षेत्रों में सूर अपूर्व हैं। बाल कृष्ण की विस्तृत लीला का वर्णन करने का कारण वल्लभ-सम्प्रदाय की बाल उपासना थी। सूर की बाल लीला का प्रारम्भ कृष्ण जन्म की आनन्द बधाई के उपरान्त हो जाता है। इस जीवन का चित्रण सूर ने इतनी बारीकी से किया है कि सहसा यह विश्वास करना असम्भव हो जाता है कि यह एक जन्मान्ध कवि द्वारा वर्णित है। शैशव से लेकर कौमार्यावस्था तक बाल्य-जीवन के अनेक चित्र सूर ने दिए हैं। उन चित्रों को हम सामान्य रूप से चार भागो मे बाँट सकते हैं—१—रूप वर्णन, २—चेष्टाओं और क्रीड़ाओं का वर्णन, ३—अन्तर्भाव, ४—संस्कारो, उत्सवों और समारोहों का वर्णन।

रूप वर्णन में कृष्ण के सौन्दर्य की उद्भावनाएँ की हैं। चेष्टाओं और क्रीड़ाओं का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और हृदयग्राही है—"सिखवत चलन जसोदा मैया। अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरै पैया।" स्वभाव चित्रण द्वारा रसोद्रेक मे तो सूर अद्वितीय हैं। उन्होंने पग पग पर अन्तर्भावों का चित्रण किया है। "मैया कबहि बढ़ैगी चोटी" वाले पद में स्पर्द्धा की कितनी सुन्दर व्यंजना मिलती है। इसी प्रकार "खेलत में को का को गुसैंया" वाले पद में बाल-क्षोभ का साकार चित्र मिलता है। गोचारण और माखन चोरी के प्रसंग में कृष्ण के स्वभाव के और भी चित्र हैं। 'मैया मेरी मैं नहि माखन खायौ" वाले पद से बालक कृष्ण की प्रत्युत्पन्नमति का सुन्दर परिचय मिलता है। वह "ख्याल परे ई सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो" कहकर अपना दोष दूसरो पर मढ़ देते हैं। "देखि सखी अधरन की लाली" तथा "नटवर वेष काछे स्याम" आदि पदों में उन्होंने श्याम सौन्दर्य की सफल और पूर्ण अभिव्यक्ति की है। जब 'नटवर वेष काछे" श्याम आते हैं तो "चितवन रोके हू" नहीं रुकती, और जब वे "मुरली अधर" पर धरते हैं तो "गृह व्यवहार" और "आरज पथ"

थक जाते हैं और गोपियों को कृष्ण की ओर उन्मुख होने में कोई शङ्का नहीं रहती।

सूर के बाल वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने यशोदा के मातृ हृदय का अत्यन्त आल्हादित एवं कारुणिक चित्र खींचा है। "जसोदा हरि पालने झुलावै" तथा लोरियाँ गा गा कर बच्चे को सुलाती है। और "सुत मुख देखि यशोदा फूली" और उस आनन्द में हाथ बटाने के लिए "बाहिर ते तब नन्द बुलाए, देखो धौ सुन्दर सुखदायी।" कालियदमन, गोवर्धन लीला और मथुरागमन के समय के किशोर कृष्ण के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। सूर ने अपने बालवर्णन में अध्यात्म और भक्ति का अपूर्व मिश्रण किया है। अनेक अद्भुत एवं मानव के लिए असम्भव कार्य करते हुए बाल-कृष्ण माता के लिए पुत्र ही रहे आते हैं—भगवान नहीं। इस कारण यशोदा की तन्मयता है। इसी तन्मयता के कारण यशोदा कृष्ण के राधा तथा गोपियों के प्रेम सम्बन्ध पर या तो विश्वास ही नहीं करती या उपेक्षा करके रह जाती हैं। सूर ने कृष्ण के बाल जीवन के किसी भी अंग को अछूता नहीं छोड़ा है। इस स्थान पर कवि की तन्मयता देखते ही बनती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि इस जीवन का वर्णन करते हुए अघाता नहीं इसी कारण बारबार एक ही प्रसंग को नित्य नवीन ढंग से दुहराता चला जाता है। यह कवि की तन्मयता की पराकाष्ठा है।

संक्षेप में सूर वात्सल्य रस के सम्राट हैं। कहा जाता है वे स्वय वयः प्राप्त बालक थे। बाल स्वभाव चित्रण में वे एक प्रकार का अपनापन अनुभव करते जान पड़ते हैं और ठीक उसी प्रकार मातृ हृदय का मर्म भी समझ लेते। उन्होंने केवल कृष्ण के ही बालस्वभाव का वर्णन नहीं किया है अपितु राधा की बाल क्रीड़ा को भी समान रूप से आकर्षक बनाया है। राधा और कृष्ण का सारा प्रेम व्यापार बालकों का प्रेम व्यापार है।

प्रश्न १०—सूर के रास और मुरली के महत्त्व को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर—"रास" शब्द रस से बना है। "रसौ वै सः" अर्थात् भगवान

स्वय रसरूप हैं—आनन्द रूप है। अतः रास का अर्थ हुआ आनन्द का अनुभव करना। बगीय वैष्णवों का कथन है कि जिस प्रकार केन्द्र में सूर्य है और उसके चारों ओर समस्त ग्रह-उपग्रह चक्कर लगा रहे हैं और सूर्य की आकर्षण शक्ति इन्हें परस्पर सम्बद्ध रखती है, गिरने नहीं देती वैसे ही रास लीला में कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य है और राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह तथा उपग्रहो के रूप में हैं। कुछ विद्वान रासलीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में करते हैं। उनका कथन है कि यह विश्व नृत्य है। आकाश में फैली अनन्त शब्द ध्वनियाँ डमरू की ध्वनि हैं और शिव के पद की सम-विषम गति लास्य और ताडव नृत्य को जन्म देरही हैं। एक दूसरा विचार यह है कि रासलीला शुद्ध अध्यात्म क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा हैं और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव हैं। वृन्दावन सहस्र दल कमल है। यही आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। वैष्णव धर्म की आनन्द भावना के अनुसार यह मत ठीक है क्योंकि आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं। गोपिकाएँ उन्हीं मुक्त जीवो की प्रतीक हैं। वे रासलीला मे कृष्ण के साथ क्रीड़ा करती है। इसके अतिरिक्त सूर का कथन है कि रास एक गाधर्व विवाह है जिसमें राधा और अन्य गोपियो के साथ कृष्ण का आध्यात्मिक सयोग और सारुप्य होता है।

मुरली का कृष्ण से घनिष्ट सम्बन्ध है। उसकी ध्वनि से जड़ चेतन मुग्ध हो जाते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में विद्वान् उसके शब्द को ब्रह्म मानते है। कुछ लोग मुरली को लीला का रूप देते हैं। भक्त नाम जपते जपते अन्तस्तल में जो ध्वनि सुनता है उसी का नाम मुरली है। हठयोग में कुण्डलिनी की शक्ति के जागृत होने पर जो स्फोट और नाद होता है उसे भी वंशी की ध्वनि के समान बताया गया है। वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में वंशी ध्वनि के सम्मुख लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख व्यर्थ हैं। 'वेणु' में तीन अक्षर हैं—व+इ+णु। 'व' ब्रह्मसुख का द्योतक है। 'इ' सासारिक सुख को प्रकट करती है। इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'णु' अर्थात् मात करने वाली है वह है वेणु। बल्लभार्य के अनुसार जब किसी को भगवान

का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है तब उसे वंशीध्वनि सुनाई देने लगती है। वहाँ मुरली की ध्वनि ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्रदायिनी है। यही मुरली रास-विलास में सर्वत्र विद्यमान रही है। कृष्ण परब्रह्म हैं और मुरली उनकी योगमाया है, जो अपने गम्भीर और आकर्षक स्वर से समस्त जीवों का आह्वान करती है। मुरली के इस नाद पर गोपियाँ ही मोहित नहीं थी अपितु अपने नाम रूप मुरली पर स्वयं कृष्ण भी मोहित हैं। यह मुरली नाम शाश्वत है।

प्रश्न १०—गीति काव्य का लक्षण बताते हुए सूरदास के गीतकाव्य का परिचय दीजिए।

उत्तर—जब हमारी व्यक्तिगत अनुभूति भावावेश में संगीतमय होकर कोमलकान्त पदावली के माध्यम से व्यक्त होती है तो उसे गीत कहते हैं। गीत व्यक्तिगत सीमा में सुख दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। भारतीय साहित्य में प्रत्येक काव्य गेय माना गया है अंग्रेजी में गीत को लिरिक कहते हैं। संक्षेप में गीतिकाव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं १—संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति, २—अन्तर्जगत का चित्रण, ३—संक्षिप्त से व्यक्त सहज स्फुरित उद्गार, ४—कोमल कान्त-पदावली। गीतिकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सामवेद तथा उपनिषदों की स्तुतियों और बौद्धों की धार्मिक गाथाओं तक में गीतिकाव्य की छाया मिलती है। जयदेव ने दीर्घकाल पश्चात् इसे पुनः प्रवाहित किया और विद्यापति से होती हुई यह सूर तक चली आई।

सूरदास ने यद्यपि इस परम्परा को ग्रहण जयदेव और विद्यापति से किया था परन्तु प्रतिभा और मौकिकता द्वारा इन्होंने गीतिकाव्य को बहुत ऊँचा उठाया। उन्होंने उस परम्परित शैली को सगुण पदों के गायन द्वारा और भी उन्नत और परिष्कृत किया। सूरकाव्य सङ्गीत से परिपूर्ण है। राग रागनियों में पद लिखे। तान पूरे पर अन्धे गायक ने न जाने कितनी रागरागनियाँ छेड़ीं। उनमें से बहुतों का तो सङ्गीत शास्त्र में नाम तक नहीं मिलता। साहित्य और सङ्गीत का ऐसा अपूर्व मिलन अन्यत्र दुर्लभ है। सूर ने अपने

गीतों में वात्सल्य, शृङ्गार और शान्त तीनों रसों को लिया। वात्सल्य में बाल मनोविज्ञान, शृङ्गार में प्रेम की व्यापक वृत्ति और शान्त मे भक्ति के पदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर ने हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का अत्यन्त हृदय कहते हैं। वर्ण व्यवस्था के भंग होने से समाज में अव्यवस्था फैलने का भय रहता है। ऐसी स्थिति में हमें समझना चाहिए कि उनकी स्त्री और शूद्रों की निन्दा मे द्वेष भावना नहीं है। एक विरक्त महात्मा के रूप में वे कल्याण पद के लिए जो उचित समझते थे वे वही उन्होंने कहा है।

मीराबाई की पदावली

प्रश्न १—प्राप्त प्रमाणों के आधार पर मीराबाई की जीवनी का परिचय देकर यह बताइये कि उनके जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का उनके काव्य पर क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर—डाक्टर श्री कृष्ण लाल के अनुसार हम मीरा के जीवन को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में उनका जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा और वैवाहिक जीवन आता है। द्वितीय भाग में उनका भक्त रूप प्रकट होता है तथा तृतीय भाग में मीरा माधुर्य भाव की भक्ति भावना से चरम विकास पर पहुँच कर ब्रज-गोपी के अवतारी रूप में प्रतिष्ठित होती है और अपनी पावन स्वर लहरी से ससार का शोक ताप हरती हुई अनन्त में विलीन हो जाती है। एक प्रकार से मीरा का जीवन भक्ति-भावना का क्रमिक विकास है।

राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता पण्डित गौरीशकर हीराचन्द ओझा के अनुसार मीरा का जन्म सवत् १५५५ के लगभग मेड़ता राज्य के कुड़की ग्राम में सुप्रसिद्ध राठौर राजा जोधा जी के पुत्र राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिह के यहाँ हुआ था। वह अपने पिता की एकमात्र सन्तान थी। युद्ध करना पिता का व्यवसाय था। अतः मीरा मेड़ता में अपने पितामह के पास रहने लगी। बाल्यकाल से ही मीरा और उसका चचेरा भाई जयमल साथ-साथ राधा माधव से विवाह के खेल खेला करते थे। वहीं से उसके हृदय में

वृन्दावन विहारी का प्रेम उदय हुआ। इसी से मीरा ने अनेक पदों में उन्हें 'बाल सनेही' कहा है। चार वर्ष की मीरा की माँ की मृत्यु हो गई।

संवत् १५७३ में मेवाड़ के राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ मीरा का विवाह हो गया। मीरा ने अपने पारलौकिक जीवन और प्रेम का आधार तो पहले ही पा लिया था, अब उन्हें अपने लौकिक जीवन और प्रेम के लिए भी आधार मिल गया। परन्तु उनका वैवाहिक जीवन अत्यन्त संक्षिप्त रहा। विवाह के एक वर्ष के भीतर ही वह विधवा हो गईं। इसके बाद ही बाबर के विरुद्ध युद्ध करते हुए मीरा के पति भी स्वर्गस्थ हुए और कुछ काल उपरान्त उसके श्वसुर राणा साँगा भी चल बसे। मीरा आश्रयहीन हो गई। अस्तु उसका असीम स्नेह, अनन्त प्रेम और अद्भुत प्रतिभा एक साथ ही गिरधारीलाल की ओर उमड़ पड़ी। भगवान् कृष्ण की अनन्य उपासिका बन गई। वह अपने विवाहित जीवन में भी गिरधारीलाल की मूर्त्ति का विधिवत् पूजन और अर्चन करती रहीं थीं। निराश्रित होने पर वे पूर्ण रूप से भगवद्भक्ति और साधु संगति में लीन हो गईं। वे साधुओं का सत्कार करती तथा पैरों में घुँघरू बाँधकर भगवान् की मूर्त्ति के सम्मुख नाचतीं। उनके देवर राणा रत्नसिंह तथा अन्य सम्बन्धियों ने इस लोक मर्यादा विरुद्ध आचरण का प्रतिवाद किया परन्तु मीरा अडिग रहीं। रत्नसिंह के देहावसान पर उनके सौतेले भाई राणा विक्रमादित्य गद्दी पर बैठे। उन्होंने नाना प्रकार के अत्याचारों द्वारा मीरा का बध करने का प्रयत्न किया। विष का प्याला, सर्प, सूली आदि उनका बाल भी बाँका न कर सके।

सन्तों को सदैव ऐसे विरोधों का सामना करना पड़ा है और अब भी करना पड़ता है। परन्तु जैसा विरोध नारी होने के कारण मीरा को सहना पड़ा वैसा औरों को नहीं। अत्याचारों से ऊब कर मेवाड़ त्याग कर वह अपने चाचा के पास मेड़ते चली गईं। यहाँ चार पाँच वर्षों तक शान्तिपूर्वक रहीं। संवत् १५९५ में जोधपुर के राव मालदेव ने मेड़ता जीत लिया। वहाँ से भी निराश्रित होकर मीरा वृन्दावन चली आईं। वृन्दावन आकर वह भगवद्भक्ति और साधु सत्संग में लीन हो गईं। उस स्वच्छन्द वातावरण में एक अभिनव मीराबाई का जन्म हुआ। पहले मीरा पर निर्गुण पन्थ का

प्रभाव था। परन्तु वृन्दावन आकर महाप्रभु चैतन्य की शिष्य मण्डली, रूप सनातन और जीव गोस्वामी से आध्यात्मिक प्रेम का सन्देश पाया और सूर तथा अष्टछाप के कवियों से विनय और लीला के पदों का आदर्श लिया। अपने इस नवीन स्वच्छन्द उल्लास में अचानक ही मीरा गा उठी—

'मैं तो सांवरे के रग राची।
सजि सिंगार बाँधि पग गुँघुरू लोक लाजि तजि नाची ॥''

संवत् १६०० के लगभग मीरा वृन्दावन छोड़कर द्वारकापुरी चली गईं। वहां भी उनकी वही प्रेम विभोरता रही। क्रमशः उनकी यशगाथा फैलने लगी। दूर दूर से साधु सत्संग के लिए आने लगे। गोस्वामी हित हरिवश, हरिराय व्यास जैसे प्रसिद्ध वैष्णव मीरा के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करते थे। इसी समय मेड़ते पर राव वीरमदेव ने पुनः अधिकार कर लिया। मेवाड़ और मेड़ता के शासकों ने मीरा को लौटा लाने के लिए ब्राह्मण भेजे। मीरा के न मानने पर उन्होंने धरना दे दिया। इससे विवश होकर मीरा श्री रणछोड़ जी की आज्ञा प्राप्त करने के लिए मन्दिर में गईं और वहीं पद गाते-गाते भगवान की मूर्ति में समा गई सवत् १६३० के आस पास मीरा का लौकिक अस्तित्व लुप्त हो गया और वे सदैव के लिए अपने गिरधर नागर से जा मिलीं। मीरा का अन्त भी उनके जीवन के अनुरूप ही रहा।

मीरा को बचपन में काव्य कला और संगीतादि के अभ्यास का अच्छा अवसर मिला था। मीरा का वश सगीत और साहित्य रुचि के लिए प्रसिद्ध था। श्वसुरालय में भी मीरा को अनुकूल वातावरण मिला था। उनके काव्य में ये सब प्रभाव भली प्रकार लक्षित होते हैं। उनके काव्य का संगीत इसी कारण इतना श्रेष्ठ बन सका। बाल्यकाल से ही मीरा के हृदय में गिरधरलाल के प्रति जो मधुर रति की भावना थी वही उनके अनेक पदों में प्रदर्शित विभाव, अनुभावादि द्वारा क्रमशः पुष्ट होकर रस का रूप धारण करतीं प्रतीत होती है। मीरा का सम्पूर्ण जीवन कतिपय निश्चित एवं अन्तर्निविष्ट भावनाओं से परिपूर्ण रहा। उनकी रचनाओ पर उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं की गहरी छाप सर्वत्र पड़ती रही। उनके भाव

उनके तल्लीन हृदय से ही सदैव प्रसूत होते रहे। इसी कारण उनके काव्य का भावपक्ष कलापक्ष से अधिक प्रबल है।

मीरा की भक्ति भावना में दो धाराओं का समावेश है। इसमें से एक का रूप विषादमय है और दूसरी का रूप अनुरागमय है। उनका सदैव संघर्षण एवं सकटापन्न जीवन विषादमय रूप में प्रकट हुआ। गिरधारीलाल के प्रति 'प्रीति पुरानी' और 'बालापन के सनेही' होने के कारण अनुरागमय रूप रहा। इसी से उन्होंने सङ्कटों का सदैव हसते हुए स्वागत किया। और इसी कारण उनमें जगत के प्रति विरक्ति की तीव्र भावना आई। मीरा ने साकार और निराकार दोनों रूपों की उपासना की है। पहले उन्होंने निर्गुण पन्थी हठयोगियों से प्रभावित होकर हठयोग द्वारा ब्रह्मानुभूति का प्रयास किया था पर यह कठोर मार्ग उनकी माधुर्य रस की भावनाओं से मेल न खा सका अतः उन्होंने साकार का आश्रय ग्रहण कर माधुर्य भाव से अपने इष्टदेव की उपासना की। इस प्रकार इन दोनों रूपों के सामंजस्य से ही उनकी भक्ति का विकास हुआ। उनकी विचारधारा में अधिकाँशतः उनके संघर्षमय जीवन का ही प्रभाव प्रमुख रूप से पड़ा था।

प्रश्न २—सिद्ध कीजिए कि मीरा की अनन्य तन्मयता स्वय ही कविता की एक श्रेष्ठ विभूति है।

उत्तर—मीरा का जीवन एक विद्रोहिनी नारी का जीवन था। उन्होंने सम्पूर्ण सामाजिक बन्धनों का उल्लंघन किया था। उनका बचपन का बाल सनेही कृष्ण जीवन भर उनकी आत्मा में समाया रहा। सन्तों की सेवा में लोकलाज खोकर लगना और आँसुओं के जल से सींच सींच कर प्रेम बेलि बोना जिसके जीवन का लक्ष्य हो वह संसार की क्या चिन्ता करेगी। मीरा का जीवन प्रतिक्षण कृष्णमय था। उन्हें मानों अपना होश नहीं था, वह उसी के चिन्तन में डूबी रहतीं थी। कृष्ण से उनका मिलन ऐसा था जैसे सोने में सुहागा। उसका भाग्य जग गया है। इसीलिए वह कृष्ण प्रेम में विभोर हो गई है वह तो—"पग घुँघुरु बाँध मीरा नाची रे।" उसका एक ही उद्देश्य था। वह पूर्ण हुआ "मीरा के प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनाशी रे।"

इस अविनाशी से सहज मिलने वाली जोगिन की अनन्य तन्मयता उसके काव्य में सर्वत्र प्रकट है। जो व्यक्ति किसी एक कार्य में तन्मय होगा वह किसी अन्य की चिन्ता न करेगा। उसे लोक लाज, घरवार किसी की भी चिन्ता न होगी। वह प्रतिक्षण अपने लक्ष्य की चिन्ता में रत रहेगा। मीरा का भी वही हाल है। वह भी किसी की परवाह नहीं करती। उसकी प्रतिज्ञा है कि वह गोविन्द के गुण गाती चली जायगी। "मैं तो गोविन्द के गुण गाना! राजा रूठे नगरी राखे, हरि रूठे कहँ जाना।" इसीलिए "मीरा तो अब प्रेम दिवानी सांवलिया वर पाया।" अब उसे और किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं रही।

वस्तुतः मीरा कृष्ण के साथ इतनी एक रस और तल्लीन है कि उसकी अन्तरात्मा में व्यथा पारे की भांति तरलता से लहराती रहती है। तन्मयता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वह मिलन की विधि भी नहीं जानती। उसका प्रियतम उससे मिलने आया पर वह सोती रह गई। उसके प्रायश्चित्त स्वरूप वह वैधव्य ग्रहण करना चाहती है—

"मैं जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसो होइ री।
आए मेरे अँगना, फिर गए सजना, मैं अभागिन रही सोइ री।
फारूँगी चीर, करूँगी गल कंथा रहूँगी वैरागिण होइ री॥

रात दिन उसे विरह सताता रहता है। वह अनुनय विनय करती हुई कहती है—"जोगी मत जा, मत जा, पाइ परूं मैं चेरी तेरी हौं।" प्रेम भक्त के निराले पथ की पथिका यह मीरा अगर चन्दन की चिता बनाकर जलने को तैयार है। इसे अपने हाथ से जला दे और राख को तनिक अपने शरीर से लगाकर जोत में जोत मिला दे।

ऐसी प्रेम दिवानी मीरा की कविता में विरह और मिलन की जो व्यथा कथा व्यक्त हुई है वह हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। उसे कभी प्रियतम स्वप्न में मिलते हैं, कभी प्रत्यक्ष। कभी वह विरहा का अनुभव करती है, कभी उपालम्भ देती है। कभी प्रतीक्षा करती है, कभी स्तुति करती है, कभी उसके रूप पर मुग्ध होती है, कभी उसके प्रेम रहस्य में डूबती है।

इस प्रकार के जीवन में कृष्ण की छटा ऐसी छाई है कि उसके रोम रोम में बिंध गई है। वह उसकी दासी, प्रेयसी और सहचरी है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध ने, इस अनन्यता से ही उसकी कविता को प्रभावशाली बनाया है। यही उसकी श्रेष्ठ विभूति है, इसी से वह अमर है। यही एक ऐसा तत्व है कि भाषा, छन्द तथा अलङ्कार के प्रभाव में भी उसकी कविता सहृदय रसिकों के कण्ठ में बसी है।

प्रश्न ३—मीराबाई की रचनाओं का उल्लेख करते हुए उनकी काव्य कला पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अभी तक के अनुसन्धानो से मीरा के चार ग्रन्थ ही प्रकाश में आए हैं—(१) गीतगोविन्द की टीका, (२) नरसी जी का माहरा, (३) राग सोरठा पद संग्रह, (४) फुटकर पद। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने 'राग गोविन्द' नामक एक और ग्रन्थ का वर्णन किया है। ओझा जी ने भी इस बात की पुष्टि की है कि राजस्थान में 'मीराबाई का मलार' नामक एक राग विशेष का प्रचार है। सम्भव है 'राग गोविन्द' में इसी राग के पदों का संग्रह हो। इसके अतिरिक्त भी झवेरी जी ने गुजरात के कुछ प्रसिद्ध गर्बा गीतो को भी मीरा की रचना माना है। मीरा की रचनाओं के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उन पर 'गीत गोविन्द' का प्रभाव नहीं पड़ा था। ऐसी स्थिति में 'गीत गोविन्द की टीका' का मीरा द्वारा लिखा जाना संदिग्ध सा प्रतीत होता है। अभी तक इस ग्रन्थ की कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं हुई है। 'नरसी जी का माहरा' नामक ग्रन्थ के भी कुछ ही अंश उपलब्ध हुए हैं परन्तु विद्वान इसे भी मीरा की रचना मानने में संकोच करते हैं। सम्भव है यह उनका प्रारम्भिक रचना हो। इसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से मीरा के फुटकर पदों का ही अधिक महत्त्व है। गुजराती पदों को मिलाकर इनकी संख्या लगभग चार सौ होगी। इनमें से भी अधिकांश पदों की प्रामाणिकता में सन्देह है। मीरा की माधुर्य भक्ति का बहुत प्रचार और प्रसिद्धि हो गई थी। इसी कारण सम्भवतः अन्य माधुर्य भाव से भरे हुए भक्तों ने अपने पदों का

प्रचार करने के लिए "मीरा के प्रभु गिरधर नागर" लिखकर कितने ही लीला और मधुर भाव के पद मीरा के नाम से प्रचलित करा दिए। 'भावना की दृष्टि से उन सभी पदों को मीरा की रचना मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि प्रतीक रूप वे मीरा की ही रचना हैं; केवल शब्द रचना की नहीं है।

हिंदी के गीति काव्यकारों में मीरा का स्थान अद्वितीय माना जाता है। हृदय पर जैसा तीखा और मार्मिक प्रभाव मीरा के गीतों का पड़ता है उतना सूर और विद्यापति का भी नहीं पड़ता। सूर और विद्यापति ने संयोग और वियोग के वर्णन राधा और गोपियों के माध्यम से किए परन्तु मीरा तो अपने 'नागर' की स्वयं ही प्रेम दिवानी थी। इसी कारण उसके पदों में स्वयं उसी की विरह वेदना साकार हो उठी है। सूर के समान न तो मीरा के पदों में कोई कथा की अन्तर्धारा प्रभावित हो रही है और न विद्यापति के समान किसी परम्परा का पालन करते हुए नायिका भेदादि का चित्रण ही किया गया है। मीरा की भावना उसके हृदय से, उसके अन्तर्तम प्रदेश से निसृत हुई है. इसलिए उसका प्रभाव अत्यन्त मार्मिक पड़ता है। उसमें सरलता है, स्पष्टता है और सादगी है। उन पदों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी स्वच्छन्द भावना है। छन्द, भाषा अलङ्कार, भाव, अनुभूति आदि किसी का भी आडम्बर मीरा के पदों में नहीं मिलता। "मीरा की कविता एक निर्झरिणी की निर्मल धारा की स्वच्छन्दता है, जिसमें एक अदम्य आवेग है, बन्धनों की सीमा का उलङ्घन करने का एक उत्साह है, परन्तु जिसमें असंयम नहीं, अश्लीलता नहीं, विद्रोह की भावना नहीं।" भाषा, छन्द और काव्य परम्परा सबमें मीरा ने एक स्वाभाविक स्वच्छन्दता प्रदर्शित की है।

मीरा के पदों का मुख्य रस शृंगार है। शृंगार के दोनों पक्षों का संयोग और वियोग के अतीव सुन्दर उदाहरण इन पदों में मिलते हैं। मीरा ने गिरधरलाल को पति माना है इस कारण उनमें रतिभाव विविध भवानुवाभादि से पुष्ट है। संचारियों की अपेक्षा अनुभावों का वर्णन अधिक

है। वियोग शृंगार के पदों में मीरा के हृदय की व्याकुलता और वेदना साकार हो उठी है।

मीरा के पद नायिका भेद तथा अन्य साहित्यिक परम्पराओं से ही मुक्त नहीं हैं, अपितु उनमें ध्वनि, व्यंजना, रीति, वक्रोक्ति, गुण, अलङ्कार आदि की काव्य परम्परा का भी निर्वाह नहीं है। अपनी रचनाओं में मीरा ने यद्यपि अलङ्कारों के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया है फिर भी कुछ पदों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों के अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त अत्युक्ति, उदाहरण, विभावना, श्लेष, अनुप्रास, स्वरभावोक्ति, अर्थान्तर न्यास आदि अलङ्कारों के भी उदाहरण मिलते हैं। अलङ्कारों के अभाव का कारण यह है कि मीरा का काव्य भाव प्रधान है। ये जो थोडे अलङ्कार मिल भी जाते हैं वे प्रायः अपवाद स्वरूप ही है क्योंकि इनकी सख्या नगण्य है। वहाँ तो केवल हृदय की अत्यन्त मार्मिक वेदनाओं और गूढ़ भावों को खोल कर रखा गया है इसी से काव्य कला की परम्पराओं की वहाँ कोई उपयोगिता नहीं है। मीरा को तो अपनी विरह-व्यथा अवकाश नहीं कला की आराधना कौन करता। कहीं-कहीं कला के जो थीड़े से उदाहरण मिल जाते हैं वे अनायास ही आ गए हैं—केवल अनजान मे। उनमें प्रयत्त। "यह कला से अतीत और काव्य परम्परा से स्वच्छद महत् गीत काव्य की रचना मीरा की अपनी विशेषता है।"

अलङ्कारों के समय मीरा के पदों में छन्दों का भी कम ध्यान है। वे पद पिंगल के नियमों को दृष्टि में रखकर नहीं लिखे गए हैं। उनमें छन्दों की अपेक्षा सङ्गीत पर अधिक ध्यान दिया गया है। भावों के अनुरूप ही छन्द की गति बदलती रहती है। मात्राओं की घटा बढ़ी, वर्णिक मात्रिक के भेदों की अवहेलना वहाँ साधारण रूप में मिलती है। इस क्षेत्र में वे कबीर के समान स्वच्छन्द हैं।

मीरा के पदों में तीन भिन्न भाषाओं के रूप मिलते हैं। कुछ पद गुजराती में हैं, कुछ शुद्ध ब्रज भाषा में; शेष राज्यस्थानी में। काल क्रमानुसार मीरा इन तीनों भाषा के क्षेत्रों में रहीं थी। सम्भव है इसी कारण

उनकी भाषा के तीन रूप हों। ब्रजभाषा तथा ब्रज मिश्रित राजस्थानी भाषा में रचे गए पदों में भाषा का आडम्बर तनिक भी नहीं है। परन्तु कुछ पदों में मीरा ने ऐसी परिष्कृत और शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है जो पिछले खेवे के कवियों के लिए आदर्श मानी जा सकती है। अनेक पद ऐसे हैं जो सरलता, स्पष्टता, मधुरता और कोमलता में हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। "बसो मेरे नैनन में नन्दलाल" तथा "मन रे परसि हरि के चरण" आदि पदों में इस भाषा के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पदों में राजस्थानी, ब्रज, गुजराती, अरबी, फारसी तथा पंजाबी शब्दों का एक साथ प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं खड़ी बोली की विभक्तियों का भी प्रयोग है। मीरा की भाषा में अलङ्करण नहीं, सजावट नहीं, वरन एक स्वच्छन्द आवेग है। भाव की स्वच्छन्दता के साथ स्वाभाविकता, परिष्कार के साथ अलङ्करण मीरा की भाषा की विशेषता है।

मीरा काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कलारहित होने पर भी अत्यन्त मार्मिक और प्रभावशाली है। श्री मुन्शी के शब्दों में "कलाविहीनता" ही मीरा की सबसे बड़ी कला है। सुकुमार मार्ग के पथिक कवि हिन्दी में बहुत कम हैं और इन कवियों में मीरा सबसे श्रेष्ठ है। मीरा के काव्य की तन्मयता के कारण ही आज भी साधु-सन्त उनके पदों को गाते-गाते आत्म-विभोर हो उठते हैं।

प्रश्न ४—"मीरा का विरह मार्मिक एवं गम्भीर है। उसमें विद्यापति की भांति सम्भोग शृङ्गार की वासना की छाया तक नहीं है।" इस सम्बन्ध में अपना तर्कयुक्त मत दीजिए।

उत्तर—मीरा और विद्यापति की परिस्थिति भिन्न थीं। एक को अपने गिरधर की प्रेयसी बनकर उसके विरह का स्वयं अनुभव करना पड़ा है और दूसरे की "राजा शिवसिंह रूप नरायण लखिमा देइ रमाने" के मनोरंजनार्थ दरबार में राधा और कृष्ण के वासनात्मक चित्र उपस्थित कर आश्रयदाता की कृपा पाने की चाह रही है। एक ने दरबार को लात मार प्रियतम के लिए योग साधा और दूसरे ने दरबार में बने रहने के लिए भोग का मार्ग

ग्रहण किया। एक ने सीधी सादी भाषा में अपने हृदय के उद्‌गार व्यक्त किए हैं और दूसरे ने उन्हें राजकीय वातावरण के अनुकूल सजा कर रखा है। एक का आदर्श सन्तों के निर्गुण और भक्तों के सगुण का मिश्रित पवित्र कृष्ण प्रेम है और दूसरे का राधा-कृष्ण का विलास लीला के प्रचारक संस्कृत के कवि जयदेव का गीतगोविन्द। इस परिस्थिति की भिन्नता के कारण मीरा के विरह वर्णन में आन्तरिक वेदना का समावेश और मानसिक पक्ष की प्रधानता है। कहीं कहीं शारीरिक कष्टों की तीव्रता और आधिक्य का भी वर्णन है, पर वह स्वानुभूति के कारण अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। उससे भी मीरा के विरह का वेदनात्मक अंश ही प्रकट होता है। मानसिक कष्टों का वर्णन बड़ा ही अनूठा है। अन्धकारमयी रात्रि में विरह-विह्वला मीरा तारे गिनती रहती है। कटारी मार कर अपघात करने को प्रस्तुत हैं। सध्या के प्रभात तक प्रतीक्षा करने पर भी उसने पट नहीं खोले। सारा समय मौन में ही बीत गया। अब कुशल नहीं है।

"रैन अँधेरी विरह की घेरी, तारा गणत निस जात।
लै कटारी कंठ चीरूँ करूँगी अपघात॥
पाट न खोल्या मुख ना बोल्या साँझ लगा परभात।
अबोलना में अवधि बीती, काहे की कुसलात॥"

यह एक विरहिणी की स्वाभाविक उक्ति है। इसमें यदि पाट का अर्थ माया मान लिया जाय तो अर्थ एकदम आध्यात्मिक हो जाता है।

मीरा के विरह के पदों में कहीं भी शारीरिकता का आभास नहीं है। उसके उद्‌गार हृदय से निसृत हैं। इसलिए उनमें मार्मिकता और गम्भीरता भी है। इसके विपरीत विद्यापति के विरह वर्णन में सम्भोग शृङ्गार की वासना स्पष्ट है। वहाँ प्रकृति भी उद्दीपन का कार्य करती है। मीरा के लिए भी कोकिल और पपीहा विरह को उद्दीप्त करने वाले हैं पर वे उसकी शारीरिक नहीं मानसिक व्यथा को ही तीव्र करते हैं। विद्यापति के वासनात्मक उद्‌गारों वाले अनेक पद उद्धृत किए जा सकते हैं। वहाँ उनका प्राचुर्य है। प्रत्येक प्रसङ्ग में ऐसे पद मिल जाते हैं जिनमें केवल शारीरिक दग्धता और उत्तेजना की प्रधानता है। जैसे—

"अंकुर तपन ताप जदि जारव कि करव वारिद मेहे।
ई नव जौवन विरह गमाएव कि करव से पिया नेहे॥"

अर्थात् यदि अंकुर सूर्य की किरणों से झुलस गया तो जल देने वाले बादल से क्या लाभ ? इसी प्रकार यदि नई जवानी विरह में ही बिताई जायगी तो प्रियतम से प्रेम कर क्या लाभ हुआ ?

इसमें जवानी के बीतने पर जो विषाद है वह स्पष्ट ही सम्भोग शृङ्गार की वासना की ओर संकेत करता है। इसका कारण यह है कि विद्यापति की राधा सामान्य नारी है, मीरा की भाँति उसका आध्यात्मिक महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि मीरा का विरह मार्मिक एवं गम्भीर है और उसमें विद्यापति की भाँति सम्भोग शृङ्गार की वासना की छाया तक नहीं है। मीरा जानती है कि उसके पति कृष्ण ब्रह्म हैं। उनसे शारीरिक मिलन सम्भव नहीं वहाँ तो मानसिक मिलन ही हो सकता है। अतः शारीरिक उत्तेजना के लिए वहाँ स्थान ही नहीं रहता; परन्तु विद्यापति की राधा तो कृष्ण की प्रेमिका है। दोनों का शारीरिक मिलन भी होता है फिर विरह होता है। अतः वहाँ तो शारीरिक सम्भोग जनित उत्तेजना का प्राधान्य होना स्वाभाविक है।

प्रश्न ५—"गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है, वाह्य जगत को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रञ्जित करता है।" इस कथन के आधार पर मीरा के गीतों की समीक्षा कीजिए।

उत्तरः—गीतिकाव्य का सम्बन्ध सीधा हृदय से है। उसमें व्यक्तित्व की भावना प्रमुख होती है। अपनी ही वेदना का व्यक्तीकरण उसका प्रधान अङ्ग है। स्वानुभूतिपरक होना, 'सब्जैक्टिव' होना गीतिकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। मीरा का काव्य इस दृष्टि से शुद्ध गीतिकाव्य की कोटि में आता है। मीरा भी चिरविरहिणी है। इसलिए उसके कण्ठ से जो गान फूटे हैं, वे उसकी अन्तरात्मा के गहनतम स्तर की झाँकी कराने वाले हैं। इसके साथ ही सङ्गीत और निस्सकोच भाव प्रकाशन ने मीरा की अनुभूति को और भी मार्मिक बना दिया है।

मीरा अपने पति गिरधर के हाथ बिक गई है। नेत्रों ने ही उसे ऐसा

करने को विवश किया है। ऐसी बिकी हुई मीरा प्रिय की प्रतीक्षा में खड़ी पंथ देख रही है—

"आली रे मेरे नेणाँ बाण पड़ी।
चित चढ़ी मेरे माधुरी मूरति उर बिच आन अड़ी॥
कब सी ठाढ़ी पथ निहारूँ अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूर जड़ो॥

इस गीति में मीरा ने अपनी अन्तरात्मा की स्थिति का चित्रण बड़ी कुशलता से कर दिया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह पद अत्यन्त ही सुन्दर है। मीरा का गीतिकाव्य असाधारण है। उसमें विरह और मिलन में से विरह की प्रधानता है। मिलन में भी उसे विरह की शङ्का बनी रहती है। "मिलि बिछुड़न जनि होय" की वृत्ति मीरा के काव्य की प्राण है। सामान्य विरहिणी ता मोती की माला पिरोती रहती है पर मीरा आँसुओं की माला पिरोती है। तारे गिनते रात बीतती है। कहीं ऐसा न हो कि मिलकर बिछुड़ जाय।

इस असाधारणता के कारण मीरा को बाह्य जगत की विशेष चिन्ता नहीं रहती। वह अपनी अपार व्यथा को लेकर ही शान्त हो जाती है। वह पपीहा, कोयल और कौवा तक से अपने विरह का सन्देश ले जाने के लिए कहती है और भूल जाती है कि वे इसके लिए असमर्थ हैं उसे यह भी नहीं सुहाता कि पपीहा 'पिव पिव' करे—"पपइया रे पिय की वाणी न बोल" क्योंकि यदि "सुणि पावेली विरहिणी रे थारो रालेली आँख मरोड़।", तुझे क्या अधिकार है तू पिव कहे क्योंकि—"पिव मेरो मैं पिव की रे, तू पिव कहे सो कूण।"

वस्तुतः बात यह है कि मीरा के लिए गिरधर नागर को छोड़कर और कोई वस्तु साध्य नहीं है। न उसे प्रकृति से सरोकार है और न जगत से व्यवहार। वह प्रियतम के विरह में तड़पती है, मिलन में सुख का अनुभव करती है। रूठ कर उपाम्भ देती है, आशावादी होकर मनाती हैं, निठुराई से ऊबकर प्रियतम के हाथों प्राणान्त हो जाने की आकाँक्षा करती है, दया का अनुभव करके हर्ष से फूली नहीं समाती। तात्पर्य यह है कि वाह्य जगत का उसके

लिए कोई मूल्य नहीं है। वाह्य जगत की जो भी वस्तुएँ उसकी वेदना की व्यञ्जना के लिए सहायक होकर आती हैं वे सब उसकी भावना से रंग जाती है। मीरा के जीवन में केवल एक ही भाव है; एक ही रस है, एक ही रङ्ग है और उसी से उसकी अन्तरात्मा व्याप्त है। उसी के व्यक्तीकरण में उसकी समस्त शक्ति लग जाती है। उसके गीतों में यही एक विशेषता है, जिसके कारण वे अन्तर्जगत के वेदनामय भाव चित्र प्रस्तुत करती रहती है।

प्रश्न ६--मीरा की प्रेम भावना पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर:—मीरा की प्रेम भावना वही थी जो गोपियों की थी। कहा जाता है कि मीरा अपने को किसी 'ललिता' नाम की गोपी काअवतार समझती थी। लेकिन गोपियों और मीरा के प्रेममें अन्तर भी था। जहाँ गोपियों परकीया भावसे कृष्णको भजती थी वहाँ मीराका सबध कृष्ण के प्रति स्वकीया का था। इसलिए वे बार बार कृष्ण से अपना जन्म जन्म का सम्बन्ध होने की घोषणा करती हैं। 'मेरी उनकी प्रीत पुराणी', 'जनम जनम की दासी' पूर्व जनम की प्रीति हमारी और म्हारो भौ-भौ का भरतार कह कर उन्होंने अपने इसी सम्बन्ध को व्यक्त किया है। वे अपने प्रियतम को सदा 'पिव', 'धणी', 'सैयाँ', साजन, और 'वर' कह कर सम्बोधित करती हैं। इससे उनका स्वकीय भाव स्पष्ट होता है। लेकिन विपरीत परिस्थिति के कारण कहीं कहीं परकीया के उद्गार भी प्रकट हुए है और एकाध पद में 'सौतिया डाह' जैसे भाव मिलते हैं। प्रियतम के सामने नाचने गाने पर उन्हें जो सकोच होता है वह भी परकीया भाव को ही व्यक्त करता है। सच तो यह है कि वे अपने को स्वकीया समझती हैं पर लोक दृष्टि में वे परकीया ही है। उनके स्वजन वास्तविक रहस्य को नहीं समझ पाते और सचाई में सन्देह कर उनको वास्तविक रूप में 'प्रेम दिवाणी होने पर भी 'कुलनासी कहते हैं और उनका उपहास करते हैं।

मीरा का प्रेम सीधा कृष्ण के प्रति है इसलिए उनको अपने प्रेम के प्रकट करने में न तो अन्य कवियों की भाँति गोपियों के प्रेम का वर्णन करके भाव प्रदर्शन करना पड़ता है और न अपनेको काल्पनिक स्त्रीत्व से ढकना पड़ता

है। वे स्त्री हैं और गिरधरलाल को पति रूप में स्वीकृत कर चुकी हैं। इसलिए वे स्वभाविक प्रेमानुभूति व्यक्त कर देती हैं। यह प्रेमानुभूति बड़ी गहरी है। इसमें साकार कृष्ण के रूप का ही आकर्षण नहीं है, 'सतगुरु' द्वारा प्रदत्त आध्यात्मिक भाव भी उसमें व्यक्त है इसलिए वह शुद्ध आध्यात्मिक धरातल का प्रेम है। गोपियों की भाषा में व्यक्त होने वाली वासना का मीरा में अभाव है। उनका नैतिक धरातल बहुत ऊँचा है। इसलिए मिलनातुराता का क्रन्दन होने पर भी पवित्रता और शुचिता के तत्वों का सहज समावेश हो गया है जिसके फलस्वरूप मीरा की प्रेम-भावना निराली बनकर अलग खड़ी दिखाई देती है।

प्रश्न ७—मीरा की साधना सगुण परक सिद्ध होती है या निर्गुण-परक ?

उत्तर—'प्रेम दिवाणी' मीराबाई की कविता को पढ़कर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठा करता है कि मीरा की साधना सगुण-पारक है या निर्गुण-पारक। बात भी ठीक है कि जिस कृष्ण की भक्ति करने पर कृष्ण भक्ति शाखा के सभी कवियों की साधना सगुण-परक कही जाती है फिर उसी कृष्णोपासिका मीरा को सगुणोपासिका क्यों नहीं कहें ? किन्तु मीरा के कुछ पद नहीं--बहुत से पद ऐसे सामने आ जाते हैं जो मीरा को निर्गुणोपासिका की कोटि में रखने को आग्रह करते हैं। तो इस समस्या को सुलझाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम मीरा के वास्तविक दृष्टिकोण से परिचित होलें।

यदि गहराई से ध्यान देकर देखें तो यह स्पष्ट जान पड़ने लगता है कि मीरा के भगवान की परिभाषा सम्भवतः यही है जो श्री मद्भागवत् के कृष्ण को निम्न श्लोक से व्यक्त होती है—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्वं, यद्ज्ञानमव्ययम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति, भगवानिनि शब्दयते॥

'अर्थात् जिस वस्तु को तत्वज्ञानी लोग तत्व, अव्यय, ज्ञान, ब्रह्म व परमात्मा नाम से अभिहित करते हैं उसी को भगवान भी कहा जाता है।'

अतः मीरा का इष्टदेव इस प्रकार निर्गुण होते हुए भी भगवान है। इस लिए मीरा द्वारा अपनायी गई साधना रहस्य भावों से भी ओत प्रोत है! वे अपने अनुपम व अलौकिक 'व्यथा' रूप में अपने परोक्ष 'साहब' की अपरोक्ष अनुभूति किया करती हैं और एक दम कहने लग जाती हैं कि 'तुम बि चहम बिच अन्तर नाहीं।' उनका हरि 'अविनासी' है। उनका प्रेम श्री गिरधरलाल के अनुपम सौन्दर्य का अनुभव करके आरम्भ होता है, प्रेमासक्ति बढ़ती है और नई नई अभिलाषाएँ उनके हृदय में घर करने लगती हैं। धीरे धीरे यही प्रगाढ़ भी हो जाती है—इतनी प्रगाढ़ कि विरहानुभव भी होने लगता है। किन्तु उनका यह भाव निरा उच्छृङ्खल आवेश प्रदर्शन नहीं था। यह वास्तव में ज्ञान मूलक एवं सन्त परम्परानुमोदित निर्गुणोपासना द्वारा मर्यादित भी था। इसीलिए वे अपने प्रिय की जिस सेज पर पौढ़ना चाहती थीं, 'वह गगनमण्डल' में बिछी हुई सेज है और उसका आदर्श प्रदेश वह अगम का देश है 'जहाँ प्रेम के हौज' में 'हंस' अर्थात जीवात्मा नित्य 'केल्वाँ' अर्थात आत्मानुभव के आनन्द में मग्न रहा करती है।

हाँ, तो मीरा का प्रेम लौकिक रूप मे व्यक्त होता हुआ भी परमात्मा से सम्बद्ध होने के कारण, वास्तव में अलौकिक अर्थात् आध्यात्मिक व विरह गर्भित भी था। उनमें और उनके भगवान में जीवात्मा एव परमात्मा की मौलिक एकता के कारण, कोई वास्तविक अन्तर नहीं। जीवात्मा ज्योंही अपने काल्पनिक आवरण रूपी शरीर एवं तत्सम्बद्ध प्राकृतिक परिस्थितियों के असली रहस्य को समझ, उनके प्रति उदासीन हो जाता है त्योंही वह एक बार फिर उस मिलन के लिए तड़पने लगता है, जिसे अज्ञानताके कारण वह भूल सा गया था। इसी प्रेम के रूप को जायसी ने इस प्रकार समझाया है—

प्रेमहिं माहिं विरह रस रसा। मोम के घर मधु अमृत बसा।

अर्थात् जिस प्रकार मोम के घर अथवा मधुकोश में अमृत रूपी मधु संचित रहा करता है, उसी प्रकार प्रेम के अन्तर्गत विरह भी निवसता है। वास्तव में विरह सदैव सच्चे प्रेम में ही निहित रहता है क्योंकि प्रेम का अस्तित्व विरह है; प्रेमका सार विरह है। किन्तु यह प्रेम संसारिक प्रेम नहीं इसका आधार तो स्वयं परमात्मा तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एकता में

निहित है ।

मीराबाई ने अपने प्रेम की प्राथमिक अवस्था को भी इसी कारण, सद्गुरु उपदेश-जन्य उसी विरह के रूप में प्रदर्शित किया है । उनका प्रस्तुत पद—

मेरे पार निकस गया सतगुरु मारा तीर ।
विरह भाल लगी उर अन्तरि व्याकुल भया शरीर ॥
इत उत चित्त चले नहीं कबहूँ डारीं प्रेम जजीर ।
कै जाणै मेरो प्रीतम प्यारो और न जाणै पीर ॥
कहा करूँ मेरो बस नहीं सजनी नैन झरत दोउ नीर ।
मीरा कहै प्रभु तुम मिलिया बिनि, प्राण धरत नहीं धीर ॥

सतगुरु के मारे हुए उसी तीर (गुरू के सुझाव से अर्थ है) की ओर संकेत करता है । वह सामान्य तीर नहीं—अमोघ है, जो मीरा के हृदय को बेधकर उस 'पार निकस गया' है । उसकी विरह रूपी नोक इस प्रकार लगी कि सारा शरीर व्याकुल हो गया (उस ब्रह्म से मिलने के लिए तड़प उठा) । अब उसको प्रेम-जंजीर' से बाँध दिया है जिससे कि 'चित इत उत' न चल कर स्थिर हो गया है (उस ब्रह्म मे लीन हो गया है) । यह जो क्रिया हो रही है उसे अन्य कोई नहीं जान पाता है उसे तो केवल मेरा चित्त या 'प्यारा-प्रीतम' (ब्रह्म) ही जान पाता है क्योंकि यह सब क्रिया बाह्य नहीं आन्तरिक है । अब मीरा (अर्थात् आत्मा) इतनी अधीर हो उठी है कि बिना उसके मिले 'प्राण धीर नहीं धरते ।'

कहने का तात्पर्य है कि इस पद से मीरा की स्पष्ट निर्गुण परक साधना सिद्ध हो रही है । निर्गुण ब्रह्मोपासक कबीर में भी इस प्रकार का भाव स्थान स्थान पर देखने को मिलता है । इसी की समता का भाव कबीर की निम्न पंक्तियों में देखिए—

हस न बोलै उनमनी, चंचल मेल्ह्या मारि ।
कहै कबीर भीतर भिध्या, सतगुरु का हथियार ॥

नीचे हम इसी प्रकार के भाव को व्यक्त करने वाले मीरा के एक दो उदाहरण और देते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि मीरा ने अपनी इस

निर्गुण-परक साधना को, जो कि उक्त पद में व्यक्त की गई है, व्यक्त करने के लिए एक नहीं अनेक पद लिखकर भी तृप्ति नहीं प्राप्त की—

(१) भर-मारी रे बानाँ मेरे सतगुरु विरह लगाइके ॥
पाँविन पगा कानन बहिरा. सूझत नाहीं नैना ।
खड़ी-खड़ी रे पथ निहारूँ, मरम न कोई जाना ॥
सतगुरु औषद ऐसी दीन्हीं, रूम रूम भया चैना ।
सतगुरु जस्या वैद न कोई पूछौ वेद पुराना ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, अमर लोक में रहना ।

(२) मीराँ मन मानी सुरति सैल असमानी ॥

जब जब सुरति लगै वा घर की पल पल नैननि पानी ।
ज्यों हिय पार तीर सम सालत कसक कसक कसकान ॥
रात दिवस मोहि नींद न आवत भावै अन्न न पानी ।
× × × ×
खोजत फिरों भेद या घर को, कोई न करत बखानी ।
रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी ।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी ।
मीराँ खाक खलक सिर डारी, मैं अपना घर जानी ॥

नन्ददास

प्रश्न १— श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत और नन्ददास के भ्रमरगीत की तुलना कीजिए। नन्ददास के भ्रमरगीत में तर्क का जो क्रम है उसे स्पष्ट कीजिए। साथ ही यह भी बताइए कि उस तर्क में साम्प्रदायिकता को कहाँ तक स्थान मिला है?

उत्तर १—'भ्रमरगीत' का उद्गम स्थल श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत में दशमस्कन्ध (पूर्वार्द्ध) के ४६ वें तथा ४७ वें अध्याय में इसकी कथा चलती है। श्रीमद्भागवत में इसकी कथा इस प्रकार है:—श्रीकृष्णजी

के मित्र उद्धव एक दिन मिलते है। बात-चीत के बीच में ब्रज का प्रसंग छिड़ता है और कृष्ण उद्धव के द्वारा नन्द-यशोदा तथा गोपियों को सन्देश भेजते हैं। उद्धव सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर ब्रज पहुँचते हैं। नन्द के यहाँ पहुँचकर स्वागत-सत्कार के बाद वे नन्द और यशोदा को उपदेश देना प्रारम्भ करते हैं। उनका कहना है कि कृष्ण के लिए कोई उत्तम, मध्यम अथवा सम-विषम नहीं है। न उनके माता पिता हैं, न पुत्रादि। उनको सत, रज, तम आदि गुणों से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब भूतों में विद्यमान हैं अतः उनके लिए शोक करना व्यर्थ है—

मा खिद्यतं महा भाग द्रक्ष्यथः कृष्ण मन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरि वैधसि ॥

यह ४६ वे अध्याय की कथा है, जिसमें केवल नन्द और यशोदा की ही बात चीत है। ४७ वें अध्याय में गोपियों तथा उद्धव का संवाद होता है। उद्धव की वेश-भूषा, चाल-ढाल कृष्ण से मिलती जुलती देखकर गोपियाँ उत्सुकता पूर्वक निकट आती है। वे विकल हो उठती हैं और कृष्ण के गुणों का स्मरण करती हैं। इसी बीच एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ आ जाता है। उस भ्रमर को कृष्ण और उनके सन्देश वाहक उद्धव से समता रखने वाला समझ कर गोपियाँ उसे हृदय की बातें सुनाती है।

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्ण संगमम्।
प्रियस्थापितते दूत कल्पवित्वेदम ब्रवीत् ॥

इसके पश्चात् उद्धव गोपियों से कृष्ण का सन्देश कह उन्हें शान्त करते हैं और अन्त में ब्रजभूमि, नन्द तथा गोपियों को सान्त्वना देकर लौट जाते है।

नन्ददास ने श्रीमद्भागवत के इस सारे प्रसंग को बड़े कलात्मक ढङ्ग से रखा है। नन्ददास के भ्रमरगीत में ऊधो जाते ही कहते हैं कि मुझे कृष्ण ने एक सन्देश लेकर भेजा है। मुझे अभी तक उसके कहने का समय नहीं मिला। मैं उसे कह कर शीघ्र मधुपुरी लौटना चाहता हूँ। 'कृष्ण' का नाम सुनते ही गोपियाँ विह्वल होकर कृष्ण के विषय में पूछती हैं। रूप का ध्यान कर मूर्छित हो जाती हैं। उसके पश्चात् ऊधो-गोपी सवाद चलता है,

जिसमें एक पद में उद्धव दूसरे में गोपी अपनी-अपनी बात कहतीं हैं। सहसा गोपियों को कृष्ण के रूप का साक्षात्कार हो जाता है और विनय और उलाहने भरे शब्दों में गोपी कृष्ण से मन की कथा कहने लगती हैं। गोपियों के प्रेम भाव को देख कर 'ऊधो' का 'नेम' टूट जाता है और वे गोपियों के प्रेम के याचक बन जाते है। उसी समय एक भ्रमर आ जाता है, जिसे लक्ष्यकर गोपियाँ उद्धव को उपालम्भ देती हैं। उद्धव अन्त में लज्जित होकर प्रेमासक्ति के वशीभूत हो मथुरा लौट जाते हैं। कृष्ण पर नाराज होते हैं और गोपियों के प्रेम की कथा सुनाते हैं। कृष्ण उस कथा को सुनकर विह्वल हो जाते हैं और स्वयं गोपी रूप में प्रगट होकर बताते हैं कि उनमें और गोपियों में कोई अन्तर नहीं है।

इन दोनों कथानकों को तुलना करने से निम्नलिखित बातों का पता चलता है।

१—श्रीमद्भागवत के ४६ वें अध्याय में जो नन्द-यशोदा की विरह-दशा का चित्रण है, वह नन्ददास के यहाँ नहीं है। उन्होंने इसे बिल्कुल छोड़ दिया है। ऐसा लगता है, जैसे उन्होंने नन्द-यशोदा के विरह को महत्व ही नहीं दिया।

२—श्रीमद्भागवत में उद्धव स्वय सन्देश की बात नहीं करते हैं। पर नन्ददास में वे आरम्भ ही से सन्देश की बात करते है। इसका कारण यह है कि नन्ददास ने कथा को नाटकीय ढग से प्रस्तुत किया है। फलस्वरूप उन्हें सन्देश से ही आरम्भ करना पड़ा है।

३—श्रीमद्भागवत में भ्रमर का प्रवेश ४७ वें अध्याय में उस समय होता है जब गोपी-उद्धव संवाद प्रारम्भ कराया है। इससे पता चलता है कि नन्ददास का भ्रमरगीत श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के केवल ४७ वें अध्याय पर आधारित है।

४—श्रीमद्भागवत में उद्धव के उपदेश से गोपियां एक प्रकार से सन्तुष्ट सी हो जाती हैं किन्तु नन्ददास की गोपियाँ सन्तुष्ट नहीं होतीं। वे तर्क करती हैं और ऐसा तर्क जिसके कारण वे उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं और बता देती हैं कि ज्ञान मार्ग से भक्ति मार्ग श्रेष्ठ है।

५—श्रीमद्‍भागवत में इस प्रसङ्ग का उतना विस्तार नहीं है, जितना नन्ददास में है। उद्धव के मथुरा जाने का प्रसङ्ग भागवत में बडे संक्षेप में दिया है, केवल एक ही छन्द में। नन्ददास ने इसका अत्यन्क विस्तृत वर्णन किया है। निर्गुण-सगुण की जो व्याख्या नन्ददास ने की है वह भागवत की अपेक्षा कहीं अधिक विशद है।

६—श्रीमद्‍भागवत में उपालम्भ केवल एक ही गोपी द्वारा दिलाया गया है, जो सब का प्रतिनिधित्व करती है। नन्ददास में कई गोपियाँ पृथक-पृथक उपालभ देती हैं।

७—श्रीमद्‍भागवत मे उद्धव ब्रज से लौट कर कृष्ण को ब्रजवासियों की प्रेममयी भक्ति का जैसा उद्रेक उन्होंने देखा था, कह देते हैं पर नन्ददास के उद्धव कृष्ण पर क्रोध करते हैं। उनके माया जन्य भ्रम को दूर करने की नन्ददास की कथा मौलिक है।

नन्ददास का भ्रमरगीत तर्क पर आधारित है। उद्धव मथुरा पहुँचते ही कृष्ण का सन्देश कहते हैं और बिना भूमिका बाँधे उपदेश आरम्भ कर देते हैं। वे निर्गुण पक्ष को उपस्थित करते हैं और गोपियां सगुण पक्ष को। निर्गुण पक्ष में ज्ञान और योग की प्रधानता रहती है और सगुण पक्ष में भक्ति और प्रेम की। ऊधो अपनी बात आरम्भ करते हुए कहते हैं—

वै तुमते नहिं दूरि ज्ञान की आँखिन देखौ।
अखिल विश्व भरपूरि रूप सब उनहिं विसेखौ॥
लोह दारु पाखान में जल-थल महि आकाश।
सचर-अचर बरतत सबै जोति ब्रह्म परकास॥
सुनो ब्रज नागरी।

ब्रह्म ज्ञान की इस उक्ति पर गोपियों का कथन है—

कौन ब्रह्म, को ज्योति, ग्यान कासौं कहो ऊधौ।
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो॥
नैन बैन स्रुति नासिका, मोहन रूप लखाय।
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय॥
सखा सुन स्याम के।

इसके पश्चात उद्धव जो कुछ भी कहते हैं उसका गोपियाँ बराबर खण्डन करती चली जाती हैं। यदि उद्धव यह कहते हैं कि वे निर्गुण हैं और उनके कोई शारीरिक अवयव नहीं हैं तो गोपियां कहती हैं कि यदि ऐसा था तो मक्खन किसने खाया, किसने गायें चराईं, किसने हमारी आँखों में अंजन दिया और गोवर्द्धन उठाया ? उसी नन्द यशोदा के पूत कृष्ण ने ही न ? पर उद्धव फिर आगे बढ़ते हैं कि उनके कोई माता-पिता नहीं हैं वे तो अवतारी लीला करने आए थे। उन्हें अब योग द्वारा ही पा सकते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो योग नहीं चाहिए। हमारे पास तो कृष्ण हैं और हम उनके गुण गातीं हैं। हमारे समस्त शरीर में वही कृष्ण समाए हैं। उद्धव अब भी चुप नहीं होते और कर्म काण्ड का पचड़ा ले बैठते हैं। कहते हैं कि कर्म करने से ही उत्पत्ति और प्रलय होती है। उसी से मोक्ष मिलती है। तुम उसकी निन्दा क्यों करती हो ? उस पर गोपियां कहती हैं—

कर्म पाप अरु पुण्य लोह सोने की बेरी।
पायन बन्धन दोउ कोउ मानो बहुतेरी॥
ऊँच कर्म से स्वर्ग है नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरै विषय वासना रोग
सखा सुन श्याम के।

ऊधो यहाँ मुँह की खाकर फिर निर्गुण का पचड़ा ले बैठते हैं। वे कृष्ण को निर्गुण-सगुण से ऊपर बताते हुए कहते हैं—

जो उनके गुन होंहिं बेद क्यों नेति बखानैं।
निर्गुन सगुनआत्मा रचि ऊपर सुख सानैं॥
वेद पुराननि खोजिकै पायो नहि गुन एक।
गुनहू के गुन होंहिं जो कह अकास किहि टेक॥
सुनो ब्रज नागरी।

गोपियाँ इस पर उत्तर देती हैं—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहाँ ते॥

वा गुन की परछाँह री माया दर्पन बीच ।
गुन ते गुन न्यारे भए अमल बारि मिलि कीच ॥
सखा सुन श्याम के ।

ऊधो आगे हरि और माया के गुणों के अन्तर का उल्लेख करते है और वेदों का सहारा लेकर निर्गुण ब्रह्म का समर्थन करते हैं । इसपर गोंपियाँ वेदों को, जिनसे ब्रह्म को 'नेति नेति' बताया जाता है, हरि की श्वास कहती हैं और निष्काम प्रेम का सुझाव रखती है । ऊधो फिर कर्म की बात कहते हैं और क्रमशः कर्म करते करते कर्म बन्धन से छूटने की युक्ति देते हैं तथा ब्रह्म में लीन होने का मार्ग बताते हैं । इस पर गोपियाँ कहती हैं कि कर्म से तो हरि भी निर्लिप्त नहीं हैं क्योंकि वे भी कर्म बन्धन में बँधते हैं । इस पर ऊधो कृष्ण को फिर इन कर्मों से परे बताते हैं और शुद्ध स्वरूप के ज्ञान की ओर सकेत करते हैं । इस पर गोपियाँ नास्तिक कहकर ऊधो की अपेक्षा करती हैं—

हमकों बिन वा रूप के और न कछू सुहाय ।
ज्यों करतल आमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय ॥
सखा सुन स्याम के ।

सारांश यह है कि निर्गुण ब्रह्म की व्यापकता, ज्ञान की शक्ति, योग का उपाय, कर्म की महत्ता आदि ब्रह्म प्राप्ति के सभी साधनों का उल्लेख ऊधो करते हैं, जिसका खण्डन गोपियाँ तर्क सहित करके सगुण रूप की महत्ता बताती हैं ।

पुष्टिमार्ग में मर्यादा, ज्ञान और कर्म का स्थान नहीं है । वहाँ भगवान् की प्राप्ति प्रेमासक्ति (कुल की लज्जा का लोप) से ही मानी जाती है । नन्ददास ने तर्क में इन्हीं बातों की ओर लक्ष्य रखा है । तर्क के पश्चात् ही नन्दलाल का रूप आँखों के आगे आना और विह्वल होकर गोपियों का उससे बातें करना इसका प्रमाण है । यदि एक ही स्थान पर सम्प्रदाय की छाप देखनी हो तो हारे हुए उद्धव के ये वचन देखिए, जिनमें प्रेमतत्व की सफल व्यंजना है—

जो ऐसे मरजाद मेटि मोहन को ध्यावैं।
क्यों नहिं परमानन्द प्रेम पद को पी जावैं॥
ग्यान जोग सब कर्म ते प्रेम परे है साँच।
हौं यहि पटतर देत हौं हीरा आगे काँच॥
विषमता बुद्धि की।

यह प्रेमासक्ति भगवत् कृपापर अवलम्बित है और इसकी प्राप्ति 'दुविधा ज्ञान' के नाश से हो सकती है।

प्रेम प्रसंसा करत सुद्ध जो भक्ति प्रकाशी।
दुविधा ज्ञान गिलानि मंदता सिगरी नासी॥

कहकर उद्धव ने इसी ओर संकेत किया है।

प्रश्न २—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए।

१—रास पञ्चाध्यायी में कृष्ण का स्वरूप।

२—नन्ददास के दार्शनिक विचार।

३—रासपंचाध्यायी का कथन।

१—रासपञ्चाध्यायी में कृष्ण का स्वरूप—रास पंचाध्यायी के रचयिता नन्ददास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि हैं। अष्टछाप के सभी कवियों में पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तों के अनुकूल काव्य रचना करने वाले कवियों में वे अग्रगण्य हैं। अतएव पुष्टिमार्ग में जो कृष्ण का स्वरूप है वही रास पचाध्यायी में भी है। पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण के अपार गुण, कर्म और रूप हैं। आगम, निगम, पुराण, स्मृति, इतिहास और ज्ञान-विज्ञान सब उनके विश्वास है। वे ही नारायण हैं। वे ही अवतार धारण करते हैं। उनकी लीलाओं के कई भाग हैं—बाल, कुमार, पौगण्ड और बड़ी आयु की धर्म संस्थापन लीला पर वे 'नित्यकिशोर' हैं। उन्होंने ही रासलीला करके काम के गर्व को नष्ट किया। वे ही ब्रह्म हैं। नन्ददास ने भी अपनी रास पचाध्यायी में कृष्ण के इसी स्वरूप को रखा है। वे कृष्ण अद्भुत रूप हैं और उनकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त ब्रह्म तो उसकी कुछ आभा मात्र हैं। वे कृष्ण परमात्मा हैं, भगवान् हैं। वे बाल,

कुमार, पौगण्ड अवस्थाओं में शोभित होते हैं, धर्म रत हैं। नित्यकिशोर कृष्ण तो सब के मन को मोहित करते हैं—

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवै छवि ताकी।
अखिल अंड व्यापी जो ब्रह्म आभा कछु जाकी॥
परमातम पर ब्रह्म सबन के अन्तरजामी।
नाराइन-भगवान धरम करि सबके स्वामी॥
बाल कुमार पौगण्ड-धरम आक्रांत लसत तन।
धरमी नित्त किशोर-कान्ह मोहत सबको मन॥

'रास पंचाध्यायी' में कृष्ण के इसी अद्भुत और अलौकिक रूप की व्यञ्जना है। कुछ लोग शृङ्गार का आधिक्य देखकर नन्ददास के कृष्ण को सामान्य नायक की कोटि में ले जाते हैं पर यह भूल है। लौकिक दृष्टि से गोपियों का मर्यादा छोड़ कृष्ण के साथ रास रचना गर्हित कर्म है पर आध्यात्मिक दृष्टि से कृष्ण परमात्मा और गोपियाँ आत्मा होने से गोपियों का विरह और मिलन परमात्मा के सम्मिलन का ही सूचक है। इसमें दिव्य शृङ्गार की झलक है। कृष्ण का जो स्वरूप रीतिकालीन कवियों में पाया जाता है, वह नन्ददास में नहीं है क्योंकि नन्ददास में वासना नहीं है, भक्ति है, जो शुद्ध प्रेम का विधान करती है। कृष्ण ने इसीलिए 'रास पचाध्यायी' में काम का मदपूर्ण वर्णन किया है—

तब आयो वह 'काम' पंचसर कर हैं जाके।
ब्रह्मादिक कों जीति बढ़ि रह्यो अति मद ताके॥
निरखि ब्रज्वधू संग, रंग भीने किसोर तन।
हरि मन्मथ करि मथ्यौ, उलटि वा मनमथ को मन॥

सारांश यह है कि 'रास पचाध्यायी' में कृष्ण का स्वरूप वही है, जो बल्लभ सम्प्रदाय में गृहीत है। वृन्दावन में रासलीला में मग्न नित्यकिशोर कृष्ण का चित्रण ही आध्यात्मिक दृष्टि से नन्ददास ने अपनी इस कृति में किया है।

२—नन्ददास के दार्शनिक विचार—नन्ददास आचार्य बल्लभ के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। अतएव उनके दार्शनिक विचार

जानने के लिए बल्लभाचार्य के विचारों का ज्ञान लेना अत्यन्त आवश्यक है। बल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है। अन्य मतों की भाँति शुद्धाद्वैत भी शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध में ही खड़ा हुआ था। अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म तथा जगत और ब्रह्म की एकता मानी गई है। द्वैत भाव के अभाव से ही वह अद्वैतवाद है। बल्लभाचार्य का सिद्धान्त उससे कुछ भिन्न है। वहाँ ब्रह्म सतचित आनन्द स्वरूप है। वह सत के आविर्भाव और चित तथा आनन्द के तिरोभाव से जगत तथा सत और चित के आविर्भाव और आनन्द ने तिरोभाव से जीव के रूप में प्रकट हुआ। सतचित और आनन्द के रूप में वह सर्व व्यापक है। जगत और जीव उससे उसी भाँति प्रकट हुए हैं जैसे अग्नि से चिनगारी। माया भी ब्रह्म की इच्छानुगामिनी शक्ति है। जब जीव में उपर्युक्त तीनों रूपों का आविर्भाव और मायाकृत तिरोभाव दूर हो जाता है तब वह अपने शुद्ध ब्रह्म रूप में आ जाता है। यह ईश्वर के अनुग्रह से होता है, जिसे आचार्य ने पुष्टि नाम दिया है। इसीलिए बल्लभाचार्य का मार्ग 'पुष्टि मार्ग' कहलाता है।

उपासना के क्षेत्र में कृष्ण ही सर्वस्व हैं। मोक्ष के दो उपाय हैं—ज्ञान और भक्ति। भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। ज्ञान से आत्मा अक्षर (ब्रह्म) में लीन होती है और भक्ति से कृष्ण में।

शङ्कर और बल्लभ के सिद्धान्तों में भेद यह है कि आचार्य शङ्कर के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है। बल्लभ के अनुसार व्यक्तिगत आत्माओं की भी सत्ता है। बल्लभ संसार को भी मिथ्या नहीं मानते। उनके अनुसार ईश्वर और जगत दोनों सत्य हैं। स्वर्ण के आभूषण और स्वर्ण में रूप भेद है, वस्तु भेद नहीं वैसे ही जगत और ईश्वर में रूप का अन्तर है।

कविवर नन्ददास बल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले थे उनके काव्य में अपने सम्प्रदाय की छाप भी सबसे अधिक है। सिद्धांत पंचाध्यायी, रास पंचाध्यायी, भँवरगीत आदि में उनके पुष्टिमार्गी सिद्धान्त अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त हुए हैं। कृष्ण को ब्रह्म के रूप में अङ्कित करते हुए उन्होंने 'रास पचाध्यायी' में लिखा है—

मोहन अद्भुत रूप कहि न आवे छवि ताकी।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा कछु जाकी॥
परमातम परब्रह्म सबन के अन्तरजामी।
नाराइन भगवान धरम करि सबके स्वामी॥

माया इसी ब्रह्म रूप कृष्ण की अनुगामिनी है। स्वयं कृष्ण इस सम्बन्ध में कहते हैं—

सकल विश्व अपुबस करि मो माया सोहति है।
प्रेम मई तुम्हरी माया मो मन मोहति है॥

रास के वर्णन में कृष्ण ब्रह्म हैं और गोपियाँ विरही जीवात्माएँ। उनके साथ गोपियों का प्रेम शाश्वत है। इसी प्रेम से कृष्ण उनके वश में रहते हैं। 'भँवरगीत' में ज्ञान-योग की प्रेम भक्ति से पराजय दिखाकर नन्ददास ने सगुण का मण्डन और निर्गुण का खण्डन कराया है। स्वयं उद्धव के ज्ञान के गर्व का नष्ट होना दिखाकर उसे प्रेम-विभोर बताया है। यह भक्ति से प्रभु प्राप्ति की ओर संकेत है।

३—रास पंचाध्यायी का कथानक—'रास पंचाध्यायी' की कथा का आधार श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध—अध्याय उन्तीस से लेकर तेतीस तक है। भागवत के रास सम्बन्धी पाँच अध्याय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नन्ददास जी ने विषय क्रम आदि सब भागवत के समान ही रखे हैं। कहीं-कहीं तो भागवत के श्लोकों की पदों में छाया तक ली है। हरिवंश पुराण के हल्लीस क्रीड़न से भी नन्ददास ने सहायता ली जान पड़ती है। शैली माधुर्य के लिए तो वे 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव के ऋणी है।

इसके प्रथम अध्याय में श्रीमद्भागवत के रचयिता श्री शुकदेव जी का नख-शिख वर्णन है। उसके पश्चात् कवि ने वृन्दावन का आदर्श और रमणीक वन के रूप में वर्णन किया है। उसके बाद ही शरद रजनी और चन्द्रोदय का वर्णन करके कवि ने चराचर को मोहने वाली मुरली के बजने का वर्णन करके गोपियों को घर-बार छोड़ रास के लिए यमुना तट पर पहुँचाया है। यहाँ कृष्ण उन्हें प्रेम कर्तव्य समझाते हैं और 'अधरामृत' न मिलने पर

विरहाग्नि में जल मरने की धमकी देती है। कृष्ण पिघलते हैं और कुञ्ज में विहार करते हैं।

उन्हें रासक्रीड़ा में मग्न देख ब्रह्मादिक को पराजित करने वाला काम आता है, जिसे कृष्ण पराजित करते हैं। ऐसे अलौकिक कृष्ण से मिलने के कारण गोपियों को अभिमान हो जाता है, जिसे दूर करने को कृष्ण कुछ काल के लिए अन्तर्हित हो जाते हैं।

दूसरे अध्याय में कृष्ण की खोज में व्याकुल गोपियों के विलाप का वर्णन है। वे पेड़-पौधों से, लता-कुञ्जों से कृष्ण का पता पूछती हैं। यह अध्याय विप्रलम्भ शृङ्गार का श्रेष्ठ उदाहरण है। यह करुणा रस से पूर्ण है।

तीसरे अध्याय में गोपियों की व्याकुलता के कलापूर्ण चित्र हैं। कृष्ण दर्शन के लिए प्रार्थना करती गोपियों के मार्मिक व्यय वचनों से उनकी मानसिक दशा का अच्छा परिचय मिलता है।

चौथे अध्याय में कृष्ण के पुनः प्रकट होने का वर्णन है। यहाँ गोपियाँ कृष्ण से इस प्रकार छिपकर कष्ट पहुँचाने का कारण पूछती हैं जिसके उत्तर में कृष्ण उनसे क्षमा याचना करते हुए अपने को उनका ऋणी बताते हैं।

पाँचवे अध्याय में रास का सजीव चित्र है। आगे चलकर रासक्रीड़ा, जलक्रीड़ा मे परिवर्तित हो जाती है। इसके पश्चात् प्रातःकाल 'ब्राह्म मुहूर्त' में गोपियाँ अपने-अपने घर जाती हैं। अन्त में कवि 'फलस्तुति' लिखकर ग्रन्थ की समाप्ति करता है।

भक्तिकाल पर सामान्य प्रश्न

प्रश्न १—गीतिकाव्य की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—गीतिकाव्य हमारे काव्य की वह विधा है जिसका शत प्रतिशत हृदय से सम्बन्ध है। यों तो सभी प्रकार के काव्य का सम्बन्ध हृदय से होता है परन्तु गीतिकाव्य का हृदय से सम्बन्ध विशेष प्रकार का है। गीतिकाव्य की भावधारा हृदय में उठती और हृदय में ही लय हो जाती है। उसमें अन्तर्मुखी वृत्ति का इतना प्राधान्य होता है कि बाह्य जीवन को या तो वह देखता

ही नहीं और यदि कभी संयोगात देखता भी है तो अपने रंग में रंगकर। इस प्रकार गीतिकाव्य शुद्ध अन्तरानुभूति का काव्य है।

दूसरी विशेषता यह है कि उसमें अन्तर्जगत की कोमल भावनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है। दार्शनिक विचारों की गहनता, राजनीति अथवा समाज के सैद्धान्तिक निरूपणादि का उसमें स्थान नहीं है। यदि ऐसा होगा तो गीतिकाव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। रीति और करुणा ये दो ही स्थायी भाव गीतिकाव्य की विशेष सम्पत्ति रहे है। निर्वेद और उत्साह भी मिल जाते हैं पर उनमें वह प्रवाह नहीं आ पाता जो रीति और करुणा में आता है। उदाहरण के लिए कबीर और तुलसी के दार्शनिक विचार सम्पन्न पदों से मीरा, सूर और विद्यापति के पदों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है। मीरा के गीत सीधे हृदय पर चोट करते हैं। उनके लिए हमें तनिक भी मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता।

गीतिकाव्य की तीसरी विशेषता यह है कि उसमें एक ही सहज उद्‌गार की अभिव्यक्ति होती है। सहसा एक पंक्ति निकलती है और शेष पंक्तियाँ उसी पंक्ति में प्रदर्शित भाव को तीव्रता देने के लिए आती हैं। पक्तियों की संख्या भी थोड़ी ही होती है। इसी कारण गीतिकाव्य के गीत संक्षिप्त होते हैं। लम्बे गोतों में वह सौन्दर्य नहीं आ पाता। अतः सक्षिप्तता गीतिकाव्य का आवश्यक तत्व है।

गीतिकाव्य की चौथी विशेषता यह है कि वह सङ्गीतात्मक होता है। सङ्गीतात्मक के बिना गीत जीवित नहीं रह सकता। श्रेष्ठतम गीतिकाव्य की सृष्टि सङ्गीतमयी होती है। सूर, मीरा, तुलसी आदि के गीत राग रागनियों में ही लिखे गये हैं। गीत में गेयता का होना अत्यावश्यक है। गीतिकाव्यकारों के पदों को सङ्गीतज्ञ की स्वर लहरी की एक नई ही छटा और प्रभाव दे देती है। गीतिकाव्य की पाँचवीं विशेषता यह है कि अन्तरग की भाँति उसका बहिरंग भी स्वाभाविक, अकृत्रिम और कोमल होता है। कर्कश शब्दावली, ओज गुण और अलङ्कारिकता से उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसीलिए गीतिकाव्य में सजावट का अभाव होता है। माधुर्य और प्रसाद गुण सम्पन्न प्रवाहमयी भाषा में गीतिकाव्य अच्छा बनता है।

प्रश्न २—निर्गुण और सगुण उपासना के दृष्टिकोण की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए और दोनों सम्प्रदायों के अन्तर्गत भक्तिमार्ग की रूपरेखा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—निर्गुण उपासना में ईश्वर को निराकार माना जाता है और उसकी प्राप्ति का मार्ग ज्ञान है। आत्म शुद्धि ज्ञान के लिए आवश्यक मार्ग है। पिछले युग में हठयोग द्वारा आत्मशुद्धि होती थी पर संतमत में इस कष्ट-कृच्छ्र साधना को हेय और अनुपयुक्त समझा गया और सहज साधना को स्थान मिला। इस निर्गुण उपासना में उपनिषदों का ज्ञानमार्ग आत्म-शुद्धि के लिए हठयोग की साधना और सन्तो की सहज समाधि तीनों का एकीकरण हुआ। सूफियों की प्रेम साधना को भी उसमें लिया गया है परन्तु इसे भारतीय रूप देकर ही। जिसके कारण वहाँ आत्मा स्त्री और परमात्मा पुरुष हो गया है। कबीर अपने राम को बहुरिया मानकर प्रेम की साधना करते थे। जिस समय यह निर्गुण सम्प्रदाय अपने पूरे विकास पर था उसी समय वैष्णव धर्म का भी प्रभाव उत्तरी भारत में बढ़ रहा था और विष्णु, हरि, नारायण, राम आदि का नाम सगुण उपासना के लिए व्यवहृत होता था। निगुर्णोपासना में भी इन नामों का प्रयोग हुआ पर सगुणोपासना से भिन्न अर्थ मे।

सगुण उपासना मे ईश्वर को साकार माना जाता है और उसकी प्राप्ति का मार्ग भक्ति है। राम और कृष्ण की पूजा का विधान सगुण भक्ति मे होता है। ये भगवान् के अवतार हैं। इनके अवतार लेकर नरलीला करने का कारण यह है कि वे भक्त के आनन्द के लिए ही प्रगट होकर लीला करते है। गीता में धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश भी अवतार लेने का कारण बताया गया है। अवतारों के तीन रूप होते हैं—१—स्वयं रूप राम-कृष्ण (जो तत्वतः भगवद् रूप हैं। २—तदेकात्मक रूप—मत्स्य—वाराहादि (जो तत्वतः भगवद् रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न हैं। ३—आवेश रूप—नारद, शेष, सनक सनन्दन (जिसमें भगवान महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते हैं। लेकिन ये अवतार सब एक ही प्रभु के हैं अतः इनमें भिन्नता नहीं है। सगुणोपासना में राम-कृष्ण का

ही विशेष महत्व है। ये दोनों साक्षात ब्रह्म हैं। नररूप में अलौकिक लीलाएँ करते हैं। सगुण निर्गुण तक पहुँचने का मार्ग है। भागवत में एक अद्वय ज्ञान तत्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान तीन प्रकार से कहा गया है। यह विभिन्नता उपासना भेद के कारण है। ज्ञानी जिसे ब्रह्म मानता है, वह योगी के लिए परमात्मा रूप और भक्त के लिए भगवद् रूप है। इसलिए सगुण भक्ति में पग पग पर सगुण निर्गुण के पीछे छिपा रहता है।

इस प्रकार निर्गुण और सगुण में कोई भेद है तो केवल उपासना पद्धति का। निर्गुण में ज्ञान द्वारा प्रभु प्राप्ति मानी जाती है और सगुण में भक्ति से। निर्गुण में भी भक्ति है और सगुण में भी ज्ञान है पर निर्गुण में लक्ष्य भक्ति नहीं ज्ञान है और प्रभु के साथ तदाकारिता में उसका लय है। इसके विपरीत सगुण में भक्ति लक्ष्य है और प्रभु के साथ सामीप्य में उसका पर्यवसान है। गुरु की महत्ता दोनों में समान है। सगुण में बाह्या-चार प्रमुख है, निर्गुण में नहीं। सगुण की वैसी भक्ति तो बाह्याचार पर ही निर्भर है तथा रागानुगा भक्ति की तन्मयता निर्गुण प्रेम सम्बन्धी सूफी भावना से मिल जाती है। आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श दोनों के समान है। निर्गुणोपासना में आत्म-संयम के लिए काम, क्रोध, लोभ, मोह मान और अहन्ता का भाव, अपरिग्रह, इन्द्रिय सयम के लिए निद्रा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, मादक वस्तु और कामिनी त्याग, मानसिक संयम के लिए कपट, आशा, तृष्णा, निन्दा, मन की चंचलतना का त्याग, आचार व्यवहार सम्बन्धी संयम के लिए कुसग त्याग, तीर्थ व्रत में आस्था, वेष भूषा त्याग, अन्य देव पूजा त्याग आदि आवश्यक बातें हैं। सगुण में भी इसी प्रकार हरि विमुख जनों का साथ, महारम्भ का उद्यम, नाना ग्रन्थ, कला तथा वाद्यों का अभ्यास, कृपणता, शोकादि के वशीभूत होना, अन्य देवों के प्रति अवज्ञा, जीवों को सताना, साधु निन्दा, गुरु अवज्ञा वेदादि निन्दा, नाम माहात्म्य के प्रति अनास्था आदि का निषेध किया गया है।

निर्गुण भक्ति में सत् पुरुष (निराकार ईश्वर) में आस्था, नाम

स्मरण, शब्द, अनहद नाद, सुरत, विरह, पतिव्रता प्रेम, सत्सङ्ग, सहज समाधि, सत्य, प्रेम, उदारता, क्षमा, धैर्य, दीनता, विचार, विवेक तथा आदि साधनों का विधान किया गया है। सगुण भक्ति में इसके लिए श्रद्धा, साधु संग, भजन, क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति भाव और प्रेम में ये नौ साधन बताए गए हैं। भगवान के प्रेम के महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तनमन्यतासक्ति, परम विरहासक्ति ये ग्यारह रूप हैं परन्तु शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये पाँच भगवद् प्रेम की पूर्ण अवस्था हैं।

इस प्रकार बाह्य साधनों की भिन्नता, निर्गुण और सगुण भक्ति में हैं तो सही परन्तु प्रभु के प्रति निष्काम प्रेम सांसारिक विषयों से विराग, आत्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न, सदाचार पूर्ण जीवन यापन ये सब बातें दोनो में समान हैं। अन्तर केवल उपास्य की मान्यता में है।

प्रश्न ३—भक्तिमार्ग क्या है? उसके गुण दोषों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—भगवान के प्रति तीव्र अनुराग का नाम भक्ति है। यह दो प्रकार की होती है—रागानुगा और वैधी। वैधी भक्ति द्वारा रागानुगा भक्ति तक पहुँचने में ही स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होती है। वैधी भक्ति के पाँच अंग हैं—

(१) **उपासक**—उपासक को शरीर और हृदय की शुद्धि करके देवताओं की उपासना करनी चाहिए। इनसे इच्छा शक्ति की वृद्धि होती है। चित्त स्थिर और निर्मल होकर स्वाभाविक रुप से ईश्वराभिमुख हो जाता है। (२) **उपास्य**—वस्तुत: उपास्य है तो निर्गुण और निराकार ही परन्तु वैधी भक्ति वालो के लिए सगुण और साकार ही वाञ्छनीय हैं। उपासक विभिन्न आकृतियों, रूपो और नामों में से किसी एक को पूर्ण ब्रह्म का प्रतीक समझ कर उपासना कर सकता है। उसका लक्ष्य उस प्रतिमा द्वारा उस सर्वान्तर्यामी का सानिध्य प्राप्त करना है। (३) **पूजा द्रव्य**—कलश, शंख घन्टी और पूजादीप इनमें प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त षोडशोपचार में काम करने वाले दूसरे पदार्थ पंचामृत, वस्त्र, यज्ञोपवीत, पुष्प, चन्दन, नैवैद्य, ताम्बूल आदि भी आवश्यक माने गए है। (४) पूजा विधि -- मूर्तिपूजा में षोड्शोपचार पूजा उत्तम है। इसमें आवश्यकतानुसार पचोपचार पूजा—चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, नैवैद्य वाली पूजा भी प्रशस्त मानी जाती है। (५) मन्त्र जप—मन्त्रों की शक्ति अपरिमित मानी जाती है। प्रणव मन्त्र (ॐ) परमात्मा का प्राचीनतम मन्त्र है। यही विकसित होकर गायत्री बना है। मन्त्र जप में गुरुतत्व, मन्त्रतत्व. मनस्तत्व, देवतत्व, ध्यान तत्व इन पंच तत्त्वों का बड़ा महत्व है।

यह वैधी भक्ति मन्द श्रद्धा वालों के लिए हैं जिनकी श्रद्धा तीव्र है उनके लिए रागानुगा भक्ति का विधान है। इसमें प्रेम की प्रधानता है—राग इसका केन्द्र विन्दु है। आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी, ज्ञानी आदि पॉच प्रकार के भक्त माने गए हैं। भगवान के प्रति आसक्ति के भेद से आसक्तियाँ मानी गई हैं। इनके नाम प्रश्न संख्या दो के अन्तिम पैराग्राफ मे दिए जा चुके हैं। इनमें से किसी आसक्ति के सहारे भगवत्प्रेम का अंकुर जम सकता है। प्राचीन आचार्यों ने नवधा भक्ति पर विशेष बल दिया है। यह नवधा भक्ति हैं—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन।

भक्ति मे इष्टदेव से हम निष्काम प्रेम करते हैं। सकाम भक्ति से वास्तविक लाभ नहीं होता क्योंकि कामना नश्वर सासारिक वस्तुओं की होती है और नश्वर वस्तुओं के प्रति विराग भक्त के लिए आवश्यक है। प्रभु के सामीप्य की कामना ही भक्त को अभीष्ट रहती है; संसार से विरक्ति बिना विवेक के सम्भव नहीं। अतः भगवान् के प्रति निष्काम प्रेम होना और विवेक के साथ वैराग्य की साधना करना भक्ति के प्रमुख अंग हैं। यही भक्ति मार्ग है।

भक्ति मार्ग का प्रथम गुण यह है कि यही लोक धर्म है। गीता में क्रियाशील व्यक्तियों के लिए कर्म मार्ग, वैराग्यशील और तार्किक वृत्ति वालों के लिए ज्ञान मार्ग और मध्यमा वृत्ति वालों के लिए भक्ति मार्ग का

विधान है। साधारण जन के लिए भक्ति मार्ग सुगम है। प्रेम की प्रधानता से यह भक्ति मार्ग ही कहलाता है। दूसरा गुण यह है कि इस ·ग पर चलकर मनुष्य मुक्ति और भुक्ति दोनों ही पा सकता है। तीसरा गुण यह है कि इससे हमारा हृदय शुद्ध सबल और सरस बनता है। कारण प्रभु इन गुणों से युक्त हैं और उसका चिन्तन करने से हममें भी वे ही गुण आ जाते हैं। चौथा गुण यह है कि प्रभु की महत्ता का चिन्तन करते करते हमारे अहङ्कार का नाश हो जाता है, जो आत्म कल्याण के लिए बड़ा आवश्यक है। आत्म शान्ति की प्राप्ति इसका पाँचवाँ गुण है।

गुण के साथ इसमें दोष भी हैं। सबसे पहला दोष यह है कि इष्टदेवों की सख्या अनेक होने से विभिन्न सम्प्रदाय के भक्त परस्पर लड़ते रहते हैं। शैव्यों और शाक्तों तथा शैव्यों और वैष्णवों के झगड़ों का मूल कारण इष्टदेवों की भिन्नता ही है। दूसरा दोष यह है कि भक्त सब कुछ भगवान पर छोड़ कर भाग्यवादी और आलसी हो जाते हैं। वे अपनी कमजोरियों और बुराइयों का दोष अपने भगवान पर डालते रहते हैं। तीसरा दोष यह है कि भक्तों में अन्ध विश्वास इतना अधिक बढ़ जाता है कि कभी-कभी लोग दम्भियों और ठगों के चक्कर में पड़ कर ठगे जाते है। चौथा दोष यह है कि पूजा पाठ और ऊपरी आचार पर अधिक बल देने से पाखण्ड और सामाजिक विषमता बढ़ती है। पाँचवाँ दोष यह है कि प्रेम और सौन्दर्य को अधिक महत्व देने से विलासिता तथा दैन्य को अधिक महत्त्व देने से दासता की भावना बढ़ती है जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अवांछनीय है।

रीतिकाल पर सामान्य प्रश्न

प्रश्न १—रीतिकाल की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—रीतिकाल हिन्दी साहित्य का शृङ्गार प्रधान युग माना जाता है। मुगलकालीन सुशासन और कलाप्रियता से कलाकौशल को अतीव

प्रोत्साहन मिला था । छोटे छोटे राजा और सरदार सब विद्याप्रेमी और दानवीर थे । इस कारण इनके दरबार में अनेक लब्ध कवि आश्रय में रहते हुए ये कवि अपने स्वामी के मनोरंजन और यशोगान की साधना में ही अपने सम्पूर्ण काव्य शक्ति की उपयोगिता करते थे । तुलसी की भांति 'स्वांतः सुखाय' की उपास्य भावना अब नही रही थी । सुशासन में रहने से जनता की रुचि अब जीवन के सौन्दर्य पक्ष की ओर बढ़ चली । अपनी इसी रसिक मनोवृत्ति के अनुरूप अब सामाजिको की अभिरुचि भी ऐसी काव्य कवियों कृ‍ृसियों की ओर होने लगी जिनमें शृङ्गार प्रधान था । धार्मिक क्षेत्र में कोई नवीन आन्दोलन नहीं चला । शनैः शनैः भक्तिकाल के राधा कृष्ण लौकिक शृङ्गार के प्रतीक बन गए । इसके अतिरिक्त फारसी साहित्य के संसर्ग से हिन्दी में 'ऊहा' की प्रवृत्ति का भी समावेश होने लगा । संक्षेप में यही रीति काल की परिस्थितियाँ थीं ।

इन्हीं परिस्थितियों पर आधारित उस काल में पाँच प्रमुख प्रवृत्तियाँ कार्य कर रहीं थीं । प्रथम प्रवृत्ति संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी के लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करने की थी । इसके अनुसार काव्य के विविध अङ्गों, रस, अलङ्कारो, छन्द आदि की विस्तृत विवेचना की गई । द्वितीय लौकिक शृङ्गार की व्यञ्जना के रूप में प्रकट हुई । राधा कृष्ण अपनी अलौकिकता खोकर साधारण नायक नायिका बन गए । उन्हीं को आलम्बन बना कर रीतिकालीन कवियों ने अपनी उत्कट शृङ्गार भावना का मार्मिक परिचय दिया । तीसरी प्रवृत्ति कलापक्ष की प्रधाना के रूप में लक्षित होती है । इसके अनुसार भावना की सुकुमारता, अनुभूति की सत्यता एव कल्पना की मौलिकता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना उक्ति की वक्र अभिव्यञ्जना पर जिससे केवल चमत्कार उत्पन्न हो सकता था—वास्तविक काव्यानन्द की अनुभूति नहीं । उन्होंने भाव सौन्दर्य की अवहेलना सी ही की । प्रवृत्ति के अनुसार प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित किया गया । स्वतन्त्र प्रकृति निरीक्षण का इसी कारण रीतिकालीन कविता में अभाव है । पाँचवीं प्रवृति मुक्तक काव्य रचना की थी । जीवन के सौंदर्य पक्ष की प्रधानता होने के कारण 'प्रबन्ध रचना' के लिए उपयुक्त अवसर न था । फलतः इसी सौंदर्य

पक्ष का अवलम्बन कर कवियों ने अपनी शृङ्गार भावना को काव्य में अभिव्यक्त किया, और इसके लिए मुक्तक का कलेवर ही सबसे उपयुक्त था।

उपर्युक्त परिस्थितियों के सूक्ष्म एव संक्षिप्त विश्लेषण द्वारा हमने देखा कि उस युग में जीवन के सौन्दर्य पक्ष की प्रधानता होने के कारण लौकिक शृङ्गार की प्रधानता रही। सारा समाज इसी भावना से ओत प्रोत था। मुसलमानों की विलास भावना के शिकार होने के कारण जनता एवं उसके नायक राजागण निष्क्रियता का जीवन व्यतीत करने लगे थे। उनकी कर्मशीलता केवल विलास के ही क्षेत्र में उद्बुद्ध होती थी। फलतः उनके आश्रित भी अपनी जीविका चलाने के लिए उनकी विलास भावना को उत्तेजित करके ही राजदरबार में अपनी स्थिति सुरक्षित रख सकते थे। उन्होंने वही किया। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि जब स्वामी को वीरता की बात सुनने का अवकाश न हो तब सुनाने से क्या लाभ?

भक्तिकाल के कवियों के आदर्श लेकर भी रीतिकाल के कवि नहीं चल सकते थे। कारण स्पष्ट था। भक्तिकाल के कवियों ने भगवान सगुण और निर्गुण रूप को अपना आराध्य माना था और उसकी आराधना के लिए उन्होंने जगत को छुटका दिया था। इन भक्तकवियों के लिए नरकाव्य लिखना असम्भव था। नारायण के सामने वे नर को नहीं पूछते थे। तुलसी ने लिखा था, "कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना।" सरस्वती के ये वरद पुत्र नरगुण गाकर उसका अपमान नहीं करना चाहते थे। राजदरबारों से उन्हें घृणा थी। कुम्भनदास ने अकबर का निमन्त्रण ठुकराते हुए कहा था "सतन कहा सीकरी काम।" रीतिकाल के कवियों में इतना साहस कहाँ था? उनकी स्थिति तो सोने के पिंजड़े में बन्द तोते की सी थी। जो स्वामी चाहता था वही उन्हें कहना पड़ता था। फिर भक्ति काल के कवि के लिए भक्ति साध्य थी, जब कि रीतिकालीन कवियों के लिए बहाना मात्र थी—

"आगे के सुकवि रीझि है तो कविताई,
न तो राधिका गुबिन्द सुमिरन को बहानो है।"

भक्तिकाल के कवियो से इनमें एक और अन्तर था। वे कवि बड़े विनम्र

और भोले थे। दैन्य उनके जीवन का बल था। गोस्वामी जी "कवित विवेक एक नहिं मोरे' सत्य कहौं लिखि कागद कोरे" कहते हैं और प्रेमगाथा के महाकवि जायसी "हौं पंडितन केर पछलगा;' कहकर अपने को पीछे ठहराते हैं। इसके विपरीत रीतिकाल का कवि अपने पांडित्य और प्रतिभा का प्रदर्शन आत्म प्रशंसा की सीमा तक पहुंच कर करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे पूछता कौन। सेनापति आदि की गर्वोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। दरबार में धाक जमाए बिना काम नहीं चल सकता था और धाक जमाने के लिए अपने को बढ़ा चढ़ा कर दिखाया जाता है। इस प्रकार रीतिकाल के कवि वीरगाथा काल और भक्ति काल के कवियों से भिन्न आदर्श लेकर चले और फलस्वरूप शृङ्गार की धारा पूर्ण वेग से बहने लगी। बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में, "जिस शृङ्गार की मदिरा ने औषधि का काम किया था वही पीछे से एक घातक बन गई। जब तक आकार या कलापक्ष जीवन से सम्बन्धित रहता है तब तक उसमें उन्नति को आशा रहती हैं, किन्तु जब आकार की पूजा होने लगती है तब जीवन का स्रोत सूखने लगता है।"

रीतिकाल की इस शृङ्गार की अधिकता का उत्तरदायित्व कृष्ण भक्त कवियों पर है। उन्होंने राधा और कृष्ण की मिलन-विरह तथा हासविलास सम्बन्धी बातों के वर्णन में समस्त शक्ति लगा दी थी। यद्यपि वे भक्ति के ही आवेश में राधा कृष्ण के शृङ्गार का वर्ण करते थे और वह वर्णन अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा होने पर भी पाठकों के मन में यह भावना जगाता था कि यह भगवान की लीला है। उनकी इस भावना को समझदार व्यक्ति ही समझ सकते थे क्योंकि साधारण जनता तो गहराई सोचने की आदी नहीं होती। वह उसे लौकिक शृङ्गार ही समझती है, अलौकिक नहीं। साथ ही राजदरबारों के आश्रय के कारण भी राधा कृष्ण की पवित्रता को धक्का लगा। कवि उन्हें सामान्य नायक नायिका मानकर कविता करने लगे और भक्ति का पावन आदर्श शृङ्गार की आँधी में पत्ते की तरह उड़ गया।

इस काल में भी भक्ति काल की भाँति मुक्तक रचना विशेष हुई। राजदरबार में कवि को इतना ही अवसर था कि जब राजा का मन देखे तो

तुरन्त दो एक छन्द बनाकर उसका मनोरञ्जन कर दे। परिणाम स्वरूप कवित्त, दोहे, सवैये का इस काल में प्राधान्य रहा। इस काल में ब्रजभाषा का क्षेत्र व्यापक हो गया। नागरीदास ने इस काल की भाषा के लिए लिखा है—

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होय॥
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग, यवन, भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै, षट् विधि करत बखानि॥"

इस काल में कलापक्ष की प्रधानता हो गई। मुक्तकों द्वारा एक एक रस और एक एक अलङ्कार का वर्णन किया गया। आगे चलकर तो यह प्रथा ही चल पड़ी कि जब तक कोई नायिका भेद, रस या अलङ्कार पर ग्रन्थ न लिखे तब तक वह कवि ही नहीं माना जा सकता। कवि होने के लिए इस परिपाटी का—इस रीति का—पालन आवश्यक था। इसीलिए यह काल रीतिकाल कहा जाता है।

रीतिकाल में नायिका भेद, रस या अलङ्कार ग्रन्थों का लिखा जाना स्वाभाविक था क्योंकि भक्तिकाल तक लक्ष्य ग्रन्थ तो पर्याप्त संख्या में बन चुके थे परन्तु लक्षण ग्रन्थों का अभाव था। लेकिन दुख यह है कि हिन्दी के कवियों ने हिन्दी के लक्ष्य ग्रन्थों को देखकर लक्षण ग्रन्थ नहीं बनाए वरन् उन्होने संस्कृत के आचार्यों की नकल की। संस्कृत कविता के अन्तिम काल में रस सम्प्रदाय, अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय आदि कई सम्प्रदाय बन चुके थे। हिन्दी कवियों ने उन्हीं लक्षणों का हिन्दी अनुवाद कर ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ कर दिए। इन्होंने उदाहरण अवश्य स्वयं बनाये जो लक्षणों से अधिक सरस हैं। संस्कृत में कवि और आचार्य अलग अलग होते थे पर हिन्दी में एक व्यक्ति कवि और आचार्य दोनों बन गया।

इस प्रकार इन रीतिकालीन कवियो में हम दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से पाते हैं—(१) रीति-विवेचन, (२) शृंगारिकता। इसके साथ ही कुछ कवियों में वैराग्य अथवा भक्ति भावना भी मिलती है। परन्तु वैराग्य या भक्ति की यह भावना भक्त या सन्त कवियो की भाँति स्वत आत्मोत्पन्न नहीं है, यह मीठे से मुँह फिरने की भाँति शृङ्गार से ऊबने की प्रतिक्रिया मात्र

है । इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने नीति आदि पर भी लिखा परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है । संक्षेप में हम रीतिकाल की विशेषताओं का निम्नाङ्कित रेखाचित्र बना सकते हैं—

(१) इस काल में शृंगार रस की प्रधानता रही और उसका पूर्ण विवेचन हुआ । साथ ही भूषण, लाल, सूदन आदि ने वीर रस की भी अच्छी रचनाएँ प्रस्तुत कीं परन्तु बहुत थोड़ी । भक्तिकाव्य नगण्य सा रहा ।

(२) इस काल में साहित्य निर्माण के साथ साथ रस, अलङ्कार, छन्द आदि का खूब विवेचन हुआ । प्रायः प्रत्येक कवि ने लक्षण ग्रन्थ उदाहरण सहित लिखे । इनमें उदाहरण ही मौलिक और सरस होते थे । लक्षण संस्कृत के अनुवाद होने से कहीं-कहीं अस्पष्ट भी हो जाते थे ।

(३) इस काल में कवित्त, सवैया, दोहे आदि छन्दों का प्राधान्य रहा, क्योंकि कविता मुक्तक ही हुई । वीर रस के लिए कवित्त तथा शृंगार और करुण के लिए सवैया छन्द का प्रयोग किया गया ।

(४) इस काल की भाषा ब्रजभाषा और अवधी के मिश्रण से बनी । उसमें मुसलमानी शासन के प्रभाव से अरबी फारसी के शब्द भी आ गए । भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर लक्ष्य अधिक होने से भाषा में सरलता और सुकुमारता आ गई ।

(५) इस काल के कवियों को राज्याश्रय प्राप्त था, इसलिए उनका उद्देश्य आश्रयदाता को रिझाना था । इस कारण उनमें मौलिकता का ह्रास हो गया । कवि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खो बैठे और कविता उनके लिए परम्परा पालन मात्र रह गई ।

प्रश्न २—यद्यपि ग्रन्थ रचना की दृष्टि से रीतिकाल सब कालों से अधिक सम्पन्न है तथापि इस काल में न काव्यत्व की समुचित उन्नति हुई, न साहित्य शास्त्र की ही—इस उक्ति पर अपना विवेचना पूर्ण मत दीजिए ।

उत्तर—प्रश्न है कि रीतिकाल में ग्रन्थ-रचना तो बहुत हुई है किन्तु उसमें काव्य और साहित्य शास्त्र की समुचित उन्नति नहीं हो सकी है वास्तव में यह बात उतनी ठीक तो नहीं है जितनी होनी चाहिए किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रीतिकाल ग्रन्थ रचना की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है ।

क्योंकि रीतिकालीन सभी कवियों का ध्यान ग्रन्थ रचना की ओर ही अधिक रहा है जिसके कई विशेष कारण हैं।

रीति काल में रीति ग्रन्थों के लिखने की अधिक प्रथा थी। रचनाकार कवि पीछे थे रीतिकार पहले। कारण, कविता तीव्र भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। भावों के उद्गम और उनमें तीव्रता लाने के लिए मनुष्य में स्वय कलात्मक प्रवृति होना आवश्यक है। साथ ही सब से आवश्यक और विशेष बात यह है उनकी उस प्रवृति के उभारने को किसी विशेष घटना का होना आवश्यक है। रीतिकाल वह समय है जब कि देश में मुसलमानों का शासन स्थापित हो चुका था। हिन्दू जनता को अपनी असमर्थता का पूरा पूरा पता लग गया था। वे ये अच्छी तरह जान गए थे कि अब मुसलमानों को देश से हटाना असम्भव है। उनके भगवान उन्हें जवाब दे चुके थे। तभी तो उनके ऊपर अनेकों प्रकार के अत्याचार हुए, उनके धार्मिक विश्वासों को एक गहरी ठेस पहुंचाई गई, मन्दिर तोड़े गए मूर्तियाँ भग्न कर दी गईं, धर्म ग्रन्थ जलाए गए, बरवस मुसलमान बनाया गया आदि। इस सबसे हिन्दू इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब शासक जाति से विरोध करते रहना खतरे से खाली नहीं है; अब इनसे मिलकर ही रहने में भलाई है। दूसरी ओर मुसलमान भी यह निश्चय कर चुके थे कि हिन्दुओं से मिलकर ही उनका राज्य सुचारु रूप से चल सकता है। परिणाम स्वरूप दोनों एक दूसरे के समीप आए, संघर्ष मिटा, शान्ति की व्यवस्था चारों ओर होने लगी। कवि लोगों को दरबार में स्थान मिला। ऐसे संघर्ष हीन शान्ति के समय कवियों के पास और कोई कार्य नहीं था सिवाय अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने और खाली समय में प्राचीन रीति ग्रंथों की खोज टटोल के। अब तो सब को रीति ग्रन्थ लिखने की एक धुन सी सवार हो गई। नायक, नायिका, रस, छन्द, अलकार आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखना उनका एक लक्ष्य सा बन गया। हर विषय पर एक-एक दो-दो ग्रन्थ प्रत्येक रचनाकार ने लिखना अपना कर्त्तव्य-सा बना लिया। देव के ७२ ग्रन्थ तक बताए जाते हैं। किन्तु जहाँ केवल ग्रंथों की संख्या गिनाने का काम होता है; अर्थात् इन विषयों पर इतने ग्रन्थ लिखने ही हैं, जब यह सोच लिया जाता है वहाँ

स्वाभाविक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए स्थान नहीं रह जाता है। इसीलिए रीतिकाल में ग्रन्थों की बाढ़ सी आ गई।

कवि लोग अधिकांश आश्रय में रहने वाले कवि थे जिनका कार्य ही अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था। आश्रयदाता मुसलमान शासक ही अधिक थे। मुसलमान स्वभाव से ही विलासी होते हैं। अतः उनको प्रसन्न करने का एक मात्र साधन उनकी विलासी प्रवृत्ति को अधिक उत्तेजित करने वाला शृङ्गार वर्णन ही था और उन कवियों ने किया भी वही। इसके लिए उन्हें अपनी रुचि नहीं देखनी थी, रुचिर देखनी थी अपने स्वामी की, जिनसे उन्हें एक-एक दोहे तक पर सैकड़ों स्वर्ण मुद्राएँ मिलती थीं। अतः वे स्वाभाविक अनुभूति जन्य काव्य का सृजन नहीं कर सकते। उन्हें तो अपने मस्तिष्क की काफी व्यायाम करके किसी प्रकार शृङ्गारी कविता करनी थी। धीरे-धीरे रचनाकार इसके आदी हो गये। किन्तु इस प्रकार की कविता वास्तविक साहित्य जगत को कम प्रकाशित करती है। उसमें वही कृत्रिमता वही दरबारी बाह्य तड़क-भड़क और वही गुलामी थी। हाँ, उनके ग्रन्थों की संख्या अवश्य बढ़ जाया करती थी।

इधर कवियों को दरबार में स्थान मिलने का और अधिक से अधिक सम्मान पाने का लोभ था ही। लोगों में ग्रन्थ रीति लिखकर आचार्यत्व को प्राप्त करने की एक धुन सवार हुई। तो उन्हें दो मार्ग एक साथ तय करने थे या यों कहिए कि एक ही पन्थ में दो कार्य साधने थे—रीति ग्रन्थ लिखकर बड़ा से बड़ा आचार्य बनना और विलासी भावनाओं को अधिक उभार देने वाली शृंगारी कविता करना और किया भी वही। उन्होंने लक्षण ग्रन्थ लिखे उसी में शृङ्गार को स्थान दिया। किसी नायक नायिका, अथवा किसी छन्द अलंकार या किसी रस आदि का दोहे में लक्षण देना और उदाहरणों में शृङ्गार रस का वर्णन कर स्वामियों को प्रसन्न करना। कवियों का नित्य दरबार में आना, पर्याप्त समय बादशाह के साथ रह कर उनका मनोरंजन करना और बराबर अपनी कलाबाजी दिखाना ही उनका कार्य रह गया था। इस प्रकार उनकी कविता का परिमाण तो बढ़ता गया किन्तु उसमें काव्य का वह उत्कृष्ट रूप न आ सका जो साहित्य शास्त्र की अधिक

उन्नति कर सके।

दरबारी बाह्य तड़क-भड़क देखकर और उस तड़क-भड़क के बीच में ही अपने जीवन का अधिक समय बिताने के कारण उनकी रुचि भी बाहरी दिखावे तक ही रह गई, सच्ची अनुभूति भी उनमें कम रह गई। जिसके कारण उनकी कविता उनकी सच्ची अनुभूति की अभिव्यक्ति न रह कर दरबारी रुचि थी। वह उनके हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार न रह कर मस्तिष्क की उपजमात्र रह गई! किन्तु कविता तो हृदय से निकल कर सीधा हृदय पर ही प्रभाव करती है। अतः रीतिकाल की कविता अधिकाँश में कविता न होकर पृष्ठ पेषण मात्र ही थी।

कवि की वास्तविक कला का विकास मुक्तक में नहीं प्रबन्ध काव्य में होता है, जहाँ उसे अनेक बन्धनों का निर्वाह करते हुए कला के प्रवाह को रक्षित रखना होता है। ऐसे स्थलों पर कवि की प्रतिभा का पूरा-पूरा परिचय मिलता है और वही काव्य साहित्य के लिए गौरव की वस्तु होती है। यद्यपि मुक्तक में भी कवि अपनी भावुकता का ऐसा चरम उत्कर्ष दिखाता है जो प्रबन्ध काव्य को भी मात कर देता है। सूरदास ऐसे ही मुक्तक पद रचयिता थे जिनकी एक एक उक्ति और प्रत्येक उक्ति का एक एक शब्द साहित्य के लिए गौरव की वस्तु बनकर रह गई। किन्तु सूरदासजी थे भी तो भक्त कवि। जो कुछ लिखते थे अपनी मौज में आकर; किसी की प्रशस्ति के लिए नहीं। पर रीतिकाल के कवियों को तो कुछ और ही करना पड़ा। उन्होंने तो मुक्तक के रूप में ही सब कुछ लिखा। उन्होंने जो कुछ लिखा है सब लिखना पड़ा है। इसीलिए साहित्य की अमूल्य निधि नहीं बन सकी। हाँ आचार्यत्व प्रदान करने का साधन अवश्य था। रीतिकाल का सभी साहित्य मुक्तक के रूप में इसीलिए मिलता है, क्या हिन्दी का और क्या संस्कृति का।

केशव भक्तिकाल और रीतिकाल दोनों को मिलाने वाली कड़ी है। दूसरे शब्दों में यह कहिए कि केशव से भक्तिकाल का अन्त होता है और रीतिकाल का प्रारम्भ। उन्होंने आचार्यत्व की जो परम्परा स्थिर की थी वही आगे चलकर रीतिकाल में विकास को प्राप्त हुई। यद्यपि केशव ने रामचन्द्रिका नामक प्रबन्ध काव्य लिखा किन्तु वह बहुत ही शिथिल रहा।

उसमें बहुत कुछ मुक्तक की झलक आ जाती है। आगे चलकर तो प्रबन्ध लिखना समाप्त ही हो गया। प्रबन्ध काव्य यदि एक विशाल वनस्थली है तो मुक्तक काव्य वह गुलदस्ता है जो घर में मेज को सजाने भर का काम करती है। उसमें रस की वह अजस्र धारा सी बहाई जा सकती है जो सम्पूर्ण भू भाग को प्लावित करती हुई प्रत्येक प्राणीको जीवन दान करती है। मुक्तक द्वारा तो केवल मुर्झाई हुई बनस्थली में कुछ छींटें मार कर उसे कुछ समयके लिए पुलकित किया जा सकता है केशव की यह शिथिल प्रबन्धात्मकता रीतिकाल में आते-आते मुक्तन में परिवर्तित हो गई और उसमें वह रस प्रवाह नहीं रह गया जो हृदय को ओत प्रोत कर सके। रस के नाम पर उसमें केवल अब वह छोटे छोटे ओस विन्दु रह गए जो प्यासे को तृप्त तो क्या कर सकते है प्यास से चटकते हुए गले को कुछ क्षणों के लिए तसल्ली ही दे सकते हैं।

रीतिकाल के कवियों का सम्पर्क प्रकृति से न के बराबर था। उन्हें प्रकृति के उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण में जाने का अवकाश ही कहाँ था। वे तो शाही दरबार की ऊपरी तड़क-भड़क में ऐसे रमे कि प्रकृति के प्रति उनका स्वाभाविक लगाव रह नहीं गया था। प्रकृति और उसका रूप, यहाँ तक कि उसका परिवर्तन भी नित्य नवीन है। ऐसी प्रकृति को जो कवि अपनी कविता का विषय बनाएगा वह कविता अवश्य ही नित्य नवीन रसानन्द देने वाली होगी। किन्तु रीतिकाल के कवियों के जीवन के प्रति कुछ और ही विचार थे। उन्हें अपनी एक ही रचना को नित्य नवीन बनाने का मोह नहीं था। ये तो अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने और अपना पुरस्कार प्राप्त करने के लिए नित्य नई कविता ही बनाया करते थे। इसीलिए उन्होंने प्रकृति के प्रति अधिक मोह नहीं दिखाया है। यदि कहीं प्रकृति का स्मरण किया भी है तो केवल अपने नायक नायिकाओं की विलासी भावनाओं को ही उत्तेजित करने के लिये। इसीलिए रीतिकाल का साहित्य इस दृष्टि से अधिक व्यापक नहीं हो सका। यद्यपि उन्होंने जिस शृंगारी भावना को अपने काव्य में स्थान दिया है वह अत्याधिक व्यापक है प्रत्येक जीवधारीकी एक प्रमुख भावना है। किन्तु उस व्यापकता में प्रकृति न आ सकी जो

सबसे अधिक व्यापक है। सम्भव है इसीलिए इस साहित्य को कुछ विद्वानों ने 'गन्दी नाली' कह दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस काल में काव्य तथा साहित्य शास्त्र की अपेक्षा ग्रन्थ रचना में अधिक वृद्धि हुई।

एक बात और है। रीतिकाल कला-काल है। इसमें भाव पक्ष की अपेक्षा कलापक्ष का ही अधिक विकास हुआ है और वह विकास भी चरम विकास है। मुसलमान बादशाहों का ध्यान भी ऊपरी चमक पर अधिक रहता था। इसीलिए राज्य का अधिक धन कला की उन्नति में ही खर्च किया जाता था। उनकी इस प्रवृत्ति का ध्यान कविता पर भी पड़ा। फलस्वरूप उस समय की कविता में कविताबाजी का ही प्रमुख स्थान था।

फिर भी इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस काल में काव्य अथवा साहित्य शास्त्र की पूर्ण अवहेलना हुई हो। शृंगार रस की विलासी कविता हुई अवश्य है और उसमें नीरस रीति ग्रन्थों की भरमार भी खूब हुई है किन्तु सम्पूर्ण रीतिकाल की कविता भावपक्ष शून्य हो ऐसी बात नहीं है। उसमें उच्चकोटि की कविता के भी दर्शन होते हैं, सुन्दर से सुन्दर भावनाओं का भी स्फुरण मिल जाता है। है। हृदय को एक ही झटके में बरबस अपना बना लेने की भी क्षमता उसमें पर्याप्त है। इस युग में कवि केवल कला के आदर्श को अपने साथ लेकर चला था। कवि लोग अपने विषय को अधिक से अधिक आकर्षण और प्रभावशाली बनाने में प्रयत्नशील थे जिसके लिए सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा गहरी तन्मयता अपेक्षित होती है। तुलसीदास जी को अपने राम जितने प्रिय थे रीतिकालीन युग में नायिका भी उतनी ही प्रिय थी। तुलसी भक्त थे तो ये विलासी किन्तु दोनों की अनुभूति समान ही थी। स्वयं तुलसी ने भी तो कहा है—

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहिं मोहिं राम॥

बस, नारी के प्रति इसी अनन्य आशक्ति ने रीतिकाल की कविता को कवित्व दिया। इसीलिए उसमें इतने सुन्दर सुन्दर भाव अङ्कित किए गए। उस काल में नारी ही सब कुछ थी। कवियों ने उसके अङ्गों को सराहा था, उसके स्वभाव को समझा था और उसके जीवन के साथ क्रीड़ा भी की

थी। कभी उसे गृह कार्य करते देखा, कभी उसे छिपकर स्नान करते देखा, कभी जल भरते देखा और कभी अपने अंगों की सराहना करते देखा था। 'आँखमूदिबो' खेलने की आयु से लेकर निस्संकोच 'बालमु सों दृग' जोरने तक की परिस्थितियों का उन्होंने गहरा अनुभव प्राप्त कर लिया था; तब फिर उनके चित्रणों में मार्मिकता और स्वाभाविकता क्यों नहीं आयगी। यह दूसरी बात है कि समाजिक नैतिकता पर दृष्टि रखने वाले सज्जन उसमें अश्लीलता पालें।

रीतिकाल में परकिया प्रेम का चित्रण अधिक किया गया है। वास्तव में मिलन की सतत उत्कंठा परकीया प्रेम का मूल मन्त्र है। प्रेम की अभिव्यक्ति का चित्रण जितना परकिया के माध्यम से हो सकता है। उतना स्वकीया के से नहीं। यही कारण है कि मीरा ने भी 'लोक लाज कुल की मरजादा' इनमें से एक की भी चिन्ता न करके प्रिय कृष्ण के सयोग को ही अधिक वांछनीय समझा था और प्रेमोन्मत्त ताज ने तो हिन्दुआनी होना भी स्वीकार किया था—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम।
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं॥
देव पूजा ठानी मैं निवाज हू भुलानी तजे।
कलमा कुरान साड़े गुनन गहूँगी मैं॥
साँवरा सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिए।
तेरे नेह दाग में निदाग हो दहूँगी मैं॥
नंद के कुमार कुरबान ताड़ी सूरत पै।
ताड़े नाम प्यारे 'हिन्दुआनी' होरहूगी मैं॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्रकृति के प्रति इन शृङ्गारी कवियों की दृष्टि बन्द कही जाती है। वास्तव में बात ठीक है ही। मुक्त प्रकृति का आलम्बन रूप में इन कवियों ने वर्णन नहीं किया। हाँ. उद्दीपन रूप में प्रकृति की पृष्ठ भूमि बड़ी ही मादक तथा रमणीय है। यद्यपि परम्परागत उपमानों का प्रयोग करने के कारण प्रकृति चित्रण प्रायः उपेक्षित सा हो गया है तथापि सेनापति, द्विजदेव आदि कवियों ने प्रकृति के प्रति पर्याप्त

सहानुभूति दिखलाई है। द्विजदेव का एक चित्रण देखिए—

सुरही के भार सूथे सबद सुकीरन के,
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्योंहीं मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन।
खोलि इन नैनन निहारौ तो निहारौ कहा,
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन-भौन,
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सौ चन्द,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

आलम का निम्नलिखित सवैया कितना संगीतमय, अनुभूतिपूर्ण और चुभता हुआ है यह देखते ही बनता है—

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन, ता थल काकरी बैठि चुनौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन, ता रसना सो चरित्र गुन्यो करैं।
'आलम' जौन ते कुञ्जन में करी, केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जे सदा बसैंते तिनकी अब, कान कहानी सुन्यौ करैं॥

क्या अनुभूति क्या भाषा-माधुर्य दोनों ही दृष्टि से उक्त सवैया श्रेष्ठ है। विरहानुभूति का नैराश्य तथा कोमल शब्दावली का संचय दोनों का सुन्दर समन्वय कवि ने किया है। भाषा संगठन की दृष्टि से मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग है। 'कंकड़ चुनना' 'सीस धुनना' आँखो में बसना' 'कहानी सुनना' आदि बहु प्रचलित मुहावरे हैं। भाषा का ऐसा चलता हुआ रूप वास्तव में इसी युग के कवियों की विशेषता थी। कारण, इस समय तक भाषा खूब मँज चुकी थी। इसीलिए भाषा का लालित्य, उसकी अभि-व्यञ्जन शक्ति, उसका चंचलपन, उसकी स्वाभाविक संगीतात्मकता आदि का सुखद प्रयोग इस युग में हुआ है। उसकी ब्रजभाषा-माधुरी और लोक प्रियता में चार चाँद लग गए। भाषा के परिमार्जन और उसकी आत्मा तथा गति पहचानने पर जितना ध्यान इन कवियों ने दिया है उतना अन्य ने नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि रीतिकाल में ग्रन्थ-रचना की तो भरमार हुई ही

है, किन्तु काव्य की उन्नति और साहित्य सम्बर्द्धन भी साथ-साथ हुआ है। अश्लीलता के कारण हम इस काल के काव्यत्व की उपेक्षा नहीं कर सकते।

बिहारी-सतसई

प्रश्न १—बिहारी के काव्य की संक्षिप्त आलोचना कीजिए।

उत्तर—बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में माने जाते हैं। वे प्रधानतः शृङ्गार के कवि हैं। उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—को अपनी काव्य कला का आवरण पहना कर चमका दिया है। दोहे जैसे छोटे छन्द में, सीमित रह कर उन्होंने 'गागर में सागर' भर दिया है। उनके काव्य चमत्कार और रस से पूर्ण उक्तियों का भण्डार है। रमणीयता तो इन दोहों की जान है। रस, चमत्कार और रमणीयता से परिपुष्ट बिहारी का काव्य सर्वोत्तम काव्य की श्रेणी में जा बैठा है। बिहारी सतसई के दोहे हिन्दी साहित्य के शृङ्गार माने जाते हैं। दोहा जैसे छोटे से छन्द में इतनी गहरी और विशद व्यंजना की अभिव्यक्ति अत्यन्त दुस्तर कार्य है। इसके अतिरिक्त दोहा छन्द में वही कुशल माना जाता है जिसमें समास-पद्धति के प्रयोग करने की पूर्ण क्षमता होगी। बिहारी के दोहों में यह सब गुण हैं।

अलङ्कार—केशव के समान बिहारी अलङ्कारों के वन में विचरण करने नहीं निकले। उन्होंने न तो अलङ्कारों को अत्यधिक महत्व ही दिया है और न उनकी अवहेलना ही की है। उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया है। बिहारी ने कई दोहों में तो केवल चमत्कार प्रदर्शन हेतु ही अलंकार अपनाए हैं और कहीं भाव व्यंजना की वृद्धि के निमित्त। शुद्ध चमत्कार प्रदर्शन के लिए निम्नलिखित दोहा ले सकते हैं—

> "तो पर वारौं उरवसी, सुनि राधिके सुजान।
> तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरवसी समान॥"

इस दोहे में 'उरवसी' शब्द यमकालङ्कार का प्रतिनिधित्व करता है। इससे राधा की सौन्दर्य वृद्धि नहीं हुई। केवल 'उरवसी' शब्द से एक चमत्कार आ गया। दोहे का उद्देश्य ही चमत्कार उत्पन्न करना है। कहीं-कहीं बिहारी ने श्लेष का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है।—

"अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, स्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकतनि के संग॥"

"दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति" वाले प्रसिद्ध दोहे में असंगति अलङ्कार द्वारा कवि ने रूप अथवा भाव की अनुभूति में वृद्धि की है। इसके अतिरिक्त तद्‌गुण, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अनेक अलङ्कारों का बिहारी ने सफल और सुन्दर प्रयोग किया है। उनके एक-एक दोहे में कभी-कभी तो चार चार, पाँच-पाँच अलङ्कार मिल जाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि बिहारी अलङ्कार शास्त्र में अत्यन्त प्रवीण थे और उनका उचित प्रयोग भी जानते थे। यह सब उनके अनुशीलन, अभ्यास और सामर्थ्य के ही कारण था।

रस—सतसई में शृङ्गार रस ही प्रधान है। शेष रस बहुत कम हैं। यदि हैं भी तो उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। कहीं-कहीं शान्त रस की भी झलक है। शृङ्गार के दोनों रूपों—संयोग और वियोग को लेकर बिहारी ने बड़े चुभते दोहे कहे हैं। इन दोहों का प्रभाव हृदयस्पर्शी होता है। इनमें इतनी मादकता, व्यंग्य, तीव्रता, और चुटीलापन है कि पाठक तृप्ति द्वारा आनन्द में लीन हो जाता है। विभाव, अनुभाव आदि की सहायता से बिहारी रसोद्रेक करने में पूर्ण सफल होते हैं। अनुभावों तथा सात्विक भावों के चित्रण में मनोविज्ञान का गौरव भी उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। विरह के वर्णन में उन्होंने अतिशयोक्ति पूर्ण ऊहात्मक प्रणाली को अपनाया है। उनमें विरह की सब दशाओं का मार्मिक वर्णन मिलता है। परन्तु कहीं कहीं अत्युक्तियों ने वर्णन को हास्यास्पद बना दिया है।

छन्द—बिहारी ने दोहा छन्द में ही रचना की है। कहीं-कहीं सोरठा का भी प्रयोग मिलता है। उन्होंने दोहों में त्रिकल, द्विकल और यति का पूर्ण ध्यान रखा है। सामासिकता पर भी सदैव उनकी दृष्टि रही है।

भाषा—बिहारी की भाषा ब्रज भाषा है। उसमें दूसरी भाषाओं के भी शब्द मिल जाते है। 'जेहि,' 'केहि,' आदि पूर्वी रूपो का प्रयोग खूब किया है। बुन्देलखण्डी शब्दों और प्रयोगों के दर्शन तो सर्वत्र होते हैं क्योंकि उनका बाल्यकाल बुन्देलखंड मे ही बीता था। इसके अतिरिक्त एक ही शब्द का प्रयोग कहीं पुलिङ्ग मे मिलता है तो कहीं स्त्रीलिंग में जैसे दही। समष्टि रूप से बिहारी की भाषा बड़ी सशक्त और मनोहारिणी है। उसमें प्रौढ़ता है। व्याकरण के नियमो का पालन किया गया है। ब्रजभाषा के अनुरूप छोटे-छोटे समासो का ही प्रयोग है। मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग है। भाषा चलती हुई और साहित्यिक है। शैली की दृष्टि से बिहारी मे गम्भीरता होते हुए भी दुर्बोधता नहीं है। वे बड़ी चतुरता से थोड़े से शब्दो मे बहुत कुछ कह जाते हैं। शैली मे रमणीयता के साथ ही साथ साधुता और स्वाभाविकता है।

प्रश्न २—"बिहारी के दोहो में भाषा की जैसी कसावट, भावों की जैसी मौलिकता और अर्थ की जैसी गम्भीरता मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ ही उन जैसे अर्थ पूर्ण, भावदर्शक, सुगठित और अलकृत दोहे किसी ने नहीं लिखे।" सिद्ध कीजिए।

उत्तर—केवल बिहारी सतसई के सात सौ दोहे लिखकर जितनी ख्याति बिहारी ने पाई है उतनी अन्य किसी भी कवि ने नहीं पाई। कारण यह है कि इन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द में ऐसे ऐसे भाव भर दिए हैं जो कवित्त जैसे बड़े छन्दों मे भी नहीं समा सकते। इन दोनों में मौलिक सूझ, अर्थ गाम्भीर्य, भाषा की कसावट, कल्पना की समाहार शक्ति और अलङ्कारों की छटा सभी बातें एक साथ मिल जाती हैं। कही भी छन्द शास्त्र, की त्रुटि नहीं मिलती। एक एक शब्द नपा तुला है। उनके हटाते ही दोहे का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ—

"खौरि पनिचे, भृकुटी धनुष, बधिक समरु, तजि कानि।
इनत तरुन मृग, तिलक सर, सुरक भाल भरि तानि॥"

इस दोहे में धनुष का रूपक है। नायिका को व्याधा माना है और तरुणों को मृग। नायिका के सिर पर लगी खौर प्रत्यंचा, भृकुटी धनुष,

तिलक वाण और सुरकभाल (अनी) है इस प्रकार सज्जित होकर नायिका तरुणों का शिकार करती है। यही नहीं 'भरितानि' में व्यापार का भी उल्लेख है. मौलिक कल्पना और सांगरूपक का कितना सुन्दर निर्वाह है।

एक और दोहे में बिहारी ने 'सूरन' (जिमीकन्द) के मुँह काटने की सामान्य सी बात को लेकर उसका कितना सुन्दर प्रयोग किया है—

"ललन सलोने अरु रहे, अति सनेहु सों पागि।
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि।।"

इस दोहे में 'सूरन' की जो उपमा दी गई है उसका निर्वाह श्लिष्ट विशेषणों से बड़ी चतुराई के साथ किया गया है। 'सूरन' कच्चा रहने पर यदि खाया जाय तो मुँह काट देता है। इसे दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका कसैला रस निकाल देते हैं और तब उसे तेल में भली प्रकार भूनते हैं। फिर भी यदि कच्चा रह जाता है तो दुखदायी होता है। इस दोहे में दोहरे अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग है जो सूरन और नायक दोनों पर लागू होते है। सलोने, सनेह, कचाई और मुँह लागि के दो अर्थ हैं। इसमें है तो श्लेष का चमत्कार परन्तु विशेषता यह है कि कोई भी श्लिष्ट भाव ऐसा नहीं है जो खींचतान से अर्थ का संकेत करता हो। कष्ट कल्पना की कोई जरूरत नहीं। 'मुंह लगाना' मुहावरा भी कैसा दोहरा अर्थ दे रहा है। इसी प्रकार—"दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियै, दई नई यह रीति।।"

मे असगति अलङ्कार है। उलझना, टूटना, जुड़ना और गाँठ पड़ना सूत में ही होता है। पर प्रेम क्षेत्र में अनोखी बातें होती है। वहाँ उलझते तो दो दृग हैं और टूटता कुटुम्ब है। मिलते हैं दो प्रेमी और गाँठ (ईर्ष्या) होती है दुष्टों को। यह नई रीति है। इस तनिक से दोहे में साधारण शब्दों की सहायता से बिहारी कितनी बड़ी अद्भुत और गम्भीर बात कितनी चतुरता से कह गए हैं। रहीम ने जो नटों का सिमटना कहा है वह इसी प्रकार के सिमटने के लिए हैं।

भावों और चेष्टाओं के वर्णन में भी बिहारी ने इसी पद्धति से काम

लिया है। ब्रज की रक्षार्थ कृष्ण ने कनिष्ठका पर गोवर्धन उठाया। इसी समय राधा दिखाई पड़ गईं। प्रेमोद्रेक के कारण उन्हें कंप आ गया। हाथ को कांपते देखकर ब्रजवासी व्याकुल हो गए। कृष्ण को यह बात ज्ञात होने पर बड़ी लज्जा आई। इतना लम्बा चौड़ा प्रसंग कवि ने नीचे के दोहे में कितनी सरलता से रख दिया है—

"डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कपि किसोरी दरस तैं, खरैं लजाने लाल॥"

विरह दशा के निरूपण में बाह्य व्यापारों का यह चित्रण कितना कसा हुआ है—

"पलनु प्रगटि, बरनीनु बढ़ि, नहि कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतियाँ, छिनुकु छनछनाइ छिपि जात।"

आँसू पलकों में प्रकट हो, बरुनियों की नोकों पर होता हुआ कपोलों तक पहुँचता है। लेकिन वहाँ भी नहीं ठहरता। वहाँ से वह वक्ष पर गिरते ही क्षण भर में छन-छनाकर उड़ जाता है। ऐसा ही चुस्त वर्णन नायिका की चेष्टा में है—

भौंहनु त्रासतु मुंह नटति, आँखिन सौं लपटाति।
ऐचि छुड़ावत करु इंची, आगे आवति जाति।"

बिहारी की भाषा पर अबोध अधिकार होने से ही यह समास-पद्धति की शक्ति उनकी भाषा में आई। उनका प्रत्येक दोहा ऐसा ही गठा हुआ है। इनकी व्यंजना शक्ति बड़ी प्रबल है। न कहीं प्रवाह खण्डित है, न भावाभिव्यक्ति अशक्त। अर्थ गाम्भीर्य और मौलिक कल्पना के साथ अलङ्कारों के स्वाभाविक समावेश से बिहारी के दोहे हिन्दी साहित्य में काव्य प्रेमियों के कण्ठहार हो रहे हैं।

प्रश्न ३—बिहारी के प्रकृति चित्रण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—जहाँ तक प्रकृति वर्णन का सम्बन्ध है, बिहारी ने भी रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति ऋतु, चन्द्रमा, पवन आदि का वर्णन

उद्दीपन के रूप में किया है। इस वर्णन को देखकर ज्ञात होता है कि बिहारी की निरीक्षण शक्ति कितनी तीव्र थी। उनके प्रकृति वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि कवि का हृदय प्रकृति के रूपों को देखकर आकर्षित नहीं होता। वह प्रकृति से उतनी ही सामग्री ले लेता है जो उसके नायक-नायिका के हृदय को उद्दीपन करने को पर्याप्त होता है। स्वतन्त्र रूप से प्रकृति वर्णन के बिहारी मे कम चित्र मिलते हैं।

घुमड़ते हुए बादलों को देखकर विरहिणी कहती है कि हे सखी धुरवा (उमड़ते हुए बादल) नहीं हैं, वरन् पृथ्वी के चारों ओर फैला हुआ धुंवा है, क्योंकि वर्षा ऋतु के प्रथम बादल आते ही जलाते हैं—

"धुरवा होंहि न अलि इहै, धुंआ धरनि चहुँ कोद।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद॥"

यह प्रकृति का उद्दीपन करने वाला है। उद्दीपन से मुक्त प्रकृति के चित्र इनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वाभाविक और श्रेष्ठ है। बसन्त का वर्णन दर्शनीय है—"छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गन्ध।
ठौर-ठौर झूमत झपत, भौंर-भौर मधु अन्ध॥"

एक अन्य चित्र में ग्रीष्म के कारण जगत को तपोवन के रूप में चित्रित किया है। इसी से सहज शत्रु एकत्र बैठे हैं—

"कहलाने एकत वसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोवन सो कियौ, दीरघ दाघ निदाघ।"

नीचे के दोहे में कवि ने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। जेठ की दुपहरी में छाया पेड़ों के नीचे ही रहती है। उसे देखकर कवि कहता है कि जेठ की दुपहरी की तपन देखकर छाया भी छाया चाहती है। इसी कारण छाया रूपी घर में पैठ कर अति सघन वन में ही बैठ रही है—"बैठ रही अति सघन वन, पैठ सदन तन मॉह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाँहौ चाहति छाँह॥"

पावस के अन्धकार की रात से तुलना करते हुए कवि कहता है कि केवल चकवा-चकवी को देखकर ही रात और दिन की पहचान हो सकती

है अन्यथा नहीं—"पावस निसि अँधियार में रह्यौ भेद नहिं आन ।
रातद्यौस जान्यौ परे, लख चकवी चकवान ।।"

पवन का वर्णन तो बिहारी का नितान्त नूतन और मौलिक है । नीचे के दोहे में पवन की तुलना मस्त हाथी से की है—

"रनित भृङ्ग घटावली, झरित दान मधु नीर ।
मन्द मन्द आवत चल्यौ, कुञ्जर कुञ्ज समीर ।।"

भारत की विभिन्न छः ऋतुओं का बिहारी ने अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है । बसन्त के अन्तर्गत फाग और होली तथा पावस के अन्तर्गत हिंडोला का वर्णन भी इन दोहों में मिलता है । इसके अतिरिक्त शरद, हेमन्त और शिशिर के वर्णन भी सुन्दर हैं ।

प्रश्न ४—कहीं-कहीं बिहारी की वस्तु व्यंजना औचित्य की सीमा का उलङ्घन करके खिलवाड़ के रूप में हो गई है । विवेचना कीजिए ।

उत्तर—यद्यपि बिहारी ने स्वाभाविकता का सर्वत्र ध्यान रखा है फिर भी कहीं-कहीं पर उनके औचित्य की सीमा को लांघ गए हैं । ऐसे स्थलों में कवि की सच्ची अनुभूति के दर्शन नहीं होते । वह केवल चमत्कार प्रदर्शन करना चाहता है । नायिका के मुख की आभा का वर्णन करते हुए बिहारी कहते हैं—

"पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँ पास ।
नित प्रति पून्यौ ही रहै, आनन ओप उजास ।।"

मुख चन्द्रमा के समान है जिससे सदैव पूर्णिमा ही बनी रहती है और तिथि का पता पत्रा से ही लग सकता है, चन्द्रमा को देखकर नहीं । सुकुमारता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"भूषन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार ।
सूधे पांय न धर परत, सके सोभा ही के भार ।।"

कोमलता के कारण नायिका गुलाब के झंवा से भी झिझकती है और उन्हें स्पर्श नहीं करती है—"छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।
झझकत हिए गुलाब के झवा झँवैयत पाइ ।।"

इससे भी अधिक तमाशा विरह के वर्णन में मिलता है । विरह में

नायिका इतनी क्षीणकाय हो गई है कि साँस के साथ छह-सात हाथ आगे पीछे आती जाती है, मानों हिंडोले पर झूल रही हो। इसका दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है। विरह ताप की व्यंजना में बिहारी ने ऊहात्मक पद्धति का आश्रय लेकर स्वाभाविक अनुभूति का गला घोंट दिया है। भयङ्कर जाड़े की रात्रि में गीले वस्त्र पहनकर सखियाँ बड़े साहस के साथ विरहिणी के पास जाती है। विरह-विदग्ध नायिका के ऊपर गुलाब की शीशी उड़ेली जाती है पर विरह-ताप के कारण गुलाबजल ऊपर ही ऊपर भाप बनकर उड़ जाता है। शरीर को छू भी नहीं पाता। यहीं तक नहीं विदेश में बैठा हुआ नायक वहीं से नायिका के जीने का अनुमान कर लेता है—

"सुनत पथिक मुंह माह निसि, लुवै चलत उहि गाम।
बिन बूझे बिन ही कहै, जियत बेचारी बाम॥"

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो हो जाता है कि बिहारी की वस्तु व्यंजना अनेक स्थलों पर खिलवाड़ बन गई है। चौथे चमत्कार तक किसी बात को घसीटना काव्य के व्यापक लक्ष्य को नष्ट कर देता। घनानन्द, रस-खान आदि ऐसे खिलवाड़ में नहीं पड़े हैं। परन्तु प्रत्येक मुक्तककार में यह दोष होता है और विशेष रूप से राज्याश्रित कवियों में तो यह दोष आम तौर पर पाया जाता है। वे ऐसी ही रचनाओं पर दरबार में वाहवाही लूटा करते थे।

प्रश्न ५—सतसई परम्परा में बिहारी सतसई का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर—सतसई का अर्थ है किसी वस्तु को सौ की संख्या में बाँधना। पहले स्तोत्र और भक्ति के ग्रन्थों के नाम शतक, सप्तशती आदि होते थे। पश्चात् हाल की 'गाथा सप्तशती' के अनुकरण पर शृङ्गार के भी रसपूर्ण ग्रन्थ रचे जाने लगे और आर्यासप्तशती और अमरुशतक जैसे शृङ्गार प्रधान संस्कृत के ग्रन्थों का निर्माण हुआ। पुरानी हिन्दी में सतसइयाँ लिखी गई या नहीं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि रहीम की एक सतसई थी जिसके आधे छन्द पाए गए हैं। तुलसीदास के नाम से भी एक तुलसी सतसई या राम सतसई का उल्लेख मिलता है। बिहारी

सतसई की रचना के उपरान्त तो अनेक सतसइयाँ लिखी गईं, जैसे—विक्रम सतसई, मतिराम सतसई, वृन्द सतसई आदि। इनमें शृङ्गार की सतसई ही अधिक हैं। कुछ नीति की भी हैं। परन्तु ये नीति की सतसइयाँ शृङ्गार की परम्परा से दूर हट जाती हैं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में शृंगारिक सतसई के प्रारम्भ कर्ता बिहारी माने जा सकते हैं और उनकी सतसई इस विषय का प्रथम ग्रन्थ।

बिहारी ने अपनी सतसई का आधार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को ही रखा है। इनके आधार ग्रन्थ गाथा सप्तशती, अमरूक शतक आदि थे। अपभ्रंश के कुछ दोहों के भाव भी इनमें मिल जाते हैं। इस प्रकार बिहारी पर अपने पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव पड़ा है और उन्होंने वहाँ से बहुत कुछ लिया है। उन्होंने एक चली आती हुई परम्परा का ही अनुकरण किया था। इसी से इनकी रचना में इतनी प्रौढ़ता पाई जाती है। आजकल भी इसी के अनुकरण पर वीर सतसई, करुण सतसई आदि लिखी गई हैं। पर शृंगारिक क्षेत्र में बिहारी की सतसई अद्वितीय है। इसके इसी रस और सहृदयता को लक्ष्य कर किसी कवि ने कहा है—

"जो कोऊ रसरीति को समझो चाहै सार।
पढ़े बिहारी सतसई, कविता को सिंगार॥"

प्रश्न ६—देव और बिहारी के काव्य की तुलनात्मक समालोचना कीजिए।

उत्तर—देव और बिहारी के जीवन को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि देव का जीवन सङ्कटापन्न था और बिहारी का सुखमय। जीवन की इस विषमता का उनकी कृति पर काफी प्रभाव पड़ा है। देव आश्रयदाता की खोज में इधर-उधर भटकते रहे और ग्रन्थ निर्माण कर करके उन्हें देते रहे। बिहारी ने सात सौ दोहों के निर्माण में ही सुखपूर्वक अपना जीवन काट दिया। बिहारी अपने रत्नों को एकत्र कर एक स्थान पर रख देते हैं वहाँ देव उन्हें ५१ या ७२ ग्रन्थ गुदड़ियों में लपेटकर या तो किसी दानी को समर्पित करते हैं या अपने नैराश्यमय जीवन के साथ हाथ लिए घूमते रहे हैं।

वर्ण्य-विषय—रीतिकालीन अन्य कवियों के समान इन दोनों का साहित्य भी जन जीवन से दूर ही रहा। दोनों का साहित्य आश्रयदाताओं की वासना और मनोरञ्जन का साधन रहा। दोनों ने सरस्वती को लक्ष्मी की दासी बनाकर शृंगार की संकुचित शाला में ही सारे सस्कार को समाहित समझा। सर्वत्र शृंगार का प्राधान्य रखा। बिहारी ने अपनी सम्पूर्ण जीवनी तो शृंगार में बिताई परन्तु अन्त में "अशक्त परम साधू कुरूप पतिव्रत।" के न्यायानुकूल भगवद्भक्ति में प्रवृत्त हो कुछ नीति और भक्ति के दोहे भी रचे। देव ने भी इसी प्रकार वृद्धावस्था में ही जाकर द्वैत, अद्वैत, प्रेम माधुरी पर कवित्त लिखे।

रस—बिहारी सतसई शृंगार रस प्रधान है। कहीं-कहीं हास्य और शान्त रस के भी दोहे हैं। इनमें भक्ति, नैराश्य आदि की सुन्दर योजना है। परन्तु सतसई सर्वांगीण शृंगार निरूपण के कारण ही रसिक पाठकों को सदैव प्रिय रही है। देव के कई ग्रन्थ हैं। उनका क्षेत्र भी बिहारी से बड़ा है। देव ने आचार्यत्व के कारण सभी रसों का विवेचन किया है। रस की दृष्टि से देव बिहारी से अधिक सरस हैं। बिहारी सूक्ति प्रधान अधिक हैं। उनकी प्रवृत्ति उड़ान की ओर अधिक है। देव में भी यद्यपि प्रधानता शृंगार की ही है पर उन्होंने करुण, शान्त इत्यादि रसों का भी अच्छा आभास दिया है। देव का सयोग वियोग वर्णन बिहारी की अपेक्षा सरस है। जैसा कि हम प्रश्न संख्या चार में देख आए हैं बिहारी की वस्तु व्यजना कहीं-कहीं तमाशा बन गई है। इसके विपरीत देव ने अपने वियोग वर्णन में हृदय को निकाल कर दिया है। पढ़ते ही आँखें अश्रु पूरित हो उठती हैं। उनके साथ पाठक का तादात्म्य हो जाता है—

"राधे कहीं हैं कि ते छमियो, वृजनाथ जिते अपराध किए मैं।
कानन तानन भूलत ना खिन, आँखिन रूप अनूप पिए मैं॥
ओछे हिए अपने दिन रात, दयानिधि देव बसाय लिए मैं।
हौं हूँ असाधु बसी ने कहूँपल, आधु असाधु तिहारे हिए मैं॥"

इसमें देव ने प्रेम की उद्वेग दशा का वर्णन किया है। गोपियाँ प्रेमी को दोष न देकर स्वयं को दोष दे रही हैं। जिस अगाध हृदय में सम्पूर्ण

विश्व वास कर रहा है, उसे अपने क्षुद्र हृदय में बसाने का असाध्य प्रश्न सामने रख कर अपने को असाधु कह कर सन्तोष करते हुए वे क्षमा माँग रही हैं।

मुक्तक में अनुभावों द्वारा ही रसानुभूति होती है। चाहे वे अनुभाव कायिक हों या सात्विक और मानसिक। बिहारी अनुभावों के विधान में अत्यन्त पटु थे, उदाहरणार्थ—

"डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कम्प किशोरी दरस ते खरे लजाने लाल॥"

उपरोक्त दोहे में क्रम से कम्प, लज्जा से मुख का लाल हो जाना इत्यादि कायिक व सात्विक अनुभावों की निहित से पाठक में शीघ्र ही रसानुभूति हो जाती है। देव में भी अनुभावों का विधान कहीं-कहीं अच्छा बन पड़ा है परन्तु बिहारी की तुलना में निम्नकोटि हैं। दोनों महाकवियों के किलकिंचित हाव के दर्शन दोनों के निम्नलिखित उदाहरण में मिल जायँगे—

"कहत, नटत, रीझत खिझत, मिलत, खिलत, लजयात।
भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात॥"

यहाँ पर बिहारी ने परकीया नायिका के वर्णन में एक साथ ही नटना, रीझना खीजना, मुसकराना, लजाना आदि भावों को एक ही दोहे में सीमित कर दिया है। इसी प्रकार का देव का निम्नलिखित सवैया देखिए—

"कांपि कंपोलनि चांपि हथेलिन, झांपि रही मुख डीठि लसौंही।
त्यौं सकुचौंही, उचौंही, रुचौंही, संसौंही, हँसौंही, रसौंही, रिसौंही।"

इसमें देव ने उसी प्रकार के हावों की व्यञ्जना की है जो हम अभी बिहारी में देख चुके हैं। इसके साथ ही देव ने ३४ वें संचारी भाव 'छल' की मौलिक कल्पना की है लेकिन कई आचार्य उसे ३३ संचारियों में ही म नते हैं।

भाषा—दोनों ही कवि ब्रजभाषा के पण्डित थे। देव का अनुप्रास और रूपक योजना तथा बिहारी की समासिकता उनके भाषा पर पूर्ण अधिकार की घोषणा करते हैं। दोनों की भाषा में अपनी अपनी विशेषताएँ

हैं। शब्दों की तोड़ मरोड़ दोनों में ही है। बिहारी में उर्दू फारसी के शब्दों का आधिक्य है पर देव में उनकी अपेक्षा इन शब्दों का प्रयोग कम है। इसी कारण देव के पद बिहारी से सरस हैं। मुहावरों का प्रयोग दोनों ने किया है। बिहारी ने अनेक दोहों में श्लेष का अच्छा निर्वाह किया है। उनका 'उरवसी' तरयौना आदि शब्दों वाले पद प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार देव ने भी अनुप्रास और श्लेष का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। "वा चकई को भयौ चित चीतो, चितौति चहूँ दिसि चाय सौं नाची।" जैसे पदों को पढ़कर देव की अनुप्रासिकता तथा शब्द चयन की प्रतिभा का पता लगता है। परन्तु कहीं-कहीं यह रुचि पूरे कवित्त को छकड़ा बना कर कीचड़ में फंसा देती है। बिहारी में यह गुण देव से अधिक है। किसी भी बड़े भाव को थोड़े शब्दों में प्रकट करना समास पद्धति कहलाती है। बिहारी इस क्षेत्र में अद्वितीय हैं। प्रश्न संख्या ४ में इसको स्पष्ट किया जा चुका है।

छन्द—बिहारी ने केवल दोहा और सोरठा तथा देव ने कवित्त, सवैया और कुछ दोहे बनाए हैं। आचार्य होने पर भी देव की प्रवृत्ति तरह तरह के छन्दों की ओर नहीं गई। इस विषय में दोनों का अपने अपने प्रयुक्त छन्दों पर पूर्ण अधिकार है।

अलङ्कार—अलङ्कार क्षेत्र में बिहारी केवल कवि हैं और देव आचार्य और कवि दोनों हैं। देव ने ३९ अलङ्कार माने हैं, शेष अलङ्कारों को उन्हीं के अन्तर्गत मान लिया है। देव शब्दालङ्कार को और बिहारी ने अर्थालङ्कार को अधिक अपनाया है। देव ने अनुप्रास और यमक के लोभ में शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है। बिहारी ने छोटे छोटे दोहों में कई अलङ्कारों को एक साथ ही रख दिया है। बिहारी के श्लेष के दोहे प्रसिद्ध हैं। देव की अनुप्रासिकता जिस प्रकार पाठकों को चकित कर देती है। उसी प्रकार बिहारी की समासिकता अपनी विशिष्टता प्रकट करती है। देव मे कहीं कहीं शब्द अपव्यय अधिक और अर्थ अल्प पाया जाता है। नीचे के उदाहरणों से बिहारी की सामासिकता तथा देव की आनुप्रासिकता स्पष्ट हो जायगी। बिहारी—

"कौड़ा आँसू बूँद कषि, साँकर वरुनी सजल।
कीन्हें वदन निमूँद, दृग मलंग डारे रहत॥"
देव—"बरुनी बघंबर में गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगौंहें भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनि हूँ जागें भौंहें,
धूम सिर छायो विरहानल विलखियाँ॥" आदि।

प्रकृति चित्रण—दोनों ने ही प्रकृति को शृंगार के उद्दीपन के रूप में देखा है। प्राकृतिक सौन्दर्य में तन्मय होकर आलम्बन रूप मे प्रकृति चित्रण का अभाव दोनों में है। दोनों ने परम्परा का पालन किया है। इनके द्वारा प्रकृति का सुन्दर सूक्ष्म निरीक्षण नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं बिहारी का प्रकृति चित्रण देव की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक हुआ है। प्रश्न संख्या चार में दिए गए ग्रीष्म तथा पवन रूपी हाथी के रूपक इसके उदाहरण हैं। इन स्थलों में कवि रूढ़ि से हटकर स्वतन्त्र प्रकृति निरीक्षण मे मग्न है। देव में यह बात नहीं पाई जाती। उनमें उद्दीपन भाव अधिक है। जैसे—

"डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के,
सुमन झगूला सोहै तन छवि भारी दे।
पवन डुलावैं केकी कीर बतरावैं,
कोयल हलावें हुलसावैं कर तारी दे।
पूरित पराग सौं उतारो करै राई नौन,
कंजकली नायिका लतानि सिरसारी दे।
मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि।
प्रातहि जगावन गुलाब चटकारी दे॥"

देव ने कहीं कहीं प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर लता के पेड़ों से लिपटने में स्त्री-पुरुष का आभास दिया है। "सुनि कै धुनि चातक मोरन की" वाले पद में मनुष्य की संयोग शृङ्गार की उत्तम भावना को ही उन्होंने देखा है। एक स्थान पर तो "लोहू पियो जु वियोगिनि को, सो कियो मुख लाल पिशाचिनि प्राची" कह कर प्रातःकाल के वर्णन में प्रकृति को वियोगिनी का खून पिए हुए पिशाचिनी के रूप में देखा है।

ऐसे वर्णवी भीभत्स हैं। वस्तुतः देव को प्रकृति को आलम्बन रूप में देखने व उसके सौन्दर्य में मग्न होने वाली दृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी। इस क्षेत्र में बिहारी उनसे श्रेष्ठ हैं।

निर्णय—देव और बिहारी में कौन श्रेष्ठ है, यह निर्णय बड़ा दुस्तर कार्य है क्योंकि बिहारी के रत्नों का एक स्थान पर ढेर लगा है और देव के रत्न ५२ या ७२ ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं। उन्हें निकाल कर तथा एकत्रित करके बिहारी की रत्नराशि से तुलना करें तो शायद निर्णय न्यययानुकूल हो सके। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन दोनों महान् कलाकारों को लेकर हमारे दिग्गज आलोचकों में कितनी तू-तू, मैं-मैं हो चुकी है; परन्तु निर्णय करते समय हमें इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि जहाँ बिहारी ने अपने दोहों को चुन-चुन कर खराद पर चढ़ा कर यत्नपूर्वक सँवारा है वहाँ देव को अपने यत्नों को सवारने-सजाने का उतना अवसर नहीं मिला है। अतः जो किसी वस्तु के बाह्य सौन्दर्य से आकर्षित होने वाले हैं उन्हें बिहारी अच्छे लगेंगे और जो वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रेमी होंगे उन्हें देव अधिक प्रिय लगेंगे। वैसे दोनों ही ब्रजभाषा के सिद्धान्त और वाक्सिद्ध कवि हैं। अपने-अपने स्थान पर दोनों ही महाकवि हैं और हिन्दी साहित्य के गौरव हैं। दोनों में से एक को दूसरे से छोटा बड़ा बताना उनका अपमान करना है। दोनों में ही अपन-अपनी विशेषतएं हैं।

कवित्त सरसी—(सेनापति)

प्रश्न १—सेनापति को आप भक्त कवि मानेंगे या रीति कवि ?

उत्तर—इस प्रश्न के निर्णय से प्रथम हमें भक्त कवियों की विशेषताओं को जानना आवश्यक है। उनकी विशेषताओं के सगुण पूजा, गुरु पूजा, नामस्मरण, वैराग्य, इन्द्रिय दमन आदि गुण पाए जाते हैं। संक्षेप में हम भक्त उसे कह सकते हैं जो विश्व से विमुख होकर प्रभु के स्वरुप का ध्यान करे और उसी में निरन्तर लीन रहे। इसके विपरीति रीति कवियों

की विशेषताएँ ये हैं — राज्याश्रय की प्रकृति, शृङ्गार की प्रधानता, कवि और आचार्य बनने की प्रवृत्ति, प्रकृति का उद्दीपन रूप मे चित्रण और चमत्कार प्रदर्शन। इनके काव्य में अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने की भावना के कारण सर्वत्र शृंगार प्रधान होता है।

इस आधार पर जब हम सेनापति का मूल्याङ्कन करते हैं तो वे हमें रीतिकालीन कवि के रूप में ही अधिक दिखाई देते हैं। उनका आविर्भाव भक्तिकाल एवं रीतिकाल के सन्धि युग में हुआ था। उन पर दोनों ही धाराओं का प्रभाव था; परन्तु उन पर रीतिकाल का ही अधिक प्रभाव था। उनके एक कवित्त से यह ध्वनि निकलती है कि वे अपने प्रारम्भिक काल में किसी मुसलमानी दरबार से सम्बन्धित थे ऐसा 'राम रसायन' के "केतौ करौ कोई पैये करम लिख्योई ताते" वाले कवित्त से प्रकट होता है। उसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "चारि वरदानि तजि पाइ कमलेच्छन के, पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइए।" इससे स्पष्ट है कि वे दरबारी कवि थे, पर पीछे से उन्हें विरक्ति हो गई थी। यह विरक्ति अनेक शृंगारी कवियों को हुई थी। परन्तु यह विरक्ति नहीं जो भक्त कवियों की स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा पर आधारित हो। यह तो चापलूसी ऊबने का परिणाम है। अतः सेनापति की भक्ति भावना भक्त कवियों की भक्तिभावना से भिन्न है। उसमें तीव्रता और स्वाभाविकता केवल इस कारण है कि वे भक्तिकाल के अन्तिम चरण में हुए थे, अतः उन पर भक्ति का भी प्रभाव था।

यदि राज्याश्रय की बात छोड़ भी दें तो उनकी दूसरी विशेषता शृंगार की है। सेनापति की रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था और वे साहित्यिक परम्परा से पूर्णरूपेण परिचित थे। भले ही उन्होंने रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार नायक-नायिका भेद तथा अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण देकर आचार्यत्व प्रदर्शित नहीं किया, पर उनकी रचना से इस बात का पूर्ण प्रमाण मिलता है कि उन पर रीति युग का पूरा-पूरा प्रभाव था। 'कवित्त-रत्नाकर' की पहली और दूसरी तरंग इसका प्रमाण है। वैसे भी अन्तिम 'रामरसायन'

आदि तरंगों के अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रन्थ में शृंगार का ही प्रधानता है। लोगों का अनुमान है कि उनका दूसरा अप्राप्य "काव्य कल्पद्रुम" नामक ग्रन्थ अवश्य ही लक्षण ग्रन्थ होगा।

शृंगार रस के विवेचन में सेनापति ने रूप सौन्दर्य, वयः सन्धि, नख-सिख आदि का वर्णन किया है। नायिका भेद का पूरा वर्णन न कर कवि ने अपनी रुचि के अनुसार नायिकाओं के कुछ ही भेदों पर लिखा है। मुग्धा, खंडिता, वचन-विदग्धा आदि के उन्होंने सुन्दरतम चित्र दिए हैं। उनका विरह वर्णन भी शृंगारी कवियों का सा है। अन्य शृंगारी कवियों की भाँति परकीया का वर्णन ही सेनापति को अभीष्ट है। इस प्रकार शृंगारी रस-विवेचन की जो परम्परा रीतिकाल में रही, वह सेनापति ने अपनाई है।

चमत्कारवादिता की दृष्टि से अगर देखें तो भी सेनापति रीति सम्बन्धी कविता करने वाले ही सिद्ध होते हैं। उनका श्लेष वर्णन जो प्रसिद्ध है ही, "कवित्त रत्नाकर" के अन्त में 'चित्रकाव्य' तथा कूट आदि शब्द कौतुक प्रधान रचनाएं भी मिलती हैं। अलङ्कारों का आग्रह इतना अधिकहै कि वे साधन न होकर साध्य बन गये हैं। यह भी रीतिकाल का प्रभाव है। उनका ऋतु वर्णन भी शृंगारी कवियों के समान उद्दीपन रूप में है। कुछ छन्द स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण से सम्बन्ध रखने वाले हैं, परन्तु अधिकांश उद्दीपन रूप के ही हैं।

यद्यपि सेनापति में भक्तिभावना मिलती है परन्तु उसमें वह तन्मयता और अनुभूति की गहनता नहीं मिलती जो भक्त कवियों की विशेषता है। उसमें रीति का प्रभाव ही अधिक है। अतः हम सेनापति को रीति कवि ही कहेंगे—भक्त नहीं।

प्रश्न २—सेनापति के काव्य पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—सेनापति का आविर्भाव भक्तिकाल के अवसान और रीति-काल के उदय पर हुआ था। इसलिए इनके काव्य में भक्ति भावना और शृंगार दोनों ही प्रबल हैं श्लेषवर्णन, शृंगार वर्णन एवं ऋतु वर्णन में शृंगार की ही प्रधानता है तथा रामायण वर्णन एवं राम रसायन वर्णन

में भक्ति की प्रधानता है। सेनापति में भाव एवं कला का मार्मिक सामंजस्य मिलता है। अन्य रीतिकालीन कवियों के समान कला भाव को दवा नहीं पाई है। रस निरूपण में रीतिकाल को अपनाते हुए भी उस परम्परा का पूर्णरूपेण पालन नहीं किया है। उसमें भाव, विभाव अनुभावादि के लक्षणों तथा उदाहरणों का क्रमानुसार वर्णन नहीं है। वे रस सम्प्रदाय से प्रभावित अवश्य है परन्तु अलङ्कारों के प्राचुर्य से उनका ध्यान रसोत्कर्ष पर जमा नहीं है। अलङ्कार साधन न होकर साध्य बन गए हैं। इनके काव्य में शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक तथा शान्त रस मिलते हैं। स्वभावतः शृङ्गार प्रधान है। शृङ्गार में प्रसाधन रहित स्वाभाविक सौन्दर्य के सुन्दर उदाहरण हैं। शृङ्गार रस के अलम्बन विभाव नायक नायिका हैं। मुग्धा, खंडिता, वचन विदग्धा नायिकाओं के वर्णन में अश्लीलतत्व दोष है परन्तु स्वकोया में मर्यादा का पालन है। परम्परा मुक्त वर्णन में नखसिख वर्णन पर भी कुछ छन्द पाए जाते हैं। इनमें परम्परा से प्रचलित उपमानों का ही प्रयोग है। संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार का वर्णन अधिक है। उनका विरह वर्णन प्रवास हेतुक एवं विरह हेतुक है। परन्तु जायसी आदि के समान विरही की आकुलता का अत्युक्ति पूर्ण वर्णन नहीं है। अलङ्कार प्रियता के कारण कहीं कहीं अनुप्रासादि के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में भावोत्कर्षता में कमी आ गई हैं।

सेनापति के रामायण वर्णन को देखने से प्रतीत होता है कि उन्हें मानव जीवन की सुकुमार भावनाओं से उतना अनुराग नहीं था जितना उत्साहपूर्ण वीरोल्लास से। उसमें केवल वीरोत्साह वाले स्थलों का ही वर्णन है। जैसे सीता-स्वयम्वर, हनुमान का लका गमन, राम-रावण युद्ध आदि। करुण स्थलों का पूर्ण अभाव है। वीर रस का पूर्ण परिपाक है। इसके वर्णन में परम्परा-युक्त कर्णकटु शब्दों का प्रयोग नहीं है। फिर भी भाषा में ओज है। उत्साह में मर्यादा का पालन एवं क्रोध में उल्लंघन मिलता है। धनुष भंग के अवसर पर भयानक रस का वर्णन है। हास्य रस का अभाव है केवल श्लेष वर्णन में कहीं कहीं सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के रूप में सुन्दर हास्य के दर्शन हो जाते हैं।

सिद्धान्त की दृष्टि से सेनापति गोस्वामी जी की परम्परा में आते हैं। राम के उत्कट भक्त होते हुए भी उन्होंने कृष्ण, शिव एव गंगा का वर्णन भक्तिभाव से किया है। रामकथा वर्णन में तुलसी की अपेक्षा वाल्मीकि से प्रभावित हैं। राम के लोकोपकारी एव पराक्रमी रूप का वर्णन अधिक है, असीम सौन्दर्य का कम। जीवन की अनित्यता से क्षुब्ध होकर ही भगवान की भक्ति-वत्सलता में उनकी आस्था दिखाई देती है। राम रसायन में दैन्य की भावना है। कहीं-कहीं सूर की सी दीनता है जिसमें अक्खड़ता भी है। तुलसी के समान साकार का वर्णन कर निराकार में आस्था रख मूर्त्तिपूजादि का विरोध है।

काव्य के अन्तरंग के विचार से सेनापति की कविता भक्त तथा शृङ्गारी कवियों की कोटि में आती है और बहिरंग की दृष्टि से रीति ग्रन्थकारों की कोटि में। भक्तों के समान इनमें अनुभूतियों का प्राधान्य है। साथ ही रीतिकालीन कवियों के समान इन्होंने अपने काव्य को बाह्य उपकरणों से सजाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उसमें नैसर्गिक मर्मस्पर्शिता का अभाव है। ब्रजभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार है। साधारण शब्दों से श्लिष्ट काव्य की रचना की है। भाषा में तत्सम् रूपों एवं संस्कृत पदावली का अभाव है। फारसी अरबी के शब्द भी मिलते हैं पर कम। कहीं-कहीं खड़ी बोली के भी रूप मिल जाते हैं। भाषा मे प्रसाद तथा ओज गुण का प्राधान्य है। माधुर्य के प्रति कम ध्यान है। कहीं-कहीं शब्द सौन्दर्य मिलता है। व्यंजना का उपयोग कम है। भाषा सुव्यवस्थित एवं परिमार्जित है। शब्दों के विकृत रूपो का अभाव है। कहीं-कहीं छन्दों भंग, यतिभंग आदि दोष मिलते हैं। छन्दों मे केवल कवित्त का ही प्रयोग है।

(**नोट**—भाषा, प्रकृति वर्णन तथा श्लेष वर्णन पर पृथक रूप-से विचार किया गया है)—

प्रश्न ३—सेनापति के प्रकृति चित्रण की विवेचना कीजिए तथा अन्य कवियों से तुलना कीजिए।

उत्तर—सेनापति ने प्रकृति वर्णन चार प्रकार से किया है। १—उद्दीपन रूप से, २—श्लेषादि चमत्कार दिखलाने के लिए, ३—मानवीकरण करके, ४—आलम्बन रूप से। इनमें उद्दीपन की प्रधानता है। इसमें भी सेनापति का दृष्टिकोण रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उनकी दृष्टि रीतिकालीन संकीर्ण परम्परा-युग क्षेत्र से निकल कर प्रकृति के उन्मुक्त और सुरम्य स्थल की ओर गई है। फलस्वरूप उन्होंने प्रकृति का रमणीय और संश्लिष्ट वर्णन किया है। उन्होंने नाम ही नहीं गिनाए हैं वरन् उनके संश्लिष्ट चित्र भी दिए हैं। सच्चे प्रकृति प्रेमी की भाँति उन्हें अर्थ ग्रहण करने से सन्तोष नहीं होता, वे बिम्ब ग्रहण द्वारा ही प्राकृतिक दृश्यों के चित्र उपस्थित करते हैं। जहाँ तक उद्दीपन रूप में प्रकृति वर्णन का प्रश्न है सेनापति ने परम्परा का पालन किया है। संयोग सम्बन्धी उद्दीपन रूप का प्रकृति वर्णन तत्कालीन वैभव विलास से प्रभावित है। राजदरबार से सम्बन्धित होने के कारण ऋतुओं के अनुकूल राजमहलों का वर्णन स्वाभाविकता से किया है। इस वर्णन में सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव भी लक्षित होता है। शरद ऋतु के आगमन पर धनी और विलासी लोगों को दुख नहीं होता—"आए अगहन, हिम पवन चलन लागे, ऐसे प्रभू लोगन को होत बिसराम है।" परन्तु सेनापति की दृष्टि सम्पन्न प्रभू लोगों तक ही सीमित नहीं है। जाड़े में कष्ट उठाने वाले साधारण जनों की ओर भी उन्होंने सहानुभूति पूर्वक देखा है। उनके भी—"धूम नैन बहे, लोग आगि पर गिरे रहैं" और उस अग्नि को—"हिए सों लगाइ रहैं नेकु सुलगाइ कै।"

क्वार और सावन के बादलों के चित्रण में कवि की उच्चतम कला के दर्शन होते हैं। संश्लिष्ट योजना द्वारा उन्होंने दोनों महीनों के बादलों का अत्यन्त सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया है। ऐसे चित्र हिन्दी साहित्य में दुर्लभ हैं। क्वार के बादल "मनो सुभ्र फटिक पहार के" हैं इसके विपरीत सावन के बादल "पहार मानो काजर के" हैं। क्वार के बादल पूरब की ओर दौड़ते है। उनकी गर्जना मधुर और हलकी होती है। वे "पूरब को भाजत हैं, रजत से राजत हैं' तथा गग गग गाजत गगन घन क्वार के।"

इसके विपरीत सावन के बादलों से "गगन छयो तिमिर सघन भयौ" और अन्धकार इतना सघन हो गया है कि "देखि न परत मानौ रवि गयौ खोय कै।" दोनों प्रकार के बादलों का ऐसा यथातथ्य एवं वैज्ञानिक वर्णन का स्वरूप खड़ा कर देना सेनापति के अद्भुत प्रकृति निरीक्षण का तो प्रमाण है ही उनके प्रकृति के प्रति अनुराग का भी प्रतीक है। वर्षा के बादलों के अतिरिक्त ग्रीष्म, शिशिर, हेमन्त आदि का भी अत्यन्त भावुकता पूर्ण वर्णन है। कहा जाता है कि प्रकृति का आलम्बन रूप में इतना सुन्दर चित्रण हिंदी में किसी कवि ने भी नहीं किया।

ऋतुओं का उत्कर्ष वर्णन करते हुए सेनापति ने अतिशयोक्ति तथा अत्युक्ति अलङ्कारों से सहायता ली है श्लेष वर्णन के अन्तर्गत दो ऋतुओं का वर्णन एक ही छन्द में किया है। कहीं-कहीं प्रकृति का मानवीकरण भी किया गया है। बसन्त का दूलह रूप दृष्टव्य है—

"बरथौ है रसाल और सरस सिरस रुचि,
ऊँचे सब कुल मिले गनत न अन्त है।"

यद्यपि सेनापति के वर्णन अधिकांश उद्दीपन रूप के हैं। किन्तु आलम्बन रूप के वर्णनों की भी प्रचुरता है। इन वर्णनों में सूक्ष्म निरीक्षण के साथ बिम्ब ग्रहण और सश्लिष्ट योजना मिलती है, केवल अर्थ ग्रहण के लिए नाम परिगणन मात्र नहीं है। ये वर्णन कल्पना से रङ्गीन और अलङ्कारों से सज्जित हैं।

सेनापति ने केशव के समान प्रकृति वर्णन में केवल कवि कर्त्तव्य का पालन मात्र ही नहीं किया है अपितु प्रकृति के सुन्दर रूप में उनका हृदय रमा है। उन्होंने केशव के समान शाब्दिक चमत्कार का आश्रय लिया अवश्य है परन्तु केवल मात्र उसी की प्रधानता नहीं है। वे केशव के समान सेब और बेर शब्द मात्र लेकर प्रकृति वर्णन की इति कर्त्तव्यता नहीं समझ बैठे और न अर्जुन भीम के शब्द साम्य के आधार पर पञ्चवटी को पांडवों की प्रतिमा ही बना देते हैं। न वे 'एला ललित लवङ्ग संग पुंगीफल सोहै" कहकर नाम परिगणन ही करते हैं। अस्तु केशव से सेनापति का प्रकृति वर्णन बहुत श्रेष्ठ है।

ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में सेनापति ने लूओं का वर्णन किया है। परन्तु उन्होंने बिहारी की भाँति माह पूस में लूएँ नहीं चलाई हैं। कुछ वर्णनों में जैसे जेठ की दुपहरी के वर्णन में (छाहों चाहति छाँह) पावस के रातद्यौस के अभेद में तथा पूस के दिनमान वर्णन में वे बिहारी के ही समान हैं। यहाँ उन्होंने अतिशयोक्ति से काम लिया है। बिहारी में चमत्कार प्रदर्शन की भावना सेनापति से अधिक है। सेनापति ने जायसी के समान प्रकृति का मानवीकरण किया है परन्तु उनकी भाँति उसे सदैव मानव के साथ रुलाया नहीं है। सेनापति के वर्णन जायसी और बिहारी की भांति सिद्ध नहीं हैं वरन् वे उत्प्रेक्षा द्वारा सम्भावित मात्र हैं। विद्यापति ने बसन्त के मानवीकरण में जितना कौशल दिखाया है वह सेनापति में नहीं है। अपने बसन्त वर्णन में विद्यापति ने बसन्त के जन्मोत्सव के अवसर पर धतूरे को तुरही बजाने वाला तथा नागकेशर को शङ्ख बजाने वाला कहकर अपने अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण का परिचय दिया है। सेनापति अपनी कुछ उद्‌भावनाओं में विद्यापति से प्रभावित जान पड़ते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण दृष्टि से सेनापति का चित्रण अद्वितीय है।

प्रश्न ४—सेनापति की अलङ्कार योजना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सेनापति ने शब्दालङ्कारों पर विशेष ध्यान दिया है, अर्थालङ्कारों पर नहीं। उन्होंने अर्थालङ्कारों में कुछ प्रसिद्ध अलङ्कारों को ही लिया है। शब्दालङ्कारों में सबसे अधिक महत्व श्लेष को दिया है। "कवित्त-रत्नाकर" की पहली तरङ्ग ही श्लिष्ट कवित्तों की है। इन श्लिष्ट कवित्तों की अन्तिम पंक्ति में कवि उस कवित्त में वर्णित विभिन्न अर्थों का भेद खोल देता है। उसने अन्तिम पंक्ति में ही समता सूचक अलङ्कारों का प्रयोग किया है। ये ही उन श्लिष्ट कवित्तों की कुञ्जी हैक्योंकि इनके द्वारा व्यक्ति को उपमेय और उपमान ही पूरे अर्थ को स्पष्ट करते हैं। परन्तु सेनापति ने कहीं-कहीं बड़े विचित्र उपमान रखे हैं। कहीं तो वे नायिका को काम की पगड़ी बताते हैं, कहीं काम की वाटिका, कहीं उसे नवग्रह की माला बताते हैं तो कहीं कान में पहनने की लौंग। इस अलंकार प्रदर्शन की प्रवृत्ति से कहीं-कहीं

उनके कवित्त बड़े बेढंगे हो गए हैं। "तुकन सहित भले फलकौं धरत सूधे" कवित्त में उन्होंने उपमान का उपमेय से सादृश्य रखते हुए, श्लेष का अच्छा निर्वाह किया है।

सेनापति ने अभग और सभंग दोनों प्रकार के श्लेष लिखे हैं। अभंग में शब्द को बिना तोड़े अर्थ निकाला जाता है तथा सभंग में शब्द को तोड़ कर दो अर्थ निकाले जाते हैं। सेनापति के अभंग श्लेषों की यह विशेषता है कि उन्होंने उन्हीं साधारण शब्दों का प्रयोग किया है जिन्हें जन साधारण भी सरलता से समझ लेते हैं। क्लिष्ट संस्कृत शब्दों द्वारा श्लिष्ट कविता करना उन्हें प्रिय नहीं। सभग श्लेषों में शब्द को तोड़ कर अर्थ करने में पाठक को अवश्य कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसे स्थानों पर थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। कहीं कहीं कवि स्वयं दोनों पक्षों की बात कह देता है कि मैंने अमुक-अमुक वस्तुओ को एक कर दिया है जैसे—"हरि, राव अरुन, तमी को वरनत हौं" लेकिन चमत्कार के लिए एकीकरण में विरोधी बातें रखी हैं। ऐसा करने में कठिनाई भी होती है। पर भाषा पर अबाध अधिकार होने से सेनापति ने इसमें पूर्ण सफलता पाई है। कुछ कवित्तों में तो विरोधी बातो का निर्वाह ही बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उनका "नाहीं नाहीं करै थोरे माँगे बहु देन कहै" वाला प्रसिद्ध कवित्त दाता और सूम का एक साथ ही सफल वर्णन करता है। हिन्दी साहित्य में ऐसे सभंग श्लेषों के अन्य दर्शन नहीं होते। ऐसे छन्द सेनापति के भी बहुत कम हैं।

श्लेष के बाद सेनापति के प्रिय अलंकार यमक और अनुप्रास हैं। इनका अत्यन्त स्वाभाविक निर्वाह हुआ है। उदाहरण के लिए "नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति" वाला कवित्त दिया जा सकता है। सेनापति ने चित्रालंकार भी लिखे हैं। उनमें एकाक्षर द्वयाक्षर आदि की प्रवृत्ति वाले कुछ छन्द भी हैं। अर्थालंकारों में सेनापति की उत्प्रेक्षा विशेष प्रिय है। समस्त प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वस्तुत्प्रेक्षा और ऋतुओ की उत्कर्ष व्यञ्जना में फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा से सहायता ली गई है। वस्तूत्प्रेक्षा के लिए "कातिक की राति थोरी थोरी सियरात" वाला कवित्त

तथा फलोत्प्रेक्षा के लिए—"लाल-लाल टेसू फूलि रहे हैं विशाल संग" वाला कवित्त और हेतूत्प्रेक्षा के लिए—"चारिमास भरि स्याम निसा के भरम करि, मेरे जान याही तैं रहत हरि सोइ कै" वाला कवित्त दर्शनीय है।

भावों और व्यापारों का बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करना सेनापति को बहुत प्रिय है। फलस्वरूप अतिशयोक्ति और प्रत्युक्ति अलंकार उनमें पर्याप्त रूप से मिलते हैं। इन अलकारों के रूप "अब आयौ माह, प्यारे लागत हैं नाह" वाले कवित्त में मिल जाते हैं। अभेद प्रधान सादृश्य मूलक अलंकारों में रूपक, भ्रम और सन्देह का प्रयोग अधिक किया गया है। रूपकों को श्लिष्ट कर देना सेनापति को बहुत प्रिय है। राम रावण युद्ध के वर्णन में भ्रमालङ्कार और सन्देहालङ्कार का अच्छा निर्वाह हुआ है। समष्टि रूप से सेनापति की अलङ्कार योजना में शब्दालकारों का ही बाहुल्य है। अर्थाल-कारों में केवल चिरपरिचित अलंकार ही लिए गए हैं।

प्रश्न ५—-सेनापति की भक्ति भावना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सेनापति राम भक्त थे। सिद्धान्तों के निरूपण में उन्होंने तुलसी का अनुकरण किया है। यद्यपि अपने अन्तिम समय में वे सन्यास लेकर वृन्दावन जा बसे थे फिर भी उनकी कृष्ण विषयक कविताएँ बहुत कम है। उन्होंने जहाँ भी राधा कृष्ण का वर्णन किया है वहाँ वे रीतिकालीन शृङ्गारिक भावना से ही प्रभावित हैं। वहाँ भक्ति की गहराई नहीं है। उन्होंने "मार हू ते सुकमार नन्द के कुमार को", निज द्वार पर खड़े हुए प्रीति की बीन बजाते हुए ही देखा है। दूसरी ओर राधा "विरह मलीन चैन पावत अली न, मन मेरो हरि लीन तातैं सदा हरि लीन हैं।"

सेनापति ने मुक्तक रूप से एक ओर तो रामभक्ति की आराधना की है और दूसरी ओर गङ्गा की महिमा का वर्णन किया है। पाँचवी तरंग के कुछ पदों को देखकर कवि की राम के प्रति अनन्यता की झलक मिलती है क्योंकि वह तो "ऐसे रघुबीर कौं, आधीर है सुनावौं पीर" के लिए ही उत्सुक हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि राम के अतिरिक्त "दूजो दुख हरन हमारो और कौन है।" यहाँ पर कवि ने अत्यन्त दीन होकर अपने आराध्य की शरण

चाही है। वह और किसी पर विश्वास नहीं करता इसीलिए—"हम तौ पुकार एक तो ही सौं करत हैं।" इसका कारण यह है कि कवि के लिए 'राम की कहानी गंगाधार सी बखानी है।" वह तो इसी का आश्रय पाकर संसार से मुक्त हो जायगा। उसको अपने आराध्य पर इतना अटूट विश्वास है कि काल का भी निरादर करता हुआ कहता "एरे कलिकाल। मोहि कालौ न निदरि सकै।" वह राम का आश्रय पाकर पूर्ण निर्भय है। उसे किसी वस्तु की चिन्ता नहीं—"जाके सिर पर राजत है महाराज, ताहि कहौ परी परवाह कौन बात की।"

राम के समान ही कवि गंगा की स्तुति भी पूर्ण तन्मयता और अगाध विश्वास के साथ करता है। इसी कारण वह गंगा के तीर पर रहता है, उसे गंगा से मोह है उसके तो—"गङ्गाधर पिता, गंगाधर के समान जानौं, गंगा तीर बसति अनूप जिन पाई है।" परन्तु गंगा का इतना महत्त्व एवं कवि का उसके प्रति इतना मोह इसी कारण है कि—"राम पद-सगिनी, तरंगिनी है गंगा, ताते याही पकरे ते पाइ राम के पकरिए।" इसके अतिरिक्त कई पदों में कवि ने शिव की भी स्तुति की है। इन सब को देखकर यह ज्ञात होता है कि सेनापति ने भी तुलसी की भाँति सर्व-धर्म समन्वयवाद का अनुकरण किया था।

केशवदास

प्रश्न १—रीतिकाल का प्रवर्त्तक किसे माना जा सकता है—केशव अथवा चिन्तामणि को अपना मत लिखिए।

उत्तर—रीतिग्रन्थों का प्रवर्त्तक किसे माना जाय यह प्रश्न विवादास्पद है। श्यामसुन्दरदास केशव को मानते है और आचार्य शुक्ल चिन्तामणि को। श्यामसुन्दरदास का कथन है कि—"यद्यपि समय विभाग के अनुसार केशव भक्तिकाल में पड़ते हैं और गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थ लिखने के कारण वे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परन्तु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक

प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिन्दी काव्य धारा से पृथक होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिन्दी में रीति ग्रन्थों की परम्परा के आदि आचार्य कहलाए " श्यामसुन्दरदास जी का उपर्युक्त मत तर्कसंगत और उचित है। उन्होंने केशव को रीति ग्रन्थों की परम्परा का आदि आचार्य माना है न कि प्रवर्तक। केशवसे पूर्व भी कई रीति ग्रन्थ लिखे गए थे जैसे सूरदास का साहित्य-लहरी, नन्ददास की रस मञ्जरी, कृपाराम की हिमतरंगिणी, करणेस की कर्णाभरण। परन्तु इन ग्रन्थों में काव्यशास्त्र का गम्भीर विवेचन नहीं हुआ। ये ग्रन्थ स्पष्ट रीति ग्रन्थों के रूप नहीं लिखे गए। सर्वप्रथम केशव ने ही 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' जैसे रीति ग्रन्थों के माध्यम से काव्य रचना की प्रणाली निकाली। उनकी रामचन्द्रिका तक में यही प्रवृत्ति मिलती है। इसलिए उन्हें रीति ग्रन्थों की परम्परा का आदि आचार्य माना जा सकता है। प्रवर्तक उसे माना जाता है जिसका कालान्तर में अनुगमन किया जाता है। केशव के परवर्ती कवि आचार्यों ने केशव द्वारा अपनाई गई पद्धति को नहीं अपनाया। इसी आधार पर शुक्ल जी उन्हें प्रवर्त्तक नहीं मानते।

शुक्ल जी इस विषय का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि—"इस निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदास जी ने काव्य के सब अङ्गों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया।" यहाँ तक उपर्युक्त दोनों विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है। मतभेद तब होता है जब आगे शुक्ल जी लिखते हैं कि—"पर हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कवि प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।" इसका कारण बताते हुए वे आगे लिखते कि-"साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते बढ़ते स्थिति पर पहुँच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिन्दी पाठकों को काव्यॉग निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और

विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई।...... पर केशवदास के उपरान्त तत्काल रीतिग्रन्थों की परम्परा चली नहीं। 'कविप्रया' के पचास वर्ष पीछे उसकी अखण्ड परम्परा का आरम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चला। काव्य के स्वरूप और अंगों के सम्बन्ध में हिन्दी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती आचार्यों का मत ग्रहण किया। हिन्दी रीतिग्रन्थों सी अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।"

चिन्तामणि त्रिपाठी ने 'काव्य विवेक' 'कविकुल कल्पतरु' और 'काव्य प्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया। चिन्तामणि के परवर्ती आचार्यों ने भी वही गार्ग ग्रहण किया जो चिन्तामणि ने किया था। उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि केशव ने संस्कृत आचार्यों के उस वर्ग का अनुसरण किया था जिनकी मान्यताएँ खण्डित हो चुकी थीं और चिन्तामणि ने उस वर्ग का अनुसरण किया था जिनकी काव्य-शास्त्र सम्बन्धो मान्यताएँ अधिक वैज्ञानिक, मौलिक और तर्क संगत थी। इसी वर्ग का अनुकरण प्रायः सभी परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने किया। अतः केशव को रीति ग्रन्थों का प्रेरक और आचार्य मान सकते परन्तु चिन्तामणि रीतिग्रन्थों के वास्तविक प्रवर्त्तक माने जायंगे।

प्रश्न २—"यदि अलङ्कार प्रियता आड़े न आती तो केशवदास का प्रकृति चित्रण हिन्दी कवियों में बहुत सुन्दर हुआ होता।" इसे उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—केशव अलङ्कारवादी कवि थे। राज प्रासादों की रमणियों की भांति केशव की प्रकृति नटी भी सदैव अलङ्कारों से सुसज्जित रहती थी। इसी लिए केशव ने यद्यपि अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का समावेश हिन्दी के सभी कवियों से अधिक भले ही किया हो पर उनका हृदय उन दृश्यों के साथ रमा नहीं। यदि ऐसा हो गया होता तो वे हिन्दी के सबसे प्रमुख प्रकृति के कवि कहे जाते। परन्तु केशव का ध्यान इस ओर था ही नहीं। उनके प्रकृति

वर्णनों को पढ़कर ऐसा लगता है कि संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों ने प्रकृति वर्णन के जो नियम बना दिए हैं कि किन-किन प्राकृतिक वर्णनों में किस-किस सामग्री का समावेश होना चाहिए। उसी को केशव ने आँख मींच कर रख दिया है। उन्होंने ऐसा करते हुए अपनी मौलिक निरीक्षण शक्ति से काम नहीं लिया।

दूसरी बात यह है कि केशव दरबारी कवि थे। दरबार में सीधे-सादे वर्णनों से कोई लाभ नहीं हो सकता था। प्रत्येक प्रकृति के वर्णन में कोई न कोई चमत्कार डाले बिना केशव को सन्तोष नहीं हो सकता था। केशव ने वही किया है। अलङ्कार इसीलिए उनके यहाँ प्रकृति के सौन्दर्य वर्णन में सहायक होने की अपेक्षा स्वयं साध्य बन गए हैं। लगता है जैसे केशव यह निश्चय करके ही प्रकृति का वर्णन करने बैठते हैं कि अमुक दृश्य में अमुक अलङ्कार ही रखना है। ऐसी स्थिति में प्रकृति के आलम्बनरूप के संश्लिष्ट चित्रों की केशव से आशा करना दुराशा मात्र है। वहाँ तो केवल नाम गिनाने की परिपाटी स्वीकार की गई है।

नीचे हम कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार केशव की अलङ्कार प्रियता ने प्रकृति वर्णनों की मार्मिकता छीन ली है। आरम्भ के प्रकाश में दो तिहाई स्थान प्रकृति ने घेरा है। सरयू नदी को देखकर विश्वामित्र कहते हैं—

अति निपट कुटिल गति यदपि आप, तउ देत शुद्ध गति छुवत आप।
कछु आपन अघ अधगति चलन्त, फल पतितन कहँ ऊरध उनन्त॥

आशय यह है कि सरजू नदी तो टेढ़ी चाल वाली हैं परन्तु औरों को छूते ही सूधी गति (स्वर्ग) देती है। स्वयं तो नीचे की ओर चलती है परन्तु पापियों को ऊँचे जाने का फल देती है (देवलोक भेजती है) नदी के स्वाभाविक चित्रण की ओर कवि की रुचि नहीं है, वह विरोधाभास में ही डूबा है।

गोदावरी के वर्णन में भी यही विरोधाभास की प्रवृत्ति है—

विषमय यह गोदावरी, अमृतन के फल देत।

केशव जीवन हार को, दुख अशेष हर लेत ॥

राम और लक्ष्मण को लेकर जब विश्वामित्र जनकपुर धनुष यज्ञ देखने जाते हैं तो उस प्रसंग में प्रातःकालीन सूर्य का वर्णन किया गया है। उस रमणीय दृश्य का चित्र अंकित करते हुए कवि लिखता है—

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राण नाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिन्दूर पूर कैंधो मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक पट॥

यहाँ तक ठीक है लेकिन आगे वर्ण साम्य की झौंक में सन्देह अलङ्कार के सहारे कवि उस सूर्य को कापालिक खून भरा खप्पर कहकर समस्त वर्णन को मिट्टी कर देता है—

कै श्रोणित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।

पंचवटी के सौन्दर्य और प्रभाव को अंकित करने में कवि का मन नहीं लगता इसके विपरीत वह अनुप्रास, यमक आदि की छटा दिखाने के लिए पंचवटी को 'धूर्जटी' बना देता है—

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहे जह एक घटी।
निघटी रुचि मीच घटी हू घटी जगजीव जतीन की छूटी तटी॥
अघ ओघ की बेरी कटी विकटी निकटी प्रकटी गुरुज्ञान गटी।
चहुँ ओरन नाचति मुक्ति नटी गुन धूरजटी बन पचवटी॥

दण्डक वन के वर्णन में भी शब्दसाम्य और अलंकार प्रियता के कारण प्रकृति का रूप स्पष्ट नहीं है। दण्डक वन की शोभा बड़े राजा की सेवा के समान लगती है क्योकि राजा की सेवा करने से जैसे श्रीफल (लक्ष्मी का वैभव) प्राप्त होता है वैसे ही उस वन में श्रीफल (बेल के फलों) की अधिकता है।

शोभित दण्डक की रुचि बनी। भांतिन भांतिन सुन्दर घनी॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै। श्री फल भूरि भयो जह बसै॥

आगे चलकर उसे प्रलय काल की भयंकर बेला और श्रीहरि की मूर्ति बताया गया है तथा पाण्डव की प्रतिमा बताकर अर्जुन भीम का समावेश

कर दिया है, जिससे श्लेष के साथ वृक्षों का अर्थ लिया जाता है। यहाँ कवियों को न देश-काल का ज्ञान रहता है, न वर्णन की सत्यता। केवल उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों पर ही उसकी दृष्टि रहती है—

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै ॥
नैनन को बहु रूप न ग्रसै। श्री हरि की जनु मूरति लसै।
पांडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन, भीम महामति देखो ॥

प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र न देकर केवल नाम गणना का कारण भी यही है। ऋतुओं तक के वर्णन भी इसी दोष से पूर्ण हैं। नदियों, सरोवरों तथा आश्रमों के वर्णन में केशव अलंकारों की सामग्री ढूँढ़ते फिरे हैं, वातावरण के प्रभाव की व्यञ्जना करना उन्हें अभीष्ट नहीं रहा। इसीलिए देश-काल का भी ध्यान रख पाये।

वर्षा वर्णन करते हुए कवि ऋतु के सौन्दर्य को छोड़ देता है और उसके भयप्रद रूप का वर्णन करता है। वर्षा कवि को कालिका के समान दिखाई देती है। सभंग श्लेष द्वारा एक ही छन्द में कालिका और वर्षा का समावेश कर दिया है—

भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूख न जराय जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करि सुख मुख सुखमा ससी की,
नैन अमल कमल दलदलित निकाई है ॥
केसौदास प्रवल करेनुका गमन हर,
मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई है।
अम्बर वलित मति सोहै नीलकंठ जू की,
कालिका कि वर्षा हरषि हिय आई है ॥

अन्य ऋतुओं के वर्णन भी ऐसे ही हैं जहाँ श्लेष और सन्देह अलंकारों का सहारा लिया गया है—

शिव को समाज किधौं केशव बसन्त है।
सबर समूह कैधौं ग्रीषम प्रकासु है॥
केसौदास सारदा कि सरद सुहाई है।
सीकर तुषार स्वेद सोहत है मत्त ऋतु,
कैधौं केसौदास प्रिया प्रीतम विमुख की
सिसिर की सोभा कैधौं वारिनारि नागरी

कहने का अभिप्राय यह है कि केशव ने प्रकृति वर्णन प्रचुरता से किया है, पर सर्वत्र अलंकारों की भरमार से न तो उसका स्वाभाविक सौन्दर्य ही व्यक्त हो पाया और न उसके प्रभाव की व्यञ्जना हो पाई। अलंकार प्रियता ने केशव के प्रकृति वर्णन को दूषित कर दिया है। यदि यह प्रवृत्ति न होती तो निस्सन्देह केशव का प्रकृति वर्णन हिन्दी कवियों में अत्युत्तम हुआ होता।

प्रश्न ३—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

१—केशव के काव्य में मार्मिकता

२—केशव के काव्य में हृदय पक्ष तथा कलापक्ष

१—केशव के काव्य में मार्मिकता—केशवदास जी के ऊपर बराबर यह आक्षेप लगाया जाता है कि उनमें मार्मिकता की कमी है। वे कोरे चमत्कारवादी ही हैं। सरसता से उन्हें कोई सरोकार नहीं। लेकिन ऐसा कहना भूल है। ऐसा कहने का कारण यह है कि उनके अन्य ग्रन्थों को छोड़कर केवल 'रामचन्द्रिका' के आधार पर ही यह धारणा लोगों ने बनाली है। यदि 'रसिकप्रिया' को पढ़ा जाय तो केशव के कवि की सहृदयता स्पष्ट हो जाती है। शृंगार रस के ऐसे-ऐसे उदाहरण उसमें मिलते हैं कि तबियत फड़क जाती है। यही नहीं उनके जिस ग्रन्थ पर से यह धारणा बनाई गई है, उसमें भी ऐसे स्थल हैं, जहाँ केशव का सच्चा हृदय झलक उठता है। हम उसी से उदाहरण देकर केशव की मार्मिकता पर विचार करेंगे।

वन-गमन के समय राम सीता के मर्यादा पूर्ण जीवन में भी शृंगार की कैसी योजना केशव ने की है, देखिए—

मग को श्रम श्रीपति दूरि करैं,
सिय को शुभ बाकल आँचल सों।
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव,
चंचल चारु दृग चल सों॥

× × ×

मारग की रज तापति है अति केशव सीतहि सीतल लागति
ज्यों पद पंकज पायन, ऊपरि, दैंजु चले तेहि ते सुखदायनि॥

हनुमान जी द्वारा गिराई हुई मुद्रिका के प्रति सीता द्वारा अशोकवाटिका में कहे इस दोहे की उक्ति के सम्मुख अनेक सरस उक्तियाँ फीकी पड़ जाती हैं—

श्रीपुर में, वन मध्य हौ, तू मग करी अनीति।
कहि मुन्दरी अब तियनिकी, को करिहै परतीति॥

विश्वामित्र जब राम को अपने साथ ले जाते हैं तब का वर्णन केशव ने बड़ी, सहृदयता से किया है—

राम चलत नृप के युग लोचन। वारि भरित भे वारिद रोचन॥
पायन परि ऋषिके सजि मौनहिं। केशव उठि गए भीतर भौनहिं॥

चित्रकूट की सभा में राम को देख माताओं का क्रम से रो उठना सैकड़ों पृष्ठों में चित्रित व्यथा से भी अधिक प्रभावोत्पादक है—

तब पुत्र को मुख जोइ। क्रम सों उठी सब रोइ॥

लक्ष्मण जी के शक्ति लगने पर केशव अपने और वर्णन कौशल का परिचय देते हुए लिखते हैं—

लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यौ। नैनन ते न रह्यौ जल रोक्यो॥
बारक लक्ष्मण मोहि बिलोको। मो कहँ प्राण चले तजि रोको॥

राम के हृदय की वेदना इन पंक्तियों में अत्यन्त सफलता के साथ व्यक्त हुई है। यह विलाप बड़ा मार्मिक है।

साराँश यह है कि केशव का दृष्टिकोण चमत्कारवादी था इसलिए उसमें मार्मिकता के लिए अवकाश कम था। फिर भी स्थान स्थान पर केशव ने करुण, वीर और शृङ्गार रस के अच्छे चित्र दिए हैं। ये चित्र उनकी मार्मिकता के परिचायक हैं।

२ केशव के काव्य में हृदय पक्ष तथा कलापक्ष—केशव के काव्य में हृदय पक्ष के सम्बन्ध में पहले नम्बर की टिप्पणी में उन स्थलों की ओर संकेत कर दिया गया है, जो मार्मिक है और जहाँ केशव का हृदय रसमय हुआ जान पड़ता है। वैसे केशव को हृदय पक्ष की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। दरबारी वातावरण में ऊपर की सजावट ही अधिक ध्यान देने की वस्तु होती है। इसीलिए केशव उन मार्मिक स्थलों पर चुप से जान पड़ते हैं, जहाँ तुलसीदास जी रुला देते हैं। राम का अयोध्या त्याग और पथिक के रूप में वन गवन चित्रकूट में राम-भरत मिलन, शवरी का आतिथ्य लक्ष्मण की शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की परीक्षा आदि स्थलों वर्णन केशव ने चलता हुआ किया है। वे अयोध्या में अपनी माता को उपदेश दिखाई देते हैं और ग्रामीण स्त्रियाँ उन्हें ठग समझती हैं ' कैकेयी की आत्मग्लानि और मंथरा के मनोवैज्ञानिक चित्रण का उनके यहाँ कोई स्थान नहीं है। साराँश यह है कि हृदयपक्ष केशव का दुर्बल है।

हाँ, केशव का कलापक्ष अवश्य प्रौढ़ है। जो कवि 'भूषण बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त' और 'रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द' की घोषणा करेगा उसका कलापक्ष प्रौढ़ न होगा तो किसका होगा। अलङ्कारों की तो केशव ने इतनी भरमार की है कि प्रकृति वर्णन ही उनके कारण दोष पूर्ण हो गया है। श्लेश, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि तो पगपग पर मिलते हैं। अन्य अलङ्कारों की भी कमी नहीं है। 'रामचन्द्रिका' का कोई छन्द अलङ्कार से खाली नहीं है।

अलंकारों की भाति छन्द भी केशव ने सभी प्रकार के लिखे हैं। एकाक्षरी से लेकर अष्टाक्षरी छन्दों तक का प्रयोग रामचन्द्रिका में किया है। छन्दों के परिज्ञान के लिए तो रामचन्द्रिका लिखी गई है। कुछ छन्द तो ऐसे हैं जिनके लक्षण छन्द शास्त्र में नहीं मिलते। यह छदों का लक्षण ग्रन्थ सा जान पड़ता है। इसमें द्रुतगति के लिए छोटे छोटे और गम्भीर भावों के लिए बड़े बड़े छन्दों का प्रयोग किया है, इससे यह पता चलता है कि छंद योजना परिस्थिति के अनुकुल है परन्तु छन्दों के इतनी तीव्रता से बदलने से

कथा प्रवाह में बाधा पड़ती है। कुछ भी हो, केशव में छन्द रचना की असाधारण शक्ति थी।

भाषा की दृष्टि से देखे तो केशव की भाषा शुद्ध साहित्यि ब्रज भाषा है, जिसमें स्थान स्थान पर बुन्देलखण्डी शब्द भी पाए जाते हैं। भाषा में संस्कृत पदावली का प्रचुर प्रयोग है और कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिन्हें संस्कृत का पडित ही समझ सकता है। सूर्य के लिए 'मित्र' अग्नि के लिए 'हुताशन' गीदड़ी के लिए 'शिवा' लक्ष्मी के लिए 'सरोजा-सना' शब्दों का प्रयोग हिन्दी वालों को विचित्र जान पड़ता है। कहीं कहीं प्रांतीय शब्दों का प्रयोग खटकता है। लिंग दोष भी आ गया है। संस्कृत बहुल होने और अलंकारों से मुक्त होने के कारण केशव की भाषा क्लिष्ट हो गई है। संभव है इसीलिए ये कठिन काव्य के प्रेत कहलाने लगे थे।

महाकवि देव

प्रश्न १—देव की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके काव्य की आलोचना कीजिए।

उत्तर—जनश्रुति के अनुसार देव के ग्रन्थों की संख्या ५२ या ७२ मानी जाती है। दोनों ही सख्याएँ उनकी विशाल साहित्यिक क्षमता का परिचय देने के लिए यथेष्ठ हैं। हिन्दी नवरत्न में उनके ८८ ग्रन्थों के नाम दिए गए हैं जिनमें से १५ ग्रन्थ ऐसे हैं जिन्हें स्वयं मिश्रबन्धुओं ने देखा है। आचार्य शुक्ल ने देव के २५ ग्रन्थों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। उनकी समस्त रचनाओं में भावविलास, रसविलास, प्रेमचन्द्रिका, शब्द रसायन, काव्य रसायन आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट हैं। रसविलास और प्रेमचन्द्रिका में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। भावविलास और सुखसागर तरंग रस भेद तथा नायिका भेद के ग्रंथ हैं। काव्य रसायन में अलंकार और छन्द का मार्मिक और विद्वतापूर्ण विवेचन है। भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास रीति की दृष्टि से श्रेष्ठ ग्रन्थ माने जाते हैं। शब्द रसायन उनके आचार्यत्व का ग्रन्थ है। देव माया प्रपंच संस्कृत के

'प्रबोध चन्द्रोदय' का छायानुवाद है। इन समस्त ग्रन्थों में उनकी प्रतिभा और मार्मिक विकास क्रम का अच्छा परिचय मिलता है। इनसे पता चलता है कि जो देव अपने यौवन काल में वेदान्ती हो गए थे। नीतिशतक और वैराग्य शतक उनकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। उनकी रचनाओं में ऐसा भी पाया जाता है कि उन्होंने एक ही कवित्त या छन्द को कई ग्रन्थों में रख दिया है। वे अपने पुराने ग्रन्थों में से कवित्त लेकर उनका क्रम बदल कर एक नया ग्रन्थ प्रस्तुत कर देते थे। इसी कारण एक ही छन्द कई पुस्तकों में मिल जाता है। सुखसागर तरंग में प्रायः कितने ही ग्रन्थों से लेकर रखे हुए छन्द हैं।

रीतिकाल में दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख रूप से मिलती हैं—रीति विवेचन और शृंगारिकता। कुछ कवियों में वैराग्य तथा भक्ति की भावना भी मिलती है। देव में प्रायः तीनों प्रवृत्तियाँ मिलती हैं परन्तु उनका रीति विवेचन और शृंगारिकता ये दो ही प्रधान हैं। आचार्य शुक्ल के मतानुसार रीतिकालीन लगभग सभी बड़े बड़े कवियों ने आचार्यत्व के पद के अनुरूप काम करने की चेष्टा की है परन्तु पूर्ण सफलता किसी को नहीं मिली है। रीति विवेचन या आचार्य की दृष्टि से देव ने हिन्दी में कोई नई उद्भावना नहीं की। परन्तु आचार्य शुक्ल ने माना है कि मौलिकता और कवित्व शक्ति देव में भरपूर थी। उनके काव्य में आकर्षण है। उन्होंने शृंगार के साथ ही साथ शान्त रस पर भी सफलतापूर्वक लिखा है। इसके साथ ही लक्षण ग्रन्थ भी लिखे हैं। समष्टि रूप से उनकी रचनाओं का सन्देश प्रेम का सन्देश है। उन्होंने प्रेमचन्द्रिका में प्रेम का बड़ा ही सजीव और क्रमबद्ध वर्णन किया है। प्रेम का लक्षण, स्वरूप, माहात्म्मय, उसके विविध भेद आदि विषयों में उनकी सहज प्रतिभा का चमत्कार देखने को मिलता है। अपने प्रेम प्रसग में देव पवित्र दाम्पत्य प्रेम के समर्थक हैं। इन्होंने प्रेम के सहायक मन और नेत्र का बड़ा आकर्षण वर्णन किया है। विरह वर्णन में भी देव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उनका विरह वर्णन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और विदग्धता पूर्ण है। "उसमें दीनता का विनीत स्वर है। सन्ताप की ज्वाला है, नैराश्य की सुषमा का प्रदर्शन है और रमणीय रोष का उद्गार है।" विरह की सम्पूर्ण दशाओं का अत्यन्त वेदना पूर्ण वर्णन किया है। वर्णन में अति-

शयोक्ति के साथ-साथ स्वाभाविकता भी है । पूर्वानुराग, प्रवास, मान आदि के वर्णन बड़े अद्भुत और अनूठे हैं ।

देव का विचार क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है । उनकी रचनाओं से उनके विस्तृत संसार-ज्ञान का परिचय मिलता है । उन्होंने बहुत भ्रमण किया था इसलिए उनके चित्रण मे कल्पना से साथ साथ वास्तविकता अधिक है । विभिन्न देशीय मोहक नारियो के बाह्य सौन्दर्य का उनका सा चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है । उन्होंने उच्च और निम्न वर्ग को समान रूप से अपने काव्य में स्थान दिया है । देव का ऋतुवर्णन काव्य परम्परा के अनुकूल और उत्कृष्ट हुआ है । उनके अष्टयाम में घड़ी-पहर तक का विवेचन मिलता है । इसके अतिरिक्त पतंग का उड़ना, फिरकी का नाचना, बरात का सत्कार आदि के सफल वर्णन से ज्ञात होता है कि देव की निरीक्षण शक्ति अद्भुत थी । शृंगारिक चमत्कार के साथ उनमें ज्ञान और वैराग्य की छाया भी है । जीवन की संध्या मे उन्होने वैराघ्य के ही गीत गाए हैं । ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान और मत मतान्तरों के सिद्धातों का भी निरूपण है । "छद की रचना में विशेषणों के चुनाव में, तुलनाओं चमत्कार में, कल्पनाओं की सृष्टि में, रूपकों के आयोजन में, नायिकाओं के हाव भाव प्रदर्शन में, संयोग और वियोग के स्वाभाविक वर्णन में वह अपने समय के कवियों में अद्वितीय हैं' अमर हैं ।"

रस—वैसे तो देव ने लगभग सभी रसों पर लिखा है और शास्त्रीय दृष्टि से उनका विवेचन भी किया है परन्तु उनके काव्य में शृंगार और शान्त रस ही प्रधान हैं । वियोग शृंगार में विरह की सभी दशाओं का चित्रण है । अन्योक्ति के रूप में कहे हुए सवैये और कवित्त बड़े मार्मिक हैं । जैसे "जोरत तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहिरे मन ।" कहीं कहीं तो उनकी अभिव्यंजना मूर्त्तिमान हो उठती हैं—"आपनो जागिबौ सौंपि हमें अब नींद हमारियौ लै सुख सोए ।" आदि ।

अलङ्कार—अलङ्कारों के क्षेत्र में देव ने प्राचीन प्रचलित अलङ्कारों का तो सफल वर्णन किया ही है साथ ही कुछ नवीन अलङ्कारों की उद्भावना भी की है । परन्तु अलङ्कारों के कारण भाव की अवहेलना कभी भी नहीं हुई हैं ।

केशव की भाँति वे अलङ्कारवादी नहीं रहे। फिर भी तुकान्त और अनुप्रास के मोह में पड़ कर कहीं कहीं इन्होंने शब्दों को विकृत कर दिया है। छंदों के क्षेत्र में रीतिकाल में विशेष रूप से प्रचलित छन्द कवित्त और सवैया को ही प्रधानता दी है। इसके अतिरिक्त दोहे भी लिखे हैं। इनमें घनाक्षरियों की संख्या अधिक है। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। उनके समस्त काव्य में कहीं भी किसी बुरे छंद के दर्शन नहीं होते। उन्होंने एक ही छंद में विविध काव्यांगों का जैसा सुन्दर सम्मिश्रण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

शैली—की दृष्टि से जहाँ तक देव जी की भावना का पूर्ण उन्मेष हो जाता है वहाँ तो उनकी शैली सरस और सरल है परन्तु जहाँ वे अनुप्रास के आडम्बर में पड़ गए हैं वहाँ वह अस्पष्ट और क्लिष्टि हो गई है। गम्भीर विषय के निरूपण में शैली में पांडित्य है। रचना में शब्दाडम्बर कम है। वहाँ भाव की प्रधानता है भाषा की नहीं। उनकी शैली में ओज है। प्रसाद माधुर्य, सरसता, कुसुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति आदि उनकी शैली की विशेषताएँ हैं। प्राय: प्रत्येक छन्द में कई प्रकार के अलङ्कार, गुण, लक्षण, व्यञ्जना, ध्वनि, भाव, वृत्ति और रस पाये जाते है। समष्टि रूप में उनकी शैली सबसे निराली है। वह किसी की शैली से मेल नहीं खाती। महाकवि देव मे केशव का आचार्यत्व तथा बिहारी का परिमार्जित काव्य-कौशल दोनों मिलते हैं। जिस विषय को उन्होंने उठाया है उसे अपनी सहज काव्य प्रतिभा से चमका दिया है। जगत के अन्तरंग और बहिरंग का चित्रण उनके काव्य में दर्शनीय है। मानव प्रकृति में उनकी गहरी पहुंच है। वे हिन्दी के अद्वितीय कवि हैं।

प्रश्न २—देव के भाषा सौंदर्य की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

उत्तर—देव की भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। इस क्षेत्र में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करते हुए इस भाषा को और भी समृद्धिवान बनाया है। भाषा बड़ी श्रुतिमधुर और कोमल है। श्रुति कटु शब्द उनकी रचना में नगण्य से हैं। मिश्रित वर्ण एवं रेफ-संयुक्त अक्षर भी कम प्रयुक्त हुए हैं। टवर्ग का भी प्रयोग कम है प्रान्तीय भाषाओं में बुन्देलखंडी, अवधी

राजस्थानी आदि के शब्दों का व्यवहार उन्होंने अन्य कवियों की अपेक्षा कम किया है। प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। उन्होंने लोचन के लिए लोयन, विद्युत् के लिए बिज्जु, मदन के लिए मयन, नाथ के लिए नाह आदि प्राचीन रूपों का प्रयोग किया है। लेकिन ये प्रायः हिन्दी के तद्भव शब्द बन गए हैं। एकाध स्थान पर प्राचीन हिन्दी के 'दीसंत' आदि का भी प्रयोग है।

मुसलमानों के सम्पर्क से अरबी और फारसी के शब्द भी आ गए हैं। परन्तु उनकी संख्या अन्य कवियों की अपेक्षा कम है। गुलाब, कमान, महल मखमल, कलेजा आदि शब्द तो एक प्रकार से हिन्दी के ही बन गए है। तत्सम् विदेशी शब्दो का भी प्रयोग हुआ है जैसे—रुख, बर्फ, किर्च, सही, जोर, शर्बत आदि। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को तोड़ मरोड़ कर देव ने उनके विलक्षण रूप बना दिए हैं जैसे जल्पना से लपना, श्यामलता से सौंरई और रेखा से रिव्यौं आदि। उन्होंने यमक, अनुप्रास और तुकांत के मोह में शब्दो को खूब तोड़ा-मरोड़ा है। कुछ शब्द तो ऐसे प्रयुक्त हुए हैं कि जिनका कोई अर्थ नहीं लगता। व्याकरण के नियमों के उल्लंघन तथा वाक्य दोषों की प्रचुरता के कारण उनकी भाषा स्थान स्थान पर अर्थ व्यक्ति एवं प्रसाद गुण खो बैठती है। इसी कारण उनकी भाषा मतिराय, घनानन्द और रसखान के समान मंजी हुई नहीं है।

यह सब कुछ होते होते हुए भी देव की भाषा में सलकार और सज्जा इन दो गुणों की प्रधानता है कवि ने पद-योजना को बड़े श्रेय के साथ बताया है। अनुप्रास और वीप्सा का प्रयोग कर भाषा में गति उत्पन्न कर देना देव को विशेष प्रिय है। जैसे—

"बारि की बूँद चुवैं अलकैं छवि की छलकैं उछली-सी।
अचल भीने झकैं झलकैं पुलकैं कुच कन्द कदम्ब कली-सी॥"

देव की भाषा का दूसरा विशेष गुण है ध्वन्यात्मक। इससे शब्दों के प्रयोग से ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पद भी और अनुकरण मूलक शब्दों द्वारा अद्भुत सौन्दर्य आ जाता है। जैसे—

"सहर सहर सोंधो सीतल समीर डोलै, घहर-घहर घन घोरि कै घहरिया।

झहर-झहर झुकि झीनी झर लायो देव, छहर-छहर छोटी बुन्दन छहरिया।"

इस छन्द में शब्दों से ही वायु की गति, बादलों का घहराना, वर्षा की झड़ी का झरझराना शरद की छोटी बूँदों का छहरना आदि अपने आप ध्वनित हो उठते हैं।

देव की भाषा में लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति नया माधुर्य और प्रासाद गुण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। उनके देवमाया नाटक में प्रसाद की कामायनी और पन्त की ज्योत्स्ना की भाँति अमूर्त भावों को साँकेतिक तथा प्रतीकात्मक व्यक्तित्व प्रदान किया है। मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रयोग है।

सारांश यह है कि व्यापक शब्द भंडार, अनुप्रास-यमक आदि का प्रयोग ध्वन्यात्मकता लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्द शक्तियों का विकास आदि गुणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि देव का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उन्होंने जो शब्द तोड़े मरोड़े हैं वे केवल अक्षर मैत्री के दृष्टिकोण से और अनायास ही। वैसे उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत की अपूर्व श्री वृद्धि की है। वास्तव में ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय इन्हीं की टकसाली भाषा को मिलाना चाहिए। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "इनका सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है।"

प्रश्न ३—रीतिकालीन कवियों में महाकवि देव का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—मौलिक सृजन प्रतिभा प्रदर्शन करने वाले, भरत, भामह, दंडी, आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनव गुप्त तथा सामञ्जस्य दृष्टि रख कर व्याख्या करने वाले, मम्मट, विश्वनाथ, पडितराज जगन्नाथ आदि की कोटि में, आचार्यत्व की दृष्टि से देव को नहीं माना जा सकता। हाँ, उन्होंने काव्यांगों का सम्यक् विवेचन और व्याख्या करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से वे मम्मट और विश्वनाथ के अनुकरण कर्त्ता अवश्य कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में उनकी तुलना केशव, कुलपति मिश्र, श्रीपत, दास और प्रतापसाहि से की जा सकती है

केशव सर्व प्रथम संस्कृत रीतिशास्त्र को हिन्दी में लाए। उन्होंने अलङ्कार और रस दोनों सम्प्रदायों की कल्पना की। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से केशव का महत्व देव से अधिक है। फिर केशव पांडित्य में देव से श्रेष्ठ हैं। परन्तु देव केशव से इस बात में श्रेष्ठ हैं कि जहाँ केशव ने केवल रस अलंकार का ही विवेचन किया है। वहाँ देव ने शब्द शक्ति, रीति, गुण और पिंगल की भी व्याख्या की है। अस्पष्टता दोनों में बराबर है। देव का विवेचन केशव से सरस है। शेष चार कवि अर्थात् कुलपति मिश्र, श्रीपत, दास और प्रतापसाहि आचार्यत्व की दृष्टि से देव से श्रेष्ठ हैं। कुलपति के सिद्धांत अधिक स्थिर हैं। विवेचन की प्रौढ़ता और सिद्धान्तों की स्थिरता में देव उनसे पीछे हैं। श्रीपति ने 'श्रीपति सरोज' नामक ग्रन्थ में प्रौढ़ विवेचन और स्थिर सिद्धान्तों के निरूपण के साथ साथ लक्षण और उदाहरण बहुत स्पष्ट दिए हैं। इस दृष्टि से ये देव से आगे हैं। दास तो हिन्दी के ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने 'काव्य निर्णय' और 'शृङ्गार निर्णय' में हिन्दी साहित्य की दृष्टि से रीति का विवेचन किया है। उनका हिन्दी की प्रकृति का ज्ञान रीतिकालीन सभी आचार्यों से अधिक है। विवेचन की स्वच्छता, सिद्धान्तों का व्यावहारिक उपयोग तथा भाषा की प्रकृति का ज्ञान, इन तीनों की दृष्टि से देव क्या हिन्दी का कोई भी कवि दास की तुलना में नहीं ठहर सकता। हाँ, मौलिकता की दृष्टि से देव उनसे आगे हैं। प्रतापसाहि ने इन तीनों आचार्यों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ विवेचन किया है। देव में इसकी बड़ी कमी है। तात्पर्य यह है कि आचार्यत्व की दृष्टि से देव इन सभी से हल्के पड़ते हैं।

शृङ्गारिकता या कवि की दृष्टि से देव की तुलना केशव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर से की जा सकती है। स्वच्छन्द प्रेम के कवि घनानन्द भी तुलना के लिए माने जा सकते हैं। केशव की अपेक्षा देव का भावपक्ष अधिक प्रबल है। देव का सा आवेग तन्मयता, रसार्द्रता केशव में नहीं है। देव का कलापक्ष भी केशव से प्रौढ़ है। भाषा की लाक्षणिक वक्रता और ध्वन्यात्मकता को जो सौन्दर्य देव में है वह केशव में नहीं। उनके छन्दों में सङ्गीतात्मकता केशव से अधिक है। बिहारी और देव की तुलना का तो एक युग

ही रहा है। रसार्द्रता की दृष्टि से देव बिहारी से श्रेष्ठ हैं। चमत्कार और दूर की सूझ के लिए बिहारी रस का गला घोंट देते हैं। बिहारी मस्तिष्क को चमत्कृत करते हैं देव हृदय को छूते हैं। बिहारी बाह्य सौन्दर्य में ही दत्तचित्त रहते हैं जबकि देव की दृष्टि अन्तर तक प्रवेश कर जाती है। बिहारी का कलापक्ष देव से श्रेष्ठ है। बिहारी का शब्द चयन अद्वितीय और भाषा प्रौढ़ है। देव के शब्द ऊबड़-खाबड़ और भाषा शिथिल है। समास शक्ति और व्यञ्जना और बिहारी की भाषा का प्राण है। देव की भाषा में संगति, नादात्मकता और सरसता अधिक है।

मतिराम भाषा और भाव की दृष्टि से देव से कम नहीं हैं परन्तु गम्भीरता में देव आगे हैं। देव की सी गम्भीरता पद्माकर में है किन्तु पद्माकर में अनुभूति की वह सच्चाई नहीं है जो देव में है। कोमलता और सरसता के अभाव में पद्माकर में कृत्रिमता अधिक परिलक्षित होती है। शब्दों की तड़क भड़क वाले अनेक छन्द पद्माकर ने लिखे हैं। अनुभूति की तीव्रता में घनानन्द से देव की तुलना की जा सकती है। तन्मयता और सरसता की दृष्टि से घनानन्द देव से आगे हैं। भाषा की शुद्धता और लाक्षणिक वक्रता भी उनमें देव से अधिक है। हाँ, देव के काव्य में वैभव की प्रचुरता घनानन्द से कहीं अधिक है। लम्बे चौड़े मजमून बाँधने में रीतिकालीन सभी कवियों से बढ़े चढ़े हैं।

इस प्रकार रीतिकालीन कवियों से तुलना करते हुए हम सरलता से यह कह सकते हैं कि देव इन सभी कवियों में किसी बात में ऊँचे और किसी से किसी बात में नीचे हुए होते भी अनन्यतम स्थान के अधिकारी हैं। सभी मानते हैं कि देव की सी प्रतिभा अनेक कवियों में नहीं थी। उनकी मौलिकता, विचारशक्ति, बहुज्ञता और विभिन्न विषयों का सम्यक ज्ञान उनकी उसी बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में उनका स्थान वही है जो भक्तिकाल में तुलसी और सूर का है।

घनानन्द

प्रश्न १—घनानन्द की रचनाओं का परिचय देते हुए यह स्पष्ट कीजिए

कि घनानन्द और आनन्दघन दो विभिन्न व्यक्ति थे अथवा एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं ?

उत्तर—अब तक घनानन्द के निम्नलिखित ग्रंथों अथवा संग्रहों का पता चला है—घनानन्द कवित्त, सुजान विनोद, आनन्दघनजू के कवित्त, सुजानहित कृपाकन्द निबन्ध, वियोग-बेलि, रस-केलि-बल्ली, आनन्दघनजू की पदावली, इश्कलता, प्रीति पावस, जमुना जस और वृन्दावन सत । इनमें 'कवित्त' नामावली पुस्तकें एक ही हैं । सुजान विनोद भी संग्रह मात्र है, कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं । रस-केलि-बल्ली अभी तक अप्राप्य है । विद्वानों का मत है कि वृन्दावन सत घनानन्द की रचना न होकर भगवतमुदित की रचना है । आचार्य शुक्ल ने सुजानसागर, विरह लीला और कोकसार नामक तीन ग्रन्थों का उल्लेख इन्हीं के ग्रन्थों के रूप में किया है । कृष्णभक्ति सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ छतरपुर के राजकीय पुस्तकालय में है । इनकी 'विरह-लीला' फारसी छन्द में ब्रजभाषा में है ।

अब यह प्रश्न आता है कि घनानन्द और आनन्दघन दो पृथक कवि थे अथवा एक ही कवि के दो नाम थे । प्रोफेसर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र उन्हें दो पृथक व्यक्ति मानते हैं । उनका मत है कि घनानन्द से पहले एक आघन नाम के कायस्थ कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'कोकसार' और 'सामुद्रिक शास्त्र' नामक दो ग्रन्थ लिखे थे । घनानन्द की पृथक रचनाओं से यह प्रकट नहीं होता कि उनकी रुचि ऐसे विषयों के वर्णन में रमी हो । अतः यह आनन्द एक पृथक कवि थे । घनानन्द से उनका कोई सम्बन्ध नहीं । दोनों को एक ही व्यक्ति मान लेने की भ्रान्ति का कारण नामों में शब्द साम्य का होना ही है । वस्तुत: 'घन आनन्द' का वास्तविक नाम घनानन्द ही था । कुछ विद्वानों को यह भ्रम हो गया था कि कवि ने कई स्थानों पर अपने नाम को उलट कर प्रयुक्त किया है अतः घन आनन्द के स्थान पर आनन्दघन मिलता है । घनानन्द के पदों के संग्रह कर्त्ता 'ब्रजनाथ' ने घनानन्द के लिए 'घनजू' शब्द का प्रयोग किया है—"भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै, सो घन जू के कवित्त बखानै ।" इससे सिद्ध होता है कि 'घनजू' शब्द घनानन्द की वास्तविकता को प्रकट करता है । परन्तु स्थान स्थान पर प्रयुक्त 'आनन्द-

घन' तथा 'आनन्द के घन' आदि शब्दों का प्रयोग केवल छन्दानुरोध के कारण ही हुआ है। अतः कवि का वास्तविक नाम 'घनानन्द' ही था 'आनन्दघन' नहीं।

इतिहास में आनन्दघन नाम के एक जैन महात्मा का उल्लेख आया है जिन्होंने यशोविजय की स्तुति में 'आनन्दघन अष्टपदी'' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इन जैन महात्मा के अन्य ग्रन्थों से भी यही प्रमाणित होता है कि ये कट्टर जैन थे। इन्होने अन्य ग्रन्थों में जैन तीर्थाङ्करों और महात्माओं की स्तुतियाँ लिखी हैं। इससे स्पष्ट है कि इनका सगुणभक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु घनानन्द की सभी रचनाएँ उन्हें सगुणमार्गी कवि सिद्ध करती हैं। अतः यह जैन साधु आनन्द घन तथा उपरोक्त कायस्थ कवि आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। घनानन्द के काव्य में प्रयुक्त घनानन्द, आनन्दघन, आनन्द से घन आदि नाम एक ही व्यक्ति के हैं। घनानन्द नामक के और भी कवि हो चुके हैं परन्तु उनका घनानन्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न २—घनानन्द के काव्य की संक्षिप्त आलोचना लिखिए।

उत्तर—श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में, "संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों की जीवनियों से पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन में किसी न किसी स्त्री के उन्मादक प्रेम का अनुभव अवश्य किया है। और उसी प्रेम की तीव्र अनुभूति से प्रेरित होकर वे अमर रचनाएँ लिख कर छोड़ गए हैं।" जोशी जी की इस उक्ति के घनानान्द साक्षात् प्रतीक हैं। घनानन्द जी का प्रेमी और स्निग्ध हृदय सुजान नामक वार वनिता के सौन्दर्य पर मुग्ध था। एक बार वे सुजान के आग्रह करने पर बादशाद मुहम्मदशाह की ओर पीठ कर के गाने के अपराध में पदच्युत कर निर्वासित कर दिए, पर सुजान काव्य की प्रेरिका सुजान को न भूल सके। अतः अपने प्रायः सभी छन्दों में उन्होंने 'सुजान' शब्द का प्रयोग सम्बोधन के रूप में किया है। वे सच्चे विरही थे। उनके विरहोद्गारों को पढ़ कर अनायास ही मन में यह कल्पना उठती है कि सम्भव है 'घनानन्द जी प्रेम रस के अवतार हों।'

शुक्लजी इन्हें साक्षात् रस मूर्ति और ब्रजभाषा के प्रधान स्तम्भों में मानते हैं।

घनानन्द जी लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही कालान्तर में भगवद् प्रेम में दीक्षित हुए थे। इसी कारण इसके काव्य में रीतिकालीन कविता की बाहरी तड़क भड़क के विरुद्ध भाषा की स्वाभाविक शक्ति के साथ जो सच्ची प्रेम की पीर पाई जाती है वह अद्भुत है। इसी प्रेम की गहराई के कारण उनका वियोग वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन गया है। इसी विशेषता को लक्ष्य कर 'भक्तमाला' कार रघुराजसिंह जी ने कहा था—
"घन आनन्द के विपुल कवित्ता, अबलों हरत कबिन के चित्ता।"

घनानन्द के काव्य में भावपक्ष की प्रधानता है। कोरे विभाव पक्ष का चित्रण बहुत कम है। रूप वर्णन में भी इनका ध्यान प्रमुखतया उस रूप के प्रभाव के वर्णन में ही रहा है। इसी कारण इनके काव्य में बाह्य सौन्दर्य का वर्णन नहीं मिलता। वहाँ तो केवल आन्तरिक सौन्दर्य का ही चित्रण हुआ है। उनकी प्रेम व्यंजना दो बातों में आती है। एक तो प्रेम भाव की व्यंजना करने में तथा दूसरे प्रेम निरूपण में। रीतिकाल की कविता जिस प्रेम मयी वासना को लेकर चली थी उसी को लक्ष्य कर घनानन्द ने कहा था—"जग की कविताई के धोखे रहें ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।" इनके काव्य का मूलाधार विरह था। इसी कारण इनके काव्य में विरह निवेदन की प्रधानता है। इसमें विरह की सभी दशाओं का वर्णन आ गया है। इसके विरह प्रेरित काव्य की विशेषता यह है कि इन्होंने स्त्रियों को ही अकेले नहीं तड़पाया है वरन् पुरुषों को भी विरह से पीड़ित चित्रित किया है। इसका कारण यह है कि घनानन्द स्वय सुजान के बिरही थे। घनानन्द का प्रेमी ऐसा नहीं था जो प्रिय को विरही बनाकर परदेश चला गया हो वरन् यहाँ तो उससे विश्वास घात किया था। विरही का प्रेम भी विषम अवस्था को पहुँच चुका है जहाँ प्रेमी को प्रिय में विश्वास नहीं कि प्रिय उसे स्नेह करता है। प्रेमी के हृदय में निराशा और वेदना दोनों ही हैं। उसके तो मौन में भी पुकार है। विरही की दशा दर्शन लालसा, उपालम्भ,

सन्देश भेजने की चिन्ता, भाग्य को कोसना सब घनानन्द में हैं।

वियोग के साथ साथ कहीं-कहीं संयोग का भी वर्णन है। परन्तु उसमें भी प्रधानता बाहरी व्यापारों और चेष्टाओं की नहीं है, हृदय के उल्लास एवं लीनता की है। प्रेमदशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। "प्रेम की गूढ़ अन्तरदशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिन्दी के किसी भी अन्य शृंगारी कवि में नहीं है।" प्रेम की गूढ़ अन्तरदशाओं में इनकी दृष्टि वियोग की ओर ही अधिक है। यही कारण है कि इनके वियोग सम्बन्धी पद ही श्रेष्ठ बन सके हैं और उन्हीं की प्रसिद्धि अधिक है। इन्होंने बिहारी की भाँति न तो 'ऊहा' का प्रदर्शन किया है और न उछल कूद दिखाई है। यहाँ जो कुछ हलचल है हृदय प्रदेश में ही है।

भाषा के क्षेत्र में घनानन्द अद्वितीय हैं। ब्रजभाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा अन्य किसी कवि का नहीं मिलता। "भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि वे उसे अपनी अनूठी भाव भंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे।" (शुक्लजी) यों तो "भाव अनूठे चाहिए भाषा कोऊ होय" के अनुसार हमारा ध्यान भाव की उच्चता पर ही जाता है। किन्तु प्रेमावतार ब्रज के छैल छबीले नायक की लोकरञ्जनकारी लीलाओं की कथा जब हम भावानुरूपिणी भाषा में सुनते हैं तो उस मणि काञ्चन संयोग का हृदय पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। भाव यदि कहीं पर वक्रोक्ति का आश्रय ग्रहण कर छींटे उछालते हुए चलते हैं तो वहाँ भाषा का स्वाभाविक प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गीतिविधि का अभ्यास हुआ और वह अपने पूर्ववर्ती कवियों से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। भाषा की पूर्ण अर्जित शक्ति से ही काम न चला कर इन्होंने उसे अपनी ओर से भी शक्ति प्रदान की। कवि की तन्मयता इतनी गहरी है कि भाषा भावों की वशवर्तिनी दासी के समान उनका अनुसरण करती है। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है इसकी पूरी परख इन्हें थी थी। "मोहि तो मेरे कवित्त बनावत" के अनुसार इन्हें ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा प्राप्त थी। अतः इनके काव्य में

विलक्षण लाक्षणिक प्रयोग मिलते हैं। लक्षणा के विस्तृत क्षेत्र को केवल घनानन्द ने ही अपनाया था। लाक्षणिक व्यंग्य मूलक पद्धति पर चलते हुए इन्होंने विरोध और विरोधाभास के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अमूर्त्त में मूर्त्त की प्रतिष्ठा कवि ने सफलतापूर्व की है।" कृपा कान मधि नैन ज्यों, त्यों पुकार मधि मैन।" इनकी शैली में मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। कभी-कभी एक ही छन्द में मुहावरों की लड़ी सी पिरोई गई है।

अन्य रीतिकालीन कवियों के समान घनानन्द ने अपने काव्य को अलङ्कारों से लादने का प्रयत्न नहीं किया है। फिर भी यत्र तत्र उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, रूपक, अनुप्रास, श्लेष, सन्देह, व्यतिरेक प्रभृति अलङ्कारों का अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण प्रयोग मिलता। उनका जैसा विरोधाभास तो हिन्दी संसार में अन्यत्र दुर्लभ ही है। प्रकृति वर्णन प्राचीन परिपाटी के अनुसार उद्दीपन रूप का ही मिलता। विरहाकुल प्रेमिका को सारी सृष्टि अपने ही समान पीड़ित दिखाई देती है। सयोग में जो वस्तुएँ कामोद्दीपक थीं विरह में वे ही झुलसा रही हैं। घनानन्द ने यद्यपि षटऋतु वर्णन नहीं किया फिर भी बसन्त होली और पतझड़ का वर्णन नायिका के विरह में मिल जाता है।

प्रकृति वर्णन, अलङ्कार, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि घनानन्द की भाषा के ध्येय नहीं हैं। सर्वत्र इन सब पर भावों का प्राधान्य है। सौन्दर्य के उपासक बिहारी और सेनापति यद्यपि नारी के सहज सौन्दर्य के उपासक थे फिर भी उन्होंने अपनी कविता को अलङ्कारों के बोझ से दबा दिया। परन्तु घनानन्द के अलङ्कारों ने भावों को स्पष्ट रहने दिया है उसे छिपाया या दबाया नहीं। भावों का स्रोत जिस प्रकार टकरा कर कहीं-कहीं वक्रोक्ति के छींटे फेकता है उसी प्रकार कहीं-कहीं भाषा में स्निग्ध, सरल और चलते प्रवाह के रूप में भी प्रकट होता है।

घनानन्द के इस संक्षिप्त काव्यालोचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि हम सर्वत्र उनके काव्य का आध्यात्मिक अर्थ न लगाकर उसे उसके लौकिक रूप में ही लें तो प्रेम का इतना गम्भीर एवं निर्मल

उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है। उनके काव्य में प्रेम की इतनी गहरी तल्लीनता है कि उन्हें साक्षात् प्रेम का अवतार मानने को मन करता है। भाषा के क्षेत्र में उसकी सी सुष्ठु, प्रांजल, परिमार्जित एवं भावानुकूल भाषा अन्यत्र नहीं मिलती। उनकी भाषा परिवर्ती कवियों के लिए आदर्श रही है।

प्रश्न ३—'घनानन्द जी प्रेम की वेदना अत्यन्त गूढ़ है।" विवेचना कीजिए।

उत्तर—सुजान द्वारा घनानन्द का प्रेम अस्वीकार कर देने से जो टेस घनानन्द जी के हृदय को लगी और उससे उन्हें जो वेदना हुई वही उनके काव्य के रूप में प्रकट हुई। "कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान कौं लै बरसो" की प्रार्थना करने वाले घनानंद का वियोग कालिदास के यक्ष के विरह से किसी भी दशा में कम नहीं है। घनानंद प्रेम के उन्मुक्त गायक थे। राधा कृष्ण ही उनके आलम्बन थे। परन्तु अपने पूर्ववर्ती कवियों के समान उन्होने सुरतात, विपरीत रति आदि से अपनी रचनाओं को अपवित्र नहीं किया। उनकी राधा और गोपियाँ वासना की मूर्त्ति नहीं हैं। उनमें त्याग है, तपस्या है और अलौकिक प्रेम की पीर है। उसमें भोग विलास की लिप्सा नहीं, वरन् त्याग, संयम और उत्सर्ग की भावना है। उनकी रचनाओं से हृदय को उत्तेजना नहीं मिलती, शान्ति मिलती है।

घनानंद जी का भगवद्प्रेम लौकिक प्रेम की दीक्षा पा चुका था। इसी कारण उसमें सच्ची प्रेम की पीर के साथ विरह की गहराई मिलती हैं। इसी कारण वही व्यक्ति उनकी कविता को समझ सकते है जिनके "समुझै कविता घनआनंद की हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी।" घनानंद की रचना की थीम है विरह निवेदन। प्रेम के इसी पक्ष को चित्रित करने में उनकी काव्य प्रतिभा का विकास हुआ है। उनके काव्य में 'प्रेम की पीर' इतनी घनीभूत हो उठी है कि उनके प्रत्येक शब्द में वेदना, कसक और टीस भरी हुई है। विरह उनके रोम रोम में समा गया है और इतना अधिक समा गया है कि संयोग में भी उनका पीछा नहीं छोड़ता—"यह कैसो सजोग

न बूझ परै, जु वियोग न क्यौं हू बिछोहत है।" इसी से उनके काव्य में विरही की वशा, दर्शन लालसा, उपालम्भ, सन्देश भेजने की चिन्ता, भाग्य को कोसना आदि सब कुछ है।

वियोग की इस प्रधानता का कारण यह है कि कवि का विश्वास है कि वियोग ही में प्रेम का साफल्य निहित है। वियोग की अग्नि और वेदना के अश्रु से ही प्रेम शुद्ध होता हैं। इसके साथ ही घनानन्द ने प्रेम के सभी अङ्गों पर प्रकाश डाला है। वह जातते हैं कि स्नेह का एक आवश्यक अंश मान है। मान से स्नेह घटता नहीं बढ़ता है। बेचारा विरही समझ ही नहीं पाता कि वह किन शब्दों के माध्यम से अपना सन्देश भेज कर प्रिय के हृदय को द्रवित करे जिससे प्रिय उसका हो जाय। उसका प्रेम उसे भूल चुका है। इसीलिए कवि कहता है—

"जीवन हो जिय की सब जानत 'जान' कहा कहि और जतैये।
जो कछु है सुख सम्पति सौ नसु नैसिक की हंसि देन में पैये॥"

घनानन्द का स्नेह तो हृदय का सच्चा स्नेह है। अब तो प्रिय स्नेह करं, मान करें किन्तु स्नेह करने वाले को तो उससे स्नेह है—"चाहौ अनचाहौ जान प्यारे पै घनाआनन्द, प्रीति रीति सु रोम रोम रमी है।"

अपने विरह वर्णन में इन्होंने न तो बिहारी की भांति ऊहा का ही प्रदर्शन किया है और न बाहरी उछल कूद दिखाई हैं। जो कुछ हलचल है, हृदय प्रदेश में ही है, क्योंकि—

"जब ते निहारे घन आनन्द सुजान प्यारे,
तब ते अनोखी आगि लागि रही चाह की।"

और इसी "चाह को अनोखी आगि" के कारण ही घनानन्द प्रेमरस के साक्षात् अवतार बन गए। यह 'आगि' उनके जीवन में समा गई और उनका जीवन शुद्ध सात्विक वियोग का एक जीता जागता उदाहरण बन गया। क्योंकि इसके प्रिय—

"नैनन में लगो जाय जागै सुकरेजे बीच,
या बस है जीव घरि होत लोट पोट।
रोम रोम पूरि रही व्याकुल सरीर महा....।"

इस 'आगि' के कारण उनका रोम रोम व्याकुल है। उनके प्राण प्रिय के दर्शन के लिए तरस रहे हैं परन्तु उस 'विसासी सुजान' को दया नहीं आती। इस पर भी "मिलन की आस" पर प्रेमी अपने जीव को जीवित किए हुए है—

"जीव ते भई उदास तऊ है मिलन आस,
जीवहिं जियाऊँ नाम तेरो जपि जपि।"

लेकिन प्रेमी की आशा पूर्ण नहीं होती। उसका अन्त काल समीप आ जाता है। इस समय भी वही रट है—

"अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन मे सन्देसो लै सुजान को।"

परन्तु सुजान का सन्देश नहीं आता। उधर प्रेमी को अपने प्रेम पर अटल विश्वास है। इसी कारण वह कहता है—

"हेत खेत धूरि चूरि चूरि ह्वै मिलेगी तब,
चलेगी कहानी घन आनन्द तिहारे की।"

और "हेत खेत" के इस अद्भुत एवं अजेय योद्धा की कहानी आज तक चल रही है।

प्रश्न ४—घनानन्द की भाषा की सोदाहरण विवेचना की कीजिए।

उत्तर—प्रश्न संख्या दो में हम साधारण रूप से घनानन्द की भाषा पर प्रकाश डाल चुके हैं। घनानन्द की भाषा की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह शुद्ध ब्रजभाषा है। रीतिकालीन समस्त कवियों में उन्हीं की भाषा ऐसी है जिसमें विदेशी शब्दों का अभाव है। भाषा के क्षेत्र में घना-नन्द अद्वितीय हैं। बृजभाषा पर इतना अचूक अधिकार होने का कारण यह बताया जाता है कि एक तो ये बचपन से ही रास लीला में भाग लिया करते थे और दूसरे अन्त मे वैराग्य होने पर ये वृन्दावन में आ बसे थे। इसी कारण इन्हें ब्रजभाषा का इतना सुन्दर ज्ञान हो गया था। भाव और भाषा का जैसा सुन्दर सामंजस्य इनके काव्य में मिलता है वैसा अन्य किसी भी भाषा कवि में नहीं है। इन्होंने ब्रजभाषा को शक्ति दी और उसे पूर्ण रूप से काव्योचित बनाया। भाषा की इसी विशेषता को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वश-

वर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भाव भगी के साथ साथ जिस रूप में चाहते थे मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बंधी प्रणाली पर से हटा कर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा का लक्षक और व्यंजन बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख घनानन्द को थी।"

आचार्य शुक्ल जी की उपर्युक्त संक्षिप्त समीक्षा से घनानन्द की भाषा का महत्व पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है। उनकी भाषा में विशुद्धता के साथ अपूर्व प्रौढ़ता भी है। प्रेम मार्ग की का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा वाग्वैदग्ध्य का ऐसा दावा करने वाला कोई दूसरा कवि ब्रजभाषा में नहीं हुआ। वे भाषा के धनी थे। उनकी भाषा उनके भावों के अनुकूल और हृदय पर चोट करने वाली होती थी। भाव यदि कहीं पर वक्रोक्ति का आश्रय ग्रहणकर छींटे उछालते हैं तो वहाँ भाषाका स्वाभाविक प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। इस चलती हुई परिष्कृत ब्रजभाषा के निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे-

"आरतिवन्त पपीहन को, घन आनन्द जू पहचानौ कहा तुम।"

"मो गति बूझि परै जबही, जब होहु घरीक ह्वै आपुते न्यारे।"

शुक्लजी के अनुसार नीचे के छन्द में भाषा भावों की वशवर्तिनी दासी के समान उसका अनुसरण कर रही है—

"कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अबहीं करेजौ किमि कोरि लै।
पैंड परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्योंही,
चातक रे घातक ह्वै तू हू कान फोरि लै।"

कोकिल, कलापी और चातक को विश्व की अनुभूतियों को अपनी

अनुभूति समझने वाला हृदय कदापि ऐसा ताना न दे पाता। बेचारी प्रोषित पतिका के बहाने से कवि हृदय का कोना कोना स्पष्ट है। यह है घनानन्द की भाषा का सौष्ठव।

इनकी भाषा में नाद सौन्दर्य के प्रत्येक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—
"जगत के प्रान छोटे बड़े तो समान, घनआनन्द निधान सुखदान दुखियान दै"

आचार्य शुक्ल के शब्दों में "घन आनन्द निधान सुखदान दुखियान दै" में मृदङ्ग की ध्वनि का सुन्दर अनुकरण है। विदेशी शब्दों को अपनाने की अपेक्षा बोलचाल के शब्दों, मुहावरों, कहावतों तथा नवीन व्यञ्जनाओं द्वारा घनानन्द ने भाषा की शक्ति को बहुत बढ़ाया है। उदाहरणार्थ—"रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में" इसमें 'निचुरत' शब्द साधारण बोलचाल का होने पर भी कितना अर्थ पूर्ण है। लोकोक्तियों का भी बड़ा सफल प्रयोग किया है। "तरसावत हौ बसि एक ही गाँव में"—"मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं" आदि का विनियोग बड़ा ही उत्कृष्ट है।

भाषा के लक्षक और व्यजक प्रयोग पर उनका पूर्ण अधिकार था। आज जिस अभिव्यञ्जनावाद के लाक्षणिक प्रयोगों से आधुनिक साहित्य चमत्कृत हो उठा है, उसी का सफल प्रयोग घनानन्द जी में मिलता है—

हूँ है सोऊ घरी भाग उघरी आनन्दघन सुरस बरसि, लाल !
देखिहौ हरी हमें।"

इसमें "खुले भाग्य वाली घड़ी" में विशेषण विपर्यय है। "झूँठ की सचाई छक्यो, त्यों हित कचाई पाक्यो" मेंविरोध मूलक वैचित्र्य है। इन्होंने-वाक्यध्वनि, पदध्वनि केसाथ ही साथ पदांशध्वनि से भी काम लिया है। जैसे

"मेरो मनोरथ हू कहिए अरु हैं मो मनोरथ पूरनकारी।"

यहाँ मनोरथ का श्लेष बल से "मन का रथ" अर्थ बताकर कवि ने केवल 'हू' से बहुत बड़ी व्यञ्जना की है। हू का अर्थ है कि "हे कृष्ण ! जिस प्रकार आपने अर्जुन का रथ सम्हाला था उसी प्रकार मेरा मनोरथ भी पूर्ण कीजिए। संक्षेप में उनकी भाषा में स्वाभाविकता और मिठास है। वह हमें अनुप्राणित कर हमारी भावनाओं को जगाती है।

———

उत्तमा दिग्दर्शन प्रथम खण्ड

प्रश्नपत्र—३

आधुनिक पद्य

पाठ्यग्रन्थ—

१–प्रियप्रवास—एकादश सर्ग तक—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
२–साकेत—केवल नवम सर्ग तक—श्री मैथिलीशरण गुप्त
३–कामायनी–आरम्भ से लज्जा सर्ग तक–श्री जयशङ्करप्रसाद 'प्रसाद'
४–आधुनिक कवि (२)—श्री सुमित्रानन्दन पंत
५–अपरा—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
६–हिमतरङ्गिनी—श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'
७–आधुनिक कवि (१)—सुश्री महादेवी वर्मा
८–कुरुक्षेत्र—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'
९–उद्धवशतक—श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

प्रियप्रवास

प्रश्न १—हरिऔध जी की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके काव्य की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—हरिऔध जी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं—अनूदित और मौलिक। अनूदित रचनाओं में गद्य और पद्य दोनों है। गद्य में 'वेनिस का बांका' तथा 'रिपवानविंकिल' अनूदित उपन्यास हैं। 'नीति-निबन्ध' अनूदित निबन्धों का संग्रह है। पद्य में 'उपदेश कुसुम' के तीन भाग जो गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय के अनुवाद हैं तथा 'विनोद वाटिका' जो गुलजार दबिस्ताँ के अनुवाद हैं। इनकी मौलिक रचनाएँ चार प्रकार की हैं—(१) महा-

काव्य—प्रियप्रवास और वैदेही वनवास। (२) स्फुटकाव्य संग्रह—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल, रस कलश, पद्य-प्रसून, कल्पलता, पारिजात, ऋतु-मुकुर, काव्योपवन, प्रेमाम्बु प्रवाह, प्रेमप्रपञ्च, प्रेमाम्बुवारिध, प्रेमपुष्पोहार, प्रेमाम्बु-प्रस्त्रवण। (३) उपन्यास—ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल। (४) आलोचना—हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, कबीर वचनावली की आलोचना आदि।

अपने इस विशाल साहित्यिक निर्माण के द्वारा उनकी साहित्यिक प्रतिभा और गहन अध्ययन शीलता का परिचय मिलता है। परन्तु हिन्दी संसार में उनकी इतनी लोकप्रियता का आधार उनका काव्य ही माना जाता है। उनका साहित्यिक जीवन का आरम्भ और अवसान दोनों ही कवि रूप में हुए हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ दोहों में हैं। इन पर भारतेन्दु काल का प्रभाव है। शृङ्गार सिंदूर के रूप में रस कलश की भूमिका भी इसी काल में लिखी गई थी। द्विवेदी युग के साथ इनकी काव्य प्रतिभा की दिशा में भी परिवर्तन हुआ। उन्होंने ब्रजभाषा को त्यागकर खड़ी बोली में सर्वप्रथम प्रियप्रवास नामक महाकाव्य लिखा। वैदेही वनवास भी इसी काल की रचना है। बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में बोलचाल, चोखे चौपदे आदि कृतियाँ हैं। इन चौपदों की सख्या लगभग साढ़े तीन हजार है। इनमें समाज, राज, व्यष्टि, समष्टि, लोक, परलोक, नीति, धर्म, सभ्यता, आचार आदि जीवन के सभी पक्षों पर सुन्दर सूक्तियाँ मिलती हैं। इनमें कुरीतियों के प्रति कटु व्यंग्य और भावों का सौष्ठव है। इन कृतियों में मानसिक व्यायाम अधिक है परन्तु उनकी साहित्यिकता नष्ट नहीं हुई है। खड़ी बोली की इन रचनाओं के अतिरिक्त इसी काल में इन्होंने ब्रजभाषा में भी ग्रन्थ लिखे। रस कलश ब्रजभाषा में अत्यन्त सुन्दर कृति मानी गई है। इस प्रकार द्विवेदी युग के हरिऔध के काव्य जीवन के तीन रूप मिलते हैं—(१) प्रियप्रवास के हरिऔध, (२) चौपदों के हरिऔध, (३) रसकलश के हरिऔध। ये तीनों रूप एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु प्रत्येक पर कवि का समान अधिकार है। हरिऔध सदैव समय के अनुसार बदले, पनपे और विकसित हुए हैं। पारिजात' यद्यपि उनकी द्विवेदी युग स्फुट रचनाओं का संग्रह है, तथापि

उसमें नवीन युग के अंकुर वर्तमान हैं। पत्र पत्रिकाओं के लेखक हरिऔध का रूप तो सर्वथा नवीन है।

हरिऔध जी भाषा के धनी हैं। सर्वत्र भाषा उनके भावों की पूर्ण अनुगामिनी है। उन्होंने भाषा के सरल से सरल और कठिन से कठिन दोनों रूप लिखे हैं। शुद्ध ग्रामीण और शुद्ध साहित्यिक भाषा वे समान अधिकार से लिख सकते हैं। प्रधान रूप से उनकी भाषा को हम चार रूपों में बाँट सकते हैं—(१) उर्दू शैली से प्रभावित हिन्दी—इसमें बोलचाल, चौपदे तथा पुष्पोहार और काव्योपवन आदि ग्रन्थ हैं। (२) ब्रजभाषा—इसमें रस कलश की रचना हुई है। इसमें भाषा का शुद्ध रूप न रहकर उस पर खड़ी बोली की छाप है। पर उसमें शिथिलता नहीं है। वह सबल, साहित्यिक और ब्रजभाषा के नियमानुकूल है। उसमें उन्होंने संस्कृत के तत्सम् रूपों को भी ब्रजभाषा में ढालकर मधुर बना दिया है। (३) सरल साहित्यिक हिन्दी—प्रियप्रवास और 'वेनिस का बाँका' के अतिरिक्त उनके शेष खड़ी बोली के ग्रन्थों में सरल हिन्दी का प्रयोग हुआ है। प्रियप्रवास की तत्सम् प्रधान भाषा की प्रतिक्रिया 'वैदेही वनवास' में दिखाई दी। (४) तत्सम् शब्द प्रधान हिन्दी—इसमें प्रियप्रवास की रचना हुई है। यह भाषा तत्सम् शब्दों से इतनी दब गई है कि कहीं-कहीं यह भ्रम हो जाता है कि हम हिन्दी पढ़ रहे हैं या संस्कृत। उन्होंने भाषा को छन्दों के अनुसार नहीं बनाया है और न उसमें व्याकरण के नियमों का ही ध्यान रखा है। इसी कारण उनकी प्रियप्रवास की भाषा आकर्षक नहीं बन सकी है। शब्द चयन भी शिथिल है। ब्रजभाषा के भी अनेक शब्दों का प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे संस्कृत गर्भित भाषा के प्रति उनकी अटूट लालसा है।

शैली की दृष्टि से तो हरिऔध जी अपनी शैली के जन्मदाता हैं। उनकी शैली पर किसी का भी स्पष्ट प्रभाव नहीं है। प्रियप्रवास, रस कलश वैदेही वनवास, बोलचाल, तथा चौपदे उनकी विभिन्न शैलियों के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनके गद्य की शैली अलंकृत और पण्डिताऊपन लिए हुए है। अनुप्रास की छटा, लम्बे-लम्बे समासयुक्त शब्द, मुहावरों की भरमार,

संस्कृत के तत्सम् शब्दों का बाहुल्य आदि उनकी गद्य शैली में अधिक पाए जाते हैं। रचनाओं में ओज, माधुर्य, प्रसाद तीनों गुण मिलते हैं। उनकी शैली में प्रवाह और चमत्कार भी है। काव्य में उनकी शैली के चार रूप मिलते हैं—(१) उर्दू की मुहावरेदार शैली, (२) हिन्दी की रीतिकालीन शैली, (३) संस्कृत काव्य की शैली, (४) वर्तमान शैली। अपनी इन शैलियों में वे सर्वत्र और सर्वथा नवीन हैं। प्रियप्रवास की शैली उच्च हिन्दी का निदर्शन है। मुहावरे भाषा के प्राण बनकर आए हैं। उनका समस्त साहित्य मुहावरों का एक विशाल कोष है। संस्कृत साहित्य की शैली में अतुकान्त कविता के वह सफल प्रयोग कर्त्ता है। वर्तमान शैली के नमूने पारिजात और वैदेही वनवास में मिलते हैं। शैली सर्वत्र कृत्रिम न होकर स्वाभाविक है। उसे प्रभावोत्पादक और आकर्षक बनाने के लिए अनुप्रास, रूपक, उपमा और अलङ्कारों की सहायता ली गई है पर स्वाभाविकता और प्रवाह पर कहीं भी आँच नहीं आने पाई है। उनका शब्द शोधन एवं चयन कवित्वपूर्ण है। उनकी शैली में सङ्गीत का तत्व है पर अभिव्यंजना की प्रणाली नहीं है।

सक्षेप में हरिऔधजी हिन्दी के महान् कलाकार थे। हिन्दी के ब्रज-भाषा के युग में जन्म लेकर जाति, देश और साहित्य की चेतनाओं के साथ उन्होंने अपने जीवन का विकास किया। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और फारसी साहित्य के वह अच्छे ज्ञाता थे। इनके अतिरिक्त वह अङ्गरेजी, बँगला और गुरुमुखी भी जानते थे। संस्कृत साहित्य का जैसा विशाल और गहन अध्ययन उन्होंने किया था वैसा उनके अन्य किसी भी समकालीन कवि का नहीं था।

प्रश्न २—महाकाव्य के दृष्टिकोण से प्रियप्रवास की आलोचना और उसके गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—प्रियप्रवास के मुख पृष्ठ पर ही "भिन्न तुकान्त कविता का महाकाव्य" लिखकर कवि ने इसके महाकाव्य होने की घोषणा करदी है। यह वाक्यांश उपाध्यायजी की साठ पृष्ठों की भूमिका का सार प्रतीत होता

है साहित्य दर्पणकार ने महाकाव्य के मुख्य-मुख्य निम्नलिखित लक्षण बताए हैं—सम्पूर्ण काव्य सर्गों में विभक्त हो, उसका नायक कोई देवता, धीरोदात्त क्षत्रिय अथवा राजा हो, सर्गों की संख्या आठ से अधिक हो, अनेक प्रकार के प्राकृतिक दृश्य, युद्ध गमन, पुत्रोत्पत्ति आदि का वर्णन हो, कथानक ऐतिहासिक हो अथवा किसी सज्जन के चरित्र पर आश्रित हो, एक सर्ग एक ही वृत्त में लिखा गया हो किन्तु अन्त में चल कर भिन्न वृत्तों का प्रयोग किया गया हो, प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्गों की सूचना दी गई हो, शृंगार, वीर और शान्त रसों में एक प्रधान हो, प्रारम्भ में मंगलाचरण अथवा वर्ण्य वस्तु की ओर संकेत हो।

उपर्युक्त अधिकांश लक्षणों का निर्वाह प्रियप्रवास में किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सर्गों में विभाजित है। सर्गों की संख्या आठ से अधिक है। कृष्ण धीरोदात्त क्षत्रिय कुलोत्पन्न नायक हैं। कथानक पूर्ण ऐतिहासिक न होकर भी विश्व विश्रुत कृष्ण चरित्र पर आधारित है। नदी, पर्वत, पशु, पक्षी, वृक्ष, पुष्प, ग्रीष्म, पावस, शरद, बसन्त, संध्या, प्रभात, रात्रि, मध्याह्न आदि सब ऋतु, काल तथा प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया गया है। विप्रलम्भ शृंगार रस प्रधान है। प्रत्येक सर्ग एक अथवा अधिक वृत्तों में लिखा गया है। घुमा फिरा कर सात वृत्तों का प्रयोग है। परन्तु आरम्भ में न तो वन्दना है, न आशीर्वचन और न वर्ण्य वस्तु का ही निर्देशन है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सर्ग के अन्त में न तो वृत्त का परिवर्तन ही है और न आगे आने वाले सर्ग की कथा की सूचना ही है। इन कतिपय गौण दोषों के होने से ही हम किसी महान् ग्रन्थ को महाकाव्य की श्रेणी से अलग नहीं हटा सकते। इसमें महाकाव्य के लगभग सभी प्रधान लक्षण मिल जाते हैं।

साहित्य दर्पणकार के नियम संस्कृत ग्रन्थों के लिए थे। उस युग में और आज के युग में महान् अन्तर है अतः यह आवश्यक नहीं कि आज का साहित्यकार भी पूर्णतः उन्हीं नियमों का पालन करे। उन नियमों का पूर्ण पालन कठिनता से एक आध ग्रन्थ में किया गया हो तो किया गया हो। रामचरित मानस में सात ही सर्ग हैं। रामचन्द्रिका में भी इन लक्षणों

का पूर्ण निर्वाह नहीं है। साकेत और कामायनी भी इस दृष्टिकोण से महाकाव्य नहीं माने जा सकते। काव्य दर्पणकार ने केवल महाकाव्य के बाहरी ढाँचे का ही निरूपण किया है। उन्होंने कविता के विषय में कुछ भी शर्त नहीं लगाई हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि जिस काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार न हो, मनोभावों का सुन्दर ढँग से अभिव्यञ्जन न किया गया हो, शब्द योजना सुगठित और ललित न हो, जिसे पढ़ते समय लोकोत्तर आनन्द न मिलता हो वह कभी भी महाकाव्य नहीं माना जा सकता। युग की मान्यता यही है। रघुवंश, शिशुपाल बध, नैषध चरित्त आदि केवल इसी कारण महाकाव्य नहीं माने गए हैं कि उनमें उपरोक्त निर्धारित नियमों का पालन किया गया है। अपितु इसलिए भी कि उनकी कविता ललित, मधुर और चमत्कारपूर्ण है। प्रियप्रवास की कविता की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता। इसमें कवित्व प्रतिभा का अलौकिक चमत्कार देखने को मिलता है। इसी दृष्टि से उन कतिपय दोषों के रहते हुए भी यह महाकाव्य के पद का पूर्ण अधिकारी है।

प्रियप्रवास का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें भी 'साकेत' की भाँति सन्धि-संतुलन का पूर्ण निर्वाह नहीं किया गया है। उसकी प्रबन्धात्मकता खण्डित हो गई है। सातवें ही सर्ग से इसका प्रारम्भ हो गया है। यह राधा का रोना-धोना सत्रहवें सर्ग तक अर्थात् पूरे दस सर्गों में चलता है। यहाँ कथा प्रवाह टूट जाता है और पाठक ऊब उठता है। उपाध्याय जी संक्षेपप्रिय व्यक्ति नहीं हैं। प्रथम पाँच सर्गों में जिनमें कथा बँध कर चलती है केवल एक रात को घटनाएँ वर्णित हैं। उसमें कृष्ण के जन्म, उनके बड़े होने, घुटने चलने एवं नाना क्रीड़ाओं के विस्तृत विवरण दिए हैं। कालिनाग, दावानल, गोबर्धन धारण, अघासुर आदि की कथाओं का उचित विस्तार से वर्णन किया गया है। रास का पूर्ण रसमय वर्णन है। भ्रमरगीत भी परिवर्तित रूप में आ गया है। नन्द, यशोदा, राधा, गोपी, सखा आदि की वियोग दशा का चित्रण भी अत्यन्त मार्मिक है। परन्तु इस सम्पूर्ण वर्णन में कथा के पूर्वा पर क्रम का निर्वाह नहीं मिलता। कथाओं का वर्णन जिस क्रम से ग्रन्थारम्भ में होना चाहिए था वह नहीं

मिलता। पिछले दस सर्गों के वर्णन जिनमें कृष्ण की युवाकाल तक की प्रमुख घटनाएँ सम्मिलित हैं, वियोग के अन्तर्गत आते हैं और उसके अधीन होने से स्वतन्त्र कथानक और प्रबन्ध की शक्ति उनसे छिन जाती है।

प्रसिद्ध आलोचक श्री विशम्भर 'मानव' में उपर्युक्त दोष के कारण ही प्रियप्रवास और साकेत जैसे लोकप्रिय ग्रन्थों को महाकाव्य की श्रेणी से हटा दिया है। उनकी दृष्टि में सन्धि का सन्तुलन न होना एक भयङ्कर दोष है। कुछ आलोचकों का मत है कि इस ग्रन्थ में कृष्ण स्वयं नहीं आए। गोप और गोपियों द्वारा ही उनके चरित्र का उद्‌घाटन किया गया है। इसलिए इसे महाकाव्य न कह कर विरह काव्य कहना ही उचित है। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इसे साहित्यि की एक नई विधा 'एकार्थ काव्य' मानते हैं। बाबू गुलाबराय के शब्दों में "प्रियप्रवास में यद्यपि महाकाव्य के बहुत से लक्षणों का निर्वाह हो जाता है तथापि उसका मूल ध्येय विरह निवेदन होने के कारण उसे महाकाव्य की पंक्ति में प्रश्न-चिह्न (?) के साथ ही रखा जायगा।"

प्रश्न ३—भाषा-शैली, एवं प्रकृति चित्रण की दृष्टि से प्रियप्रवास की आलोचना कीजिए।

उत्तर—प्रियप्रवास खड़ी बोली का सर्व प्रथम महाकाव्य है। इसमें हरिऔध जी ने पथ-प्रदर्शन के अभाव में संस्कृत भाषा की ओर ही अधिक दृष्टि डाली। परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत गर्भित हो गई। पंक्तियों में दीर्घ समासों का प्रयोग है। समास बाहुल्य के परिमाण में उतनी क्लिष्टता नहीं आ पाई है। संस्कृत तत्सम् शब्दों के साथ ही ब्रजभाषा के कई शब्द जैसे सुअन, ढिंग, सिगरी, भालना तथा अरबी फारसी के दिलजले ताब आदि शब्दों का प्रयोग भाषा के सौन्दर्य को नष्ट कर देता हैं। संस्कृत के अप्रचलित शब्द जैसे आदो, उरसि, स्वेच्छया आदि खटकते हैं। कहीं-कहीं शब्दों के रूपों को भी तोड़ा मरोड़ा है। कवि पद्य में भी वाक्य को गद्य के समान पूर्ण रूप में लिखने के अभ्यासी हैं। प्रत्येक पंक्ति में या वाक्य की समाप्ति पर 'था', 'थी', 'है' आदि का प्रयोग अवश्य होगा। ऐसा प्रतीत

होता है कि मानो वे पहले गद्य में सोचकर फिर पद्य में लिखते हों। प्रिय-प्रवास की भाषा संस्कृत शब्दों से इतनी बोझिल हो गई है कि कहीं-कहीं उसमें हिन्दी खो सी जाती है—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दुविम्बानना।
तन्वङ्गी कल हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली॥"

इसे हम शुद्ध संस्कृत मान सकते हैं। संस्कृत की इस प्रधानता का कारण यह है कि उन्होंने संस्कृ वृत्तों को ही अपनाया है। इसके लिए संस्कृत शब्दावली आवश्यक है। प्रसाद जी आदि की भाषा भी संस्कृत गर्भित है परन्तु उसका सौन्दर्य सदैव अक्षुण्ण रहा है। उपाध्याय जी संस्कृत शब्दों को हिन्दी में सुन्दर रीति से नहीं खपा सके हैं।

प्रकृति का उपयोग उपाध्याय जी ने अपने भाव प्रसार के सहायक के रूप में किया है। प्रथम सर्ग सन्ध्या का वर्णन देता है। द्वितीय सर्ग 'द्विघटी निशा' का, तृतीय सर्ग 'अर्धरात्रि' का, चतुर्थ सर्ग रात्रि के "चतुर्थ प्रहर" का और पञ्चम सर्ग में स्वभावतः "छागई व्योम लाली" से उषा का चित्रण किया है। एकादश सर्ग में गोप के मुख से 'निदाघ' का, द्वादश सर्ग में आभीर के मुख से 'वर्षा' का, चतुर्दश सर्ग में एक गोपी द्वारा 'शरद' का, और षोडश सर्ग मे स्वयं कवि मधुमास का वर्णन करता है। नवम् सर्ग में सभी प्रकार के वृक्ष लतादि का वर्णन है। पञ्चदश सर्ग में उद्धव एक उन्मत्ता गोपी को कुञ्जों में घूमते देखते हैं। वहाँ पुष्पों का मानवीकरण कर उन्हें बालक बालिका बना दिया है।

दिवस के अवसान से यामिनी के अन्त तक के ही वर्णन प्रियप्रवास में अधिक हैं क्योंकि काव्य का वातावरण विषादपूर्ण है। सर्वत्र बाह्य प्रकृति और आन्तरिक प्रकृति में सामञ्जस्य है। प्रकृति मानवी भावनाओं से कहीं एकाकार हो गई है और कहीं उसका अङ्ग बन गई है। प्रारम्भ में सन्ध्या का अत्यन्त सरल और सुन्दर वर्णन है।

मानवीय भावों का प्रतिबिम्ब प्रकृति में लक्षित होता है। कृष्ण के मथुरा गमन से पहले ही प्रकृति तम से परिपूर्ण हो उठी है। कृष्ण वियोग की चिन्ता में मग्न नन्द को दिखाने के लिए समीर, वृक्ष, व्योम, तारक

दीपशिखा, झींगुर आदि सब शान्त दिखाए हैं। राधा व्याकुल है। सब दिशाएँ रो रही हैं और प्रातः जब तक कृष्ण विदा नहीं हो जाते प्रकृति ओस-बिन्दुओं के रूप में रोती रहती है। कालिदास के यक्ष के समान यहाँ पवन दूत भेजा गया है। परन्तु नामपरिगणन द्वारा विभिन्न वृक्षों आदि के वर्णन से कहीं-कहीं नीरसता आ गई है। ऋतुओं के वर्णन भी सकारण हैं। ग्रीष्म वर्णन दावाग्नि के समय, शरद वर्णन रास लीला के पूर्व, बसन्त का वर्णन उद्धव राधा के परिचय के समय किया है। ऋतुओं के इन वर्णनों मे उनकी समस्त विशेषताएँ शब्दों की कर्कशता, आर्द्रता, कमनीयता और मधुरता के सहारे प्रदर्शित की गई हैं। उन्होंने आलङ्कारिक रूप मे भी प्रकृति का योग किया है। उनकी प्रकृति ब्रजवासियों को सान्त्वना प्रदान करने वाली है। इसी के सहारे राधा को अपूर्व शान्ति मिली है।

अनेक स्थानों पर प्रकृति वर्णन इतना रमणीय है कि पढ़ते-पढ़ते पाठक तन्मय हो जाता है। प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनो रूपों का चित्रण है। प्रायः सभी स्थानों पर उन्होंने वातावरण का निर्माण प्रकृति के सहारे किया है। सर्वत्र एक सरलता, स्वाभाविकता और दिव्य सरसता है।

प्रश्न ४—प्रियप्रवास में ईश्वर भावना का किस रूप मे विकास हुआ है? समझाइए।

उत्तर—लगभग सभी भक्त तथा अभक्त कवियों ने कृष्ण के प्रेम को नवीन रूप दिया है। भारत में ईश्वर के प्रकृत रूप की खोज तथा चिन्तन प्रत्येक काल मे होता आया है। यह सर्व सम्मत सिद्धांत रहा है कि हम ईश्वर को कल्पना द्वारा नहीं अनुभूति द्वारा ही पा सकते है। हृदय में ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना द्वारा ही हम उसे पा सकते हैं। इसी कारण भक्त उसके बाल, सखा, प्रेमी आदि रूपों की उपासना करते आए जयदेव एवं विद्यापति से राधा कृष्ण विदग्ध नायक नायिका हैं। वहाँ उद्दाम वासनात्मक प्रेम है। वहाँ केवल काम की प्रबल भावना है। सूर का काव्य एक ओर यदि कृष्ण प्रेम से उद्भूत आल्हाद है तो दूसरी ओर उनका विरह का साकार रूप है। सूर के कृष्ण प्रेमी, विलासी, उद्धत एवं अपूर्व सौंदर्य-

शाली हैं। यह उनका सांसारिक रूप है। इसके साथ ही सूर उन्हें ब्रह्म का साक्षात रूप मानते हैं।

नन्ददास और सूर की कृष्ण भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं। नन्ददास में दर्शन का बाहुल्य है। अपनी पूर्ण निश्चिन्तता और तन्मयता में ये सच्चे भक्त कवि भी राधा कृष्ण का अश्लील वर्णन कर गए हैं। इनके उत्तराधिकारी रीतिकालीन कवियों में न वह साधना ही थी और न अन्तर्दृष्टि जिसके आधार पर वह राधा कृष्ण के विराट स्वरूप की कल्पना कर सकते। परिणाम स्वरूप उनके राधा कृष्ण साधारण नायक नायिका बन गए जिनका प्रधान उद्देश्य काम क्रीड़ा ही था। आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण में राजा राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती प्रभृति महापुरुषों ने राष्ट्रप्रेम की लहर उठाई। जनता का दृष्टिकोण राजनीतिक और सामाजिक हो गया। इससे नैतिकता की प्रवृत्ति बढ़ी। फलतः राधा कृष्ण के परम्परागत रूप के प्रति आधुनिक कवियों का दृष्टिकोण बदल गया। सत्यनारायण जी ने अपने भँवरगीत में इस परिवर्त्तित रूप को चित्रित किया। श्री गुप्त जी ने 'द्वापर' में "एक मूर्त्ति आधे में राधा, आधे में हरि पूरे" कहकर राधा कृष्ण के पवित्र आध्यात्मिक स्वरूप का पुनरुद्धार किया।

प्रियप्रवास के कृष्ण चरित के अङ्कन में भी आधुनिक परिस्थितियों का प्रभाव है। इसमें बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण कवि की अन्तर्दृष्टि के सामने श्रीकृष्ण का वह रूप नहीं रहने पाया जिसे हमारी आध्यात्मिक संस्कृति ने शताब्दियों से हिन्दू समाज को प्रदान कर रखा था। हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण को एक आदर्श पुरुष के रूप में व्यक्त किया है, उन्हें महात्मा तथा योगिराज कहा है, यद्यपि कहीं-कहीं परब्रह्म भी माना है। उनमें मानवता का समावेश यथेष्ठ मात्रा में हुआ है। वे लोक सेवा में व्यस्त हैं। देश और समाज हित उनके ध्येय हैं। इस प्रकार कृष्ण के सच्चे लोक हितैषी महापुरुष के रूप में सामने आते हैं। अपने इस परिवर्तित दृष्टिकोण का कारण देते हुए उपाध्याय जी ने लिखा है—"काल पाकर मेरी दृष्टि व्यापक हुई।" मैं स्वयं सोचने विचारने और शास्त्र के सिद्धान्तों का मनन करने लगा। उसी के फलस्वरूप मेरे पश्चाद्वर्ती और आधुनिक काव्य हैं। भगवान् कृष्णचन्द्र में अब

भी मुझको श्रद्धा है, किन्तु वह श्रद्धा अब संकीर्णता, एकदेशिता और अकर्मण्य दोष-दूषिता नहीं है। ईश्वर एक देशीय नहीं है, वह सर्वत्र व्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणिमात्र में उसका विकास है। मानव प्राणी समूह का शिरोमणि है, उसमें ईश्वरीय सत्ता समस्त प्राणियों से समाधिक है। इसलिए वह प्राणी श्रेष्ठ है। अतएव मानवता का चरम विकास ही ईशत्व की प्राप्ति है—अवतारवाद है।" अपने इसी कथनानुसार उपाध्याय जी ने कृष्ण चरित्र मानवता का चरमविकास दिखाया है। उन्हीं के शब्दों में यह ईशत्व की प्राप्ति है। अतः अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना है परन्तु उन्हे अलौकिक न मानकर पूर्ण लौकिक माना है। वह ईश्वर को साकार रूप में स्वीकार नहीं करते।

प्रश्न ५—प्रियप्रवास के राधा कृष्ण की सूर के राधा कृष्ण से तुलना कीजिए।

उत्तर—प्रियप्रवास की कथा का आधार कृष्ण का मथुरा गमन है। इसी पर सत्रह सर्गों का महाकाव्य लिख दिया गया है। इसमें भी अधिक स्थान राधा कृष्ण के वियोग वर्णन ने ले लिया है। कृष्ण का मथुरा गमन सोद्देश्य है। वे देश के कामों में व्यस्त होकर लौटते नहीं। राधा विरह विदग्ध होकर पवन दूत से उन्हे सन्देश भेजती है। लेकिन उसका यह सदेश ऐसा है जो सूर के कृष्ण गोपी विरह की परिस्थितियों से भिन्न है। सूर के कृष्ण को मथुरा से लौटने की आशा रहती है पर हरिऔधजी के कृष्ण लोकहित के कारण लौट नहीं सकते। वह स्थायी वियोग की स्थिति है। यहाँ तुल्यानुराग है। सूर के कृष्ण मे अनुराग तो है पर पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता।

परिस्थिति की इस भिन्नता के कारण प्रियप्रवास की राधा और सूर की राधा में महान् अन्तर पड़ गया है। प्रियप्रवास की राधा प्रेमिका और कर्त्तव्य शीला है, सती है। उसमें प्रेम और कर्त्तव्य दोनों भावनाएँ भरपूर हैं। परन्तु वह प्रेम से कर्त्तव्य को प्रधानता देती है। वह अपनी व्यथा की अपेक्षा दूसरों की व्यथा की चिन्ता अधिक करती है। वह

अपनी सेवा से नन्द, यशोदा, गोपी, ग्वालवालों के दुख को कम करती है। उसकी ममता के सब समान रूप से भागी हैं। जो अपने भीतर प्रेम का अपार सागर छिपाए हो और व्यथा का कोष छिपाए हो उससे जब यशोदा यह पूछती है कि मेरे जीवनाधार व्रज मे कब आवेंगे तो वह सान्त्वना देती हुई कहती है—"हाँ आवेंगे, व्यथित व्रज को श्याम कैसे तजेंगे ?" सूर की राधा की भाँति वह चुप नहीं रहती और न दिन रात रोती ही रहती है। वहाँ जग की व्यथा का लोशमात्र भी प्रवेश नहीं। जो कुछ है सब अपने लिए। वहाँ लोक वहिष्कृत है।

सूर के कृष्ण भी प्रियप्रवास के कृष्ण से बिल्कुल भिन्न हैं। यद्यपि दोनों ही परम सुन्दर, कलाप्रिय और आकर्षक हैं लेकिन प्रियप्रवास के कृष्ण केवल वशी बजैया और रास रचैया ही नहीं हैं। वे महापुरुष हैं और एक पत्नी व्रत धर्म का पालन करने वाले हैं। वे मथुरा पहुँच कर राधा को भूल नहीं जाते। उनको गोकुल के सब जनों की याद सताती है। राधा के लिए तो वे निरन्तर व्यथित रहते हैं। अपने सन्देशे में उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है। साराश यह है कि सूर के राधा कृष्ण केवल प्रेम लोक के वासी हैं। वहाँ प्रेम का अपूर्व रूप है पर राधा और कृष्ण का व्यक्तित्व वहाँ अविकसित ही रहा है। वहाँ तुल्यानुराग भी नहीं है। गोकुल के सब लोग तो कृष्ण के लिए सदैव व्याकुल रहते हैं। यदा कदा कृष्ण भी व्रज की याद कर लेते हैं पर बहुत कम। पर प्रियप्रवास के कृष्ण सब की याद करते हैं परन्तु कर्त्तव्य वश आ नहीं सकते। हम देखते हैं कि प्रियप्रवास में राधा कृष्ण के व्यक्तित्व का पूरा पूरा विकास हुआ है। उनका चित्रण देशभक्त दम्पत्ति के रूप में है। इस कारण वहाँ का विरह स्थायी होने पर कर्त्तव्य परायणता के कारण ऐसा अलपकारी नहीं है कि सूर की भाँति आँसुओं का सागर लहराने लगा हो। प्रियप्रवास के दृष्टकोण की भिन्नता ने उनके राधा कृष्ण के वियोग को सूर के राधा कृष्ण वियोग से भिन्न बना दिया है।

प्रश्न ६—प्रियप्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला के विरह की तुलना कीजिए।

उत्तर—प्रियप्रवास की राधा और साकेत की उर्मिला के विरह हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। वियोग को रात्रि तथा संयोग को उज्ज्वल दिवस माना गया है। इसी कारण प्रियप्रवास का प्रारम्भ ही कवि ने दिवस के अवसान के समीप वाले क्षण से कराया है। राधा का प्रथम दर्शन वियोग की स्थिति जताता है। इसके विपरीत साकेत में परम्परागत मंगलाचरण के उपरान्त रामजन्म की प्रसन्नता दिखाई गई है। उर्मिला लक्ष्मण के मधुर प्रेमालाप भी प्रसन्नता का द्योतक है। संयोग के ये सुखद क्षण वियोग को अधिक तीव्र करने में सहायक हुए हैं। साकेत के दशम सर्ग की उर्मिला और प्रियप्रवास की राधा में अवश्य समानता है क्योंकि दोनों ही पूर्व स्मृतियों की चर्चा करती हैं।

प्रियप्रवास में राधा का लोक संग्रही रूप है। वह दूसरे के दुख से द्रवित है। वह कहती है—

"जी से बातें सकल सुनना आर्त्त उत्पीड़ितों की
रोगी प्राणी व्यथित जन की लोक उन्नायकों की;"

साकेत की उर्मिला गुप्तजी की प्रथम उद्भावना है। साकेत की उर्मिला से प्रियप्रवास की राधा में लोक संग्रही रूप अधिक स्पष्ट और मुखर है। गुप्तजी की उर्मिला दुखियों की सेवा स्वयं नहीं करती और न उनकी स्थिति जानने के लिए स्वयं बाहर ही होती है। वह जिज्ञासा अवश्य करती है—"पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से।" वह इतने से ही सन्तुष्ट हैं। प्रियप्रवास की राधा स्वयम् दुखियों से मिलती है, उनका समुचित उपचार करती है। उर्मिला तो प्रोषितपतिकाओं को भी सखियों द्वारा अपने यहाँ बुलाती है जिससे उनके दुख को देखकर उसका दुख हलका हो जाय—"प्रोषित पतिकाएं हों, जितनी भी सखि उन्हें निमंत्रण दे आ। समदुखिनी मिलें तो दुख बंटे, जा प्रणय पुरस्सर ले आ।" राधा का विवेक जाग्रत रहता है। कृष्ण के मथुरा गमन में जग हित की भावना होने से वह सन्तुष्ट है—"प्यारे जीवें जगहित करें गेह चाहे न आवें।"

उर्मिला परिणीता पत्नी है, राधा प्रेमिका। परिणय न होने से राधा के प्रेम में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। पर उसमें परकीया की सी उन्मत्त

तीव्रता भी नहीं है। वह एकान्त भाव से अहर्निशि कृष्ण प्रेम में डूबी रहती है। पर उसका यह नशा लोकहित में बदल गया है। राधा और उर्मिला दोनों को ही अब प्रकृति का रम्य रूप प्रफुल्लित नहीं रहता राधा को बाल सूर्य कामिनी का रक्त सा दीखता है—

"क्षितिज निकर कैसी लालिसा दीखती है,
वह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।"

उर्मिला को नैश गगन के तारे फफोले से लगते हैं—"नैश गगन के गात में पड़े फफोले हाय।" किन्तु प्रकृति के जिस मुक्त वातावरण में राधा विचरण करती है वह उर्मिला को सुलभ नहीं। उर्मिला का क्रीड़ा क्षेत्र गृह एवं उससे लगा उपवन है और राधा का ब्रज की विस्तृत गोचर भूमि। उर्मिला राज वधू है। वह राजकीय मर्यादा का पालन करती है। फलतः उसमें राधा का सा प्रकृति निरीक्षण एव तज्जन्य अनुभूति के व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है। राधा का व्यापक दृष्टिकोण कालान्तर में विश्व प्रेम का सहायक हुआ है।

उर्मिला का मिलन चौदह वर्ष पश्चात निश्चित था और राधा का अनिश्चित। कृष्ण मथुरा से भी द्वारका चले गए। मिलन की आशा पूर्ण रूप से टूट गई। उर्मिला तो फिर भी चित्रकूट में लक्ष्मण से मिल ली। राधा को ऐसी सुविधा नहीं मिली परन्तु उसने अपना मानस-संतुलन नहीं खोया। उसका कृष्ण प्रेम विश्वप्रेम में बदल गया—"मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा।" कृष्ण का रूप परमात्मा के समष्टि रूप में विलीन हो गया। राधा कहती है—"मैं प्यारे को अमित रंग और रूप में देखती हूँ।" और इसी कारण 'यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा।' राधा का वैयक्तिक प्रेम विश्व प्रेम में बदल कर उसके महत्व को बढ़ा देता है। अवश्य, पर यह विप्रलम्भ करुणा में परिणित होकर शोक की उद्भावना भी करता है। इस प्रकार इसमें विप्रलम्भ का परिपाक नहीं हुआ। साकेत में विप्रलम्भ इस दशा को नहीं पहुँचता।

मनोवैज्ञानिकता के दृष्टिकोण से उर्मिला की मानसिक उद्विग्नता चरम सीमा पर पहुंच गई है। पर कवि उसे केन्द्रस्थ न रहने देकर विविध रूपों

में व्यंजित करता है। जिससे उसकी गम्भीरता नष्ट हो जाती है। कुछ पंक्तियों में पहले गृहवाणी की चर्चा, दूसरे में चन्द्रकान्त मणि की, तीसरे में मानस चर्चा की, चौथे दीपकपूर और पाँचवे में हृदयस्थ भावनाओं के गीति रूप की। इस भाँति विरह भावनाओं की एकात्मकता और एकरसता में विशृङ्खलता आ गई है। प्रियप्रवास की राधा में विरह की गहराई उसके अनुरूप ही चित्रित है। उसमें सरोवर का उथलापन न होकर कूप की गहराई है। राधा हृदय की सारी भावनाओं के साथ तन्मय होकर विरह निवेदन करती है। यह स्वाभाविक रूप से हृदय की व्यथा को कहती जाती है।

साकेत—(श्री मैथिलीशरण गुप्त)

प्रश्न १—गुप्त जी की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी काव्य साधना एवं भाषा शैली पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—गुप्त जी आधुनिक खड़ी बोली काव्य के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की है। अनूदित और मौलिक। अनूदित रचनाओं से काव्य और नाटक दोनों हैं। विरहिणी ब्रजांगना, वीरांगना, मेघनादवध तथा पलासी युद्ध का उन्होंने मधुप उपनाम से बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया। फारसी के प्रसिद्ध कवि उमर खय्याम की रुबाइयों के अंग्रेजी कवि फिटजराल्ड कृति अनुवाद का भी उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त संस्कृत के नाट्यकार भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' का अनुवाद किया। चन्द्रहास और तिलोत्तमा उनके पद्यबद्ध रूपक है। मौलिक काव्य ग्रन्थों में जयद्रथ वध, रंग में भंग, पद्य प्रबन्ध, भारत भारती, शकुन्तला, पत्रावली, वैतालिक, पद्यावली, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, गुरु तेग बहादुर, हिन्दू शक्ति, सैरन्ध्री, वन वैभव, वक संहार, झंकार और साकेत हैं। यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष साकेत के बाद की रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त विकट भट, मौर्य विजय, मंगल घट, त्रिपथगा तथा गुरुकुल भी उन्होंने लिखे हैं। हम उनके अब तक के काव्य

साहित्य को काव्य शैली की दृष्टि से चार भागों में बाँट सकते हैं—(१) गीति नाट्य, (२) खंडकाव्य, (३) महाकाव्य, (४) गीतिकाव्य। विषय की दृष्टि से उनकी समस्त रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं—भावप्रधान और इतिवृत्तात्मक। इनमें इतिवृत्तात्मक रचनाओं की संख्या बहुत है।

हिन्दी काव्य साहित्य में गुप्त जी का एक विशिष्ट स्थान है। उनके समस्त काव्य में जीवन और जगत के विभिन्न स्वरूप प्रतिबिम्बित हुए हैं। उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति को एक सर्वथा नवीन रूप देने का प्रयास किया है। उनकी काव्य सामग्री दो प्रकार की है। वस्तु सम्बन्धिनी। और काव्य सम्बन्धिनी। प्रथम प्रकार में उनके खंडकाव्य और महाकाव्य आते हैं। इनमें हमें राष्ट्रीय कथाए महाभारत की कथाए, रामचरित की कथाए, बौद्धकालीन कथाए ऐतिहासिक कथाए और पौराणिक कथाएं हैं। राष्ट्रीय कथाओं में भारत भारती और किसान महत्वपूर्ण हैं। इनमें अतीत का गौरव, मध्यकाल की भेदभाव पूर्ण नीति और वर्तमान काल की विपन्नावस्था का वर्णन कर हमारे सामने यह समस्या रखी कि "हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी ?" इनमें राजनीति के साथ ही समाज पर भी प्रकाश डाला है। साम्प्रदायिक संकीर्णता, सामाजिक कुरीतियों आदि का खंडन किया है। 'हिन्दू' में सभी भारतीय धर्मों के उत्थान की आकांक्षा है। रामचरित सम्बन्धी कथाओं में पंचवटी और साकेत हैं। महाभारत सम्बन्धी रचनाओं में जयद्रथ बध, वकसंहार, वन वैभव, द्वापर और सैरन्ध्री हैं। बौद्धकालीन रचनाओं में यशोधरा और अनघ महत्वपूर्ण है। ऐतिहासिक कथाओं में पलासी का युद्ध पत्रावली, गुरुकुल रग में भग आदि हैं। पौराणिक रचनाओं में चन्द्रहास, तिलोत्तमा शकुन्तला और नहुष आते हैं। झंकार में छायावादी शैली की स्फुट रचनाएं हैं इन पर छायावाद का प्रभाव है।

उपर्युक्त रचनाओं में गुप्त जी की प्रवृत्ति इतिवृत्तात्मक रचनाओं में अधिक रमी है, मुक्तक में नहीं। मुक्तक काव्य में उन्होंने आधुनिक और परम्परागत दोनों प्रकार की शैलियाँ अपनाई हैं। आधुनिक शैली में राष्ट्रीय और रहस्यवादी गीत लिखे हैं। रहस्यवादी कविताओं में उन्होंने

सर्वत्र सगुणवाद को ही अपनाया है क्योंकि वे वैष्णव हैं। उनका गीति काव्य अन्तरंग साधना का फल है। उनमें कोरी कल्पना ही नहीं है। उनके गीतों की रचना प्रसंगानुकूल हुई है इससे उनका विस्तार बढ़ गया है फिर भी उसमें गहरी अनुभूति और भावावेश की सूक्ष्म अभिव्यंजना है।

गुप्त जी के तीन रूप हैं प्रबन्धकार, गीतिकार और नाटककार। इसी से उनकी शैली भी तीन प्रकार की हैं प्रबन्ध शैली, गीत शैली नाटक शैली प्रबन्ध शैली मे उनके महाकाव्य और खण्डकाव्य हैं इनमे गुप्त जी को पूर्ण सफलता मिली है। गीतिशैली मे आधुनिक और प्राचीन शैली के गीत लिखे हैं। उनके गीत दो प्रकार के हैं—साधारण और अलंकृत। भाषा और अलङ्कार की दृष्टि से वह दोनों में सफल हैं। उनके विरह गीतों को छोड़कर शेष गीतों में तन्मयता, सौन्दर्यानुभूति और स्वाभाविक वेदना का अभाव है। नाटक शैली में उन्होने गद्य पद्य दोनों का प्रयोग किया है। कथोपकथन पद्य मे और शेष गद्य मे है। यशोधरा उनकी इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। दूसरी रचनाओं में उन्हें इतनी सफलता नहीं मिली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपदेशात्मक शैली में भी लिखा है। इसमें हिन्दू, भारत भारती, गुरुकुल, वकसंहार आदि हैं। इसमें उन्होंने साधारण और अलकृत दोनों शैलियों का प्रयोग किया है।

इन सभी शैलियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी की शैली स्पष्ट प्रभावोत्पादक, शिष्ट, सयत, गम्भीर, तथा तीनों काव्य गुणों से पूर्ण है। प्रांजलता के दर्शन होते है। उनकी शैली उनकी अपनी है जिससे उनका नाम बिना पढ़े ही हम झट कह उठते है कि "यह तो गुप्तजी रचना है।" भाषा खड़ी बोली है। खड़ी बोली के अत्यन्त परिष्कृत एवं सुन्दर रूप के दर्शन होते हैं। ज्यों-ज्यों उनकी काव्य कला का विकास हो गया है त्यों-त्यों उनकी भाषा भी प्रौढ़, प्रसादपूर्ण और भावानुकूल होती गई है। भारत भारती की भाषा की कर्कशता तथा रूखापन परवर्ती रचनाओं में नहीं आ पाया। उनकी भाषा पर संस्कृत के तत्सम् शब्दों का पूर्ण प्रभाव है। कहीं-कहीं संस्कृत के अप्रचलित रूपों का प्रयोग तुकबन्दी के मोह में पड़कर किया है जो खटकता है। तद्भव और तत्सम् शब्दों की अनमेल

खिचड़ी भी कहीं-कहीं मिलती है। प्रान्तीयता के प्रभाव के कारण प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग है। उर्दू, फारसी के शब्दों का कम प्रयोग है। भाषा में व्याकरण सम्मत है। लोकोक्तियों और मुहावरों को भी अपनाया है। समष्टिरूप में गुप्तजी भाषा के एक कलाकार है।

प्रश्न २—साहित्यिक दृष्टिकोण से साकेत की आलोचना करते हुए शीर्षक 'साकेत' की उपयुक्तता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—गुप्त जी ने 'साकेत' में रामकाव्य की परम्परा को पुनर्जीवन प्रदान किया है। बाल्मीक और तुलसी द्वारा गाई हुई विश्व विश्रुत राम-कथा के कुछ चुने हुए स्थलों तक ही इन्होंने साकेत को सीमित रखा है। इसका प्रधान उद्देश्य कवियों की उपेक्षिता लक्ष्मण पत्नी उर्मिला को महत्व प्रदान कर उसके अद्भुत त्याग की झाँकी दिखाना है। इसके लिए मुख्य कथा की धारा को अविकल रखते हुए कवि ने, राम और सीता की आधारभूमि पर उर्मिला और लक्ष्मण के चरित्र किए हैं। कहानी का आरम्भ और अन्त इसी दम्पत्ति युगल की बातों से होता है। उर्मिला ही कथावस्तु का केन्द्र है। गुप्तजी ने लक्ष्मण और सीता के चरित्र को उभारा अवश्य है परन्तु उसके कारण रामचरित्र को गौण नहीं बनाया है।

कथा की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने कुछ नवीन उद्भावनाएँ की हैं। कैकेयी जैसी पतिता को उसका घोर पश्चाताप दिखा कर उठाया है। मन्थरा का चित्रण भी मनोवैज्ञानिक है। वह "भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक उन्हें जो गेह" कह कर फूट का सबल बीज बो देती है। दूसरी उद्भावना द्वारा लक्ष्मण के शक्ति लगने का समाचार सुनकर भरत और उर्मिला द्वारा एक विशाल सेना का सङ्गठन करना है। तुलसीदासजी ने भी गीतावली में इस ओर संकेत किया है। अन्त में वशिष्ठजी योगबल से रामविजय का समाचार सुनाकर सबको शान्त कर देते हैं। इसके अतिरिक्त भरत का चरित्र भी बहुत निखरा हुआ है। लक्ष्मण को कई स्थानों पर अत्यन्त उद्धत दिखाया है। भरत के सम्बन्ध में वे राम की अवज्ञा तक करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। राम के चरित्र में भी सरलता

है। तुलसी राम को मनुष्य रूप में ब्रह्म मानते हैं और गुप्त जी के राम ब्रह्म होते हुए भी मानव हैं। इसके अतिरिक्त कथा में भी कई स्थानों पर परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरणार्थ राजा दशरथ स्वयम् कैकेई को वर माँगने का स्मरण दिलाते हैं तथा पुष्पवाटिका में सीता के साथ उर्मिला को भी दिखाया है। चित्रकूट में भरत को सीता के चरणों पर अश्रुवर्षा करते हुए भी दिखाया है।

इस प्रकार गुप्तजी ने युग की भावना के अनुसार रामकथा को एक नया रूप दिया है। उर्मिला और लक्ष्मण के प्रणय तथा हास-परिहास में युग की नवीनता है। उर्मिला के साथ-साथ कवि ने माण्डवी, शत्रुघ्न आदि पात्रों का भी एक सजग रूप उपस्थित किया है। कैकेयी के चरित्र-चित्रण में तो कवि का कौशल पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। उर्मिला तो युगों से केवल उपेक्षिता ही थी परन्तु कैकेई तो अपमानिता भी रही। कवि ने उसे सहानुभूति का पात्र बना दिया है। वह भरी सभा में कठोरतम दण्ड चाहती है। उसकी आत्म ग्लानि और पश्चाताप मूर्त्तिमान हो उठता है और सारी सभा चिल्ला उठती है "सौ बार धन्य वह एक लाल की माई" पतितों का उत्थान इस युग की एक विशेष भावना है।

काव्य में प्रधानता उर्मिला के विरह की है। नवम् और दशम् सर्ग उर्मिला के आँसुओं से गीले हो रहे हैं। प्रोषितावस्था में वह प्रकृति से समवेदना की आकांक्षा रखती है। साकेत का ऋतु वर्णन में अनेक स्थानों पर छायावादी प्रभाव है। उनका षड् ऋतु वर्णन जायसी के समान उत्कृष्ट नहीं बन सका है। भाषा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उसमें खड़ी बोली का भाषा सौन्दर्य अत्यन्त प्रांजल है। गुप्तजी खड़ी बोली के उन उन्नायकों में अग्रगण्य माने जाते हैं जिन्होंने खड़ी बोली को सुव्यवस्थित, सुगठित परिमार्जित कर शक्तिशाली बनाया। पर साकेत में यत्र-तत्र भाषा की अशुद्धियाँ मिलती हैं। व्याकरण की भी अवहेलना हुई है। सम्पूर्ण काव्य की भाषा 'प्रसाद' आदि के समान संस्कृत,गर्भित नहीं है। कहीं कहीं शिल्पकारिता और माधुर्य के प्रलोभन में पड़कर संस्कृत गर्भित रूप गढ़ा गया है। भाषा प्रसङ्गानुकूल है और शैली भावानुकूल है।

कहीं-कहीं तुकबन्दी के फेर में पड़कर भाषा में शैथिल्य आ गया है। कहीं कहीं भावों को समयानुकूल सुन्दर उपमा, रूपक, अनुप्रासादि अलङ्कारों द्वारा सुसज्जित किया गया है।

उन्होंने प्राचीन अलङ्कारों का प्रयोग नवीन रूप से किया है। अप्रस्तुतों का व्यवहार शब्दसाम्य, रूप सादृश्य तथा साधर्म्य का प्रयोग नवीन आधार पर किया गया है। शब्दशाम्य का उदाहरण दृष्टव्य है—

"चन्द्रकान्त मणि को हटा, पत्थर मुझे न मार।
चन्द्रकान्त आवें प्रथम, जो सबके शृङ्गार॥"

कहीं-कहीं रूपक और विरोधाभास के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं; परन्तु अलङ्कारों के प्रति उनका अधिक मोह नहीं है। उन्होंने भावों को अलङ्कारों के बोझ से दबने नहीं दिया है। इस कारण भावुकता, स्वाभाविकता और माधुर्य की पूर्ण रक्षा हुई है।

इस ग्रन्थ का शीर्षक 'साकेत' ग्रन्थ के सर्वथा उपयुक्त और सार्थक है। रामकथा की महत्ता का अनुभव कर और प्राचीन मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए ही साकेत नाम रखा गया है जिससे राम का महत्त्व बना रहे। इस नामकरण का दूसरा कारण यह भी है कि सम्पूर्ण घटना क्रम साकेत नगरी (अयोध्या) में ही चलता है। जो घटना प्रत्यक्ष रूप से साकेत में नहीं घटी है। उसको वे दूसरे रूप से साकेतवासियों के सम्पर्क में ले आये हैं। विवाह के पूर्व जनकपुर की कथा को विरह वर्णन में उर्मिला से कहलवा दिया गया है। वन की घटनाओं को कुछ हनुमान जी द्वारा तथा कुछ वशिष्ठजी की दिव्य दृष्टि द्वारा बताया गया है। चित्रकूट में जो घटनाएँ हुईं हैं वे सब साकेत समाज की उपस्थिति में हुईं हैं। तीसरा कारण यह भी है कि कवि उर्मिला को प्रधानता देना चाहता है और उर्मिला पूरे समय साकेत में ही रही है। वहीं उर्मिला बाल-लीला आदि का वर्णन करती है। इस प्रकार समस्त क्रियाओं का केन्द्र आरम्भ से अन्त तक साकेत नगरी रही है। अतः साकेत शीर्णक सार्थक और उपयुक्त है।

प्रश्न ३—प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से साकेत की समीक्षा करके बताइये कि उसे आप महाकाव्य मान सकते हैं अथवा नहीं?

उत्तर—गुप्तजी के अपने मतानुसार उन्होंने साकेत की रचना द्वारा कवियों की उपेक्षिता उर्मिला का उद्धार कर उसका विरही एवं त्यागी रूप जनता के सम्मुख रखा है। परन्तु समीक्षा द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में सर्वत्र उर्मिला का प्राधान्य न होते हुए भी उसे बलपूर्वक प्रधान केन्द्र बनाया गया है। कवि की अनिच्छा के विपरीत राम ही इस काव्य के नायक बन गए हैं। सभी सर्ग उनकी गाथा को लेकर चलते हैं। प्रथम सर्ग में राम के राज्याभिषेक के कारण ही उर्मिला और लक्ष्मण प्रसन्न हैं। प्रथम् सर्ग में विरह की सारी भावनाएँ उर्मिला की गौरव भावना के अधीन हैं। यह गौरव भावना उसके पति का रामचरण अनुरागी होने के कारण है। इसी प्रकार विवाह और पश्चात् मिलन सभी रामचरित्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। राम की तुलना में लक्ष्मण प्रधान नहीं हो पाए हैं। इसके अतिरिक्त कैकेयी का चरित्र सबसे अधिक मार्मिक और आकर्षक बन पड़ा है। परन्तु उर्मिला को नायिका सिद्ध करने के लिए कवि बलात् उसे ही प्रधानता देने का प्रयत्न करता रहा है। इस प्रकार उद्देश्यसिद्धि की असफलता इसका प्रथम दोष है।

उर्मिला को नायिका मानने के कारण गुप्तजी ने उसके विरह का बड़ा लम्बा चौड़ा वर्णन किया है। इस अत्यधिक विरह वर्णन के कारण साकेत का घटना प्रवाह कुण्ठित हो गया है। इसके अतिरिक्त अनेक घटनाओं का वर्णन स्मृति के रूप में किया गया है। यह भी ग्रंथ की प्रबन्धात्मकता का एक दोष है क्योंकि इन स्मृति द्वारा वर्णन की हुई घटनाओं में क्रम का ध्यान नहीं रखा गया है। तीसरा दोष यह है कि नायक लक्ष्मण का सर्वाङ्गीण वर्णन न करके कुछ ही चुने हुए स्थलों को काव्यबद्ध किया गया है। चौथा दोष यह है कि काव्य की रचना मुक्तक शैली में की गई है। आठवें सर्ग से प्रबन्ध की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है। उसमें कथा का वर्णन न होकर केवल उर्मिला के विरह का वर्णन है। नवम सर्ग मे कवि क्षण-क्षण छन्द बदलता है। ऐसा लगता है कि उर्मिला का विरह रंग-विरंगे छन्दों की प्रदर्शिनी मात्र है। कहीं-कहीं लगातार प्रकृति वर्णन ही चला गया है जो नीरसता उत्पन्न कर देता है ऐसे स्थानों पर सन्धि का सन्तुलन नष्ट हो गया है

और वास्तविक कथा में शिथिलता आ गई है।

पाँचवाँ दोष यह है कि कवि ने सम्पूर्ण कथा को साकेत में बैठे हुए पात्रों द्वारा ही वर्णित कराया है। सारी राम कथा येन केन प्रकारेण साकेत से ही लगी लिपटी चली है। इसके कारण कथा में विशृङ्खलता आ गई है। प्रथम आठ सर्गों में अयोध्याकाँड है। दशम् सर्ग में उर्मिला बालकाँड का वर्णन करती है। एकादश सर्ग में हनुमान अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंका काँड की कथा सुनाते हैं। हनुमान के जाने के पश्चात् शेष कथा वशिष्ठ जी के योगबल से दिखाई जाती है। यह अस्वाभाविक और ग्रन्थ की प्रबन्धात्मकता को नष्ट करने वाली बातें हैं। नवम् सर्ग तो पूरा का पूरा मुक्तक है। उसे कथा में से हटा देने से भी कथा में कोई अन्तर नहीं आता। अन्य स्थानों पर भी ऐसे मुक्तक गीतों की भरमार है। अतः उपर्युक्त सब दोष मिलकर उसे प्रबन्ध काव्य न रहने देकर प्रबन्ध और मुक्तक की खिचड़ी सी बना देते हैं।

अब साकेत के महाकाव्यत्व पर विचार करना है। महाकाव्य के लिए सफल प्रबन्ध काव्य होना सर्वप्रधान है। जब साकेत एक सफल प्रबन्ध काव्य ही नहीं ठहरता तो हम उसे महाकाव्य कैसे मान सकते हैं। फिर भी अनेक विद्वान साकेत को महाकाव्य मानते हैं। श्री विश्वम्भर 'मानव' के शब्दों में 'साकेत को महाकाव्य कहने का जो भ्रम हुआ है उसका मुख्य कारण यह है कि उसमें साहित्य दर्पणकार के अनुसार महाकाव्य के बहुत से लक्षणों की पूर्ति का यत्न किया गया है। प्रारम्भ में गणेश को लेकर मंगला चरण है। कथा लोक प्रसिद्ध नायक की है। आठ सर्गों के स्थान पर बारह सर्ग हैं। नवम् सर्ग को छोड़ कर प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग है और सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया है। प्रधान रस विप्रलम्भ शृङ्गार है। वीर, करुण आदि गौण हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से धर्म की सिद्धि होती है। वर्णनों में नगर, यात्रा, प्रभात, संध्या, रजनी, सरिता, पर्वत, षड्ऋतु, मृगया, वन, रण-सज्जा, युद्ध, प्रेम आदि के वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त कला देशानुराग दाम्पत्य सम्बन्ध, राजा-प्रजा सम्बन्ध उपयोगितावाद, नारी की महत्ता आदि पर भी व्याख्यान हैं। यह सब होते हुए भी

साकेत महाकाव्य नहीं है, क्योंकि ये सारी बातें बाहरी हैं। जिसका प्रबन्ध ही खंडित है वह महाकाव्य कैसे हो जायगा। महाकाव्य के लिए चार बातों के निर्वाह की अपूर्व आवश्यकता है— प्रबन्धबद्ध कथानक, चरित्र चित्रण, दृश्य वर्णन और रस। कथानक पहली आवश्यकता है। महाकाव्य में कथानक विराट हो, साथ ही काव्यत्व महान् हो। प्रयत्न होते हुए भी गुप्त जी की काव्य क्षमता में कोई सन्देह नहीं कर सकता। और कथानक भी उनके सामने जैसा फैला पड़ा था उसकी महानता में भी अविश्वास का कोई कारण नहीं था परन्तु उस कथानक का वे ठीक से प्रयोग नहीं कर सके। थोड़े से उलट फेर के साथ ही प्रबन्ध के अक्षुण्य रहने से अब जो साकेत में ही सारी घटनाओं के विवरण अथवा दर्शन की अस्वाभाविकता आई वह न आ पाती और निश्चय ही साकेत को महाकाव्य का रूप प्राप्त हो जाता।"

प्रश्न ४—साकेत में उर्मिला का अधिक रोना काव्य कला की दृष्टि से अच्छा लगता है या खटकता है। हमारी दया की पात्री होने के साथ ही साथ क्या वह हमारी श्रद्धा की पात्री भी हो सकती है।

उत्तर—उर्मिला के विरह का वर्णन नवम् और दशम् सर्ग में किया गया है। गुप्त जी के शब्दों में वह विरह इतना तीव्र था कि—

"उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से,
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हो विभूषित कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के।"

इस प्रकार गुप्त जी ने इस विरह का वर्णन कर अपने ताम्रपत्र को सुवर्ण का बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "नवम् सर्ग में तब भी कुछ शेष रह गया था और मेरी भावना के अनुसार वह आज भी अधूरा है।" प्राचीन आलोचकों को यह लम्बा चौड़ा विरह वर्णन बहुत भाया और नवीन आलोचकों को बहुत खटका। उनकी दृष्टि में इससे काव्य

में सन्धि सन्तुलन का निर्वाह होने में बाधा पड़ती है एव रस का परिपाक नहीं हो पाता। अस्तु—

विरह की तीव्रता दिखाने के पहले कवि उर्मिला और लक्ष्मण सुखद और रस पूर्ण संयोग दिखाया है। परन्तु यह आनन्द क्षणिक रहा और एक दिन राम के साथ वनगमन कर "लक्ष्मण हुए वियोगी जयी" और उर्मिला प्रेममयी सती ने मन को समझाया—"हे मन, तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।" यहीं से उर्मिला का चौदह वर्ष का लम्बा विरह प्रारम्भ हो गया। चित्रकूट में सीता के कौशल से पुनः दोनों का मिलन हुआ पर लक्ष्मण अडिग रहे और उर्मिला "पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में हैं सन्तोष" कह कर प्रेषित पतिका बन लौट आई। उसके हृदय पर अवधि शिला का दुर्वह भार था जिसे उसकी--"तिल तिल काट रही थी दृग जल धार।"

अब उर्मिला विरहिणी बन कर प्रोषितपतिकाओं को बुलाती है। समय काटने को चित्रकला सीखती है तथा पशु, पक्षी कीटादि को अपना मित्र मानती है। प्रकृति के उपकरणों को देखकर कभी हर्ष, कभी शोक, कभी चिन्ता और कभी विस्मय तथा धैर्य उसके पास आते हैं। वह सर्वत्र अपने विरह का प्रतिबिम्ब देखती है। कवि ने उर्मिला के इस विरह वर्णन में वियोग को दसों दशाओं का वर्णन किया है जो अत्यन्त मार्मिक है।

एक दृष्टि से उर्मिला का यह लम्बा विलाप उचित है। वह नववधू, सद्यपरिणीता है और उसके प्रियतम उससे अलग हो गए हैं। यह सन्ताप साधारण नहीं है। एक नववधू ही इसका अनुभव कर सकती है। इसलिए उर्मिला रोती है और रोती ही चली जाती है। यह रोना स्वाभाविक है। नारी मनोविज्ञान इसका साक्षी है। सूर के भ्रमर गीत का विरह वर्णन तो इससे भी लम्बा है। जहाँ तक केवल विरह वर्णन का प्रश्न है यह ठीक है। यह वर्णन लगभग सवा सौ पृष्ठों में चलता है। सभी गीत प्रायः मुक्तक हैं। बिहारी, सेनापति, घनानन्द आदि ने भी अनेक पदों में केवल विरहिणी नायिका का चित्र खींचा है। उनके वर्णन भी पर्याप्त सरस हैं। यही गुप्तजी

ने भी किया है फिर उन पर यह आक्षेप क्यों ? यह आक्षेप कुछ अंशों तक ठीक है। कारण यह है कि अन्य कवियों ने मुक्तक रचनाएं लिखी हैं। उनके पास कथा का कोई आधार नहीं था। इसलिए वह सीमित वर्णन के बन्धन से मुक्त थे। परन्तु साकेत एक प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य में मुक्तक काव्य की स्वच्छन्दता का उपभोग नहीं किया जा सकता। उसका प्रत्येक वर्णन सतुलित एवं सीमित होना चाहिए। जहाँ भी किसी एक वर्णन को अत्यधिक विस्तार दिया जाता है वहीं उस ग्रन्थ की प्रबन्धात्मकता खंडित हो जाती है। साकेत में भी यही हुआ है।

उर्मिला का लगातार दो सर्गों में रोते रहना उबा देने वाला है। अन्य सारे प्रसंगों की उपेक्षा कर इसी एक कार्य में अपने हृदय की सारी वेदना को उड़ेल देना चाहता है। वेदना तो प्रकट हो गई है पर काव्य कवि का साथ छोड़ गया है। यदि इसको विस्तार न दिया जाता तो साकेत की मार्मिकता द्विगुणित हो जाती। सम्पूर्ण विरह वर्णन में मार्मिक प्रसग बहुत थोड़े हैं। वे विस्तृत मरुस्थल में नखलिस्तान के समान हैं। कवि विस्तार द्वारा करुण की धारा प्रवाहित करना चाहता है। उचित परिमाण में करुण दृश्य का वर्णन हमारी अनुभूति को जागरित बनाए रखता है। किन्तु विस्तार से हमारी भावुकता कुंठित हो जाती है। नवम् सर्ग का प्रभाव कुंठित करने वाला है। दशम् सर्ग में भी उसी करुण के अबाध प्रवाह से तो मन व्याकुल हो उठता है। उर्मिला की करुणा से गुप्तजी को मोह सा है। परन्तु पाठक समीक्षक को तो मोह नहीं हो सकता। वह तो यथा स्थान सीमित वर्णन चाहता है। शुक्लजी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि सूर की गोपियों के समान उर्मिला का विरह निवेदन भी एक बैठे ठाले का कार्य है।

नवम् सर्ग की रचना मुक्तक शैली में की गई है। छन्दों की प्रदर्शनी सी लग गई है। दृश्य तारतम्य के रूप में नहीं आते। कभी निर्झर का तो कभी शरद चन्द्रिका का वर्णन है। कहीं कहीं लगातार प्रकृति वर्णन चले जाते हैं। अतः नीरसता का आभास मिलता है। भावातिरेक कथा के प्रवाह को स्थगित सा कर देता है। तुकबन्दी के मोह ने भाषा के स्वरूप

को भी बिगाड़ दिया है। इस प्रकार समष्टि रूप से प्रबन्ध काव्य का अङ्ग होने के कारण उर्मिला का यह लम्बा विरह वर्णन साकेत की एक सब से बड़ी त्रुटि है। यदि यह मुक्तक रूप से लिखा जाता तो अत्यन्त सुन्दर बन पड़ता।

इसी कारण गुप्तजी उर्मिला के लोकपक्ष में गम्भीरता नहीं ला सके हैं, रुदन की अधिकता के कारण उर्मिला न तो पंचवटी की सीता बन सकी है और न यशोधरा। उसमें प्रियप्रवास की राधा की भी छाया नहीं मिलती जो उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर सके। यशोधरा के समान न वह मानिनी ही है। वह एक निस्सहाय अबला के समान निरन्तर रोती रहती है। उसे इस स्थिति में देखकर हमारे हृदय में उसके प्रति करुणा एव दया की ही भावना उदय होती है—श्रद्धा की नहीं। इन्हीं त्रुटियों को लक्ष्य कर पूज्य बापू ने लिखा था—"उर्मिला का विषाद यद्यपि भाषा की दृष्टि से सुन्दर है परन्तु साकेत में उसको शायद ही स्थान हो सकता था।"

कामायनी (जयशंकरप्रसाद)

प्रश्न १—प्रसाद जी की रचनाओं का परिचय देते हुए उनकी काव्य साधना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—प्रसादजी हिन्दी साहित्य के इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं साहित्यकार थे। उनकी सी अद्भुत साहित्य सृजन प्रतिभा इस युग में और किसी में नहीं मिलती। अपने ४८ वर्ष के जीवन में, अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा, जिस उच्चतम साहित्य का सृजन किया, उस पर हिन्दी साहित्य को गर्व है। वह हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति है। उन्होंने साहित्य के सभी अंगों पर लेखनी चलाई और पूर्ण सफलता पाई। उन्होंने प्रमुख रूप से साहित्य के पाँच अङ्गों को अपनाया—उपन्यास, नाटक, कहानी, काव्य, निबन्ध। उपन्यासों में कंकाल, तितली और इरावती लिखे। इरावती अन्तिम और अधूरा उपन्यास है। कंकाल को पढ़ उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द आश्चर्य चकित हो उठे। नाटक आठ लिखे जो सभी ऐतिहासिक हैं—विशाल, राज्य श्री,

अजातशत्रु, एक घूंट, स्कन्ध गुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, ध्रुवस्वामिनी। कहानी संग्रहों में छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल हैं। काव्य में प्रेम-पथिक, चित्राधार, आँसू, कानन-कुसुम, लहर, करुणालय, महाराणा का महत्व, झरना और कामायनी। कामायनी इस युग की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाने लगी है। निबन्धों में केवल एक 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' हैं।

इन सब रूपों में से उनका कवि और नाटककार का रूप ही सबसे अधिक उभरकर आया है। यहाँ हमें केवल उनके काव्य पर विचार करना है। प्रसाद जी ने अपने काव्य द्वारा जिन नवीन उद्‌भावनाओं की सृष्टि की है उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है—(१) **काव्य के विषय में नवीनता—** प्रसाद जी के जन्म के समय हिन्दी साहित्य में रीति कालीन प्रभाव भी होता जा रहा था और भारतेन्दु कालीन नवीन विचार धारा प्रचार पा रही थी। भारतेन्दु के नवीन आदर्शों में भी कोई जीवन गत दृढ़ता नहीं आ सकी। काव्य का जीवन से सम्बन्ध न के बराबर था। अन्तर्वेदना और अन्तर्जगत से दूर स्थूल की साधना में निरत काव्य के प्रति प्रसाद जी ने एक नवीन क्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने उसकी मूर्छा को दूर कर, उसे नये विषयों से अलंकृत कर एक नवीन जीवन प्रदान किया। काव्य की रीति बद्ध सीमाओं को नष्ट कर उसका दृष्टिकोण विस्तृत बनाया। इस नवजागरण के सन्देश को आलोचकों ने छायावाद, रहस्यवाद, और यथार्थवाद आदि के नाम से अभिहित किया। (२) **भाव जगत का नवीन संस्कार—**उस समय कवियों के दो वर्ग थे। एक वर्ग शृङ्गार के नाम पर नारी का अत्यन्त स्थूल और उत्तेजक वर्णन कर अपनी प्रतिभा को विनष्ट कर रहा था तथा दूसरा वर्ग इसका विरोध कर रहा था। काव्य के लिए ये दोनों ही धारणाएँ अस्वास्थ्यकर थीं। दोनों ही अतिवादी थे। प्रसाद जी ने कवियों को इस सस्ती भावुकता से उठाकर उन्हें एक सन्तुलित, दृढ़ एवं स्वस्थ मानसिक पृष्ठभूमि प्रदान कर, नवयुग का पथ प्रदर्शन किया। दोनों के स्वास्थ्यकर एव सौन्दर्यपूर्ण उपादानों का उपयोग कर उन्होंने एक नवीन मध्यम मार्ग चलाया। इसके लिए उन्होंने

प्रकृति को अपना उपादान बनाया और इस प्रकार मानव और प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित किया। प्रकृति में ही सनातन पुरुष की नारी का शाश्वत एवं पवित्र सौन्दर्य देखा। (३) **नई कल्पना**—काव्य में भाव के साथ ही साथ कल्पना और सौन्दर्य का भी पर्याप्त महत्व है। प्रसाद जी ने सुन्दर कल्पना तथा सौन्दर्य के कलात्मक मिश्रण से अपने काव्य को सजा कर उसे नवीनता प्रदान की ; मूर्त में अमूर्त और अमूर्त में मूर्त का विधान कर प्रतीकात्मक शैली का प्रणयन किया। कहीं-कहीं उनकी कल्पनाएँ क्लिष्ट भी हो गई हैं। द्विवेदी जी कल्पना के घोर विरोधी थे। उनके विरोध की चिन्ता न कर काव्य में भाव, कल्पना और सौन्दर्य का अद्भुत सामंजस्य कर उन्होंने युग के अनुरूप काव्य रचा। कामायनी में तथा आँसू में ऐसी नवीन कल्पनाओं की उद्भावना अत्यन्त मार्मिक है। उन्होंने अवगुंठनवती कल्पना को बन्धन मुक्त कर साहित्य में हर्षोन्माद, स्वस्थता और सौन्दर्य की सृष्टि की (४) **मानव सौन्दर्य का चित्रण**—उनके काव्य में द्विवेदी युग के स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था। इसलिए उनके आकर्षण का केन्द्र अशरीरी और अमूर्त भावनाएँ हो गईं। मानव भावनाओं के चित्रण में उन्होंने मनोविज्ञान को अपना आधार बनाया। कामायनी में शुद्ध मानव सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। मनु और श्रद्धा के शारीरिक सौन्दर्य के चित्रण में स्वस्थ और अकलुषित मानव सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। नारी के नग्न सौन्दर्य से उनका काव्य अछूता रहा। उनका क्षेत्र वाह्य न होकर अन्तर्जगत ही था। इसी कारण श्रद्धा का रूप वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय माना जाता है। वाह्य सृष्टि में केवल प्रकृति के सरलतम रूप पर भी उनकी दृष्टि पड़ी थी। (५) **प्राकृतिक सौन्दर्य**—कहा जाता है कि वस्तुतः प्राकृतिक सौन्दर्य ने ही उनकी काव्य कला को वाणी दी और उनके काव्यमय जीवन का विकास किया। वे प्राकृतिक सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित थे। इसी कारण उनके काव्य में प्रकृति के अनेक रूपों के शुद्ध और रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं। उनति प्रेम दर्शन की नींव पर आधारित है। कामायनी में उनके प्रकृति के विभिन्न रूपों के चित्र असाधारण बन पड़े हैं। प्रकृति के प्रति नवीन

दृष्टिकोण उन्हीं की देन हैं। (६) भाव सौन्दर्य—प्रसाद जी स्नेह और यौवन के कवि हैं। उनके काव्य में यौवन के अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक चित्र मिलते हैं। साधारणतः उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रेम, भक्ति, पौराणिक गाथाएँ तथा प्रकृति के ऊपर भी लिखा गया है। वहाँ केवल विषय की नवीनता है, भावों की गम्भीरता नहीं। भाव-सौन्दर्य के दर्शन तो परवर्ती रचनाओं कामायनी, आँसू आदि में होते हैं। प्रसाद जी हर्ष विषाद-युक्त मानवीय भावनाओं के कवि हैं। अनेक स्थानों में मानवीय भावों पर प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर आरोपण किया हैं। वहाँ सौन्दर्य और प्रेम के आन्तरिक और वाह्य दोनों रूप मिलते हैं। इन रूपों में ऐहिक भावनाओं के साथ मानव मनोभावों को उदात्तता प्रदान करने वाली भावनाओं का भी समावेश हुआ है। कल्पना के स्वस्थ प्रयोग से प्रसाद जी के भावों की अभिव्यजना सरस, सुन्दर आकर्षक प्रतीकात्मक और विशाल बन सकी है। उनके चित्र सजीव और प्राणवान है। (७) प्रेम-साधना—प्रसाद जी प्रेम और वासना का अन्तर स्पष्ट करने वाले प्रथम कवि हैं। उनके प्रेम में स्वस्थता तथा दृढ़ता के लिए स्थान है। वह अत्यन्त स्थूल अथवा पूर्ण अलौकिक न होकर अलौकिक और लौकिक के बीच की वस्तु हैं। उनका प्रेमी लौकिक प्रेम में अध्यात्म का सन्देश पाता है। उन्होंने सर्वत्र वासना का विरोध कर प्रेम की स्वच्छता पर बल दिया है। प्रेम निरुपण की यह धारणा सर्वथा नवीन है। वासना के कारण ही कामायनी के नायक मनु सच्चे प्रेम के दर्शन करने में असफल रहे और परिणाम स्वरूप उन्हें निराशाओं और अपमानों का सामना करना पड़ा।

उपर्युक्त विशेषताओं के पश्चात् प्रसाद जी की रस और अलङ्कार योजना को देखना भी आवश्यक है। रस निरूपण में वे किसी रस विशेष को अपना लक्ष्य बना कर नहीं चले। रस का परिपाक तो विषयानुकूल स्वतः ही हो गया है। सामान्य रूप से उनके काव्य का प्रारम्भ शृङ्गार से होकर उसकी परिणति शान्त या करुण रस में हो जाती है। अनेक आलोचक जो प्रसाद जी को पलायनवादी निराश कवि मानते हैं वे उनके काव्य में शान्त या करुण रस का ही परिपाक देखते हैं। समष्टि-

रूप में उनके काव्य में श्रृङ्गार, शान्त और करुण रस विषयानुकूल प्रधान रहे हैं जिनमें श्रृङ्गार की प्रधानता है। अलङ्कार के क्षेत्र में उन्होंने अलङ्कार के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखाई है। फिर भी अनेक सुन्दर अलंकार आ गए हैं। इनमें मूर्त-अमूर्त का विधान, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। रूपकों में नारी-सादृश्य प्रकृति की ही प्रधानता है।

प्रश्न २—कामायनी की कथा का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसके महाकाव्यत्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर २—महाप्रलय में देवसृष्टि का विध्वंस हो जाता है, केवल मनु बच जाते हैं। चिन्ताकातर एकाकी होकर वे घबड़ा उठते हैं। उसी समय कामगोत्रजा कामायनी, जिसे श्रद्धा भी कहते हैं, से उनका परिचय कालान्तर में परिणय का स्वरूप ले लेता है। मानवीय संस्कार एवं संस्कृति की सृष्टि होती है। परन्तु मनु प्राचीन देव संस्कारों से प्रेरित होकर पशु-बलि करते हैं। कोमल हृदय श्रद्धा और मनु में इसी विषय को लेकर मनो-मालिन्य उत्पन्न हो जाता है। श्रद्धा गर्भवती होकर अपनी भावी सन्तान की चिन्ता में तन्मय रहने लगती है। अविभाजित प्रेम के आकांक्षी मनु इससे ईर्ष्यालु हो उठते हैं। वे चाहते हैं कि श्रद्धा केवल उन्हीं में सीमित रहे। प्रमादवश वह श्रद्धा को छोड़ कर चले जाते हैं। सारस्वत देश में पहुँच कर वहाँ की रानी इड़ा से उनकी भेंट होती है। इड़ा देवताओं की बहन और बुद्धि की प्रतीक थी। वह मनु की सहायता चाहती है। मनु वहाँ एक नवीन यंत्र प्रधान संस्कृति को जन्म देते हैं। अबाधित अधिकार चाहने वाले मनु इड़ा पर भी अपना स्वामित्व चाहते हैं। इड़ा के विरोध करने पर मनु बलात्कार करना चाहते हैं। इड़ा की प्रजा विद्रोह करती है और युद्ध में मनु घायल हो जाते हैं। उधर वियोगिनी श्रद्धा को स्वप्न द्वारा यह समाचार ज्ञात हो जाता है। वह अपने पुत्र मानव के साथ मनु को खोजती हुई इड़ा के यहाँ आती है और वहाँ से मनु को साथ लेकर तथा मानव को इड़ा के हाथों सौंप कर कैलाश चली जाती है। कैलाश प्रदेश में ज्ञान, इच्छा और क्रिया के स्वर्ण, रजत और लौहमय तीन

विन्दुओं को पृथक दिखाकर अपनी स्मिति-रेखा से उन्हें एक कर देती है तथा त्रिपुरदाह के कथानक को रूपक में सार्थक करती हुई तीनों के समन्वय का उपदेश देती हैं। शैव दर्शन की समरसता की भावना से प्रभावित यह समन्वय भावना भारतीय संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग है। प्रसाद जी ने प्रागूऐतिहासिक कथा के आधार पर यही रूपक प्रस्तुत किया है।

इस विचित्र और अद्भुत कथानक को लेकर चलने में कवि अपने ग्रन्थ को महाकाव्य की उच्चश्रेणी तक उठा सका है अथवा नहीं यह विषय विचारणीय हो उठता है। विवेचन करने से प्रथम हम काव्य के विषय में प्रसाद जी का मन जान ले तो विवेचन करने में सरलता होगी। प्रसाद जी ने पाठ्यकाव्य का बाह्य वर्णन, आदर्शवाद, बुद्धिवाद आदि से विराग दिखाया है और भावपक्ष से अनुराग। वे काव्य का सहज धर्म आत्मा की क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली सकलनात्मक अनुभूति मानते हैं। इसीलिए काव्य में उनकी दृष्टि भाव सौन्दर्य पर अधिक रही है। पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य के दो वर्ग माने हैं—Epic of growth सङ्कलनात्मक महाकाव्य तथा Epic of art कलात्मक या साहित्यिक महाकाव्य। प्रथम समाज की माग पूरी करता है। उसमें साहित्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं रहता। द्वितीय में कवि रचना सौन्दर्य पर ही ध्यान देता है। फलतः उनकी शैली में काव्य के उत्कर्ष विधायक गुणों का समावेश रहता है। ऐसा काव्य साहित्यिक समाज में ही समादरित होता है जन साधारण में नहीं। कामायनी ऐसा ही साहित्यिक महाकाव्य है। संस्कृत में घटना प्रधान और चरित्र प्रधान दो प्रकार के महाकाव्य माने गए हैं। अतः एक तीसरा वर्ग भाव प्रधान भी हो सकता है। कामायनी इसी तीसरे वर्ग के अन्तर्गत आएगी। इसलिए उसमें महाकाव्य के निर्धारित लक्षणों के पूर्ण प्रतिपादन का प्रयत्न नहीं किया गया है।

कामायनी में प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ हैं जो स्वाभाविक हैं क्योंकि प्रसाद जी प्रधानतः मुक्तक काव्य के कवि हैं। प्रबन्ध में मुक्तक की स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया जा सकता। दूसरे कामायनी की कथा राम, कृष्ण अथवा बुद्ध के चरित्रों के समान स्वयं काव्य नहीं है। वह

उनकी नवीन उद्भावना है। तीसरे इसमें रहस्यवाद और छायावाद आवश्यकता से अधिक हैं। अब तक किसी भी महाकाव्य में सम्पूर्ण शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह नहीं हो सका है अतः कामायनी में भी कुछ त्रुटियाँ रह गईं तो उसे हम इस श्रेणी से हटा नहीं सकते। प्रकृति चित्रण, चरित्र चित्रण, कथा प्रवाह आदि की दृष्टि से कामायनी एक सफल महाकाव्य प्रमाणित होता है।

प्रकृति चित्रण की दृष्टि से कामायनी में प्रकृति का प्रयोग मनोवेगों या कार्यों की क्रीड़ास्थली के रूप में ही अधिक हुआ है। कवि ने घटना-स्थल का स्थूल चित्र अङ्कित कर उसमें मुख्य मनोवृत्ति या घटना को उतारा है। कहीं प्रकृति में ईश्वर के अनिवार्य नियमों का अनुभव किया है कहीं उसमे क्रूरता तथा कठोरता को पाया है। प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूपों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है। कहीं-कहीं प्रकृति का प्रयोग आलम्बन के रूप मे न होकर उद्दीपन के रूप में किया है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से मनु, श्रद्धा एवं इड़ा तीन प्रमुख पात्र हैं। मनु नायक हैं तथा श्रद्धा नायिका। मनु चिन्ता सर्ग से निर्वेद सर्ग तक चिन्ता और दम्भ के शिकार रहते हैं। उनमें वासना का प्राधान्य है। श्रद्धा मे पूर्ण तृप्ति न पाकर वह उसे त्याग कर इड़ा के पास चले जाते हैं। मनु में पुरुष के सब गुण और दुर्गुण हैं। श्रद्धा आदर्श भारतीय नारी है। मनु इड़ा पर प्रभुत्व जमाना चाहते हैं। ममता, माया और अगाध विश्वास की प्रतिमा श्रद्धा जो क्षमाशील है, मनु की कृतघ्नता को भूल कर उनकी रक्षा करती। अन्त में उनका मिलन होता है। इसमें स्वर्गीय सुख है, मोह और ममता का त्याग तथा नर और नारी का अचल विश्वास है।

कथानक की दृष्टि से यह कथा महाकाव्य के उपयुक्त है। परन्तु कथा की गति का पूर्ण निर्वाह नहीं हो सका है। इसमें मुक्तक की सी शैली है! पूरे 'लज्जा' सर्ग को निकाल देने से भी कथा की शृङ्खला में व्यवधान नहीं पड़ता। कोई प्रासंगिक कथा भी नहीं है। प्रारम्भ में कथा का वेग शिथिल परन्तु निर्वेद सर्ग के उपरान्त वह बरसाती नदी के समान

अत्यन्त तीव्र हो जाती है। आनन्द सर्ग की कथा उस यात्री दल के समान तीव्र गति से चलती है जो अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचने की शीघ्रता में हैं।

यह सब गुण और अवगुण होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि कामायनी में महाकाव्य के गुण प्रचुर रूप में मिलते हैं। प्राचीन आचार्यों के मत से षट् ऋतुओं का वर्णन, छन्दों का बन्धन, सर्गों की संख्या या ऐसी ही और बातें जो महाकाव्य के लिए आवश्यक मानी गई हैं वह, रुढ़िवाद के अतिरिक्त और क्या है? कामायनी की रचना द्वारा महाकाव्य के क्षेत्र मे प्रसाद जी ने एक क्रान्ति का श्री गणेश किया है। इसमें उनकी मौलिकता और नवीन उद्भावना शक्ति का पूर्ण परिचय मिला है। यद्यपि कामायनी की कथा अत्यन्त प्राचीन एव ऐतिहासिक हैं, परन्तु इससे पूर्व उसका काव्यमय वर्णन नहीं मिलता। और न वह रामायण, इलियड या ओडेसी के समान लोक प्रसिद्ध ही हैं। यह सम्पूर्ण कथाएं एकदेशीय हैं। इसके विपरीत कामायनी की कथा सम्पूर्ण देशों में किसी न किसी रूप में मिलती है। इस खण्ड प्रलय का वर्णन लगभग वे सभी देशो के साहित्य में पाया गया है। इस कारण कामायनी एक देशीय काव्य न होकर सार्वभौमिक महाकाव्य माना जा सकता है। जब तक हृदय में गति है, कम्पन है तब तक मनु और श्रद्धा की कथा संसार के प्रत्येक मनुष्य पर एक समान प्रभाव डालती रहेगी चाहे वह किसी भी देश अथवा जाति का क्यों न हो। इस दृष्टि से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि कामायनी आधुनिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है, यद्यपि कहीं कहीं उसमें कुछ त्रुटियों भी है जो विषय की दुरुहता और नवीनता को देखते हुए क्षम्य हैं।

प्रश्न ३—सिद्ध कीजिए की कामायनी में केवल उच्च कल्पना की तीव्र उड़ान की अपेक्षा लोक संग्रह की भावना अधिक है।

उत्तर—कामायनी किसी एक युग विशेष का प्रतिनिधित्व न कर शाश्वत मानवता का प्रतिनिधित्व करती है। वह एक धर्म, एक जाति अथवा एक देश का काव्य नहीं है। वह विश्व काव्य है। उसमे समस्त मानवता का विकास दिखाया गया है। उसके पात्र में भी वे मनोवृत्तियों हैं

जो मानव जीवन के आधार हैं उसमें अन्य ग्रन्थों के समान राजनीति, समाज धर्म आदि का हिन्दू संस्कृति के आधार पर विवेचन नहीं किया गया है। उसका ध्येय तो मानव धर्म का विवेचन करना है। विश्व मानव की एकता का साधन ढूँढ़ना उसका लक्ष्य है। वह साधन है—हृदय और मस्तिष्क का, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) का समन्वय और उस समन्वय द्वारा आनन्द की प्राप्ति। इस प्रकार कामायनी की लोक संग्रह की भावना अत्यन्त व्यापक और विश्वजनीन है।

शैव संस्कृति के आनन्द तत्व की प्रतिष्ठा उनकी आधार शिला है। दुखवाद का विरोध करते हुए आनन्दवाद की स्थापना करने की भावना कामायनी के मूल में कार्य कर रही है। विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार कामायनी के आधार पर सरलता से हो सकता है क्योंकि इसमें मूल प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण किया गया है जो सार्वकालिक और सार्वदेशिक है और प्रत्येक मानव में पाई जाती है। इस सिद्धान्त में विश्वास करने से मानव का भेद हट जाता है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "कामायनी एकाङ्गी अव्यावहारिक, निबल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर व्यापक और बहुमुखी जीवन दृष्टि का सन्देश सुनाती और नियोजना करती है।" आर्यों और शैवागमों के आनन्दवाद को आधुनिकता का रूप देकर उन्होंने वर्तमान सभ्यता को एक नया पथ दिया है। लोकसंग्रह का इससे उज्वल उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है जहाँ करुणा की भावना मनुष्य को छोटा करती है और उसे आत्ममुखी बनाती है वहाँ आनन्द की भावना उसे सम्पूर्ण विश्व से योजित करती है।

उपर्युक्त 'आनन्दवाद' की भावना के अतिरिक्त सङ्घर्ष सर्ग में वैज्ञानिक आविष्कारों की लिप्सामयी संस्कृति का ह्रास दिखाकर प्रसाद जी ने सिद्ध किया है कि मानव को आत्मत्याग के लिए हृदय की श्रद्धा वृत्ति का आश्रय लेकर आत्मतत्व की चिन्तामणि प्राप्त करनी है। उनका सन्देश है कि विज्ञान और बुद्धि सीमा से बढ़ने पर आसुर भाव को जाग्रत कर सकते हैं। देवभाव की जाग्रति के लिए श्रद्धा की ओर देखना होगा। आनन्द ही सत्य है। इच्छा क्रिया और ज्ञान तीनों का समन्वय होना ही आनन्द की सृष्टि होना

है। जन-जन की भावना इसी आनन्द की ओर अग्रसर है। प्रत्येक जन स्वयं विश्व परिवार का सदस्य समझता है। ऐसे समय कामायनी जैसा काव्य ही सबके लिए उपादेय हो सकता है। परन्तु अपनी छायावादी शैली के कारण जन साधारण उसे समझ नहीं सकते, यह उसका दुर्गुण माना जा सकता है। कारण यह है कि कामायनी भविष्य का काव्य है—जब कि जनता का मस्तिष्क और भी विकसित हो जायगा। कामायनी में भावी मानवता के लिए उसकी मूल समस्याओं का स्पष्टीकरण है। आज के बुद्धिजीवी, विश्लेषण प्रधान, सौन्दर्य प्रिय दार्शनिक मन को कामायनी सन्तुष्ट कर सकेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

वर्तमान युग मन की तरह श्रद्धाहीन होकर राष्ट्रगत अहं की उपासना में रत रह कर महायुद्ध द्वारा आत्मविनाश में तत्पर है। इस सामूहिक संसार के पश्चात् की प्रतिक्रिया स्वरूप सारी मानवता व्याकुल हो उठी है। कामायनी की श्रद्धा द्वारा ही विश्व में शान्ति की स्थापना सम्भव है। चिर प्रगतिशील वैज्ञानिक बुद्धि के साथ चिर स्थिर और संयमित श्रद्धा के कल्याणकारी सहयोग की प्रतिष्ठा ही कामायनी के कवि का चरम लक्ष्य है, जिसे कामायनी ने अपनी श्रद्धामयी दुलारी सन्तान मानव को बुद्धि रूपिणी इडा को सौंपते हुए कहा था—

"वह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय।
इसका तू सब संताप निचय—
हरले हो मानव भाग्य उदय।"

प्रश्न ४—"कामायनी मनोवैज्ञानिक संकेतों का एक वृहत सङ्कलन मात्र है।" क्या आप इस मत से सहमत हैं?

उत्तर—हम पिछले प्रश्न में स्पष्ट कर चुके है कि कामायनी की पृष्ठभूमि अधिकतर मनोवृत्तियों को लेकर ही खड़ी की गई है। इसमें चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम वासना, लज्जा, आदि मानसिक भावों का क्रमिक विकास दिखाया गया है। इन मानसिक भावों का इतना सुन्दर एव तथ्यपूर्ण चित्रण

अन्यत्र दुर्लभ है। कामायनी का कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है। उसका कोई विशेष महत्व नहीं। कारण यह है कि उस आदि युग में जीवन आज की तरह इतना जटिल नहीं था। जीवन की जटिलता ही कथानक को विस्तार देती है। इसमें आदि पुरुष और आदि नारी की कथा है। अतः विकसित जीवन की उलझनों से वे मुक्त हैं। कई स्थलों पर वो मानसिक वृत्तियाँ भी अपने मूल रूप में आई हैं जिनका पात्रों को पूर्व अनुभव नहीं है। कामायनी में केवल तीन पात्र हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। हिन्दी के अन्य महाकाव्यों में भी कथा की शिथिलता है। परन्तु उनमें कामायनी की सी भावुकता, कल्पना, विचार और उत्कृष्ट शैली का अपूर्व सम्मिश्रण नहीं मिलता। एक आलोचक का मत है कि यदि हिन्दी का सम्पूर्ण काव्य नष्ट हो जाय और कामायनी का केवल एक सर्ग ही बचा रह जाय तो उसे पढ़कर कोई भी देशी या विदेशी आलोचक यही निर्णय करेगा कि भारत में भी एक महान् कलाकार था।

कामायनी में श्रद्धा और मनु के आकर्षण से लेकर मिलन तक की गाथा बड़ी आकर्षक है। आकर्षण के मूल में प्रायः सौन्दर्य रहा करता है। मनु के हृदय का उपेक्षित मधुमय स्रोत श्रद्धा के सौन्दर्य की ढलाऊ भूमि पाते ही प्रवाहित हो उठा। उसे सामीप्य के लिए कोई विकट प्रयत्न नहीं करना पड़ा। सहज ही उसे मिल गई पर यह आगे चलकर जब मनु के हृदय में वासना का उदय होता है और श्रद्धा गम्भीरता से "मत कहो पूछो न कुछ" कहती है। उसके पश्चात् के क्षणिक फलों में सामान्य नर और सामान्य नारी के मिलन का जो चित्र प्रसाद ने चित्रित किया है वह अद्‌भुत है। हमारी भावनाओं की मूर्ति खड़ी कर अरूप को रूप देना कितना असाध्य कार्य है। जब हम भावों में लीन होते हैं तब क्या अपनी मधुरता का विश्लेषण करने बैठते हैं। उस समय हम इतना ही जान पाते हैं कि मन को कुछ हो गया है, पर क्या हो गया है यह तो नहीं कह पाते। काम, वासना और लज्जा सर्ग को पढ़ते पढ़ते ऐसा प्रतीत होता है, जैसे युग-युग की यौवन की मूकता को कवि ने वाणी प्रदान की है। इन पंक्तियों में वृत्तियों का मानवीकरण किया है, मनोविज्ञान का पूर्ण आधार लिया गया

है, अलङ्कारों का सुन्दर निर्वाह हुआ है, व्यञ्जना का पूर्ण उपयोग किया गया है, वर्णनों में चलचित्रों की चंचलता भरी हुई है और इन सबसे अधिक प्रभावशाली वस्तु उसकी कला है। इतने कलात्मक ढङ्ग से स्वाभाविकता का पूर्ण निर्वाह अन्यत्र नहीं मिलता। वैसे तो सम्पूर्ण ग्रन्थ में अन्तर की रसभरी वृत्तियों का प्रकाशन होता गया है परन्तु इन तीन सर्गों में तो 'प्रसाद' ने संज्ञा को मुग्ध कर दिया है, उसे लोरी देकर सुला दिया है।

कामायनी में मन श्रद्धावृत्ति से परमानन्द तक पहुंचता है। इसी वृत्ति से शान्ति का अधिकारी बनता है। बुद्धि इसमें बाधक बनती है जिसकी पराजय होती है। मानव वृत्तियों का यह क्रमिक विकास कवि ने अपनी विशेष अनुभूति और कल्पना शक्ति से चित्रित किया है जो शाश्वत है। इसीलिए काव्य जगत में कामायनी का इतना मान है। अतः भावावेश में पक्षपात पूर्ण प्रशसा करते हुए कोई लिखता है कि अमुक को पुस्तक तुलना में कामायनी "मनोवैज्ञानिक सकेतों का बृहत सङ्कलन मात्र है" वे स्पष्ट शब्दों में 'प्रसाद' की प्रतिभा का अपमान करते हैं। कोई भी निष्पक्ष और संतुलित विचारों वाला आलोचक हिन्दी के इस गौरव ग्रन्थ पर इस प्रकार कीचड़ नहीं उछाल सकता। ऐसे आक्षेप वही कर सकते हैं, जो या तो कामायनी के महान् सन्देश एवं उसकी उत्कृष्ट कला को समझने में असमर्थ रहे हैं या उनकी आँखों पर पक्षपात एव द्वेष का चश्मा चढ़ा है।

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिए कि कामायनी के मूल में जो आध्यात्मिक तत्व है वह शैव तत्वज्ञान के आनन्दवाद के ऊपर खड़ा है।

उत्तर—इस प्रश्न के विवेचन के लिए पहले शैव तत्वज्ञान के आनन्दवाद को समझना आवश्यक है। हमारे यहाँ शैव और वैष्णव दो ही मत प्रधान रहे हैं। शिव की आलङ्कारिक गाथाओं के आवरण के नीचे उनका वास्तविक रूप छिप गया है। शिव के मस्तक पर सकल-सुधा-सार चन्द्रमा है और कण्ठ में हलाहल विष और सर्प हैं। आशुतोष होते हुए भी वे प्रलयङ्कर रुद्र भी हैं। वे अखण्ड ब्रह्मचारी और अर्द्धनारीश्वर भी है। वे

नग्न हैं, धतूरा उनका प्रिय भोजन है फिर भी वे महादेव हैं। वे गौर वर्ण हैं। उनमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अद्भुत सम्मिश्रण है। शिव के इसी रूप के उपासक शैवमत का जीवन के प्रति दृष्टिकोण वैष्णव मत से सर्वथा भिन्न है। वैष्णव मत सुन्दरम् का उपासक है। जीवन के असुन्दर और विषैले भाग के प्रति वहाँ सहानुभूति और दया मिलती है पर उसे गले का हार नहीं बनाया है। शिव स्वयं शिव हैं। वहाँ अमृत, विष, पाप, पुण्य सब शिव। वे नटराज हैं, मस्त होकर नाचते हैं। वे सौन्दर्य के पुजारी नहीं सौन्दर्य उनका अनुगामी है।

कामायनी में प्रतिपादित 'समरसता' का सिद्धान्त शिव के इसी समरस रूप पर आधारित शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर निर्भर है। वहाँ शिव शक्ति के सामरस्य से उत्पन्न आनन्द तथा उल्लास का वर्णन है। शिव और शक्ति परस्पर सङ्गठित होकर इच्छा, कर्म, ज्ञान तीनों में सामरस्य लाकर आनन्द की सृष्टि करते हैं। यह आनन्द आध्यात्मिक है। इसके अतिरिक्त वहाँ दो परस्पर विरोधी वृत्तियों—श्रद्धा और बुद्धि का भी सामरस्य है। समरता का प्रतीक श्रद्धा का पूर्ण ज्ञान जब मनु को हो जाता है तभी उनमें समरसता की भावना जगती है। उनके लिए सारा विश्व समरस अखण्ड आनन्द से पूर्ण हो जाता है। उस आनन्द को प्राप्त कर मनु को पूर्ण शान्ति और तृप्ति मिलती है। वस्तुतः यही आनन्द का वास्तविक और पूर्ण रूप है।

शिव के इस समरस रूप की साधना में श्रद्धा मनु की सहयोगिनी है। 'वासना' सर्ग की दोनों का आनन्दातिरेक 'आनन्द' के आनन्दातिरेक से कम प्रभावशाली नहीं है। वहाँ "सृष्टि हंसने लगी, आँखों में खिला अनुराग" तथा और हंसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ" इसके उपरान्त "चले दोनों स्वप्न पथ में स्नेह सम्बल साथ।" परन्तु उनके इस भोले आनन्द ने आँच के दर्शन नहीं किए थे। उसके तल पर पंक जमा था। उसके मंथन द्वारा शुद्ध करने की आवश्यकता थी। कर्म से लेकर निर्वेद तक यही मंथन चला है। 'दर्शन' में मनु को केवल शिव की झाँकी मिल जाती है—"देखा मनु ने नर्तित नटेश" पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। कर्म

से निर्वेद तक साधना के सर्ग हैं। यहाँ तक साथ रह कर श्रद्धा और मनु जो कुछ पा सके वह पा लिया। शेष के लिए उन्हें बिछुड़ना पड़ा। मनु श्रद्धा के सम्पर्क में श्रद्धालु, बने रहते। इड़ा के सम्पर्क में आकर वे संवेदन शील भी बन गए।

'रहस्य' सर्ग में कवि ने अपने शिव का रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। वह उस आवरण के भीतर के तत्व को खोज निकालना चाहते हैं। उनका उद्देश्य उसके जीवनोपयोगी रूप का उद्घाटन करना है। ऐसी विषम दार्शनिक स्थिति में भी उनका काव्य मार्गच्युत नहीं हुआ है। उसमें बोझिल पन नहीं आ पाया है। मनु समाधि लगाए बैठे है। सामने रजत धवन कैलाश है। शृङ्ग पर चन्द्रमा चमक रहा है। चरणों में मान-सरोवर है। यही तो शिव के दर्शन हैं। यहाँ प्रकृति के उन्मुक्त रूप में शिव के दर्शन हुए हैं। पाठक रक्त-माँस से निर्मित किसी भव्य मूर्ति के दर्शन करना चाहते थे। कवि ने उनके हाथ में—"मांसल सी आज हुई थी, हिमवती प्रकृति पाषाणी" पकड़ा दी। इसी सर्ग में आठो इच्छा, ज्ञान, क्रिया का विवेचन किया गया है। वास्तव में रहस्य सर्ग प्रसाद जी के दार्शनिक विचारों का एक सुन्दर संकलन है। योगियों के पंचकोष की साधना का चित्रण कवि ने अत्यन्त सुन्दर काव्यमयी भाषा में किया है।

प्रसादजी बुद्धिवादी शैव है, भावुक शैव नहीं। कोई एक जादू भरा मंत्र शिव की प्राप्ति नहीं करा सकता। उसके लिए क्रमानुसार साधना की सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के पूर्ण सामंजस्य का नाम ही शिव है। वह कोई अलग देवता नहीं। मन की इन तीन स्थितियों का नाम ही त्रिपुर है। "यही त्रिपुर है देखा तुमने, तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने।" इस त्रिपुर के तीन को तोड़कर एक कर देने का नाम ही शिव है इसी से वे त्रिपुरारि हैं। 'इड़ा पूतः' मन से श्रद्धा के पूर्ण सहयोग द्वारा ही इस त्रिपुर को तोड़ा जा सकता है।

कर्म से लेकर निर्वेद तक के सर्गों में मनु के जीवन का मंथन मात्र हुआ है। उसमें से जो इन्दु, अमृत और शंख निकले हैं वे ही इच्छा, ज्ञान और

किया है। विष भी निकला है पर वह निर्वेद में ही सूखकर रह गया है। इच्छा, क्रिया, ज्ञान का आधान मनु में इड़ा ने किया है। पर वह आधान अभी अधूरा था, क्योंकि वह समन्वित नहीं हो सका था। उसमें सामंजस्य किए बिना जीत न थी और उसके लिए श्रद्धा की आवश्यकता थी। यही कारण है कि इड़ा के बाद हम फिर श्रद्धा को पाते हैं। 'रहस्य' में यद्यपि शिव का मनोवांछित साक्षात्कार सम्पन्न हो चुका है, पर पूर्ण रूपेण नहीं। 'आनन्द' के शिव में वह कमी पूर्ण हो जाती है। संक्षेप में यही प्रसादजी द्वारा प्रतिपादित शैव तत्त्व का आनन्दवाद है। इसी के मूलाधार पर उन्होंने कामायनी के आध्यात्मिक तत्व को प्रतिष्ठित किया है।

प्रश्न ६—कामायनी में किए गए प्रकृति चित्रण को सोदाहरण समझाइए।

उत्तर—प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। वह समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य को परमात्मा के सौंदर्य की झलक मानते हैं। कभी वे उसे लीलामय की क्रीड़ा के रूप में देखते हैं और कभी परमात्मा के रहस्य को दुर्भेद रखने के लिए अवगुंठन रूप मानते हैं। कामायनी में इस भावना के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ में प्रकृति का प्रयोग मनोवेगों या कार्यों की क्रीड़ास्थली के रूप में ही अधिक हुआ है। कहीं उसने प्रकृति में ईश्वर के अनिवार्य नियमों का अनुभव किया है। कहीं प्रकृति के क्रूर और असहिष्णु रूप का चित्रण किया है और कहीं कवि ने प्रकृति में सहानुभूति और सहकारिता पाई है। नौका बिहार के समय की चचल लहरें तूफान के समय निगल भी जाती हैं। प्रातःकालीन प्राणदायक पवन घनीभूत होकर हमारा दम घोट देता है। सुन्दरी की मुस्कान के समान सुन्दर विद्युत बल्लरी कभी बज्र का रूप धारण कर और "गरल जलद की खड़ी झड़ी" में हमारा सर्वनाश कर देती है। प्रकृति के इन दो विरोधी-कोमल और कठोर रूपों के चित्र कामायनी में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। कहीं प्रकृति कुसुम से भी कोमल है और कहीं बज्र से भी कठोर।

प्रसाद जी द्वारा चित्रित प्रकृति का भयंकर रूप भयभीत करने वाला है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"अरी आँधियो ! ओ बिजली की दिवा रात्रि तेरा नर्तन" तथा—
"उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों सी;
चली आ रही फेन उगलती, फन फैलाए व्यालों सी।" और—
"करका क्रन्दन करती गिरती, और कुचलता था सबका"

इसके साथ ही प्रकृति का कोमल रूप अत्यन्त मनोमुग्धकारी और स्निग्ध है। तुषाराच्छादित पर्वत श्रेणियों एवं लता कलित शरीर के वर्णन में उनकी काव्य कला के उन्नतमय रूप के दर्शन होते हैं। उनकी रजनी विश्व कमल में अन्धकार की गुंजार भरने वाली भ्रमरी भी है, केवल अभिसारिका नहीं। सरिताएं पर्वतों के गले में पड़ी कामिनी की भुजाएं हैं। सागर की लहरें पृथ्वी की पंखा झल रहीं हैं। संध्याकालीन किरणों से रग विरंगी हिम-श्रेणियाँ रग विरंगी छींट ओढ़े हुए हैं। चांदनी रजत कुसुम की धूल उड़ा रही है तथा संध्या का मिलन प्रिय का सन्देश देता है—

"अचल हिमालय का शोभनतन, लता-कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देखता, जैसे पुलकित हुआ अधीर।"
"सध्या घनमाला की ओढ़े रग विरगी छींट"
"उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई
उधर पराजित काल रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई"

कवि की दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण है। उसने प्रकृति के सूक्ष्मतम रूप का चित्रण किया है। पर्वत शृङ्ग से हमें नीचे की वस्तु अत्यन्त लघु प्रतीत होती है। घास के मैदान चित्रपट के समान और सरिताएं रेखाओं के समान प्रतीत होती हैं। देखिए—

"हरियाली जिनकी उभरी वे, समतल चित्रपटी से लगते;
प्रतिकृतियों के बाह्य रेख से स्थिर, नद जो प्रतिपल भगते।"

रहस्य सर्ग में प्रकृति के विशालतम सौन्दर्य के दर्शन हिमालय के वर्णन

में होते हैं । स्थान स्थान पर प्रकृति में मानव भावों का आरोप भी मिलता है । सर्वत्र प्राकृतिक वातावरण का चित्रण भावानुकूल ही हुआ है (कामायनी का प्रथम सर्ग) रूपकों में भी सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग किया है । श्रद्धा के सौन्दर्य का वर्णन तो एकमात्र प्राकृतिक उपादानों से ही किया गया है । कहीं कहीं पर आलम्बन रूप में न लेकर उसे उद्दीपन में ग्रहण किया है जो नितान्त स्वाभाविक और उपयुक्त है । प्रत्येक सर्ग में कवि ने प्रकृति के साथ चेतन का सा सम्बन्ध स्थापित किया है और उसमें किसी अलौकिक सत्ता का आभास पाया है ।

आधुनिक कवि (२) सुमित्रानन्दन पन्त

प्रश्न १—पन्त जी की विचाराधारा में जो क्रमिक विकास हुआ है, उनके काव्य के आधार पर उसके मूल में निहित विचाराधारा का विश्लेषण कीजिए ।

उत्तर—कविवर पन्त की विचारधारा के विकास क्रम को समझने के हमें उन परिस्थितियों एवं वातावरणों का अध्ययन करना होगा जिनमें होकर वह निरन्तर विकास मान हुई है । उनका जन्म हिमालय के कूर्माचल प्रदेश की सुरम्य उपत्यका में हुआ था । वहाँ की उन्मुक्त प्रकृति ने इस भावुक चंचल किशोर को अनजाने ही काव्य रचना की प्रेरणा दी । उसी से "मधुवाला की मृदुबोली सी" उस हृदय को सुन्दर गुञ्जार का संग्रह 'वीणा' में हुआ, जिसके लिए कवि ने स्वयम् "यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार" कहा है । प्रकृति का एक अज्ञात आकर्षण कवि को एक अव्यक्त सौंदर्य में तन्मय कर, उसमें विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना भर देता था । प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर उसे सौंदर्य, स्वप्न और कल्पना जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया । इसी कारण पन्त की कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है । 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी न किसी रूप में है ।

प्रकृति निरीक्षण से कवि को भावनाओं की अभिव्यंजना में सहायता मिली है। उसने प्रकृति को एक सजीव सत्ता रखने वाली नारी से रूप में देखा है। साधारणतः प्रकृति के सुन्दर रूप ने ही कवि को अधिक लुभाया है। पर 'परिवर्तन' में उग्र रूप के भी दर्शन हुए हैं। कवि संघर्षप्रिय एवम् निराशावादी नहीं है। इसीसे उसके काव्य में कठोरता का अभाव है। बड़े होने पर क्रमशः कवि ने गम्भीर अध्ययन आरम्भ किया। इससे कवि की प्रतिभा एव कल्पना निखर उठी है। उस पर रवीन्द्र, शैली, कीट्स, टेनीसन आदि कवियों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसीसे कवि में शब्द चयन और ध्वनि सौन्दर्य का बोध बढ़ा। इसी से पल्लव में आगे चलकर 'वीणा' को रहस्यमय बालिका अधिक माँसल बन कर मुग्धा का रूप धारण कर जीवन के प्रति अधिक निवेदनशील बन गई। 'वीणा' और 'पल्लव' तक कवि को प्रकृति की महत्ता पर पूर्ण विश्वास था। कालान्तर में स्वामी रामतीर्थ एवं विवेकानन्द के अध्ययन से प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में वृद्धि हुई। प्राकृतिक दर्शन से मनुष्य भाग्यवादी बन कर निष्क्रय हो जाता है अतः वह त्याज्य है। 'परिवर्तन' नामक कविता कवि के इसी मानसिक परिवर्तन की द्योतक है।

दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन से कवि निराशा और उदासीनता में डूब गया। उसे जन्म में मृत्यु और वसन्त में पतझड़ के दर्शन होमें लगे "खोलता इन्धर जन्म लोचन मूंदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण"। इसी विचार धारा से प्रभावित होकर 'पल्लव' के सुन्दरम् के स्थान पर 'गुंजन' में शिवं की प्रतिष्ठा हुई। कवि अन्तर्मुखी हो उठा। शिवम् के साथ सत्यम् अज्ञात रूप से आ गया। अपने युग के आदर्शों में अविश्वासी बन कर कवि भावुक से बुद्धिजीवी बन गया। इस प्रकार उसकी प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्य प्रधान से भाव प्रधान और फिर ज्ञान प्रधान हो गई। उसमें आत्मकल्याण और विश्व कल्याण की भावना तीव्र हो गई। अब तो "कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख।" यहीं से कवि की काव्यसाधना का दूसरा युग प्रारम्भ हो गया। भाषा में भी सौंदर्य का अभाव हो गया। ज्योत्स्ना और गुंजन तक कवि की भाषा

सौन्दर्य प्रधान रही।

'युगान्त' में कवि का विश्वास प्राचीन के प्रति नष्ट कर नवीन के प्रति बढ़ गया। इसीसे 'युगवाणी' में कवि के मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामों का समन्वय हुआ। इसमें भौतिक वाद और मार्क्सवाद के साथ अध्यात्मवाद का भी अद्भुत समन्वय किया। कवि ने अध्यात्मवाद और भौतिकवाद की प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण किया। इसी कारण युगान्त और युगवाणी में चिन्तन का प्राधान्य है। इसमें कवि मध्ययुगीन सामन्ती संस्कृति के अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से छुटकारा पाने की घोषणा करता है। इन्हीं विचारधाराओं ने युगवाणी के उपरान्त ग्राम्या को जन्म दिया। युगवाणी प्रगतिवादी पन्त का सिद्धान्तवाक्य था और ग्राम्या उसका प्रयोग। युगवाणी में कवि अपने नवीन सिद्धान्तों की रूपरेखा निश्चित कर रहा था। ग्राम्या तक वे सिद्धान्त स्थिर हो चुके हैं। परन्तु पन्तजी का ग्राम्य दर्शन बौद्धिक सहानुभूति के आश्रित है। उसमें ग्राम्य जीवन का निरीक्षण और आलोचन है, निमग्नका नहीं। कवि एक तटस्थ दर्शन की भाँति दूर से खड़ा देख रहा है। उसके लिए ग्राम्य जीवन "यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित"।

कवि इस बौद्धिक सहानुभूति के कारण दोनों पहलुओं का सन्तुलन विवेचन करता हुआ अपने आलोच्य की कल्याण कामना करता है। कवि इस जीवन में घुल मिल नहीं पाया है क्योंकि उसका मानसिक अथवा बौद्धिक जीवन सक्रय रहा है। और भौतिक जीवन सघर्ष से नितान्त दूर रहा है। इसीसे वह उसमें निमग्न नहीं हो सका है। युगान्त में छायावाद के युग के अन्त की सूचना देकर कवि प्रगतिवाद के अरुणोदय का सन्देश देता है। युगवाणी से पंत के काव्य का पुनर्जन्म हुआ है। इसमें उन्होंने शोषित वर्ग के मार्क्सवाद को अपनाया। युगवाणी को एक प्रकार से काव्य में मार्क्सवाद का रूपान्तर मान सकते हैं। यहाँ आकर "युग युग के बन्दीगृह से मानवता निकली बाहर।" यहाँ आकर उनके छन्द के बन्धन भी अनायास खुल गए और उनका गीत मुक्त हो गया। युगवाणी में मार्क्स, भूत-दर्शन, साम्राज्यवाद, गांधीवाद, मध्यमवर्ग, कृषक आदि को अपना विषय बनाया।

इसी कारण तरुण कवि नरेन्द्र पंत को "वर्गहीन बुद्धिहीन" मानते हैं क्योंकि उन्होंने व्यक्तिवाद को ठुकराया है।

इस काल में पत की प्रेरणा इतनी बलवती रही कि ग्राम्या जैसी पुस्तक उन्होंने तीन महीने में पूरी की। इस कायाकल्प से पन्त के काव्य में नया बल और पौरुष आया। इसमें कवि ने छायाजग के सौन्दर्य को त्यागकर यथार्थ की कुरूप काया को अपनाया। इस प्रकार युगवाणी और ग्राम्या में उनकी कविता आधुनिक युग के साथ आ गई। उन्होंने प्रगतिवाद को अपनाया। इस प्रकार युगवाणी और ग्राम्या में उनकी कविता आधुनिक युग के साथ आ गई। उन्होंने प्रगतिवाद को उपयोगितावाद का समानार्थी मान कर छायावाद का खण्डन किया। "छायावाद के शून्य सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर लालहीन विराम करने वाली कल्पना" को उन्होंने इस उपयोगिता वाद में "एक हरी भरी ठोस जनपूर्ण धरती" प्रदान की।

परन्तु कवि की यह बौद्धिक सहानुभूति न तो उसे हो सन्तोष दे सकी और न उसकी कला को। स्वभाव से कोमल एव जनभीरु कवि की आत्मा प्रगतिवाद के इस ऊबड़ खाबड़ मार्ग पर दूर तक न चल सकी यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र थी। इस कारण केवल युगवाणी और ग्राम्या तक ही कवि के इस परिवर्तित रूप के दर्शन हुए। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृति सस्कार फिर उभर आए और कवि वस्तु जगत की विभीषिका से संत्रस्त होकर पुनः आत्मा की ओर प्रवृत्ति हुए। वह अधिक काल तक आत्मा की अवहेलना न कर सके। क्योंकि उनकी दृष्टि में—

"सामाजिक जीवन में कहीं महत् अन्तर्मन,
वृहत विश्व विश्वास, चेतना गीता किंतु चिरतन।"

यह परिवर्तन सर्व प्रथम "स्वर्ण किरण" में दिखाई दिया। फिर आगे के संग्रहों में वह अधिकाधिक पुष्ट होती गई। वे लोक सङ्गठन के साथ ही साथ उच्च सांस्कृतिक आन्दोलन को मानवता के कल्याण के लिए अनिवार्य समझने लगे। स्वर्ण किरण 'स्वर्ण धूलि' तथा 'उत्तरा' में कवि की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

संक्षेप में हम पंत की विचारधारा के विकास क्रम का विवेचन करते हुए उसे चार भागों में बाँट सकते हैं। (१) छायावादी, (२) रहस्यवादी, (३) प्रगतिवादी, (४) अध्यात्मवादी। छायावाद का पूर्ण प्रतिनिधित्व पल्लव और गुञ्जन में मिलता है। पत जी साधक नहीं हैं, दार्शनिक का काम भी गौण रूप से करते हैं, वे प्रधानतः कलाकार हैं इसलिए उनमें रहस्यात्मक भावना का कहीं-कहीं आभास मिलता है। गुञ्जन में रहस्य भावना अधिक गहरी है। युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में प्रगतिवादी पन्त के दर्शन होते हैं और अन्त में स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि तथा उत्तरा में वह पुनः अध्यात्म-वादी बन कर मानव सस्कृति के उच्चतम स्तर की कामना करते हैं। इन सम्पूर्ण विचारधाराओं पर उनके विभिन्न प्रकार के अध्ययनों का प्रभाव पड़ा है। इसी से उन्होंने लिखा है "मेरी कल्पनाओं को जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, इन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है।"

प्रश्न २—पन्त जी के काव्य में व्यञ्जित छायावाद और रहस्यवाद की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर—कबीर, अथवा जायसी के समान कोई विशेष उद्देश्य न होने के कारण हम पन्त जी के काव्य में निहित रहस्यवाद को किसी सम्प्रदाय विशेष का रहस्यवाद नहीं मान सकते। उनका रहस्यवाद स्वाभाविक है। जगति को देखकर जैसी जिज्ञासा प्रत्येक अनुभूतिशील प्राणी में उठती है वैसी ही पन्त की जिज्ञासा है। पन्त जी सहज सौन्दर्य के आकर्षण से अविभूत हो उठते हैं। इसी कारण प्रकृति के सहज सौन्दर्य में उन्होंने उम असीम की अव्यक्त सत्ता का आभास पाया है। अपने काव्य में उन्होंने उस असीम की अव्यक्त सत्ता आभास पाया है। अपने काव्य में उन्होंने उस असीम को प्रियतम मानकर अपनी आत्मा को नारी रूप माना है। पन्त जी नारी रूप के उपासक हैं जिसमें कोमलता, रमणीयता, और आकर्षण प्रधान होता है। उनकी नारी के अनेक रूप हैं। वह कहीं प्रेयसी, कहीं या कहीं सहचारिणी और कहीं उपदेष्टा है। वह भुवन मोहिनी है। पन्त ने अपने काव्य में उसके इसी अपरूप सौन्दर्य को कल्पना

में बाँधकर सत्कार करना चाहा है। अपनी अस्पष्टता के कारण इसीलिए वह छायावाद कहलाया।

उनके रहस्यवाद में कोरा ज्ञानवाद नहीं है। उसमें भक्ति की मधुर भावना है। उस परोक्ष शक्ति को उन्होंने नारी के विभिन्न कोमल रूपों में देखा है। कहीं-कहीं तो पन्तजी ने अपने बालिका और असीम को माता मानते हुए अपनी जिज्ञासा की है। उनकी इस जिज्ञासा में कुतूहल है, आश्चर्य नहीं, सरलता है, वक्रता नहीं। पन्त जी स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह को छायावाद मानते हैं रीतिकालीन नारी के सौन्दर्य के प्रति स्थूल एवं मांसल दृष्टिकोण को उन्होंने अन्तर्जगत की ओर प्रेरित किया, नारी के करुण हृदय सौन्दर्य देखा वह नारी के बाह्य सौन्दर्य पर न रीझ कर उसके हृदय का सौन्दर्य के प्रति आकर्षित हुए। प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों के साथ उनका सीधा सम्बन्ध है। इसी कारण उनका रहस्यवाद धर्ममूलक न होकर कलामूलक है।

पन्तजी की युगान्त तक की रचनाओं में छायावाद के साथ ही साथ रहस्यवाद की भी झलक मिल जाती है। उनके प्रारम्भिक काव्य में छायावाद की सम्पूर्ण विशेषताएँ समाहित हैं परन्तु युगान्त के उपरान्त युगवाणी और ग्राम्या में वह छायावाद को अनुपयुक्त समझ कर प्रगतिशील बन गए हैं। छायावाद का पूर्ण प्रतिनिधित्व 'पल्लव' और 'गुंजन' में मिलता है। इसमे छायावाद की शैली तथा प्रवृत्तियों के अत्यन्त विकसित रूप के दर्शन होते हैं। 'युगान्त' उनके परिवर्तित दृष्टिकोण का प्रतीक है जिसमें छायावाद के अन्त की सूचना है। छायावाद के इस पतन का कारण बताते हुए पन्त जी ने लिखा है—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसमें इस भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौंदर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न बनकर अलंकृत संगीत बन गया था। इसी कारण उसमे नए युग की सामजिकता और विचार धारा का समावेश नहीं हो सका।"

रहस्यवाद के क्षेत्र मे पन्त का विशेष स्थान नहीं है। रहस्यवादी प्रधानतः दार्शनिक और साधक होता है, कवि गौण रूप से। न्यूनाधिक

मात्रा में ब्रह्म जिज्ञासा प्रत्येक छायावादी अथवा भक्त कवि में मिलती अवश्य है। पन्त प्रधानतः कवि हैं, दार्शनिक पीछे और साधक तो बिल्कुल ही नहीं। उसमे रहस्य भावना का आभास मात्र मिलता है। कभी-कभी अनन्त की जिज्ञासा के रूप में वे लिख देते हैं—

"मैं चिर उत्कठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल।"

प्रश्न ३—पन्त जी के प्रकृति चित्रण पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—पन्त जी कोमल भावनाओं के कवि हैं। इस सुकुमार कवि का लालन पालन हिमालय के कुर्माचल प्रदेश की सुरम्य उपत्यका में हुआ था। उन्मुक्त प्रकृति से निकटतम सम्बन्ध होने के कारण यह प्रकृति के अनन्य मित्र बन गए। इन्होंने कभी प्रकृति को त्रस्त, कभी संतप्त, कभी प्रफुल्लित और कभी उल्लास एवं अनुराग में पूर्ण देखा है। इनकी प्रकृति मानव के साथ मिलकर एक रूप हो जाती है। वह स्वयं प्रकृति में घुल मिल जाना चाहते हैं। मधुकरी का मधुर राग उन्हें मुग्ध करता है। वह उससे प्रार्थना करते हैं—"सिखा दो न हे मधुप कुमारि,

मुझे भी अपने मीठे गान।"

पंत जी प्रकृति के वैभव के प्रति आकर्षित होते हैं, उसमें मधुर स्वर्ग है, जहाँ जीवन की समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

कवि की प्रारम्भिक रचना वीणा में उनका मन मानव सौन्दर्य की संकुचित सीमा में आवद्ध न रह कर प्रकृति के रम्य रूप के प्रति आकर्षित होता है। इस रचना में कवि के उद्‌गारों में शिशु का सा भोलापन है, प्रकृति के प्रत्येक व्यापार के प्रति उनके यन में आश्चर्य के भाव उदित होते हैं। उषा उनके हृदय में उत्साह भर देती है, शीतल समीर ओस विन्दु और प्राची की सुवर्ण छवि उन्हें विमुग्ध कर देती है। अचानक बाल विहंगिनी का स्वर्गिक गान सुनकर कवि आश्चर्य चकित हो प्रश्न करता है—"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना? प्रकृति में व्याप्त आकर्षण और स्नेह सूत्र के आधार पर कवि भी एक प्रेयसी की कल्पना कर लेते हैं। वीणा, ग्रन्थि

आदि के भोलेपन के उपरान्त पल्लव, गुंजन और युगान्त में क्रमशः कवि की मादकता और प्रौढ़ता प्रदर्शित होती है। उसका प्रकृति प्रेम गम्भीर होता जाता है। वह प्रकृति में उपदेश, महान् सन्देश तथा अज्ञात प्रियतम का प्रतिबिम्ब देखने लगता है।

अब कवि में कौतूहल नहीं रह जाता। प्रकृति प्रेम अनेक रूप ले लेता है। "बांसो का झुरमुट" आदि मे प्रकृति का कोमल और सहज स्वाभाविक चित्रण करते है। वह केवल प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य पर ही मुग्ध नहीं हैं। उनकी इन्द्रयाँ भी प्रकृति में पूर्ण अनुरक्त हैं। रंग विरंगे दृश्य, मधुर स्वर एवं शीतल वायु उन्हें आन्दोलित कर देते हैं। अधिकांश चित्रण इसी कारण कोमल रूप में ही हैं। 'परिवर्तन' नामक कविता में प्रकृति के उग्र एवं रौद्र रूप के भी दर्शन होते हैं। इन विभिन्न चित्रणों की विशेषता यह है कि इनमें कहीं भी वस्तु परिगणन शैली को नहीं अपनाया है। साधारण से साधारण दृश्य का कवि भावुकता के द्वारा कल्पनापूर्ण साकार चित्र उपस्थित कर देता है। वहाँ कवि और प्रकृति एक रूप हो जाते हैं और वह प्रकृति में मानव आकृति, मानव क्रिया और मानव भावों का आरोप करता है। 'नौका बिहार' की तन्वंगी बाला के रूप में गंगा का कितना सुन्दर मानवीकरण किया गया है—"सैकत सैया पर... अचल सा नीलाम्बर"। इसके साथ ही प्रकृति में कवि मृदुलता, कोमला और भावुकता के भी दर्शन करता है। प्रकृति मानव के साथ रोती, गाती हँसती है। वह माँ के समान ममतामयी और स्नेह शीला है। चन्द्रिका को कवि विश्व के साथ जागते और आँसू बहाते देखता है—

"जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन बाला
रे कब से जाग रही है वह आँसू की नीरव माला।"

प्रकृति की सेवा और आत्म बलिदान देखकर कवि उत्साहित एवं आश्चर्य चकित हो कहता है— "महत् है, अरे आत्म बलिदान" कलिका का खिलकर मुरझा जाना यह उपदेश देता है कि हमें दुःख को भी हंस कर सहना चाहिए। परन्तु मानव इस उपदेश को ग्रहण करने में असमर्थ पाता है-

"वन की सूखी डाली पर सीखा कलि ने मुसकाना

मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना ।"

इस प्रकार प्रकृति से ममत्व, स्नेह, उत्साह और उपदेश पाकर और मानव प्रकृति के उल्लसित रूप को देखकर अपनी अन्तर्वेदना को भूल जाता है ।

प्रतिकूल परिस्थिति में पन्त ने यह सिद्ध किया है कि मानव विषम परिस्थिति में प्रकृति के प्रति विराग का अनुभव करता है । उस समय उसे प्रकृति के मधुर रूप के प्रति आकर्षण नहीं रहता । वह उसके विराग या दुख को और भी उद्दीप्त करती है । 'काली कोकिल' कवि के उर में "स्वरयमी वेदना का अंगार" सुलगाती है और "आया बसन्त, घोषित दिगन्त करती, भर पावक की पुकार" वर्षा ऋतु भी उसे दुग्ध करती है । वह प्रकृति में चतुर्दिक विरह वेदना को व्याप्त देखता है । प्रेममार्ग को कंटकाकीर्ण देख कर कवि को आत्मतुष्टि होती है और वह आध्यात्म की ओर उन्मुख हो जाता है । यहाँ आकर वह प्रकृति में व्याप्त किसी चेतन शक्ति का दर्शन करने लगता है । वह उत्कठातुर होकर पुकार उठता है— "मैं चिर उत्कंठातुर" यह उत्कंठा क्यों है ? कवि यह समझने में असफल रहता है कि "जगती के अखिल चराचर यों मौन मुग्ध किसके बल ।" गहन निरीक्षण से वह समस्त सृष्ठि को एक सूत्र में गुम्फित पाकर, उसके प्रेरक "परम तत्व" के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठता है । और वह आत्मा परमात्मा के तादात्म्य बोध की रसमयता से आप्लावित हो कह उठता है— "एक हू मैं तुम से सब भाँति जलद हूँ मैं यदि तुम हो स्वाँति ।" इस प्रकार आत्मा परमात्मा के महामिलन में इनकी प्रकृति की आध्यात्मिक प्रेरणा का अन्त होता है ।

प्रकृति को अलङ्कार में कवि ने बहुत महत्व दिया है । सौन्दर्य के व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने प्रकृति के क्षेत्र से अनेक नवीन उपमान ढूँढ निकाले हैं । परम्परागत उपमानों प्रयोग नवीन लाक्षणिकता के साथ किया है । अन्योक्ति, उपमा और रूपक उनके प्रिय अलङ्कार हैं । 'पवन गीत नामक कविता में उपमा और रूपक का सुंदर निर्वाह हुआ है । कवि का अमूर्त विधान बड़ा चमत्कार पूर्ण है । बादलों को ऊपर उठते हुए, एक साथ उमड़ते हुए और नभमण्डल में फैलते हुए देखकर कवि

अमूर्त भावना को अप्रस्तुत विधान में रखकर प्रस्तुत अप्रस्तुत की क्रिया में साम्य प्रकट करते हैं—

"धीरे धीरे संशय से उठ, बढ़ अपयश से शीघ्र अछोर-
नभ के उर में उमड़ मोह से फैल लालसा से निशि भोर ।"

प्रकृति प्रेमी पन्त को पहले हम प्रकृति के चिर सखा के रूप में देखते हैं। वह प्रकृति को छोड़कर मानव सौन्दर्य की सीमा में बन्दी होना नहीं चाहते हैं—"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया,
वाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ।"

किन्तु आगे चलकर युगान्त' में कवि मानव सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हुआ है। उसकी दृष्टि में—सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर" परन्तु "मानव तुम सबसे सुन्दरतर"। आगे ग्राम्या और युगवाणी में कवि दीन हीन-जन के सौन्दर्य को अपनाते हैं। वहाँ तो—"कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख" क्योंकि 'भव अभाव से जर्जर प्रकृति उसे देगी सुख। ग्राम्या में कवि प्रकृति के शोभन प्रदेश से उतर कर "आज असुन्दर" के अनुसार ग्राम के ऊँचे नीचे खेत, ककरीले टीले आदि का चित्रण करता है। अब वह प्रकृति में केवल सुन्दरम् ही नहीं देखता अपितु शिवत्व भी खोजाता है। यहाँ उसका यथातथ्य चित्रण चलता है।

"गजी को मार गया पाला, अरहर के फूलो को झुलसा ।।"
हाँका करती दिन भर बन्दर, अब मालिन की लड़की तुलसा।

प्रश्न ४—क्या पन्त जी की उत्तरकालीन कृतियो (ग्राम्या और युगवाणी, में कला का अभाव है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

उत्तर—पन्तजी की रचनाओं में 'ग्रन्थि' से 'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना' और युगान्त' में उनकी कोमल कला के दर्शन हुए थे। युगान्त से पूर्व उन्होंने जिस रम्य पथ का अनुकरण किया था वह 'पराग' से अकीर्ण' था इसलिए उनकी कविता को, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में, "लघु लघु चरणों से" चलते देख सुख होता था। परन्तु युगान्त में उन्होंने उस रम्य पथ त्याग कर जन-जीवन का बीहड़ मार्ग

पकड़ा, जिसके अनेक खाई-खड्डे और झाड़ झंखाड़ हैं। युगवाणी और ग्राम्या में पन्त के इस परिवर्तित रूप के दर्शन हुए। इसमें बौद्धिक प्रधानता होने के कारण कला का रूप मन्द पड़ गया। कवि कला की उपासना भूल कर मानव की उपासना में रत हो गया। छन्द, अलङ्कार, भाषा सर्वत्र एक अशोभनीय परिवर्तन दिखाई दिया, जिसमें केवल विचार थे और उन्हीं के अनुसार साधारण भाषा एवं छन्द।

विचारधारा के इस परिवर्तन के द्वारा पन्त के काव्य में नया बल और पौरुष आया। उन्होंने नवीन ध्वनियों और ताल लय का आविष्कार किया। वीणा और पल्लव में उन्होंने खड़ीबोली को नई माधुरी और सङ्गीत दिया था। पल्लव में काव्य के अनेक गुण थे, जो युगवाणी और ग्राम्या में लुप्त हो गए। सुकुमार कल्पना, कोमलता, स्वप्निल भावुकता आदि छायावादी काव्य के गुण, इस काव्य जीवन के प्राण थे। युगवाणी और ग्राम्या में पन्त ने छाया जग के सौन्दर्य को छोड़ यथार्थ की कुरूप काया को अपनाया। कोमलता का स्थान कठोरता ने लिया और अरूप का रूप ने। इन्द्रधनुष, विद्युत, ज्योत्स्ना, उषा, सन्ध्यादि का स्थान पीले पत्ते, टूटी, टहनी; छिलके, कङ्कड़, पत्थर कूड़ा-करकट आदि ने लिया।

इस नये काव्य में पन्त ने टेकनीय के नए नए प्रयोग किए। खिड़की से" नामक कविता में वह नई ताल और लय अपने सङ्गीत में भर रहे हैं—

"पूस निशा का प्रथम प्रहर; खिड़की से बाहर।
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्र वन सोया क्षण भर॥
दिन का भ्रम होता, पूनों से तृण तरुओं पर।
चाँदी सी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़॥"

क्रान्तिवादी पन्त अब प्रकृति में उलझकर खो नहीं जाते। उन्होंने 'सन्ध्या' का वर्णन अनेक बार किया है किन्तु इस 'साँझ' का वर्णन जितने मांसल सौन्दर्य से परिपूर्ण है उतना उनकी अन्य कविताओं में दुर्लभ है—

"सिमटा पङ्ख साँझ की लाली, जा बैठी अब तरु शिखरों पर।
ताम्रपर्ण पीपल के शतमुख, झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर॥

ज्योति स्तम्भ सा धँस सरिता में, सूर्य क्षितिज पर होता ओझल।
बृहद् जिह्म विश्लथ कैंचुल सा, लगता चितकबरा गङ्गाजल॥"

भाषा के क्षेत्र में भी परिवर्तन दिखाई पड़ा। मार्क्सवादी पन्त सर्वहारा के सांस्कृतिक प्रतिनिधि बन रहे थे। अतः यह स्वाभाविक था कि संस्कृत से बोझिल छायावादी भाषा का त्याग कर वह बोलचाल की भाषा अपनावे। ग्राम्या में उन्होंने प्रेमचन्द की सी ठेठ मुहाविरेदार भाषा का प्रयोग किया है। इस युग को गद्य युग मानकर उन्होंने युगवाणी को गद्यगीत के रूप में लिखा। यहाँ आकर कवि ने अपनी वाणी का कार्य "जन मन विचारे" वहन कर सकना ही माना है। उनका कहना है—"विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों को ही प्राधान्य मिलना चाहिए।" परन्तु प्रमुख रूप से कलाकार हैं। उनके हाथों में यह नवीन प्रगतिवादी काव्य भी कलाहीन न रह सका। ग्राम्या इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पन्त, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, प्रमुख रूप से कलाकार हैं। उनकी इन नवीन रचनाओं—ग्राम्या और युगवाणी—में यद्यपि प्रगतिवादी की यथार्थता और नीरसता के कारण सौन्दर्य और कला का यथेष्ट ह्रास हुआ है परन्तु फिर भी उनके प्रकृत कलात्मक संस्कार पूर्णरूपेण दब नहीं पाए हैं। युगवाणी में तो कवि ने जान-बूझ कर कला को गौणता प्रदान कर प्रगतिवादी बनने का प्रयत्न किया है और वह उसमें कुछ अंशों में सफल भी हुआ है। परन्तु 'ग्राम्या' कवि के अनजान में कला अपना स्वरूप बदल कर आ छिपी है। ग्राम्या में के विभिन्न चित्रणों में कला का पूर्ण संयोग है। यदि हम किसी दूसरे प्रगतिवादी कवि की रचनाओं की तुलना ग्राम्या से करें तो यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। कटुता होते हुए भी ग्राम्या की कविता में सरसता और कोमलता है। उसमें ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि का कलाकार प्रगतिवाद के कृत्रिम बोझ को उठाकर फेंक देना चाहता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पन्त जी की उत्तरकालीन कृतियों में अपेक्षाकृत कला का ह्रास हुआ अवश्य है परन्तु पूर्ण रूप से नहीं।

प्रश्न ५—पन्त जी की नवीनतम कृतियों के दृष्टिकोण को समझाइए।

उत्तर—हम पिछले प्रश्न में कह आए हैं कि पन्त जी प्रधानतः कवि और कलाकार हैं। युगवाणी और ग्राम्या उनके हृदयस्थ कलाकार को पूर्ण रूप से दबाने में असमर्थ रहीं। कारण यह था कि प्रगतिवाद के प्रति कवि की सहानुभूति केवल बौद्धिक थी। यह बौद्धिक सहानुभूति न तो कवि को ही सन्तोष दे सकी और न उसकी कला को। स्वभाव से कोमल एवं जन भीरु कवि की आत्मा प्रगतिवाद को ऊबड़ खाबड़ मार्ग पर दूर तक न चला सकी। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। इस कारण केवल युगवाणी और ग्राम्या में ही कवि के इस परिवर्तन रूप के दर्शन हुए। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार फिर उभर आए और पन्त जी वस्तु जगत की विभीषिका से संत्रस्त होकर पुनः आत्मा की ओर प्रवृत्त हुए। वह आत्मा की अवहेलना अधिक काल तक नहीं कर सके। उनका नवीन दृष्टिकोण था कि—

"सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन।
बृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरन्तन॥"

उनकी नवीनतम कृतियों—स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा में उनके इसी परिवर्तित दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं।

इस परिवर्तन के फल स्वरूप पन्त जी ने भारत के प्राचीन दर्शन की आध्यात्मिकता में पहुँचकर भविष्य में निर्मित होने वाले समाज की कल्पना-रचित रूपरेखा उपस्थित करने का प्रयास किया। इस प्रवृत्ति के दर्शन सर्वप्रथम 'स्वर्ण किरण' में हुए। फिर आगे के संग्रहों में यह प्रवृत्ति अधिकाधिक पुष्ट होती गई। इसी बीच में कवि भयङ्कर रोग के शिकार बने। यह शारीरिक अस्वस्थता की मानसिक प्रतिक्रिया थी। उनके समक्ष मनुष्य की भौतिक असमर्थता की पोल खुल चुकी थी। इस कारण वे लोक संगठन के साथ ही साथ उच्च सांस्कृतिक आन्दोलन को मानवता के कल्याण के लिए अनिवार्य समझने लगे। 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा' में कवि की यही प्रवृत्ति पाई गई।

'स्वर्ण-किरण' के प्रकाशन पर प्रगतिवादी आलोचकों ने पन्त को प्रति-

गामी कहना प्रारम्भ किया। परन्तु यह कवि का वास्तविक रूप था। युगवाणी और ग्राम्या में कवि के कृत्रिम रूप के दर्शन हुए थे। पन्तजी की नवीन कविताएँ आशा से पूर्ण हैं। उनमें जन संस्कृति के वैभव का सूक्ष्म सौन्दर्य अङ्कित है। साथ ही वर्तमान संघर्ष से ही नए समाज को देखने की चेष्टा की गई है। यहाँ वह रूढ़िग्रस्त विचारों से मुक्त हैं।

प्रश्न ६—पन्तजी पर पड़े विभिन्न प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर—हिमालय के उन्मुक्त प्राँगण में बाल्यकाल व्यतीत करने के कारण सर्वप्रथम प्राकृतिक सौन्दर्य की गहरी छाप पन्तजी के साहित्य पर दिखाई पड़ती है। उन्होंने स्वयं लिखा है—"कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली.... प्रकृति के साहचर्य ने जहा एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहा दूसरी ओर जनभीरु भी बना दिया।" जहाँ तक उनके साहित्यिक अध्ययन से प्रभावित होने का प्रश्न है, उन्होंने स्वयं लिखा है कि, "स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृतिप्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई है।" इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में पन्तजी इन दो महापुरुषों से अत्यधिक प्रभावित हुए।

कला के साहचर्य से सौंदर्य का चित्रण यूरोप की विशेषता रही। पन्तजी भी इससे बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने सौन्दर्य चयन को अपने जीवन का लक्ष्य माना है। अङ्गरेजी कवियों में पन्तजी शैली, कीट्स, वर्ड्स्वर्थ और टैनीसन से विशेष रूप से प्रभावित हैं। उन्हीं के शब्दों में, "इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। .... पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का स्लोगन (नारा) रहा है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन युग की, सौन्दर्य कल्पना को ही परिधानित किया है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करता हूं।"

इसके अतिरिक्त देश की बदलती हुई परिस्थितियों ने भी पन्तजी को प्रभावित किया है। वे गांधीवाद और समाजवाद दोनों के मध्य की कड़ी

माने जाते हैं। उन्होंने आमूल चूल इन दोनों को न अपनाकर मध्यम मार्ग ग्रहण किया है। उन्होंने दोनों की कल्पनामयी भावना को ग्रहण कर 'अन्योन्याश्रय' सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। उन्होंने युग के साथ-साथ अपनी विचारधारा में भी परिवर्तन किया है। वे छायावादी से रहस्यवादी, फिर गाँधीवादी से समाजवादी, फिर प्रगतिवादी से पुनः अध्यात्मवादी बन गए हैं। अन्तिमस्वरूप उनका प्रकृत स्वरूप है।

अपरा (निराला)

प्रश्न १—निराला जी की काव्य साधना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—निरालाजी वर्तमान काल के कवियों में विद्रोही कवि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व एवं तीव्र प्रतिभा द्वारा साहित्य में प्रचलित सभी रूढ़ियों का विरोध पूर्ण निर्भयतापूर्वक किया है। इसका इन्हें मूल्य भी बहुत चुकाना पड़ा है। इनके विरोधियों ने सगठित होकर इन्हें सदैव बदनाम करने की चेष्टा कर जनता की दृष्टि में गिराने का प्रयत्न किया। परन्तु निराला जी साहस पूर्वक इन सभी आक्रमणों को झेलते गए। आज हिन्दी संसार ने उन षडयन्त्रकारी विरोधियों की पूर्ण उपेक्षा कर इस महान् कलाकार का सम्मान कर उसे अमर स्थान प्रदान किया है। सक्षेप में निराला जी हिन्दी साहित्य की अमर विभूति हैं।

निरालाजी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कलाकार माने जाते हैं। उन्होंने कुछ पत्रों—मतवाला, समन्वय आदि—के सम्पादन के अतिरिक्त लगभग ५४ ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें काव्य, उपन्यास, कहानी सग्रह, रेखाचित्र, अनुवाद, जीवनियाँ और आलोचनात्मक निबन्ध सग्रह सभी कुछ हैं। परन्तु इन सभी रूपों में निरालाजी का कवि रूपों में निराला जी का कवि रूप ही सब से श्रेष्ठ है। कारण यह है कि उन्होंने दो प्रकार का साहित्य रचा है। एक धन कमाने के लिए जिसमें विभिन्न अनुवाद, उपन्यास, जीवनियाँ आदि हैं। इनमें उनकी प्रतिभा का विकास नहीं हो पाया है कि ये भाड़े की रचनाएं हैं। उनकी वास्तविक प्रतिभा का विकास उनकी

कविता एवं आलोचनात्मक निबन्धों में हुआ है। आलोचना अत्यन्त गहन एवं दार्शनिक होने के कारण प्रचार नहीं पा सकी है। उनका काव्य तो अपने ओज गुण के कारण अद्वितीय ही है। अपने इस रूप में उनकी गणना हिन्दी साहित्य के शीर्ष स्थानीय कलाकारों में की जाती। उनके काव्य पर बङ्गला साहित्य का प्रभाव पड़ा है। दार्शनिकता उनकी एक विशेषता है। अद्वैतवाद की जटिल और संस्कृतिमयी विचारधारा का सरस-सहज प्रकाशन उनकी रचनाओं में अत्यन्त सफलता पूर्वक हुआ है। भावों की व्यजना विशद और प्रभावोत्पादक है। उनकी सौन्दर्य दृष्टि अत्यन्त प्रखर, सूक्ष्म और व्यापक है। इसी कारण उनके जीवन जगत और प्रकृति के अनेक चित्र उनकी अन्तर्भावना के समान ही बन पड़े हैं।

निरालाजी का कवि जीवन 'अनामिका' नामक काव्य संग्रह से प्रारम्भ होता है। इस पुस्तक में सर्वप्रथम मुक्तक छन्द स्वच्छद छन्द का प्रयोग मिलता है। अपने प्रारम्भ से ही कवि रूढ़ि मुक्त दिखाई देता है। जीवन के मध्यान्ह में उनका झुकाव छन्दोबद्ध सङ्गीतात्मकता की ओर अधिक रहा। 'परिमल' में इस परिवर्तन के दर्शन हुए। इस युग में काव्य क्षेत्र के अन्तर्गत भावना की प्रधानता हो चली थी परन्तु निरालाजी की बौद्धिक प्रक्रिया ने उनका साथ नहीं छोड़ा। उन्होंने बुद्धि और भावना दोनों का समन्वय कर दिया। अपने काव्य-जीवन के तृतीय प्रहर में उनका झुकाव दर्शन की ओर अधिक हो गया परन्तु शृंगार के प्रति अनुराग भी रहा। इस युग के गीतों में मधुर भावों की सफल व्यंजना है। इसमें भाव, कल्पना, मस्तिष्क और हृदय सबका समन्वय है। इस युग की रचनाएं क्लिष्ट कल्पना से दूर रहीं। उनमें प्रौढ़ता आ गई थी। अपने काव्य जीवन के अन्तिम प्रहर में आकर आप प्रगतिवादी बन गए उन्होंने अपने अनेक रेखाचित्रों एवं व्यग्य पूर्ण कविताओं में पूंजीपतियों के प्रति घृणा प्रकट की है। वह अभी तक अपने इसी नवीन मार्ग पर चले आ रहे हैं। प्रगतिवाद को निरालाजी से बहुत बल मिला है।

रचनाओं के दृष्टिकोण से हम निरालाजी की रचनाओं को पाँच भागों

में विभाजित कर सकते हैं। १—विशुद्ध प्रगतिवादी रचनाएं—इनमें प्रकृति, देश प्रेम एवं करुणा से ओतप्रोत कविताएं हैं। परिमल और गीतिका नामक संग्रहों में ये रचनाएं संग्रहीत है। इनमें संगीत है। भाषा का सौन्दर्य है और साथ ही दार्शनिक विचारधारा का भी समावेश है। इनमें वेदना है, व्यथा है, चिन्तन है और अलङ्कारों के साथ ही माधुर्य है। 'जुही की कली' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध कविताएं हैं। २—दार्शनिक रचनाएं—इनमें निराला जी की अद्वैतवादी विचार धारा का प्रदर्शन है। उनका मत है कि माया से आच्छादित हमारी आत्मा शुद्ध ज्ञान द्वारा मुक्त एवं निर्मल होकर परमात्मा से तादात्म्य प्राप्त करती है। "तुम और मैं" अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। इनमें काव्य के स्थान पर निबन्धात्मकता अधिक है। ३—उदात्त रचनाएं—ये लोक प्रसिद्ध कथानकों पर आधारित हैं। 'तुलसीदास' नामक खण्डकाव्य ऐसी ही रचना है। इनमें आलंकारिका प्राधान्य है। 'राम की शक्ति पूजा' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इनमें कवि की कला अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई दी है। ४—व्यंग्यपूरित रचनाएं—इनमें समाज के प्रति बड़ा गहरा एव मार्मिक व्यंग्य है। उन्होंने अंग्रेजी सभ्यता, आधुनिक उथली नारी पूजा, विदेशी काव्य, कवि और लेखक सभी पर उन्होंने अत्यन्त निष्ठुर प्रहार किया है। 'कुक्कुरमुत्ता' आदि इस विषय की प्रसिद्ध रचनाएं हैं। ५—प्रगतिशील रचनाएं—इन रचनाओं में कवि पर मार्क्सवाद का प्रभाव है। वह वस्तुवाद की ओर झुके हैं। इनमें काव्यादर्शों का निर्वाह नहीं किया गया है। इनमें दीन हीन के प्रति सहानुभूति और अत्याचार के प्रति विद्रोह है। 'बेला' और 'नए पत्ते' इस प्रकार की रचनाएँ हैं।

समष्टि रूप से निरालाजी का काव्य साहित्य वर्णनात्मक और गीतात्मक दोनों प्रकार का है। वर्णनात्मक काव्यों में तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा है। उनके गीत हिन्दी की निधि हैं। उनमें भावना के ही उनकी शब्दावली भी गीतात्मक और मुखरित हो उठी है। इसके साथ ही उनमें भाव और सगीत का भी सुन्दर समन्वय है। इनके मूल में करुणा और सहानुभूति मिलती है। इनमें से कुछ में जिज्ञासा है, कुछ में भक्तिपूर्ण

उद्‌गार हैं और कुछ में देश भक्ति है। छन्दों के क्षेत्र में तो उन्होंने क्रान्ति की है। कई स्वतन्त्र छन्दों का नवीन प्रयोग किया है। उनके अतुकान्त मुक्तक छन्द हिन्दी में एक नए युग की सृष्टि करते हैं। उन्होंने ग़ज़लें भी लिखीं हैं। उनके छन्द अधिकाँश मात्रिक हैं जिनमें संगीतात्मकता के साथ ही साथ नाटकीयता भी है।

प्रश्न २—विषय, भाषा, शैली आदि के आधार पर 'तुलसीदास' की आलोचना कीजिए और संक्षिप्त कथा लिखिए।

उत्तर—'तुलसीदास' निराला जी की सर्वश्रेष्ठ काव्य रचना मानी जाती है। गोस्वामी तुलसीदास की वह जगतप्रसिद्ध कथा इसका आधार है जिससे पहले वह अपनी स्त्री पर अत्यधिक आसक्त थे और बाद में उसी के द्वारा प्रताड़ित होकर सर्वश्रेष्ठ रामभक्त बन गए। इस छोटे से कथानक में कवि ने तुलसी के मानसिक संघर्ष, मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन और रहस्य-भावना प्रणाली का समावेश कर उसे अत्यधिक आकर्षक बना दिया है। तुलसी का प्रथम अध्ययन, पश्चात् पूर्व संस्कारों का उदय, प्रकृतिदर्शन और जिज्ञासा, नारी के मोह, मानसिक संघर्ष और अन्त मे नारी द्वारा ही विजय आदि मनोवैज्ञानिक समस्याये हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान को आधार मान पद्य में लिखी हुई यह एक मात्र कविता पुस्तक मानी जाती है। कथा को प्राधान्य देने वाले ग्रन्थ तो सैकड़ों हैं।

इसमें अंकित गोस्वामीजी के जीवन विकास की कथा को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम भाग में तुलसीदास की जन्मकालीन साँस्कृतिक ह्रासमयी परिस्थिति का चित्र मिलता है। द्वितीय भाग में तुलसीदास बड़े होकर अपने सहपाठियों एवं सखाओ सहित भ्रमणार्थ चित्रकूट को जाते हैं। चित्रकूट के रम्य प्रदेश मे प्रकृति के उन्मुक्त रूप का दर्शन कर उन्हें नवीन जागृति का सन्देश मिलता है। जब प्रकृति इतनी गतिशील है तो पतनोन्मुख जड़ देश में नवजीवन का सचार क्यो नहीं हो सकता। परन्तु यह उनकी कल्पना मात्र ही रह जाती है। वे इसे कार्य रूप मे परिणत नहीं कर पाते। तृतीय भाग में तुलसीदास की स्त्री रत्नावली उनकी अनुपस्थिति में अपने भाई के साथ मायके चली जाती है। तुलसीदास भी

घर लौटने पर पत्नी को न पाकर तुरन्त श्वसुरालय को चल देते हैं। वहाँ पहुँचकर पत्नी की कटुवाणी से उन्हें ज्ञानोदय होता है और अज्ञात भाव से अनन्त की ओर चल देते हैं।

उपर्युक्त साधारण कथावस्तु को महाप्राण निराला ने अपनी अद्भुत एवं प्रचुर प्रतिभा से इतना शक्तिपूर्ण एवं कलात्मक रूप प्रदान किया है कि हम आज तुलसीदास के जीवन को नए दृष्टिकोण से देखने को वाध्य हो उठे है । अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति हमारे हृदय में नई प्रेरणा भर गई हैं। तुलसी हमारी संस्कृति के प्रतीक बन गए हैं। अपने इस अनुपम प्रयास के साफल्य हेतु कवि ने इसमें अपनी रूपक शैली और भाषा की अद्भुत लाक्षणिक शक्ति का प्रमाण दिया है। उनकी वर्णन शैली में रूपकों की बड़ी विशद योजना हुई है । प्राय: प्रत्येक छन्द में रूपकों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। आरम्भ से अन्त तक कवि ने रहस्य-वाद और छायावाद की प्रतीक पद्धति का प्रयोग किया है इसी कारण इनकी शैली साधारण वर्णनात्मक शैली न होकर बौद्धिक शैली बन गई है जो साधारण पाठक के लिए दुरुह है। लेकिन जो लोग काव्य में बुद्धितत्व का प्राधान्य मानते हैं उनकी दृष्टि में तुलसीदास अपने युग की एक श्रेष्टतम रचना है। इसकी इसी गहनता के कारण साधारण आलो-चका इस पर लेखनी उठाने में हिचकते हैं।

इसकी भाषा अत्यन्त अलंकृत लाक्षणिक मूर्तिमत्ता लिए हुए हैं। उसमें सर्वत्र एक विशेष वक्रता और सजीवता है। इस अत्याधिक लाक्षणिकता ने भाषा को सुबोध न बनाकर दुरूह बना दिया है। अर्थ अत्यन्त दुरूह हैं। विशिष्ठ प्रकार का शब्द विन्यास काव्य की आत्मा तक पहुचने में बाधक सिद्ध होता हैं। इसका कारण यह है कि कवि का ध्येय मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरुपण है, इसलिए उसे अपनी भाषा बहुत कुछ स्वयं गढ़नी पड़ी है। प्रभांपूर्य, तमस्तूर्य, शिरस्त्राण आदि शब्द ज्योतिमुख से प्रभा भरने वाले, रात्रि की तुरही बजाने वाले, शिर की रक्षा करने के लिए, अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यह परम्परा गत अर्थ नहीं हैं इससे रसास्वाद में विघ्न पड़ता है। परन्तु इन क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से यह लाभ अवश्य

हुआ है कि भाषा का शब्द भण्डार बढ़ा है। भाषा की शक्ति में बल आया है। इससे हिन्दी की व्यंजना शक्ति की अभिवृद्धि हुई है। किस सफलता से उन्होंने छोटी से छोटी बातों से लेकर बड़े बड़े मानसिक घात प्रतिघातों को अपनी वाणी द्वारा सजीव कर दिया है। निराला जी के काव्य के ओजगुण का यहाँ पूर्ण विकास हुआ है। भाषा के साथ छन्द का ओज दर्शनीय है।

प्रश्न ३—निराला के प्रकृति चित्रण पर प्रकाश डालिए।

उत्तर ३—निराला के प्रकृति-काव्य में दो तत्व प्रधान हैं—रहस्य-वाद और मानवीकरण। प्रकृति में परम तत्व के दर्शन के लिए जब यह बौद्धिक मनन करते हैं तो आत्मा और परमात्मा के मिलन अर्थात् अद्वैत-वाद के अनुयायी हो जाते हैं और जब सहृदयता और भावुकता का प्रयोग करते हैं तो प्रेम और भक्ति की प्रधानता प्रदान करते हैं। इस प्रकार कभी दार्शनिक बन जाते हैं और कभी भावुक भक्त। "जागो फिर एक बार", पञ्चवटी प्रसङ्ग, जागरण आदि कविताएँ इनके दार्शनिक सिद्धान्तों से पूर्ण हैं। अनवरत चिन्तन, अतिशय प्रेम और भक्ति के उपरान्त उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती है—

"मन के तिनके
नहीं जले अब तक भी जिनके
देखा नहीं उन्होंने अब तक कोना, कोना,
अपने जीवन का।"

वह दार्शनिक विचारों में निमग्न रह कर ब्रह्म से एक रूप हो जाते हैं। उनकी आनन्दानुभूति जड़ प्रकृति को भी चेतन बना देती है। प्रकृति और मानव का तादात्म्य हो जाता है। संध्या सुन्दरी, शरत्पूर्णिमा की विदाई, जुही की कली, शेफालिका आदि कविताओं में मानव आकृति और मानव-व्यापारों से पूर्ण प्रकृति के दर्शन होते हैं। जुही की कली का मानवीकरण इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। वह प्रकृति में गत्यात्म कता का अनुभव करते हैं। दिवसावसान के समय परी सी सन्ध्या सुन्दरी धीरे धीरे आसमान से उतर रही है। उस समय—

"नूपुरों की रुन झुन रुन झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा चुप, चुप, चुप ।"

चन्द्र और नक्षत्रों से युक्त रात्रि का कवि ने जयमाल लिए शशि मुखी सुन्दरी के साथ रूपकमय वर्णन किया है। निरालाजी की प्रकृति में मानवीकरण की भावना विकसित होते होते चरमसीमा तक पहुंच जाती है। वह उसमें मानव की प्रत्येक गति का अनुभव करते हैं और प्रकृति में वासनामय सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराते हैं। शेफालिका का पूर्ण युवती के रूप का चित्रण द्रष्टव्य है—

"बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से,
यौवन उभार ने,
पल्लव पर्यङ्क पर सोती शेफालिके,
मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर,
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।"

'बादल राग' में कवि ने प्रकृति में उपदेशात्मकता के दर्शन किये हैं। प्रकृति का मानव-सौन्दर्य के उपमान के रूप में वर्णन निरालाजी के काव्य में अपेक्षाकृत कम है। सादृश्य मूलक अलङ्कारों में अधिकतर रूपक और उपमा का ही प्रयोग है उपमान अधिकतर कवि कल्पित हैं। इनके सांग रूपक के चित्र सश्लिष्ट हैं। "अणिमा" में शुक्लजी के प्रति श्रद्धांजलि में अमावस्या से पूर्णिमा तक पूरे पक्ष का शुक्लजी के साहित्य क्षेत्र में पदार्पण और उनके निर्माण में आरोप कर शुक्लपक्ष की सांगोपांग योजना कर दी है। 'तुलसीदास' में ऐसे चित्रों की प्रचुरता है।

प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रों में कवि ने अधिकतर सौम्य और मानवीय भावनाओं से अतिरंजित प्रकृति का वर्णन किया है। इन्होंने सर्वत्र प्रकृति में प्रेम और करुणा तथा मानव चेतना का अनुभव किया है। कहीं-कहीं वस्तु—परिगणन शैली के भी दर्शन होते हैं। उद्दीपन रूप में बसन्त, पावस और होली का वर्णन है। 'यमुना', 'खंडहर' आदि कविताओं में प्रदर्शित देशभक्ति में प्राकृतिक दृश्यों और उपकरणों का समावेश किया है। देश

की नैराश्यपूर्ण परिस्थित से कवि का मन प्रकृति के कल्पित जगत से हट-कर पुनः यथार्थ की ओर उन्मुख होता है। तोड़ती पत्थर, किसान की नई बहू आदि उनके काव्य विषय बन जाते हैं। कवि प्रगतिवादी के रूप में 'कुक्कुरमुत्ता' जैसी कविता देते हैं।

प्रश्न ४—निराला के प्रगतिवादी रूप एवं काव्य पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—छायावाद के प्रमुख प्रवर्त्तकों में एक विशिष्ट स्थान रखने वाले निराला ने अपने पूर्ण अनुभव एवं चिन्तन के आधार पर प्रगतिवाद को पूर्ण रूप से अपनाया और अभी तक उनकी लेखनी से स्वस्थ, मांसल प्रगतिवादी रचनाओं की सृष्टि हो रही है। पन्तजी भी प्रगतिवाद की ओर झुके थे परन्तु यह पथ उनकी प्रकृति के विरुद्ध था अतः वह पुनः अपने बौद्धिक अध्यात्मवाद की ओर लौट गए।

निराला जी स्वभावतः विद्रोही कवि हैं। संसार की विषमता, शोषण तथा अत्याचार से पीड़ित कवि का हृदय शक्ति का आह्वान करता है कि "एक बार बस और नाच तू श्यामा" जिससे संसार में दुष्टों का संहार कर तू शान्ति स्थापित कर सके। ज्यों-ज्यों कवि संघर्ष में पड़ता गया, उसके सामने जनसाधारण की दयनीय दशा स्पष्ट होती गई और वह इस दुर्दशा का कारण और उसका निवारण वर्गवाद में ढूँढ़ने लगा। अब उसका जनशक्ति में विश्वास हो गया है इस कारण वह उसका उपासक बन गया है। आज वह पीड़ित तृषित मानव को क्रान्ति के लिए शीघ्र से शीघ्र कदम बढ़ाने के लिए कहता है, क्योंकि वह जानता है कि भविष्य में आज की अमीरों की हवेली कल के किसानों की पाठशाला होगी। दलित अज्ञाना-न्धकार को दूर कर मानवता का पाठ पढ़ सकेंगे। यह विश्वास ही है जिसके कारण कवि ने नर को पहाड़ के समान दृढ़ होने की प्रेरणा दी है—"झरने फूटेंगे, उबलेंगे नर अगर कहीं तू बने पहाड़।" आज वही सीधे पूँजीपति से कहता है कि इस दरिद्रता और शोषण का भेद हमें मालूम है और यदि तुम्हारे मिल की पूंजी देश की सम्पत्ति बन जाय तो सब ठीक हो जाय। निराला जी सीधे जनता के दुख दर्द का चित्र खींचने लगे हैं। गत महायुद्ध के काल में पन्त मौन रहे हैं पर निराला ने तूफानी गति सेलिखा है।

अपने इन्हीं नवीन विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने दीन मानवों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है। विधवा और भिक्षुक शीर्षक कविताएँ बड़ी मार्मिक और पूत भावनाओं से भरी हैं। इन कविताओं में न छायावाद की रंगीनी है और न आदर्शवाद की चमक, न जड़ कल्पना की उड़ान। 'अनामिका' की कुछ कविताओं में हमें उनकी नवीन प्रगतिशील भावना के पूर्ण दर्शन होते हैं। किसान की नई बहू की आँखें, खुला आसमान, ठूँठ, तोड़ती पत्थर आदि इसी प्रकार की कविताए हैं। इन कविताओं में निराला ने कल्पना लोक से नीचे उतर कर ग्राम्य और नगर दैनिक जीवन को चित्रित किया है। 'कुक्कुरमुत्ता' सग्रह की कविताओं में अत्यन्त तीखा सामाजिक व्यंग्य है। इसमें उन्होंने अपने ही अद्वैतवाद की हँसी उड़ाई है। गर्म पकौड़ी, प्रेम संगीत, रानी और कानी आदि में सामाजिक बुराइयों की ओर प्रच्छन्न सकेत है। जैसे जैसे निराला प्रगति के पथ पर अग्रसर होते गए हैं त्यों त्यों व्यग्य प्रधान होता गया है। इस प्रकार निराला जी जैसे छायावाद के प्रवर्त्तक को हम एक प्रगतिवादी के रूप में देखते हैं।

प्रश्न ५—निराला साहित्य में 'काव्य और दर्शन का समन्वय' विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—समीक्षकों के अनुसार दर्शन के सत्य और शिव को काव्य के सौन्दर्य के साथ मिलाने पर ही सत्य, शिव और सुन्दर की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। जिन कवियों का जीवन-दर्शन काव्य का अङ्ग बन जाता है उनकी गणना श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। हिन्दी में सर्व प्रथम कबीर दार्शनिक चिन्तन का सहारा लेकर काव्य के क्षेत्र में उतरे। यद्यपि कबीर में दार्शनिक रुक्षता विशेष रूप से परिलक्षित होती है तथापि काव्यात्मक सौंदर्य से आवेष्ठित दार्शनिकता का सर्वथा अभाव नहीं है। सगुण भक्तों ने सर्व व्यापिनी असीम कृपा सत्ता को एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया अतः उनमें रहस्य-दर्शन का दर्शन नहीं मिलता। आधुनिक युग में रविबाबू ने कबीर से प्रभाव ग्रहण कर काव्य में दर्शन को स्थान दिया। इनका प्रभाव हिन्दी

के छायावादी कवियों पर भी पड़ा। इस दार्शनिक विचार धारा की ओर निराला विशेष रूप से उन्मुख हुए।

आज सर्व सम्मति से निराला प्रमुख दार्शनिक कवि माने जाते हैं। इन्होंने अपने उदात्त अद्वैतवादी दर्शन को समृद्ध काव्यगत भावों के भीतर रखकर अनेक कविताओं में व्यजित किया गया है। हिन्दी काव्य में उनकी ऐसी रचनाएं दर्शन और काव्य के एकाधार सम्मिलन से सुन्दरतम उदाहरण कही जा सकती हैं। वर्तमान युग में कतिपय कवियों ने किसी सुचिन्तित दार्शनिकता और दर्शन-जन्य दृष्टि में कोरी भावना और कल्पना के सहारे जो रचनाएं की हैं उनमें काव्य की क्षणिक स्फूर्ति तो है पर कोई समन्वित प्रभाव या निष्कर्ष कम ही रहता है। परन्तु जो कवि अपनी दार्शनिक साधना को आत्मसात् कर उसे विशुद्ध काव्य में अन्तर्लीन कर लेता है वही श्रेष्ठ कवि माना जाता है। निराला इस प्रकार के दार्शनिक कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका दार्शनिक तथ्य और काव्य तत्व प्रायः एक में घुल-मिल गया है। इनकी अनेक रचनाओं में काव्यत्त्व के भीतर दर्शन निहित है, किन्तु कुछ में दर्शन की सत्ता पृथक भी रह गई है। ऐसे स्थान पर निराला की कला चमत्कार की सृष्टि करती है।

निराला का दर्शन नवीन मानवतावादी दर्शन है। प्रकृति की रहस्य सत्ता का सहज एकत्व इनके ध्यान में था। इनके द्वारा इन्होंने मानव-समता, जाति पाँति की कृत्रिमता का अनुभव किया। कवि माँ से प्रार्थना कर रहा है—

"तोल तू उच्च नीच समतोल
एक तरु के से सुमन अमोल
सकल लहरों में एक उठान
उठा माँ तंत्री के से गान।"

आगे चलकर इन्हें लगता है कि 'विश्व जीवन की विविधता एकता में खो गई है।' और मनुष्य द्वारा मनुष्य के बन्द द्वार खुल जाते हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई को पृथक करने वाले मनोभावों में परिवर्तन आ जाता है।

जिस प्रकार प्रकृति का ऐक्य उन्हें नवीन सामाजिक उन्मेष, विश्व बन्धुत्व और सामाजिक एकता की ओर ले गया उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी वे मानव एकता का स्वप्न देखते हैं। ये समाजवादी दार्शनिकता तक पहुँचकर वर्गहीन समाज की कल्पना करते हैं। बड़े बड़े महलों, मिलों और जमीदारियों पर व्यक्ति के अधिकार का विरोध कर उसे देश की सम्पत्ति मानते हैं। किन्तु भौतिक समाजवाद को ये सम्पूर्ण विकास नहीं मानते। इसकी पूर्णता के लिए आध्यात्मिकता का सम्मिलन भी आवश्यक है। इसके अभाव में संसार की क्या दशा है?—

"आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर"

यहाँ तक तो बहिरङ्ग दृष्टि से अपनाया गया कवि के मानवतावादी दर्शन पर विचार हुआ अब उसकी अन्तरङ्ग दृष्टि पर विचार करना है। जहाँ तक उसके दर्शन का अन्तरंग पक्ष है उसने योग का सहारा लिया है। योगियों ने समस्त सृष्टि को घट के भीतर ही देखा है। बाहर उसकी खोज करना व्यर्थ है। इसकी व्यञ्जना निराला ने इस प्रकार की है—

"पास ही रे, हीरे की खान,
खोजता कहाँ और नादान।"

अव्यक्त में अपने कार्यों के आरोप का चित्र "तुम्हीं गाती हो अपना गान, व्यर्थ मैं पाता सम्मान" में बड़ी ही रमणीयता से खींचा गया है और दर्शन का बहुत ही सुन्दर समन्वय हुआ है। इसके भीतर आई हुई भावनाएँ प्रिय के सदृश्य ही विराट हैं। इनकी एक कविता है—रेखा। उसमें यौवन-कालीन प्रथम प्रेम वर्णन के भीतर उसी चेतन स्वरूप का दर्शन होता है। यौवन के सौन्दर्य-स्रोत के आगमन के बाद—

"निरुद्देश्य मेरे प्राण
दूर तक फैले उस विपुल अज्ञान में
खोजते थे प्राणों को
जड़ से ज्यों वीतराग चेतन को खोजते।"

अन्त में उसकी ध्रुवतारा ने उसको सीमा में असीम का दर्शन कराया।

किन्तु उसमें जड़तत्व शेष था उसके भीतर चेतन और अचेतन का पथ प्रशस्त हो जाता है और फिर क्या था—

"केन्द्र दो आ मिले
एक ही तत्व के
सृष्टि के कारण वे,
कविता के कामबीज।"

इस कविता का पर्यवसान प्रकृति के विराट चित्र के साथ होता है--

"प्रथम कनकरेखा प्राची के भाल पर
प्रथम शृङ्गार स्मित तरुणी वधू का,
नील गगन विस्तार केश,
किरणोज्ज्वल नयन नत,
हेरती पृथ्वी को।"

इनकी अधिकांश कविताओं की परिसमाप्ति अत्यन्त सुन्दर दार्शनिक ढंग से होती है। इसे वे परिणति कहते हैं। यह परिणति या परिसमाप्ति अलग से जोड़ी हुई वस्तु नहीं लगती। यह परिणति इनके निर्वाह का अंग है। पूरी कविता के साथ यह तारतमिक रूप से जुड़ी ही नहीं रहती बल्कि इससे कविता का उत्कर्ष बढ़ जाता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"नव जीवन की प्रबल उमंग
जा रही मैं मिलने के लिए, पार कर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।"

× × × ×

"मिलन मुखर तट को रागिनियों का निर्भय गुञ्जार,
शङ्काकुल कोमल मुख परव्याकुलता का संचार,
उस असीम में ले जाओ
मुझे न कुछ तुम दे जाओ"—तरंगों के प्रति

कुछ ऐसी कविताएँ भी मिलेंगी जहाँ कवि ने कोरी सैद्धान्तिक शब्दावली अपनाई है। उनकी 'परलोक' और 'अध्यात्मफल' आदि की रचनाएँ इसी कोटि की हैं। यहाँ इन्होंने कविता न लिखकर दर्शन लिखा है।

'पञ्चवटी प्रसंग' में राम का लक्ष्मण से सृष्टि के प्रलय और उत्पत्ति का लम्बा आख्यान कोरी दार्शनिकता ही है।

इनकी अद्वैत दार्शनिकता संसार के जड़ बन्धनों के विरोध से प्रेरित है। उसी का आधार लेकर ये निरन्तर सङ्घर्ष में हार मानने को बाध्य नहीं होते। और न छायावादी नीहार लोक से सहसा प्रगतिवादी अंगार लोक में जाते हैं। इनमें नव प्रभात का प्रकाश आद्यन्त दिखाई पड़ता है। दर्शन की ओर दृष्टि न रखने वाले कवियों में यह बात नहीं पाई जाती। इन दृष्टियों से निराला वर्तमान युग के सन्देशवाहक कवि है। इनका सन्देश एक रस है। विरोधी स्थितियों में भी ये अपनी दृष्टि खो नहीं बैठे।

छायावाद के दो प्रमुख कवि प्रसाद और पन्त एक रस नहीं रह सके। प्रसाद प्रारम्भ में करुणावाद को लेकर चले और अन्त में उपदेशात्मक आनन्दवाद को लेकर ठहरे। उनका यह आनन्द सिद्धान्त उनकी रचनाओं में सर्वत्र व्याप्त नहीं है। करुणा का पल्ला उन्होंने बौद्ध दर्शन के प्रभाव के कारण पकड़ा। कहने का अर्थ यह है कि उनमें भिन्न भिन्न दार्शनिक धाराओं का प्रभाव लक्षित होता है। पन्त प्रारम्भ में प्रवण थे, बाद में प्रकृति दर्शन का अवलम्ब लेकर सुख-दुःख के समन्वय का प्रतिपादन किया। कुछ दिन पहले वे एक दूसरी अति पर पहुँच अपनी पहली रचनाओं पर स्वयं आश्चर्य करने लगे थे। महादेवी की दार्शनिकता एक रस रही है। किन्तु प्रयोग-सीमित है; वे केवल एक प्रकार का प्रगीत लिखती हैं। निराला अपने विविध प्रयोगों के कारण पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। छन्द और भाव दोनों दृष्टियों से इन्होंने अनेक नवीन प्रयोग किए किन्तु उनकी दार्शनिक काव्यधारा का मूल प्रवाह सर्वत्र एक रस है। इनकी विविध रचनाओं को यह दार्शनिकता एक सूत्र में बाँधती है।

———

आधुनिक कवि १—(महादेवी वर्मा)

प्रश्न १—महादेवी जी की रचनाओं का परिचय देते हुए उनकी काव्य साधना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—महादेवी जी को काव्य प्रतिभा पारिवारिक विरासत के रूप में मिली थी। उनके नाना ब्रजभाषा के कवि थे। पिता एक विख्यात एवं सफल अध्यापक थे। माता हेमरानीदेवी भी हिन्दी की विदुषी एवं भक्त थीं। उन्हें भी कविता लिखने का अभ्यास था। इस प्रकार इनका जन्म एक ऐसे वातावरण में हुआ था जो काव्य के उपयुक्त था। माता की प्रेरणा से वे साहित्य साधना की ओर बढ़ीं। शिक्षा के साथ-साथ उनकी रचनाओं में भी परिपक्वता आती गई। चाँद में प्रकाशित उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। विद्यार्थी जीवन से ही भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के कारण उनका रहस्यवाद के प्रति झुकाव हुआ। काव्य प्रौढ़ता के साथ ही साथ उनका रहस्यवाद भी मुखर होता चला गया और आज एक मात्र महादेवी ही काव्य के क्षेत्र में रहस्यवाद की अनुभूति से पूर्ण, अप्रतिम तथा अद्वितीय कवियित्री हैं। आज कल वह प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका के पद पर कार्य कर रही हैं। कुछ दिनों वह चाँद की सम्पादिका भी रही थीं। इधर उन्होंने हिन्दी साहित्यकारों की सहायतार्थ 'साहित्य संसद' नाम की संस्था की स्थापना की है। उन्हें अपनी रचनाओं में 'यामा' पर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक और 'नीरजा' पर ५००) का सेक्सरिया पारितोषिक मिल चुका है।

महादेवी जी की तीन प्रकार की रचनाएँ हैं—(१) निबन्ध—अतीत के चलचित्र, शृङ्खला की कड़ियाँ। (२) आलोचना—हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य। (३) कविता—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत और दीपशिखा। 'यामा' नामक संग्रह मे नीहार, रश्मि और नीरजा की कविताओं का संकलन है।

महादेवी जी के काव्य में पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना है। उन पर

मीरा की भक्ति भावना का प्रभाव बहुत पड़ा है। अध्ययन से ज्यों-ज्यों उसका विकास होता गया त्यों त्यों उनके हृदय की वेदना गहरी होती गई। इसके साथ ही बुद्ध की करुणा एव दुखवाद, विवेकानन्द और रामतीर्थ आदि के दार्शनिक विचारों आदि का भी महादेवी जी पर बहुत प्रभाव पड़ा है। वह देशभक्ति और राजनीति आदि से पूर्णतः निर्लिप्त रही हैं। इन्हीं विभिन्न प्रभावों के कारण उनके काव्य में परम तत्व, आत्म तत्व और प्रकृति तत्व की प्रधानता पाई जाती है। क्रमशः उनके हृदय की वैराग्य भावना प्रबल होती चली गई है। 'नीहार' में इन तीनों तत्वों के दर्शन हैं। रश्मि' में अद्वैतवाद का प्राधान्य है। उस असीम ने सृष्टि का निर्माण किया और अन्त में वह उसी असीम में लीन हो गई—"तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।" इसी आधार पर उन्होंने आत्मा परमात्मा की भी अभिन्नता मानी है—"मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मि प्रकाश।" इसी कारण अन्त में—"भूल अधूरा खेल तुम्हीं में होती अन्तर्धान।"

'रश्मि' से आगे बढ़ कर नीहार में उनका काव्य अनुभूति प्रधान हो गया है। 'साँध्य गीत' में उनकी वेदना मिश्रित साधना गीतों का रूप धारण कर सुखमय बन जाती है। इस विषय में उन्होंने लिखा है कि, "नीरजा और साँध्यगीत मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख दुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा। पहली बार खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे ही हृदय में खिला हो परन्तु उसके अपने अभिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख दुख मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर भीतर में एक सामञ्जस्य सा ढूंढ़ लिया है, जिसने सुख दुख को इस प्रकार बुन दिया है कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।" इस प्रकार महादेवी जी के काव्य में सुख दुख मिल कर एकाकार हो गया है।

विषय के दृष्टिकोण से हम उनकी रचनाओं को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) **रहस्यवादी रचनाएं**—इनके काव्य में हमें प्रेमपरक,

दार्शनिक, भक्तिपरक और प्रकृतिपरक, रहस्यवाद के इन चारों रूपों के दर्शन होते हैं। (२) **वेदनाप्रधान रचनाएँ**—उनके रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता होने के कारण उसमें वेदना का प्राचुर्य है। वह स्वयं आराधक हैं और उनके आराध्य "चिर सुन्दर" है। उन्होंने स्वयं लिखा है—"दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे ससार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। ····मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुख सबको बाँटकर। विश्व जीवन में अपने जीवन को, विश्व चेतना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक विन्दु समुद्र में मिल जाता है—कवि का मोक्ष है।" उनके काव्य में दुख का आत्मिक रूप ही प्रधान है, भौतिक रूप गौण है। उनकी वेदना का माध्यम प्रकृति है। (२) **प्रकृति चित्रण संबंधी रचनाएं**--उन्होंने प्रकृति का प्रयोग पांच दृष्टिकोणों से किया है। [१] प्रकृति को व्यक्त मान कर साकार रूप मे, २] उद्दीपक के रूप मे, [३] मानवी भावनाओं से अनुरंजित कर, [४] छायावादी, [५] रहस्यवादी। इनमे रहस्यवादी दृष्टिकोण प्रधान है। (६) **गीतिकाव्य**—महादेवी जी आधुनिक युग में हिन्दी के स्वर्गीय गीतों की श्रेष्टतम गायिका है। इसी से उन्हें मीरा का अवतार मानते हैं। इन गीतों मे मीरा के गीतों की सी वेदना, करुणा और मार्मिकता है।

महादेवी जी के काव्य मे वियोग शृङ्गार का प्राधान्य है। वियोग के साथ ही करुण रस की भी सुन्दर उद्भावना हुई है। अन्य रसों का पूर्ण अभाव है। उनके अलङ्कार सहज-स्वाभाविक है। उनका प्रयोग भावों को स्पष्ट और तीव्र बनाने के लिए हुआ है। व्यंग्य प्रधान है। उन्होंने प्रस्तुत से अप्रस्तुत का बोध कराया है, इसी कारण प्रतीको का सुन्दर प्रयोग हुआ है। समासोक्ति, रूपक, उपमा- अपन्हुति, उल्लेख आदि काव्यालङ्कारों का सफल प्रयोग किया गया है। श्लेष का अभाव है। अनुप्रास भी उपेक्षित सा ही है। छन्दों में गीतो की नई 'टेकनीक' लेकर उन्होंने अपनी करुणा को व्यक्त किया है।

महादेवी जो की भाषा संस्कृत-गर्भित है। आरम्भ में उन्होंने ब्रजभाषा को ही अपनाया था। परन्तु जब खड़ी बोली प्रौढ़ और परिष्कृत हो गई

तो उन्होंने उसे ही अपनाया। कहा जाता है कि खड़ी बोली को प्रसाद ने प्रांजलता दी, निराला ने संगीतात्मकता दी, पन्त ने मधुरिमा और कोमलता दी, अन्त में महादेवी जी ने इन सबका सम्मिश्रण कर उसे अपने हृदय की वेदना देकर अत्यन्त संवेदनशील बना दिया। इस प्रकार महादेवी प्रदत्त प्राणों के स्पन्दन से वह मुखरित हो उठी। आज वह काव्य की आदर्श भाषा मानी जाती है। महादेवीजी की भाषा संस्कृत, मधुर, कोमल और नागरिक है। उसमें कर्कशता और परुषता का अभाव है। उनके भाव और भाषा में सामंजस्य है। कहीं-कहीं तुक के मोह में शब्दों को विकृत कर दिया है। कुछ व्रजभाषा के कोमल शब्दों को भी अपनाया है, जैसे—नैन बयार आदि। शब्द-चयन सुन्दर हैं। वाक्य छोटे तथा सारगर्भित हैं।

उनकी शैली विकासोन्मुख है। 'नीहार' में शैली का प्रारम्भिक रूप है। भावों की अपेक्षा शब्दों का आधिपत्य है। नीरजा में भाव और भाषा में साम्य है। दीपशिखा में भावों का आधिक्य और शब्दों की कमी है। थोड़े में बहुत कहा है। यह शैली प्रौढ़ है। कहीं-कहीं प्रतीक पद्धति को अपनाया गया है। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग उनकी एक विशेषता है। अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त योजनाएँ की गई हैं। भावों और प्रकृतिक रूपों का मानवीकरण किया गया है। वहाँ "प्रभात हँसता है। आहें सोती हैं, किरणें मचलती हैं, इच्छाएँ सिहरती हैं।" उनके काव्य में लाक्षणिक तथा व्यंजक प्रयोगों के कारण अर्थ अस्पष्ट हो जाता है। वह अत्याधिक सांकेतिक हैं। वह सदैव प्रतीकों के माध्यम से बातें करती हैं। इनमें से कुछ प्रतीक तो चिरपरिचित हैं और कुछ अपरिचित हैं, जिनसे दुरूहता आ गई है। इच्छाओं को कहीं मकरन्द, कहीं सौरभ तथा कहीं इन्द्रधनुष का रूप दिया गया है। इन्हीं प्रयोगों के कारण उनकी शैली में प्रौढ़ता और भावाभिव्यंजकता आ गई है। कवि होने के साथ ही साथ महादेवी जी उच्चकोटि की चित्रकार भी हैं। उन्होंने अपनी मूक भावनाओं को तूलिका और पट की सहायता से भी साकार कर दिया है।

प्रश्न २—सिद्ध कीजिए कि महादेवी के काव्य में करुणा का प्राधान्य है।

उत्तर २—महादेवी जी ने जीवन में करुणा को प्रधान माना है। उन्होंने स्वयम् लिखा है कि—"मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य दुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।" दुख अथवा करुणा की इस प्रधानता का कारण यह है कि उनका प्रेम का जीवन है और प्रेम के जीवन में वेदना का होना स्वाभाविक है। लेकिन उनका प्रेम अलौकिक है इससे उनकी वेदना भी अलौकिक है। लौकिक प्रेम में तो एक जन्म का ही विरह होता है किन्तु अलौकिक प्रेम में विरह की समाप्ति की कोई सीमा ही नहीं। वह जन्म जन्म की स्मृति द्वारा तीव्र होता रहता है। इस प्रकार इसकी पीड़ा शाश्वत रहती है। महादेवी जी के काव्य में इसी शाश्वत पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है।

लेकिन ऐसा क्यों हुआ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि अनजाने ही उसके प्रियतम ने एक झलक दिखाकर पीड़ा का साम्राज्य उनके हृदय में बसा दिया है। वे उसे अपने प्रियतम की वस्तु समझ कर निरन्तर अपने हृदय में संभाले चली आ रही हैं। वे सदैव एक शून्यता, अभाव एवं अतृप्ति का अनुभव करती है। इससे उनका लौकिक सुख नष्ट हो गया है और उसके स्थान पर विषाद और निराशा का साम्राज्य छा गया है। और यह सब हुआ तब जब कवयित्री अबोध थी। वह तभी से निरन्तर रो रही है—

"इन ललचाई पलकों पर, पहरा था जब व्रीड़ा का।
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का॥"
उस सोने के सपने को, देखे कितने दिन बीते।
आँखों के कोश हुए हैं, मोती बरसा कर रीते॥"

आज उन्हें यह पीड़ा अत्यधिक मधुर लगती है। वे इसे छोड़ कर जी नहीं सकतीं। इसी के द्वारा वे प्रियतम को पाना चाहती हैं। लक्ष्य तक

पहुँचने का यही एकमात्र साधन है। इसी से--

"तुमको पीड़ा में ढूंढ़ा, तुम में ढूढूँगी पीड़ा।"

इस पीड़ा के कारण वह इतनी सुखी हैं कि स्वर्ग तक को ठुकरा देती हैं। जिस लोक में अवसाद नहीं. जलना नहीं, ऐसे लोक को लेकर क्या होगा। अगर करुणा के उपहारस्वरूप अमरों का लोक भी मिले तो—

"क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार।
रहने दो हे देव ! अरे यह, मेरा मिटने का अधिकार॥"

वह अपने अस्तित्व को खोना नहीं चाहतीं इसीलिए दुख का भी पर्यवसान नहीं चाहतीं। प्रियतम के मिलन पर तो उनका स्वाभिमान नष्ट हो जायगा। जीवन की जलन समाप्त हो जायगी। इसी से मिलन से विरह श्रेष्ठ है—"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूं।" मिलन से जीवन की हलचल दूर हो जायगी, समाप्त हो जायगी। उनकी दृष्टि में जीवन की सार्थकता अतृप्ति में है। क्योंकि—

"चिर तृप्ति कामनाओं की कर जाती निष्फल जीवन।"

महादेवी जी की साधना पीड़ा की साधना है। उन्हें इस साधना में सब कुछ मिलता है। उन्हें विरह व्यथा अखरती नहीं क्योंकि इसका कारण प्रियतम है। उनकी यह पीड़ा ही उनके लिए साध्य बन गई है—"खोज ही चिर प्राप्ति का घर साधना ही सिद्धि सुन्दर" तथा 'अलि विरह के पंथ में मैं तो न इति अथ मानती री' और "मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।" लेकिन महादेवीजी का एक स्वप्न अवश्य है। उनका विश्वास है कि उनका यह विषाद कभी न कभी सुख में बदल जायगा। वे कहती हैं—"जिस प्रकार मेरे जीवन के ऊषाकाल में मेरे सुखों का उपहास सा करती हुई विश्व के करुणा की धारा उमड़ पड़ी है उसी प्रकार संध्याकाल में जब लम्बी यात्रा से थका हुआ जीवन अपने ही भार से अतिक्रन्दन कर उठेगा, तब विश्व के कौने कौने से एक अज्ञात अपूर्व सुख मुस्करा उठेगा।" 'नीहार' और 'रश्मि' की पीड़ामयी महादेवी 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' में अपने उक्त कथन की सार्थकता सिद्धि करती हैं। अब

उन्हें पीड़ा नहीं सताती। वह अपने हृदय में किसी की उपस्थिति का आभास पाती हैं—

"गूँजता उर मे न जाने दूर के संगीत सा क्या ?
आज खो निज को मुझे खोया मिला विपरीत था क्या ?
क्या नहा आई विरह निशि मिलन मधु दिन के उदय में
कौन तुम मेरे हृदय में ?"

'दीप शिखा' में तो वे दीप की तरह अविराम मिटती हुई 'स्वजन' के समीप आ रही हैं। उन्हें सन्तोष है कि वे अपने व्यक्तित्व को स्वाभिमान के साथ विरह में जलाती रहीं और झुकी नहीं। कभी उन्होंने कहा है--

"सजल है कितना सवेरा
कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमे प्राण का संचार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक चितेरा।"

इस प्रकार हमने देखा कि महादेवी जी के काव्य में सर्वत्र करुणा प्राधान्य है।

प्रश्न ३—महादेवी जी की रहस्य भावना को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—रहस्यवाद दो प्रकार का माना गया है—साधनात्मक और भावात्मक। महादेवी जी का रहस्यवाद भावात्मकता है। इसी कारण उनकी रहस्य साधना में सन्तों एव सूफियों के षटचक्र आदि का वर्णन नहीं है। उन्होंने भावना के आधार पर उस 'चिर सुन्दर' को प्रत्यक्ष किया है और उसी के बल पर उसे सिद्ध करने की अभिलाषा रखती है। उन्होंने अपने आराध्य को जगत के माध्यम से पहचाना है। सृष्टि नियन्ता की कुशलता पर मुग्ध हैं। वह मुग्धता सुधि की जननी है और सुधि से पीड़ा उत्पन्न होती है। इसी कारण 'यामा" में मूक मिलन के कुछ यामों को छोड़ कर शेष सब विरह के याम हैं। उसमें प्यास है—व्याकुलता है और तीव्र उत्कण्ठा है। परन्तु उनकी यह अतिशय वेदना ग्रीष्म की लू की भाँति तपाकर बसन्त की शीतल वायु के समान शीतल भी कर देती है। पीड़ा आराध्य के दर्शन से उत्पन्न हुई है। अतः त्याज्य नहीं है। उस आराध्य तक पहुँचने का पथ शूलों से भरा पड़ा है।

महादेवी जी ने अपनी पीड़ा से दूती का कार्य लिया है। पीड़ा उनकी पथ प्रदर्शिका है। वह अध्यात्म जीवन की जागृति है। अतः उसे सचेत रखना आवश्यक है। उसे सचेत रखने के लिए साधिका ने उसमें संगीत भर दिया है। स्थान-स्थान पर उसे 'मधु मदिरा की धार सी', 'मीठी सी', 'चन्दन सी' कहा है यदि 'तुम आ जाते एक बार' तो उसका दुख सुख में बदल जाता। इस प्रकार पीड़ा प्रिय मिलन का साधन है। प्रिय की आराधना से संसार के सुख दुख सबके लिए आराध्यमय होकर सुन्दर बन गए—

"मधुर मुझको हो गए सब, मधुर प्रिय की भावना ले।
हो गई आराध्यमय मैं, विरह की आराधना ले॥"

महादेवी का आराध्य महान् है। वह व्यक्त जगत उसी के स्वरूप का प्रसार है। इसी कारण, महादेवी ने उसे एक स्थान पर नर्तकी के काव्य रूपक में बाँधा है। 'रूपसि तेरा नर्तन सुन्दर' कह बताया है कि आलोक-तिमिर उनका सित असित चीर है, रवि शशि कानों के कुण्डल हैं, नक्षत्र मांग के मोती हैं, इन्द्र धनुष मृदु हास्य हैं। इस प्रकार उस प्रियतम को व्यक्त प्रकृति के रूप में सजाकर खड़ा कर दिया है। कारण यह है कि महादेवी ने प्रकृति को अपनी संगिनी माना है। प्रकृति की प्रत्येक हरकत उसी प्रियतम को रिझाने के लिए है। वह सदैव प्रियतम के लिए सजी रहती है। इस कारण महादेवी की आत्मा भी आज सात्विक शृंगार कर अभिसार करेगी—

"तू स्वप्न सुमनों से सजा तन, विरह का उपहार ले।
अगणित युगों की प्यास का, अब नयन अंजन सार ले।
अलि मिलन गीत बने मनोरम, नूपुरों की मधुर ध्वनि,
शृंगार करले री सजनि।"

एकाध स्थान पर मूक मिलन भी हुआ है—"वह गया बँध लघु हृदय में" इसलिए "अब विरह की रात को, चिर मिलन का प्रात रे कह।" परन्तु यह मिलन पूर्ण मिलन होकर आंशिक ही रहा है क्योंकि—

"मिलन बेला में अलस तू, सो गई कुछ जागकर जब।
फिर गया वह स्वप्न में, मुसकान अपनी आँक कर तब॥"

महादेवी के गीतों में सर्वत्र 'अपनत्व' का स्वर प्रखर है। वह प्रियतम के सम्मुख अपने व्यक्तित्व की महत्ता को अक्षुण्ण रखना चाहती हैं। उनके हृदय में मिलन की व्याकुलता है पर कुछ दूरी के आनन्द को वह त्यागना नहीं चाहती हैं। दूर रहकर क्रीड़ा करना ही आनन्द है। मिलकर लीन होने में उस क्रीड़ा का अन्त हो जाता है। भिन्नत्व को रहने पर ही यह क्रीड़ा चल सकती है। एकाकार होने पर नष्ट हो जायगी। उन्हें अपनी विरह साधना पर गर्व है। इसे वह उस रहस्यमय तक पहुँचने का साधन मात्र ही नहीं समझती परन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है जो उन्हें जग में प्रिय बना सकता है। उनका आत्म-समर्पण पत्नी का आत्म समर्पण न होकर प्रेमिका का आत्म समर्पण है--

"सजनि मधुर निजत्व दे, कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं,
वह रहे आराध्य चिन्मय, मृण्मयी अनुरागिनी मैं।"

इसी कारण वह मोक्ष को भी नहीं चाहतीं। अमरता को वे जीवन का ह्रास समझती है। उन्हें बन्धन प्रिय है क्योंकि—"मेरा बन्धन तेरा साधन।" इसी कारण संसार के प्रति भी विराग है। इसलिए संसार को उन्होंने अस्थिर, माया का देश, पर देश, युगान्तर के पथिक का मार्ग मात्र कहा है। साधन भूमि के रूप में ही इसका मूल्य है। कभी-कभी सृष्टि से प्रेरणा भी मिल जाती है। उन्होंने प्रेम का दीपक जलाया है उनकी आत्मा सम्पूर्ण प्रकृति को अपना साथी समझती है। "दूर है अपना लक्ष्य महान् एक जीवन, पग एक समान।"

निर्गुणोपासकों के समान उन्होंने बाह्य पूजा का निषेध किया है। यह शरीर ही मन्दिर है। उनकी साधना का आदर्श अटल हिमगिरि है जिसमें अटलता और जलरूप करुणा दोनो हैं। अभी महादेवी अपनी साधना के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकीं है। उनके भावों में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। सम्भव है एक दिन ऐसा आ जाय जब उन्हें अपने 'मधुर निजत्व' को दे देना पड़ेगा प्रेम की अन्तिम अवस्था में निजत्व नष्ट हो जाता है। पूर्ण मिलन तभी हो सकेगा जब साध्य साधक मिलकर पूर्ण

रूप तदाकार हो जायँगे। अभी तो महादेवी साधना के पथ पर दृढ़ता पूर्वक बढ़ रही हैं।

प्रश्न ४—महादेवी वर्मा के काव्य में आई हुई छायावादी विशेषताओं को स्पष्ट कर के बताइए कि आप उन्हें पलायन वादी मानते हैं या नहीं ?

उत्तर—महादेवी जी छायावाद के प्रमुख स्तम्भों में से एक हैं। उनके काव्य में छायावादी की लगभग सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं। उनके काव्य की सब से बड़ी विशेषता उनका दुखवाद, वेदना, निराशा, और करुणा है। उस अनन्त और असीम के प्रति उन्होंने जो विरह निवेदन किया है वह अपनी गरिमा में स्वय महान् है। विरह, आँसू पीड़ा, जलन और निराशा का एक अलग ससार बसाए वे आधुनिक मीरा के पद पर आसीन है। उनके काव्य में छायावाद की दूसरी विशेषता है प्रकृति के साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध। सुख दुख की भावनाओं की अभिव्यक्ति में प्रकृति उनकी सहायक है। वह उनके साथ प्रियतम के आत्मनिवेदन की सहायिका होकर आई है। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण भी किया है। "रूपसि तेरा घन केश पास" में पावस का, "धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी" में बसन्त का, और "लय गीत अमर पद ताल अमर" में प्रकृति का अप्सरा के रूप में चित्रण मानवीकरण के श्रेष्ट उदाहरण हैं। "प्रिय साँध्य गगन मेरा जीवन", "मैं नीर भरी दुख की बदली", "विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात" आदि गीतो में उन्होने अपने जीवन को प्रकृति के साथ एकाकार कर दिया है।

तीसरी प्रमुख विशेषता रहस्यवाद की है। छायावादी कवियों में यद्यपि जिज्ञासा मूलक रहस्यवाद ही मिलता है तथापि महादेवी में वह मिलन की अनुभूति के आनन्द की सीमा को भी छूता दिखाई देता है। एक स्थान पर वे कहती हैं—

"चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम, मधुर राग तू मैं स्वर संगम।
तू असीम मैं छाया का भ्रम, काया छाया में रहस्यमय।
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ? तुम मुझसे प्रिय फिर परिचय क्या।"

व्यक्तिवाद तो उनमें इतना प्रबल है कि वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए

अपने असीम प्रियतम से भी नहीं मिलना चाहती क्योंकि—

"वह सुनहला हास तेरा।
अंकभर घनसार सा।
उड़ जायगा अस्तित्व मेरा।"

उसके काव्य में अतृप्त वासना की छाया कहीं-कहीं ही भले ही मिले, उनकी रहस्यवादी प्रकृति ने उसकी भव्यता और उन्नयन द्वारा आध्यात्मिकता का ही रूप दिया है।

कलापक्ष की दृष्टि से छायावादी काव्य की विशेषताओं को उनके काव्य में अधिक अच्छी तरह से देखा जा सकता है। उनके गीतों में मौलिकता और न्यूनता का समावेस है। प्रतीकों, लाक्षणिक प्रयोगों, अमूर्त वस्तुओं के लिए मूर्त विधान उनमें बराबर मिलता है। उनकी अभिव्यक्ति में सांकेतिकता का प्रधान्य है। संसार के लिए सागर, जीवन के लिए तरी, साहस के लिए पतवार, हृदय के भावों के लिए वीणा के तार और साधक के लिए गायन का प्रयोग किया है। अलंकारों में सांग रूपक, समासोक्ति और रूपकातिशयोक्ति का अधिक प्रयोग है और यह छायावाद की प्रमुख कलागत विशेषताएं हैं। इस प्रकार हमने देखा कि छायावाद की अधिकांश प्रमुख विशेषताएँ उनके काव्य में मिल जाती हैं।

महादेवी वर्मा के साहित्य के दो स्पष्ट विभाग हैं—पद्य एवम् गद्य। पद्य में वे पूर्ण रहस्यवादी रही हैं। उसमें वेदना और करुणा का प्राधान्य है। विरह उनका सर्वस्व है—"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।" इस विरह के आगे वे "अमरों का लोक" भी नहीं चाहतीं। अपने काव्य में सर्वत्र प्रेमिका के रूप में वे स्वयम् हैं और है उनका अज्ञात प्रियतम। ऐसी दशा में उनका लोक से क्या सम्बन्ध रह सकता है? लोक उनकी दृष्टि से पूर्ण रूप से विस्मृत हो जाता है। इसी कारण उनके काव्य में लोक जीवन को कोई स्थान नहीं मिल पाया है। एक आलोचक उनके काव्य में कला का सुन्दरतम रूप पा सकता है, एक भक्त प्रियतम के प्रति सच्चे प्रेमोद्‌गार पा सकता है परन्तु एक स्वदेश भक्त प्राणी उससे प्रेरणा नहीं पा सकता और न एक प्यासे की ही समस्या का वहाँ निदान मिल

सकता है। ऐसी दशा में "स्वयं" में केन्द्रित महादेवी का काव्य लोक जीवन का काव्य नहीं कहा जा सकता अतः हम उन्हें प्रगतिशील न मान कर पलायनवादी ही मानेंगे।

इसके विपरीत महादेवी जी का गद्य साहित्य लोक जीवन से सटा हुआ चलता है। काव्य में वे व्यक्तिवाद की उपासिका हैं, वे अपनी बात अधिक कहती हैं और अपनी ही सुख दुख की अनुभूतियो मे डूबती उतरती रहती हैं। किन्तु गद्य में वे एकदम बदल जाती हैं। गद्य में उनकी सारी प्रवृत्तियाँ समाज की ओर प्रसारित हो जाती हैं। समाज के मध्य में अपने को स्थिर रखकर स्वयम् प्रकाश स्तम्भ की भाँति उनकी प्रत्येक बात पर प्रकाश डालती हैं। विचार के क्षणों में उन्हें गद्य लिखना अधिक पसन्द है। उनका यह विचारक रूप भारतीय नारी समस्याओं के विषय में ही अधिक चिन्तन-मनन करता है। दुखों से अभिशप्त सिसकती हुई नारी का उन्होंने पक्ष लिया है। इसी कारण उनके निबन्धों में नारी का पक्ष लेकर बहुत सयत एव कलापूर्ण विद्रोह मिलता है। परन्तु आधुनिक प्रगतिवादी लेखक के समान वे आवेश से व्यग्र शायद कभी भी नहीं हुई हैं। एक विद्रोही सदैव प्रगतिशील होता है और इस प्रकार गद्यकार महादेवी, पद्यकार पलायनवादी महादेवी की अपेक्षा प्रगतिशील हैं।

प्रश्न ५—'छायावादी ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का सचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरुक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।" महादेवी जी के इस कथन की मीमांसा कीजिए।

उत्तर—महादेजी का कहना है कि छायावाद ने भक्तिकाल की भाँति आध्यात्मिक परम्परा नहीं दी और न किसी बिशिष्ट सम्प्रदाय का ही आश्रय लिया। उसने केवल लोगों को यही बताया कि समस्त जगत के भीतर एक ही चेतन शक्ति निवास करती है। साथ ही उस अदृश्य असीम और अनन्त सत्ता को सौन्दर्य शाली बनाकर उपस्थित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उस सूक्ष्म के सौन्दर्य और समष्टि की चेतना का समझना

लोगों को कठिन हो गया। फलस्वरूप छायावाद के प्रति उन्हें विरक्त हो गई और वे इससे दूर भागने लगे।

महादेवी जी का यह कहना सत्य है। वस्तुत बात यह है कि भक्ति-काल की जितनी भी शाखाएँ हैं उनके सब के कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं। उन्हें आदर्श बनाकर सामान्य पाठक अपनी मानसिक तृषा शान्त कर सकता है। अपने "अलख" अदृश्य तथा निर्गुण और सगुण से परे ब्रह्म की उपासना के लिए कबीर ने कुछ सिद्धांत स्थिर किए हैं। अन्य शाखाओं के सिद्धान्त तो स्पष्ट ही हैं। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के आधार पर सामान्य व्यक्ति उनका अनुयायी सहज में ही हो सकता है। रीतिकाल में भी एक परिपाटी कविता की रही। रस अलङ्कार के ज्ञाता आचार्य कवियों की एक परम्परा थी, जिसके पालन के लिए परवर्ती कवियों को काव्य प्रेमियों को सीधी सड़क मिल गई थी इसीलिए रीतिकालीन परम्परा भी सफलता से प्रचार पा गई।

लेकिन छायावादी कविता के पास ऐसी कोई आकर्षक ठोस वस्तु नहीं थी, जिसका आधार लेकर हिन्दी का रूढ़िगत अध्यात्म तथा वर्गगत सिद्धान्तों का समर्थक पाठक सन्तोष कर पाता। यहाँ तक कि छायावाद की तो परिभाषा तक निश्चित नहीं हो सकी है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। उसके प्रवर्त्तक तक भी इस विषय में एक मत नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति इतनी अस्पष्ट हो गई और उसके सौन्दर्य का मापदण्ड प्रतीकों की भूल भुलैया में ऐसा खो गया कि सामान्य पाठक को जब तक उसकी मूल विशेषताओं का ज्ञान न हो वह ग्राह्य नहीं हो सकती और हिन्दी के "ले भगे आलोचक" छायावाद के सम्बन्ध में किसी निश्चित मत पर ही न पहुँच सके। तीसरी बात यह थी कि उसमें जीवन सङ्घर्ष की अभिव्यञ्जना भी नहीं हो पाई, जिसके परिणामस्वरूप उसका स्वरूप निश्चित करने की चिन्ता भी किसी को न हुई क्योंकि कल्पना जगत में तो केवल कुछ ही प्राणी रह सकते हैं। आवश्यकता इस बात की थी कि छायावाद के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण होता और उसे लोगों तक पहुँ-चाया जाता। जैसा कि महादेवी जी ने कहा है—"समष्टि गत चेतना और

सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर किए गए संकेत को प्रत्येक पाठक ग्रहण नहीं कर सकता। यही कारण है कि उसके लिए यथार्थ रूप ग्रहण करना कठिन हो गया।

प्रश्न ६—महादेवी और मीरा की तुलना कीजिए।

उत्तर—महादेवी जी को आधुनिक मीरा कहा जाता है। मीरा के समान महादेवी जी की भी अन्तर्मुखी है। उनमें करुणा का आधिक्य भी मीरा के समान है। दोनों में ही रहस्यमयता का समावेश है। दोनों की प्रेम वेदना समान है। प्रियतम को पाने की उत्कट लालसा, छुटपटाहट, व्याकुलता जैसी मीरा में है वैसी ही महादेवी जी में भी है। मीरा के गीतों के समान महादेवी जी के गीत इस युग में विशुद्ध गीत कहे जा सकते हैं क्योंकि उनमें गीतिकला का अच्छा उत्कर्ष हुआ है। परन्तु दोनों में जो प्रथम भिन्नता पाई जाती है वह यह है कि महादेवी जी "अपने एक नये कल्पनामय छायालोक की सृष्टि करके उसमें रमण करना चाहती हैं।" व्यक्ति को अत्यधिक प्रधानता देने के कारण ही उनके काव्य में अधिक क्लिष्टता और अस्पष्टता आ गई है। मीरा में सरलता और स्पष्टता अधिक है। महादेवी मीरा की अपेक्षा अधिक चिन्तनशील हैं। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए उन्हें क्लिष्ट कल्पनाओं और अस्पष्ट भावनाओं का सहारा लेना पड़ा है। इस कारण भाव चित्रण के स्थान पर वह भाव-विश्लेषण कर बैठती है। मीरा भोली साधिका है। वह महादेवी जी के समान विदुषी भी नहीं है। इस कारण उसमें चिन्तन का प्राधान्य न होकर भावों का प्राधान्य है।

तीसरा अन्तर यह है कि मीरा के आराध्य कृष्ण हैं जो साकार हैं। यद्यपि सन्तों के प्रभाव के कारण उसने भी अपने आराध्य का कहीं-कहीं निराकार रूप में वर्णन किया है परन्तु भुक्त भोगिनी नारी होने के कारण वह अपने प्रियतम के अस्पष्ट लोक में भी स्पष्ट दर्शन कर लीन हो जाती है। महादेवी जी का प्रियतम पूर्णतः अस्पष्ट ही रहता है। वह उसकी एक हल्की सी झलक मात्र का अनुभव कर पाती हैं। मीरा अपने प्रियतम से शून्य महल की सेज पर मिल लेती है। यहाँ उसका प्रियतम साकार हो उठता

है परन्तु महादेवी जी तो अपने रहस्यमय प्रियतम की अस्पष्ट कल्पना ही करती रह जाती हैं। चौथा अन्तर यह है कि मीरा अपने प्रियतम की इतनी 'प्रीति दिवानी' थी कि उसने लोक लाज सब खोकर सन्यास सा ग्रहण कर लिया था। वह निसिवासर उसी की रट में लीन रहती थी। परन्तु महादेवी जी तो केवल काव्य में ही प्रेम योगिनी दिखाई पड़ती हैं—व्यक्तिगत जीवन में उनकी उस तन्मयता के पूर्ण दर्शन नहीं होते। अन्तिम अन्तर दोनों में यह है कि मीरा के काव्य में संगीत के दर्शन होते हैं क्योंकि वह स्वयं प्रेम दिवानी होकर प्रभु की मूर्त्ति के सम्मुख नाचती गाती थी। महादेवी जी के काव्य में भी संगीत है परन्तु उसका पूर्ण परिपाक नहीं है। कारण वही व्यावहारिकता का अभाव है।

उद्धवशतक (रत्नाकर)

प्रश्न १—बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की रचनाओं का परिचय देते हुए उनकी काव्य-साधना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—श्री रत्नाकर जी इस युग के ब्रजभाषा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। उन्होंने युग की प्रचलित विचारधारा एवं भाषा की उपेक्षा कर ब्रजभाषा के माध्यम द्वारा भक्ति और रीतिकालीन भावनाओं और कला का प्रदर्शन किया है। उनकी समस्त रचनाओं में इसी मिश्रित प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उन्होंने मौलिक और अनूदित दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्राचनी ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन भी किया है। उनके मौलिक काव्य ग्रन्थों में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध रचनाओं में हरिश्चन्द्र, गंगावतरण तथा उद्धवशतक की गणना की जाती है। उद्धवशतक उनकी श्रेष्ठतम रचना मानी जाती है। इसके विषय में अभी विद्वानो में मतभेद है कि इसे प्रबन्ध माना जाय या मुक्तक। मुक्तक रचनाओं में हिंडोला, समालोचनादर्श, साहित्य रत्नाकर, घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, शृंगार लहरी, गंगा-विष्णु लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक और कलकाशी नामक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर कविताएँ

भी मिलती हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने चन्द्रशेखर के हम्मीर हठ, कृपाराम के हित तरंगिणी और दूलह कवि के कण्ठाभरण का सम्पादन किया था। अंगरेजी कवि पोप के Essay on Criticism नामक समालोचना सम्बन्धी ग्रन्थ का रोला में अनुवाद किया था। बिहारी-सतसई की एक अत्यन्त सुन्दर टीका भी लिखी है जिसका बड़ा आदर है। कुछ दिनों तक उन्होंने 'साहित्य-सुधानिधि' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्रिका का संचालन भी किया था। अपने अन्तिम समय में वह 'सूरसागर' का एक शुद्ध सस्करण निकालने में दत्तचित्त थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी समस्त रचनाओं का 'रत्नाकर' नामक एक संग्रह प्रकाशित किया है।

रत्नाकर जी की उपर्युक्त विभिन्न रचनाओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वे व्रजभाषा के ही एकमात्र कवि नहीं थे अपितु भाष्यकार, भाषा-तत्वविद् और पुरातत्वान्मेषी भी थे। उनका प्राकृत भाषा का ज्ञान बहुत गम्भीर था। उनके ऊपर पौराणिक गाथाओं, भारतीय सस्कृति एवं सभ्यता के प्रभाव के साथ ही साथ व्रजभाषा की सरसता और माधुर्य का पूर्ण प्रभाव था। परन्तु उन्होंने व्रजभाषा की रूढ़ियों को यथावत् न अपना कर उसमें मौलिक एवं नवीन उद्भावनाएँ की थीं। इस प्रकार वे अपने काव्य में प्राचीनता और नवीनता का समन्वय करने में सफल हो सके।

रत्नाकर जी का काव्य विषय शुद्ध पौराणिक है। उद्धवशतक, गगा-वतरण, हरिश्चन्द्र आदि रचनाओं में उन्होंने तत्कालीन पौराणिक युग को ही साकार करने का प्रयत्न किया है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भावुकता के साथ ही नवीन भावों एवं उक्तिवैचित्र्य का सम्मिश्रण कर उन्हें ओजपूर्ण बना दिया है। भक्तिकालीन भावनाओं को रीतिकालीन आलङ्कारिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। भावों के चित्रण में उन्हें असाधारण सफलता मिली है। भावलोक के वे कुशल चित्रकार हैं। भावों में उन्होंने क्रोध, प्रसन्नता, उत्साह, शोक, घृणा आदि को प्रदर्शित करने वाली विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं के बड़े सुन्दर चित्र दिए हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति अद्भुत है। विभिन्न दृश्यों के चित्राङ्कन में इसके दर्शन होते हैं।

मानवीय व्यापारों के साथ ही उन्होंने पशु मनोविज्ञान का भी अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने रीतिकालीन कवियों के समान परम्परा का अन्ध अनुकरण न कर उन्होंने यथावसार अपनी मौलिकता का परिचय सर्वत्र दिया है। इसी कारण उन्हें बाह्य और आन्तरिक चित्रों के चित्रांकन में पूर्ण सफलता मिली है। वह अपनी अद्भुत वर्णन शक्ति द्वारा प्रत्येक दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित कर देते हैं। कारण यह है कि वे काव्य कला के पंडित हैं। उनके भावों और भाषा में प्रगाढ़ मित्रता है। भावों पर तो उनका एकाधिकार है। वे सदैव विषयानुकूल ही चलते हैं। इसी कारण उनके मानसिक चित्र पूर्ण और स्पष्ट होते हैं। अपनी कल्पनाओं के सहारे वे भावों को अत्यधिक तीव्र बना कर उतारते हैं। उनके साथ उनके पाठक भी भावुक हो उठते हैं। उनकी कल्पनाएँ सदैव सरस, चुटीली और आकर्षक होती हैं। उनकी गति में उच्छृङ्खलता के स्थान पर संयम पाया जाता है।

रस के क्षेत्र में उनके काव्य में शृङ्गार की प्रधानता है। शृङ्गार में नायिका भेद वाली अश्लीलता नहीं आने पाई है। शृङ्गार के उपरान्त वीर रस का प्राधान्य है। शृङ्गार में भी वियोग शृङ्गार मुख्य है। उद्धव शतक इसका उदाहरण है। इस रस की व्यंजना में उन्हें अत्यधिक सफलता मिली है। छन्दों में उन्हें कवित्त अत्यधिक प्रिय है। इस पर उनका पूर्ण अधिकार है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ सवैयों के अतिरिक्त रोला छन्द भी लिखा है। उनके काव्य में अलङ्कारों का अत्यन्त सुन्दर प्रदर्शन मिलता है। परन्तु ये अलङ्कार भाषा के भार न होकर उसकी सौन्दर्य वृद्धि में सहायक ही हुए हैं। अलङ्कारों से सुसज्जित होकर उनके भाव और भी आकर्षक और रमणीय हो जाते हैं। वे सर्वत्र रस के उत्कर्ष में सहायक हुए हैं। अनुप्रास, उपमा, रूपक, अपन्हुति, प्रतीप, अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा, श्लेष, व्यतिरेक आदि अलङ्कारों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। सांग-रूपक उनका अत्यन्त प्रिय अलङ्कार है।

भाषा उनकी ब्रजभाषा है। परन्तु उन्होंने प्राचीन ब्रजभाषा का अन्धानुकरण न कर उसे अपने नवीन भावों की अभिव्यक्ति के लिए नवी-

नता प्रदान की है। वह खड़ी बोली की प्रतिद्वन्द्विता में ब्रजभाषा को अधिक कोमल, सरस और शक्तिशाली बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने विभिन्न भाषाओं के आधार पर उसका संस्कार करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने लोकोक्तियों को अपनाया और प्राचीन परित्यक्त मुहावरोंका संस्कारकर उनका नवीन प्रयोग किया। साथ ही प्राचीन अप्रचलित ब्रजभाषा के प्रयोगों का बहिष्कार भी किया। वह शब्द-शक्तिके अद्भुत पारखी थे। उनकी शब्द योजना सर्वथा निर्दोष है। भावों और रचनाओं के अनुकूल भाषा और छन्दों का उपयोग करना उनकी विशेषता है। इसी कारण उनकी भाषा में प्रसाद गुण है। उसमें क्लिष्टता नहीं आ पाई है। भाषा में कहीं भी शैथिल्य नहीं मिलता। उसमें सर्वत्र स्वाभाविकता है। पांडित्य प्रदर्शन की भावना कहीं भी नहीं है। अङ्गरेजी, फारसी के विद्वान होते हुए भी उन्होंने विदेशी शब्दों का प्रयोग न के बराबर किया है। 'सिरताज' जैसे उर्दू के शब्दों का प्रयोग अत्यन्त सरस और उपयुक्त हुआ है। लाक्षणिक शब्दों का भी अत्यन्त सफल प्रयोग मिलता है। संस्कृत के तत्सम् शब्दों के प्रयोग द्वारा उन्होंने ब्रजभाषा के रूप को विकृत नहीं होने दिया है। उनका अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। उन्होंने काशी की बोली के भी कुछ शब्दों को ब्रजभाषा के साचे में ढाल कर अपनाया है। भाषा की दृष्टि से उनकी तुलना विहारी, पद्माकर आदि से की जा सकती है।

उनकी शैली पर सहृदयता की छाप है। उसमें प्रवाह है। मानवीय व्यापरों को परखना और उनका यथातथ्य चित्रण कर देना उनकी शैली की विशेषता है। उसमें भाव और भाषा का सामजस्य है। अन्य कवियों ने इस शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें उसमें सफलता न मिल सकी।

प्रश्न २—उद्धव शतक की संक्षिप्त आलोचना प्रस्तुत करते हुए दिखाइए कि उसमें भक्तिकाल और रीतिकाल का प्रभाव किस मात्रा में पड़ा है।

उत्तर—सुप्रसिद्ध आलोचक एवं साहित्यिक महारथी स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दर दास ने उद्धव शतक के विषय में लिखा है—"यह शतक

रत्नाकर जी की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जाता है। इसका सङ्गीत हमारी भावनाओं पर अधिकार करने में समर्थ है। इसका पाठ करते समय भावों की मौलिकता और उक्तियों की नवीनता का अपूर्व आनन्द आता है और सूर के पद स्मरण हो आते हैं। भक्तों में भावुकता अधिक है और रत्नाकर जी में सूक्तिप्रियता अधिक। परन्तु 'उद्धवशतक' की सूक्तियाँ भी एक अन्तर्निहित रस में डूबी हुई जान पड़ती है। रत्नाकर जी की इससे अधिक तन्मयी काव्य-साधना दूसरी नहीं मिलती। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने एक स्थान पर कहा है—हमारे सुखश्रृंगार के सम्पूर्ण साज में दुख की प्रच्छन्न छाया मिली हुई है।" रत्नाकर जी ने भी अधिकाश श्रृंगार कविता ही लिखी है। उनके जीवन व्यापी श्रृगार में छिपी हुई दुख की छाया ही मानो "उद्धवशतक" का केन्द्र पाकर साकार हो गई है।"

'उद्धवशतक' की प्रेरणा रत्नाकर जी को विभिन्न भ्रमरगीतों से मिली थी। इन भ्रमरगीतों में निजी सम्बन्ध की दृढ़ता, प्रेम की अनन्यता, योग और निर्गुणवाद की हास्य व्यंग्य पूर्ण निरर्थकता अत्यन्त आकर्षक रूप में मिलती है। रत्नाकर जी ने उद्धवशतक लिखकर सूर और नन्ददास की परम्परा को इस युग में आगे बढ़ाया। इसमें उन्होंने बाबू गुलाबराय जी के शब्दों में 'भक्तिकाल की आत्मा के लिए रीतिकाल के शरीर को आवरण रूप से स्वीकार किया है। हमको इसमें भक्तिकाल की सरलतामयी भावुकता और रीतिकाल की आलंकारिकता दोनों के दर्शन होते है।" इस ग्रन्थ को न तो हम शुद्ध रूप से मुक्तक ही मान सकते हैं और न प्रबन्ध काव्य ही। इसमें खंडकाव्य का सा प्रबन्ध निर्वाह भी है और मुक्तक की सी छन्दों की साज सम्हाल।

अन्य भ्रमर गीतों से इस ग्रन्थ मे पहली विशेषता यह है कि इसके कृष्ण सूर और नन्ददास के कृष्ण से अधिक विरह दिखाए हैं। यमुना में बहते कमल को देखकर उन्हें राधा का स्मरण हो आता है और वह प्रेम विह्वल हो मूर्च्छित हो जाते हैं। इस प्रकार इसमें उभयपक्षी प्रेम दिखाया गया है जबकि अन्यत्र केवल गोपियाँ आदि ही विरह व्याकुल हैं, कृष्ण नहीं। इस वर्णन में रत्नाकर जी की दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई

पड़ती है। उद्धव कृष्ण को ज्ञानोपदेश देते हुए कहते हैं—

"बारन कितेक तुम्हें बारन कितेक करें;
बारन उबारन ह्वै बारन बनौ नहीं।" तथा

× × × ×

"आपुही सौं आपको मिलाप औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सब सुख दुख ठायौ है।"

पहले उद्धरण मे रीतिकालीन आलङ्कारिक प्रवृत्ति है और दूसरे मे भक्ति-काल की भावुक सरल पद्धति। उद्धव ब्रज को चल देते हैं। मार्ग से ही उन पर प्रेम का प्रभाव पड़ने लगता है फिर भी पहुँचने पर वह अपना ज्ञान और योग का सन्देश सुनाने लगते हैं। यहाँ रत्नाकर जी ने उद्धव को मधुप कहकर सम्बोधित अवश्य कराया है पर वहाँ भौंरा कहीं नहीं आया।

दूसरी विशेषता यह है कि रत्नाकर जी की गोपियों को अपने व्यक्तित्व के महत्व का अधिक ध्यान है। वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करना चाहती हैं क्योंकि ब्रह्मरूपी समुद्र मे बूंद के विलीन होने से समुद्र का तो कोई हित नहीं होता परन्तु बूंद की सत्ता विलीन हो जाती है। द्वैतवाद का इसमें प्रबल समर्थन है। रत्नाकर जी की गोपियों की अधिकाँश उक्तियाँ तो निजी अनुभव और प्रेम की दृढ़ता पर आश्रित हैं तथापि कुछ नई और अनूठी भी हैं। कुछ मे हृदय की आभा है और कुछ में रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव है। बसन्त के चित्रण में उन्होंने श्लेष द्वारा बसन्त वाटिका और विरहिणी कृश एव पीत शरीर वाली गोपियों का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। उस कवित्त की अन्तिम पक्तियों में "काम विधि वाम की कला में मीन मेष कहा" कहकर अपने ज्योतिष ज्ञान का भी प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार ब्रज के सम्बन्ध में भी उन्होंने ज्योतिष ज्ञान दिखाया है—

"बगर बगर वृषभान के नगर नित।
भीषम प्रवाह ऋतु ग्रीषम बनी रहै।"

ज्योतिष के ज्ञान में रत्नाकर जी का ज्ञान बिहारी के सामान है। मुहावरों के प्रयोग से उसमें और चमत्कार आ गया है।

भाव सुकुमारता में भी रत्नाकर रीतिकालीन कवियों से टक्कर लेते

हैं। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्याम से हमारी विरह दशा का वर्णन न करना। वे उदास हो जायँगे। इसमें उनकी वेदना का आधिक्य प्रकट होता है | "आँसू भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै हैं हाय,

ब्रज दुख त्रास की न तातैं साँस लीजियौ।
नाम कौ बताइ औ जताइ ग्राम ऊधौ बस,
श्याम सौं हमारी राम राम कहि दीजियौ।"

उनकी कुछ उक्तियों में दूर की सूझ और कल्पना की सुन्दर उड़ान है—

"टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारो हाय,
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावो ना।
एक मन मोहन तो बसिकें उजारयौ मोहिं
हिय में अनेक मन मोहन बसावो ना।"

इसी प्रकार वियोग और योग की तुलना कर उन्होंने प्रत्येक दृष्टि से वियोग को योग से श्रेष्ठ ठहराया है। इस विवाद के पदों में उक्ति चमत्कार और अलङ्कारों का प्राधान्य है जिससे कवि चमत्कार उत्पन्न करना चाहता है। परन्तु कुछ पदों में हृदय पक्ष की सुन्दर अवतारणा हुई है। उदाहरणार्थ—"चेरी हैं न ऊधौ! काऊ ब्रह्मके बबा की" तथा "सहि हैं तिहारे कहैं सांसति सबै पै बस, एती कहि देहु कै कन्हैया मिलि जायगो।" आदि पंक्तियों में हृदय पक्ष उमड़ा पड़ता है।

रत्नाकर जी के चमत्कार प्रदर्शन वाले छन्दों में हृदय की मार्मिकता के दर्शन कम होते हैं—"रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के" वाले पद में उन्होंने बिहारी के अनुकरण पर चमत्कार प्रदर्शन ही अधिक किया है। वहाँ भावों की अवहेलना हो गई है। ऋतु वर्णन में उन्होंने सेनापति की श्लेष पद्धति का अनुकरण किया है। अन्य पदों में हास्य व्यंग्य की छटा भी खूब देखने को मिलती है। कहीं कुब्जा के कूबर को लेकर कल्पना का चमत्कार दिखाया गया है।

संक्षेप में भ्रमरगीत की परम्परा में इस ग्रन्थ का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें भक्तिकालीन भावुकता के साथ रीतिकालीन चमत्कार का सुन्दर समन्वय है। श्लेष और पाँडित्य प्रदर्शन की भावना से कहीं-कहीं भाषा

का माधुर्य क्षीण हो गया है परन्तु कहीं-कहीं भाषा के अत्यन्त स्वभाविक एवं मधुर रूप के भी दर्शन होते हैं । कथानक में भी मनोवैज्ञानिकता को प्रधानता दी गई है ।

प्रश्न—३—उद्धवशतक को आप मुक्तक काव्य मान सकते हैं अथवा प्रबन्ध ?

उतर—मैथिलीशरणजी की 'यशोधरा' के समान ही रत्नाकरजी के उद्धवशतक को भी हम शुद्ध रूप में न तो प्रबन्ध काव्य ही कह सकते हैं और न मुक्तक ही । उनमें दोनों के ही लक्षण मिलते हैं । प्रबन्ध काव्य के समान उनमें एक कथा है, जो इस प्रकार है—श्रीकृष्ण को मथुरा रहते हुए जब बहुत दिन हो गए तो उन्होंने अपने सखा उद्धव, जिन्हें अपने ज्ञान का बहुत अभिमान था, विरह व्याकुल गोपियों को समझाने के लिए गोकुल भेजा । ऊद्धवजी ने वहाँ जाकर गोपियों को ज्ञान की शिक्षा देकर योगमार्ग के अवलम्बन करने की सलाह दी । परन्तु गोपियों के कृष्ण के प्रेम से ओतप्रोत हृदयपर इस शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । इसके लिए उन्होंने कृष्ण को भी गोपियों पर कृपा करने की सलाह दी । संक्षेप में यही कथा है । इस कथा में आरम्भ से अन्त तक कथा का पूर्ण निर्वाह हुआ है ।

कथा को छोड़कर उद्धवशतक में प्रबन्ध काव्य के अन्य कोई भी लक्षण नहीं मिलते । न तो इसका विभाजन सर्गों में है और न आधिकारिक कथा के साथ कोई प्रासंगिक कथा ही है । छन्दों के भी विभिन्न रूप नहीं मिलते । आरम्भ से अन्त तक एक ही छन्द का निर्वाह है । अन्य मुक्तककारों के समान लगभग प्रत्येक पद में कवि का उपनाम 'रत्नाकर' मिलता है । परन्तु इस ग्रन्थ में काव्य के सभी गुण, रस, वृत्ति, अलङ्कार आदि का सुन्दर प्रदर्शन है । एक आदर्श भी उपस्थित करने का प्रयत्न है—ज्ञान पर भक्ति की विजय । यह सब कुछ होते हुए भी इसमें प्रवन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य के लक्षण अधिक मिलते हैं । इसका प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण है । उसका अपने आगे-पीछे के पदों से कोई सम्बन्ध नहीं है । एक पद में एक ही प्रसंग का वर्णन है । मुक्तक की प्रधान विशेषता पुनरावृत्ति के दर्शन भी उसमें यत्र-तत्र मिलते हैं, जो प्रबन्ध काव्य की एक

त्रुटि मानी जाती है। रचना के नाम से भी यही प्रमाणित होता है कि यह मुक्तक रचना है। उद्धवशतक में वर्णित प्रसंग पर लिखी हुई अन्य समस्त रचनाएं मुक्तक ही हैं। सूरदास, नन्ददास, सत्यनारायण आदि के भ्रमर गीत मुक्तक रचनाएं हैं। इस संक्षिप्त विवेचना के आधारपर हम कह सकते हैं कि उद्धवशतक एक मुक्तक रचना है जिसमें एक आघ गुण प्रबन्ध का भी मिल जाता है। बाबू गुलाबराय इस ग्रन्थ में प्रबन्ध काव्य के एक भाग खण्डकाव्य और मुक्तक दोनों की प्रवृत्ति का मिश्रण मानते हैं। इसमें खण्ड काव्य का-सा प्रबन्ध निर्वाह भी है और मुक्तकों की सी साज-सँभाल भी है।

प्रश्न ४—"आधुनिक व्रजभाषा काव्य में आधुनिक भारतीय समाज का जीवन प्रतिबिम्बित नहीं है" इस कथन के दृष्टिकोण से रत्नाकर जी के काव्य की आलोचना कीजिए।

उत्तर—रत्नाकरजी व्रजभाषा काव्य के अन्तिम प्रतिनिधि कवि थे। अतीत युग के जो प्रतिनिधि, वर्तमान युग में उपस्थित होते हैं, वे अतीत की वर्तमान से अभिसन्धि कराने के लिए; बीते हुये युग को, एक विशेषता के साथ लेकर उपस्थित होते हैं। उनके काव्य में वह विगत युग साकार हो उठता है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन हिन्दी कविता जिन अनेक उपादानों से पूर्ण होकर एक युग का निर्माण कर चुकी है—वीर, भक्ति एवं रीति-काल—उन सभी उपादानों का सयोजन उनकी कृतियों में मिलता है। रत्नाकरजी ने अपने काव्य को अतीत के विभिन्न साधनों से सज्जित कर गत युग को मूर्त्त किया था। उनकी विविध कृतियों के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी कृतियों में न तो केवल एक रस है और न केवल एक काव्य पद्धति। रसों में शृङ्गार और वीर दोनों का प्राधान्य है। काव्य पद्धति में भी प्रबन्ध और मुक्तक दोनों को अपनाया है।

प्राचीनता के मोह के साथ ही साथ उनमें कहीं-कहीं सामयिकता के भी दर्शन हो जाते हैं। परन्तु सामयिक विडम्बनाओं पर उनके केवल दो चार छन्द ही मिलते हैं, जिनमें से कुछ तो शुद्धि' पर हैं और कुछ में भारत की दशा का वर्णन कर भारतीयों को प्रबोध दिया गया है—

"एहो लन्दनेश नन्दनेश लौं विराजे रहौ,
छावै रहो छाया सुभ नीति सुखकेली की।
ह्वै हैं सौंति फेर वाही भांति भव्य भारत में,
पाँति पछितैहै क्रान्तिकारिन झमेली की॥"

भारत के वीरों का यशोगान करते हुए उन्होंने महारानी लक्ष्मीबाई पर ओजपूर्ण कविता लिखी है और स्वतन्त्रता के लिए अनेक स्थलों पर प्रोत्साहन दिया है। इस प्रकार कवि ने ऐतिहासिक प्रसगों के आधार पर स्वतन्त्रता प्रेम को उत्साहित करके सामयिक आवश्यकता का हल प्रस्तुत किया है। पर, यह दिशा कवि की वाणी की प्रकृत दिशा नहीं है। कवि की आकाँक्षा तो शारदा से चाहती है—"नन्ददास-देव-घनआनन्द-बिहारी सम, सुकवि बनावन की तुम्हें सुधि पाऊँ मैं।" और—

"रावरे अनुग्रह प्रताप को प्रकाश पाइ,
बालमीकि-व्यास जस चन्द उजराए है।
कहै 'रत्नाकर' त्यौं बानी महारानी मात,
कवि मति सूर तुलसी हु चमकाए हैं॥"

इस प्रकार कवि ने अपने लिए बाल्मीकि, व्यास, सूर, तुलसी, घनानन्द, बिहारी आदि की परम्परा को चुना और द्विवेदी युग के वातावरण में जितनी भी शक्ति और सफलता से वे इस परम्परा का निर्वाह कर सकते थे, उन्होंने किया।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी ने सामयिक समस्याओं से जान-बूझ कर बचने की चेष्टा की है और सम्भवतः विशेष प्रेरणाओं में ही वे वैसी पंक्तियाँ लिख सके हैं। कारण यह है कि सामन्तशाही सभ्यता के भग्नावशेष के वे उपासक थे। इसी से सुरुचि और नागरिकता का जिस कला से गठबन्धन होता है, रत्नाकरजी ने उसी कला का पोषण किया। उस कला का बाह्य पक्ष शृङ्गार प्रियता है और अन्तः पक्ष मधुर भक्तिभाव का पोषण है।

रत्नाकरजी के काव्य में जो प्रणालियाँ मिलती हैं, उनका प्रकाशन भारतेन्दु युग से ही होने लगा था —

"भए इकट्ठा आनि वहाँ डाकिनि-पिशाच-गन।
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन ॥"

इसमें भारतेन्दु जी के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक के श्मशान वर्णन की प्रणाली को अपनाया गया है। 'गंगावतरण' की शैली में भी भारतेन्दुजी की 'गंगा-वर्णन' की शैली का अनुकरण है। कवित्त और सवैयों की रीति-कालीन पद्धति को रत्नाकर जी ने अपने काव्य का माध्यम बनाया है। 'दोहावली' लिखकर छोटे छन्द के चमत्कार को भी दिखाया है। सूर और तुलसी की पद प्रणाली को अवश्य इन्होंने प्रश्रय नहीं दिया। कारण यह है कि रत्नाकरजी भक्त कवि न होकर कलाकार ही थे। उनके रस के मूल में भावोल्लास से भावोत्कर्ष अधिक है। माधुर्य के प्रति आकर्षण होने के कारण उनमें सौन्दर्य वृत्ति की जितनी प्रधानता है उतनी अत्यधिक वृत्ति की नहीं। इसी कारण वह सूर और मीरा के से पद नहीं कह सके।

इन विभिन्न प्रणाली के सहयोग से उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखे। इन सभी ग्रन्थों में काशी, गङ्गा, हरिश्चन्द्र, कृष्ण आदि प्राचीनों के प्रति विशेष मोह प्रदर्शित किया गया है। अतीत के जिस कवि परिवार से रत्नाकरजी वर्तमान युग में आये थे, वह परिवार बहुत बड़ा था। वे उसमें स्वेच्छा से सम्मिलित हुये थे। प्रत्येक व्यक्ति परिवार में रहते हुये भी अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखता है। इसी कारण रत्नाकरजी भी अपने काव्य में एक विशेष अपनापन छोड़ गये हैं। इनकी इस विशेषता के दर्शन 'हिंडोला' और 'उद्धवशतक' में विशेष रूप से होते हैं। इनमें कवि के हृदय की रसात्मकता का सहज परिचय मिलता है। अपनी अन्य रचनाओं में यदि वे एक शाब्दिक कलाकार हैं तो इन दोनों ग्रन्थों में एक भावुक कवि भी। इनमें उनकी कला प्रस्फुटित दिखाई देती है।

कहा जाता है कि रत्नाकरजी के विशेष प्रिय कवि 'पद्माकर' थे। 'समा-लोचनादर्श' में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

'सब्द माधुरी सूक्ति सकल मन मानत सब नर,
जैसो हो भवभूति भयौ तैसो पद्माकर ॥"

भवभूति के साथ रीतिकालीन शृङ्गारी कलाकार पद्माकर की समता करना रत्नाकरजी की रुचि की विशेषता प्रदर्शित करती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सूर, तुलसी आदि से माधुर्य भाव और प्रबन्ध पद्धति तथा शृङ्गारिक कवियों से मुक्तक शैली लेकर, एक रीतिकालीन प्रतिनिधि कवि के रूप में अपनी विशिष्ट सङ्कलन बुद्धि का परिचय दिया। प्राचीनता का अनुकरण करने के कारण उनके काव्य में नवीन विषय, नवीन भाव और नवीन पद-विन्यास नहीं आने पाए। उसमें इस युग का एक भी तो लक्षण नहीं मिलता। उस प्राचीनता में यदि कोई नवीनता है तो यह कि उसमें रत्नाकर का अपना बानक है, अपनी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के कवियों की आलोचना आधुनिक दृष्टिकोण से न कर, उन्हें उन्हीं के युग में रख कर देखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा का यह अन्तिम प्रतिनिधि कलाकार इस युग में रहते हुए भी उसी प्राचीनता के मोह में पड़ा रहा। उनके काव्य को पढ़कर उनसे अपरिचित पाठक यही समझेगा कि वह एक ऐसे कवि की कविता पढ़ रहा है जो कदाचित भक्ति और रीतिकाल के सन्धि युग में उत्पन्न हुआ था, क्योंकि उनके काव्य में उसे आधुनिकता की छाप कहीं भी नहीं मिलेगी।

कुरुक्षेत्र (दिनकर)

प्रश्न १—दिनकर जी की काव्य साधना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—दिनकर हिन्दी काव्य की नई पीढ़ी के उदीयमान कवि माने जाते हैं। वे एक प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। हिन्दी साहित्य में उनकी रचानाओं का अच्छा मान है। उन्होंने विद्यार्थी जीवन से ही काव्य साधना को अपनाया था। अध्ययन के साथ साथ जैसे जैसे उनके भावों और विचारों में गम्भीरता एवं प्रौढ़ता आती गई, उनका काव्य अधिक प्रखर, शक्तिशाली और परिपक्व होता गया। दिनकर को इतिहास, राजनीति

और दर्शन से विशेष प्रेम है। उनका उर्दू संस्कृत और बङ्गला का ज्ञान भी विस्तृत है। आज हिन्दी साहित्य में उनकी गणना एक प्रगतिवादी, अध्ययनशील राष्ट्रीय कवि के रूप में की जाती है।

उन्होंने फुटकर कविताएं, महाकाव्य तथा आलोचना तीन प्रकार का साहित्य लिखा है। काव्य संग्रहों में रेणुका, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, हुंकार, धूपछाँह, सामधेनी और बापू हैं। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' नामक एक महाकाव्य तथा मिट्टी की ओर नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं। गद्य लेखक एवं आलोचक की अपेक्षा उनकी प्रसिद्धि कवि रूप में ही अधिक है। उनकी 'हिमालय' और 'नई दिल्ली' नामक दो कविताएं अत्यन्त प्रसिद्ध हुई और गुजराती के यशस्वी कवि मेघाणी जी ने इन दोनों कविताओं का गुजराती में अनुवाद किया।

एक प्रसिद्ध आलोचक दिनकर को हिन्दी का क्रान्तिदर्शी कवि मानते हैं। उनके काव्य में ओज है जो सीधा हृदय पर चोट करता है। माधुर्य से उन्हें कम प्रेम रहा है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में गुलामी की वेदना और और तड़पन है। दिनकर में मैथिलीशरण गुप्त एवं प्रसाद जी की शैली और विचारधारा का अद्‌भुत सामंजस्य है। हुंकार और सामधेनी में ओजपूर्ण कविताएं हैं तो द्वन्द्वगीत में दार्शनिक चिन्तन का प्राधान्य है। कुरुक्षेत्र में यह दोनों विचार धाराएं मिल गई है। कुरुक्षेत्र में उन्होंने एक दार्शनिक कवि की भाँति अतीत की पृष्ठ भूमि पर वर्तमान का चित्र उतारा है। यह उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। इसकी रचना में प्रवाह, भावों में स्पष्टता और विचारों में युग को प्रतिध्वनित किया गया है। युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा आदि अनेक विरोधी समस्याओं पर इसमें विचार किया गया है।

दिनकर के काव्य में दो प्रकार की भावनाएं पाई जाती हैं—एक राष्ट्रीय विचारधारा और दूसरी विश्व भावना से सम्बद्ध। वे विश्व बन्धुत्व के समर्थक हैं। उनके काव्य में विश्वव्यापी वेदना का तीखा स्वर है। राष्ट्रीय भावनानुसार उन्होंने भारत का विगत वैभव का वर्णन कर वर्तमान पतित अवस्था के प्रति अपना तीव्र असन्तोष व्यक्त किया है। इसके लिए

वे क्रान्ति चाहते हैं। ये कविताएं पाठक में ओर और उत्साह को जगा देती हैं। 'हुंकार' में ऐसी ही रचनाओं का संग्रह है। राष्ट्रीय विचारधारा के चित्रण में उन्होने गुप्त जी का अनुकरण किया है। समष्टि रूप से उनकी रचनाओं में गीत है। भावों की तीव्रता है और विचारों की प्रौढ़ता है।

काव्य में अलङ्कारों के प्रति कवि का मोह अधिक नहीं है। उन्होंने केवल उन्हीं अलङ्कारों का प्रयोग किया है जो उनके भावों की उत्कर्षता में सहायक हुए हैं। रस की दृष्टि से वे प्रधानतः वीर रस और शान्त रस के कवि हैं। विद्रोह के गीतो में वोर रस है और दार्शनिक कविताओं में शान्त रस पर प्रधानता वीर रस की ही है। छन्दों में उन्होंने ऐसे गीतों को ही अपनाया है जिनके द्वारा वीर रस का सफल परिपाक हो सका है। गीत के अतिरिक्त कवित्त और घनाक्षरी भी उनके प्रिय छन्द हैं क्योंकि ये छन्द वीर रस की अभिव्यक्ति में पूर्ण सहायक हुए हैं।

उनकी भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। अधिकतर संस्कृति तत्सम् रूपों का प्रयोग मिलता है। शब्द चयन अत्यन्त पुष्ट और विषयानुकूल है। भाव और भाषा में पूर्ण सामंजस्य है। क्लिष्ट शब्द योजना से वे दूर ही रहे हैं। भावों के अनुरूप ही भाषा सरल, सुबोध और प्रांजल है। शाब्दिक चमत्कार की भावना कहीं नहीं मिलती। लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी न के बराबर है। इसी कारण उसमें प्रासादिकता है। हृदय पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। कल्पना की ऊँची उड़ान न होने से भाषा के ऐश्वर्य और सरलता के दर्शन होते हैं। भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज का प्राधान्य है।

उनकी शैली अत्यन्त परिमार्जित और प्रौढ है। उसमें प्रवाह है। उनकी शैली कथात्मक है। उसमें सरसता, सरलता, स्पष्टता और मर्मस्पर्शिता है। दिनकर के हृदय में प्रकृति के प्रति एक अबोध आकर्षण है। वह प्रकृति के-प्रत्येक व्यापार में एक आत्मीयता पाते हैं। इसीसे उनका प्रकृति चित्रण सजीव और मार्मिक बन पड़ा है।

प्रश्न २— दिनकर की राष्ट्रीयता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर —दिनकर के काव्यालोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने

पाश्चात्य प्रणालियों, सिद्धान्तों और गुणों को अपनाने के साथ ही भारतीय महापुरुषों, महत्त्वपूर्ण घटनाओं और ऐतिहासिक तथ्यों से भी प्रेरणा प्राप्त की है। विदेश में वीरों से गुण गाए जाते हैं, परन्तु—"दिल्ली में रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।" कम्यूनिष्टों के केन्द्र मास्को का आदर करते हुए भी वह कहते हैं कि पराधीन व्यक्ति को सबसे पहले अपने देश की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, विदेश देश के बाद आ सकता है। कवि भारत के स्वर्णिम अतीत का स्मरण करता है। उस पर आँसू बहाकर वह अपने देशवासियों को पुनः उसी स्थिति को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। उसका स्वप्न है—

"प्रिय दर्शन इतिहास कण्ठ में, आज ध्वनित हो काव्य बने।
वर्तमान की चित्रपटी पर, भूतकाल सम्भाव्य बने॥"

किन्तु कवि जानता है कि केवल प्राचीन गौरव गान से ही समस्या का समाधान नहीं हो सकता। उसके लिए त्याग और बलिदान की आवश्यकता है। युवक इसे कर सकते हैं। "व्यक्ति" शीर्षक कविता में कवि कहता है—

"धर कर चरण विजित शृंगों पर झण्डा वही उड़ाते हैं।
अपनी ही उँगली पर जो, खञ्जर की जंग छुड़ाते हैं॥"

कभी कवि आशा-निराशा के झूले में झूलता रहता है। निराश होकर वह शङ्कर को ताण्डव नृत्य करने का आह्वान करता है—

"गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो, लगे आग इस आडम्बर में।
वैभव के उच्चाभिमान में, अहङ्कार के उच्च शिखिर में।
नाचो हे नाचो नटवर॥"

राष्ट्रीयता का पुजारी कवि साम्प्रदायिकता का विरोधी है। नोआखाली और बिहार के प्रसिद्ध दंगों पर कवि ने लिखा था—

"जलते हैं हिन्दू मुसलमान, भारत की आँखें जलती हैं।
आने वाली आजादी की, लो दोनों आँखें जलती हैं॥"

आर्थिक विषमता पराधीनता का सबसे बड़ा अभिशाप है। इसे दूर करना ही स्वतन्त्रता का प्रधान उद्देश्य है। इस विषमता का दर्शन कराते हुए कवि ने लिखा है—

"बिजली की इस चकाचौंध में, देख दीप की लौ रोती है।
अरे हृदय को थाम, महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है॥"

जमींदार और किसानों के वैषम्य पर उसने कहा—

'देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे, हृदय शोणित की धारें।
और उठी जाती उन पर ही, वैभव की ऊँची दीवारें॥"

कृषक मजदूरों को महाजनों के अत्याचार सहने पड़ते हैं। ऋणी कहता है—

"ऋण शोधन के लिए दूध घी, बेच बेच धन जोड़ेंगे।
बूँद बूँद बेचेंगे अपने, लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे॥"

कवि देशकाल के साथ चला है। देश के प्रत्येक स्पन्दन को कवि ने अपने काव्य में स्थान दिया है। युद्ध की विभीषिका पर कवि ने "कुरुक्षेत्र" में विचार प्रकट किए हैं। अहिंसा की सफलता पर उसने हिंसा का भी स्वागत किया है, क्योंकि—

"हिंसा का आघात तपस्या ने, कब कहाँ सहा है।
देवों का दल सदा दानवों, से हारता रहा है॥"

युद्ध को तो "अनीति ध्वजाधारी" बुलाता है या वह बुलाता है "जो अशान्त हो क्षुधाअनल से जलता।'

दिनकर के काव्य में भूखी और दरिद्र मानवता साकार हो उठी है। उनके दरिद्रता के चित्रण आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में बिम्बग्रहण कराने वाले हैं। उदाहरणार्थ—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

उनके काव्य में इस दरिद्रता और सामाजिक अन्याय के चित्र भरे पड़े हैं। इस चित्रण की एक विशेषता यह है कि उन्होंने इसको कहीं भी भाग्य के कारण नहीं माना है। वह भाग्यवादी नहीं है। इस विषमता का एकमात्र कारण यह है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के श्रम की चोरी करता है। पैसा मनुष्य की दया और सहानुभूति को कुण्ठित कर देता है। इस-

लिए वे आर्थिक स्वतन्त्रता को प्रथम स्थान देते हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता का इसके अभाव में कोई मूल्य नहीं है। इसी विषमता को दूर करने के लिए ही कवि ने प्रलयङ्कर शङ्कर से ताण्डव नर्तन की प्रार्थना की है।

अपने क्रान्ति सन्देश को सुनाते हुए कवि ने यह भी अनुभव किया है कि उसके उद्बोधन का सुन्दर प्रभाव पड़ रहा है। वह कहता है—

"पायल की पहली चमक, सृष्टि के कोलाहल छा जाता है।
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।"

अपने इसी विश्वास से प्रेरित होकर उसने क्रान्ति का आह्वान करते हुए कहा है—

"उठ वीरों की भाव रंगिणी, दलितों के दिल की चिनगारी।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग जाग री क्रांति कुमारी॥
लाखों क्रोध कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट फूट तू कवि कण्ठों से, बन व्यापक निज युग की वाणी॥"

कवि की क्रान्ति की यह पुकार अरण्यरोदन नहीं है। अन्य देश क्रान्ति की सफलता देख चुके है। कवि को विश्वास है कि भारत में भी क्रान्ति सफल होगी। इसी विश्वास से उसका हृदय एक दिव्य आशा से भर जाता है। यह आशावाद ही दिनकर का मेरुदण्ड है। तभी वह कहता है—'मंजिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोने वाले।
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोने वाले॥"

इसके बाद ही— "गरज कर बता सब को, मारे किसी के
मरेगा नहीं हिन्द देश
लड़ाई के मैदान में चले रहे
लेके हम उसका उड़ता निशान,
खड़ा हो जवानी का झंडा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान।"

प्रश्न ३—'कुरुक्षेत्र' में प्रदर्शित कवि के विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में प्राचीन कथानक के

सहारे युद्ध की अनिवार्यता पर विचार करते हुए पुराने चोले में एक नई आत्मा का प्रवेश कराया है। इसमें उन्होंने एक दार्शनिक कवि की भाँति बड़े कौशल से अतीत की पृष्ठभूमि पर वर्तमान का चित्र अङ्कित किया है। दूसरे शब्दों में हम इसे नए युग की गीता मान सकते है। प्रथम महायुद्ध से द्वियीय महायुद्ध तक हमारे देश में जो सांस्कृतिक प्रगति हुई है उसका अत्यन्त सुन्दर भावनात्मक चित्रण इसमें हुआ है। युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा, काव्य और तर्क, अनुभूति और विवेक, बाहुबल और आत्मबल, प्रवृत्ति और निवृत्त, हृदय और मस्तिष्क की जो विवेचना काव्य मे हुई हैं उसमे भारतीय संस्कृति और समाज-दर्शन का सुन्दर समन्वय है।

कथानक की दृष्टि से इस काव्य में कोई विशेषता नहीं है। इसका कथानक अत्यन्त संक्षिप्त है। महाभारत के भयङ्कर रक्तपात को देखकर विजयी होते हुए भी, धर्मराज युधिष्ठिर के मन में ग्लानि उत्पन्न होती है। वह अपनी विभिन्न शङ्काओं को लेकर शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह के पास जाते हैं। भीष्म पितामह उनकी शङ्काओं का उत्तर देकर यह सिद्ध कर देते हैं कि यह युद्ध एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। युधिष्ठर ने इसमे भाग लेकर कोई पाप नहीं किया। यही उत्तर प्रत्युत्तर इस काव्य का आधार हैं। घटनाएं कहीं भी नहीं मिलतीं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से केवल युधिष्ठर और भीष्म दो ही पात्र सामने आते हैं। एक शङ्का करता है दूसरा उत्तर देता है।

दिनकर ने इस काव्य में एक सर्वथा नवीन एव मौलिक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उन्होंने स्वयं इसकी भूमिका में स्वीकार किया है कि, कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था।" इससे स्पष्ट है कि कवि की वाणी में महाभारत की वाणी से अधिक उच्चस्वर में इस ध्वंसावशेष युग की कहानी गूंज रही है। आज हमारे "बापू" ने युग को अहिंसा और क्षमा का मन्त्र देकर प्रतिशोध की ज्वाला का शमन- करने का उपदेश दिया है। कवि ने इन समस्याओं और भावनाओं का प्रदर्शन अत्यन्त

सजीवता पूर्वक आदि से अन्त तक किया है। कहीं वह वर्तमान युग की विभिषिकाओं से पलायन वृत्ति के पक्ष में नहीं होता, न उसके सामने घुटने टेकता है, बल्कि उनसे संघर्ष लेने में अपने जीवन की सार्थकता समझता है। कवि नहीं चाहता कि मनुष्य भाग्य के पीछे पड़ा रहकर अपने जीवन को अन्धकार मय कर ले। इसके लिए वह एक ओर तो भाग्य-वाद के विरुद्ध आवाज उठाता है और दूसरी ओर पलायनवाद का भी विरोध करता है।

कवि ने कुरुक्षेत्र में एक नवीन सन्देश दिया है। आज के युग में युद्ध शोणित से अपने करों को रंग कर जो मनुष्य ज्ञानी और विद्वान होने का दावा करते हैं उनके प्रति दिनकर का विद्रोहात्मक स्वर गूंज उठता है—

"व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय,
श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीति
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, है वही ज्ञानी वही विद्वान
और मानव भी वही।"

इस प्रकार युद्ध द्वारा हिंसा का विरोध कर वह अहिंसा को प्रश्रय देना चाहता है। देश में कितने शान्ति पूर्ण आन्दोलन हुए पर स्वतन्त्रता न मिली। इधर युद्ध की अग्नि भी धाँय धाँय जल रही थी। अहिंसा की इस असफलता को देख कवि हिंसा पर भी उतर आने में हानि नहीं समझता—

"हिंसा का आघात तपस्या ने कब कहाँ सहा है?
देवों का दल सदा मानवों से हारता रहा है।"

अहिंसा की इसी पराजय को लक्ष्य कर धीरे धीरे कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कभी युद्ध भी अति आवश्यक हो जाता है—

'रुग्ण होना चाहता कोई नहीं रोग लेकिन आगया जब पास हो।
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या? शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से।"

कवि यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं कि अत्याचारों एवं अन्याय के सम्मुख हम समर्थ होते हुए भी भीख मागते रहे। शक्ति रहते अधिकार की भीख माँगना कायरता है—

"गिड़गिड़ा कर किन्तु माँगे भीख क्यों ?
वह पुरुष जिसकी भुजा में शक्ति हो।"

क्षमा याचना या अहिंसा का सहारा भी उन्हीं को शोभा देता है जिनकी भुजाओं में शक्ति हो, जिनके हृदय में बिजली से खेलने का साहस हो और जो अंगारों के शोलों पर हँसते हुए आगे की ओर बढ़ सकें—

"क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो,
उनको क्या जो दन्तहीन, विष रहित विनीत सरल हों।"

प्रतिशोध की भावना से भरकर इस महाकाव्य के नायक युधिष्ठिर 'विजय' जैसे छोटे से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई लाशों से तोल रहे हैं। प्रतिशोध एवं राज्य प्राप्ति की आकाँक्षा में ही पड़कर पाँडवों ने इतना भयङ्कर नर संहार किया था। परन्तु इस प्रतिशोध को उचित ठहराते हुए भीष्म पितामह अपने धर्म कथन में इसका दूसरा पक्ष स्पष्ट कर देते हैं। आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है। फिर दूसरा प्रश्न युधिष्ठर के सामने आता है कि युद्ध एक निन्दित और क्रूर कार्य है, किन्तु उसका उत्तर दायित्व किस पर होना चाहिए। उस पर जो अनीतियों का जाल बिछा कर प्रतिकार को आमंत्रण देता है। या उस पर जो इस ससार को छिन्न भिन्न कर देने को आतुर है। पाँडवों को निर्वासित कर एक प्रकार की शान्ति की स्थापना तो दुर्योधन ने भी की थी तो क्या युधिष्ठर को इस शाँति को भंग नहीं करना चाहिए था।

इन प्रश्नों के समाधान में नायक सारा काव्य कह डालता है। अन्त में उसे ज्ञान प्रकाश मिलता है और स्नेह पुष्पों से आच्छादित विश्व ही इसका लक्ष्य बन जाता है क्योंकि—

'स्नेह बलिदान होंगे माप नटता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"

लेखक का विश्वास है कि समविभाजन के साम्यवादी आधार पर ही

संसार में शान्ति की स्थापना हो सकती है।

"शान्ति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो।

अहिंसा, क्षमा और प्रतिशोध की भावना को कवि ने एक पूर्णतः आदर्शवादी व्यक्ति के रूप में न देखकर एक प्रगतिशील और यथार्थवादी के दृष्टिकोण से देखा है। अहिंसा और क्षमा शक्तिवान को ही शोभा देती है, निर्बल की अहिंसा और क्षमा कायरता की द्योतक है। यदि पाँडव कौरवोंको क्षमाकर अहिंसक बननेका ढोंग करते तो यह उनकी कायरता होती। इसी कारण जब कवि ने देखा कि अहिंसा और क्षमा से काम नहीं चलता तो उसने मुक्त कण्ठ से युद्ध का आह्वान कर प्रतिशोध लेने को उत्तम ठहराया। इस प्रकार युग की विचार धारा कुरुक्षेत्र में साकार हो उठी है। बापू की अहिंसा की असफलता एव इस युद्ध की प्रतिक्रिया की भावना ही उसमें अधिक उभर कर आई है जो स्पष्ट है।

हिमतरंगिनी—(माखनलाल चतुर्वेदी)

प्रश्न १—माखनलाल चतुर्वेदी जी की रचनाओं पर प्रकाश डालते हुए उनकी काव्य साधना पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—चतुर्वेदीजी का अधिकांश साहित्य सामयिक लेखों तथा कविताओं में बिखरा पड़ा है। उनकी रचनाओं की संख्या अधिक नहीं है। अब तक उनके केवल पांच ग्रन्थ ही प्रकाश में आए हैं—१ काव्य—हिमकिरीटिनी और हिमतंरगिनी। २—नाटक—कृष्णार्जुन युद्ध। ३—गद्यकाव्य—साहित्य देवता। ४—कहानी संग्रह—वनवासी। हिमकिरीटिनी पर उन्हें दो हजार रुपये का पुरस्कार मिला था।

साधारणतः चतुर्वेदी जी हिन्दी के राष्ट्रीय कवि के नाम से प्रख्यात है। यह भावुक कवि हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ देशभक्ति और राष्ट्रीय

भावना से परिपूर्ण हैं। साहित्यिक विकास के साथ ही साथ उनके विचार प्रौढ़ और परिपक्व होते गए। अपनी सशक्त लेखनी द्वारा उन्होंने अपने युग की जनता के मनोभावों एवं राष्ट्रीय चेतना स्वरूप स्वतन्त्रता संग्राम का अत्यन्त सुन्दर अङ्कन किया। इन रचनाओं के अतिरिक्त कुछ भावना प्रधान रचनाएँ भी हैं जिनमें प्रेम की अत्यन्त मार्मिक एव तीव्र व्यंजना हुई है। कुछ रचनाओं में रहस्यवाद की झलक मिलती है। इन तीनों प्रकार की रचनाओं में से उनकी राष्ट्रीय रचनाओं में ओज की प्रधानता है। उनमें त्याग की पृष्ठभूमि पर राष्ट्र और समाज की वर्तमान समस्यायों का चित्रण है। देश की वर्तमान दशा का विशाद एवं मार्मिक चित्रण कर उन्होंने राष्ट्र को नव चेतना का सन्देश दिया है। कर्म में उनका अटूट विश्वास है। इसी कारण उनकी रचनाओं में एक अद्भुत शक्ति भर गई है। वे अपने समय की सन्देश वाहिका हैं। 'पुष्प की अभिलाषा', 'कैदी और कोकिला' आदि कविताओं में सरल भावों के साथ ही एक तीव्र व्यंग्य है।

उनकी प्रेममूलक कविताओं में प्राचीन ब्रजभाषा की कविता का सा माधुर्य है। उन्होने प्राचीन भाव को नया रूप देकर उनके सौन्दर्य को बढ़ा दिया है। वे सौन्दर्य प्रिय कवि हैं इसलिए वे चतुर्दिक सौन्दर्य का ही अनुभव करते हैं। उनके प्रेम में त्याग, वेदना और टीस है। उसमें सूफियों की सी व्याकुलता और कातरता है। उनकी रहस्यवादी कविताएं आध्यात्मिक और छायावादी हैं। पर इनकी संख्या कम है। राष्ट्र प्रेम के आधिक्य के कारण वह रहस्यवाद के क्षेत्र में रमे नहीं हैं। वे भावुक हैं इसी कारण उनकी कुछ रचनाओं में हल्की सी रहस्यात्मकता आ गई है। इस क्षेत्र में भी अगरेजी एवं बंगला के नए रहस्यवाद से न प्रभावित होकर प्राचीन हिन्दी काव्य से ही प्रेरणा ग्रहण की है। कहीं कहीं कबीर की सी शैली के दर्शन होते हैं और वहाँ वैसी ही अस्पष्टता और दुरूहता है। उनका ऐसा काव्य अस्पष्ट है।

भाषा की दृष्टि से उनमें कोई विशेषता नहीं मिलती। संस्कृत के तत्सम्

शब्दों के साथ ही उर्दू के भी सरल शब्दों का स्वतन्त्र व्यवहार है। कहीं कहीं तद्भव शब्दों का भी प्रयोग है जैसे हृदय के स्थान पर 'ही' का। ओज उनकी भाषा का प्रधान गुण है। उसमें साहित्यिक छटा का अभाव होकर स्वाभाविक वार्तालाप का सा प्रवाह है। इसी कारण अनेक स्थानों पर उनकी कविता ने गद्य का सा स्वरूप धारण कर लिया है। उनकी शैली में भी ओज का प्राधान्य है। उस पर वक्तृत्व शैली की छाप है। उनकी छोटी छोटी षटपादियों में बड़ा ओज रहता है। उन्होंने शब्दों के स्थान पर भावों पर अधिक बल दिया है। इसी से अधिकांश चलते शब्दों का प्रयोग है। उनके काव्य में कल्पना भावना अथवा शब्दों की चित्रावली का अभाव है। वह कलाकार न होकर कवि हैं। अलङ्कारादि बहुत कम मिलते हैं। कुछ उपमाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से वे एक साधारण कोटि के कवि माने जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में उसका महत्व एक राष्ट्रीय कवि और स्वातन्त्र्य संग्राम के योद्धा होने के कारण ही अधिक है। उन्होंने किसी का अनुकरण न कर अपनी स्वतन्त्र साहित्यिक सत्ता की स्थापना की है। गृह एवं बन्दीगृह सर्वत्र वह राष्ट्रप्रेम और अपने आराध्य के प्रेम में डूबे रहे हैं। कृष्ण उनके आराध्य हैं। उन्होंने अपने आराध्य में देवत्व के स्थान पर आदर्श मनुष्यत्व के दर्शन किए हैं। कवि के साथ ही साथ वे कुशल पत्रकार भी हैं।

प्रश्न २—हिमतरंगिनी का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—हिमकिरीटिनी के उपरान्त 'हिमतरंगिनी' नामक पुस्तक में चतुर्वेदी जी की विभिन्न विचारों वाली ५५ कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने स्वयं कहा है—"मेरे जीवन का 'कुछ' कभी २ यह संग्रह बनकर पाठकों के हाथों में जारहा है। इसे निर्माल्य जानकर, युगरुचि के चरणों में काँटासा कुछ गढ़ न जाए अतः इसे बरसों रोक रखा। इनमें से एक दो तुकबन्दियाँ बीस बरस पहले जब एक सामयिक में छप गई थीं तब एक सज्जन ने मेरी लिखास और युग की धारणा की दूरी को इन शब्दों में मुझे लिखा था—"तुम्हारे काव्य को तो पार तुम्हीं लिखो तुम्हीं पढ़ो" तब भी मैं लिखता क्यों गया? मेरे निकट तो ये 'परम सत्य'

है। आज भी वे क्षण, वे उतार चढ़ाव, वे आँसू, वे उल्लास, वे जीवित मरण मेरे निकट खड़े से हैं। यही क्षण थे जब मैं युग से हाथ जोड़कर मन ही मन कहता था—कभी-कभी, मुझे अपना भी रहने दो। 'पूजागीत' कही जाने की उम्मीदवार इन तुकबन्दियों की भी यही दुर्गति हुई। ये पूजा गीत रहे नहीं, प्रेम बने नहीं, अतः यह निर्माल्य शिखर की ऊँचाई से भागते हुए 'निमग्न' हो गए और 'हिमतरंगिनी' नाम पा गए। प्रलय की आग होती तो ऊपर को सुलग कर भड़कती, 'पानी' थे कि ढालू जमीन ढूंढ़ते चल पड़े नीचे स्तर की ओर।"

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत संग्रह में उनकी प्रेमात्मक और कुछ रहस्यात्मक कविताओं का संग्रह है। कवि ने अन्धविश्वास से ऊपर उठकर अपने हृदय की सम्पूर्ण भावुकता से ओत प्रोत होकर कहीं तो भगवान के न्याय पर सन्देह प्रकट कर उन्हें उलाहना दिया है और कहीं अपने आराध्य भगवान कृष्ण से ब्रज की दयनीय दशा का वर्णन कर उद्धार की प्रार्थना करते हैं।

"गो-गण संभाले जाते नहीं मतवाले नाथ,
दुपहर आई वर-छाँह में बिठाओ नेक।
....

दम्भ दानवों ने कर कर कूट टोने यह,
गोकुल उजाड़ा है गुपाल सु बसाओ नेक।" आदि

कहीं भगवान से कवि कहता है कि—

"हे प्रशान्त तूफान! हिए में कैसे कहूँ समा जा?

कहीं पर जेल के सींखचों में बन्द पड़ा कवि जेल के वातावरण में ही सर्वत्र अपने प्रियतम की झलक पाता है। उसे प्रत्येक वस्तु में उसी के दर्शन होते हैं—"पत्थर के फर्श, कंगारों में, सीखों की कठिन कतारों में।
खम्भों लोहे के द्वारों में, इन तारों में, दीवारों में॥"
"इन सुर शरमीले, गुणगरवीले, कष्ट सहीले वीरों में।
जिस ओर लखूँ तुम ही तुम हो प्यारे इन विविध शरीरों में॥"

———

सामान्य प्रश्न

प्रश्न १—महाकाव्य के लक्षणों को समझाइए।

उत्तर—महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों को हम संक्षेप में इस प्रकार बता सकते हैं—(१) वह सर्गों में बन्धा होता है। (२) इसमें एक नायक रहता है जो देवता या उत्तम वंश का धीरोदत्त गुणों से समन्वित पुरुष होता है। उसमें एक वश के अनेक राजा भी हो सकते हैं। (३) शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस अङ्गी रूप में से रहता है। नाटक की सब सन्धियाँ होती हैं। (४) इसमें वृत्तान्त इतिहास प्रसिद्ध होता है या सज्जनाश्रित। (५) इसमें मङ्गला चरण और वस्तु निर्देश होता है। (६) कहीं कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुणगान रहता है। (७) एक सर्ग में एक ही छन्द रहता है और अन्त में वह बदल जाता है। यह नियम शिथिल भी हो सकता है जैसे रामचन्द्रिका में। प्रवाह स्थिर करने के लिए छन्द की एकता वांछनीय है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की सूचना रहती है। कम से कम ८ सर्ग होने आवश्यक हैं। (८) इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संगम, यात्रा आदि विषयों का वर्णन रहता है।

महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों में कुछ तो उसके संगठन से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ रस तथा नायक से सम्बन्धित है। नायकों में कुलीनता, शालीनता तथा महानता का प्रतिबन्ध इस कारण लगाया गया है जिससे धीरोदात्त नायक में उदात्त भावनाओं का समावेश भली प्रकार हो सकता है। इतिहास प्रसिद्ध लोकप्रिय नायक होने से उनमें लोकरंजकता आ जाती है और साधारणीकरण या लोक हृदय से साम्य की भावना अधिक हो जाती है। नायक की श्रेष्ठता इतिहास प्रसिद्धि, युद्ध, यात्राओं आदि के वर्णन द्वारा महाकाव्य का जातीय जीवन से सम्बन्ध हो जाता है। व्यवहार में भी महाकाव्यों में जातीय गुणों और मनोवृत्ति को प्राधान्य मिलता है। इससे एक आदर्श की सृष्टि होती है। प्राचीन आदर्शों के अनुकूल खल और सज्जनों के वर्णनों में भी जातीय महोवृत्ति तथा आदर्शों की झलक रहती

से वह दूर भागता है। सामाजिक बन्धनों के कारण स्वच्छन्द प्रेम के लिए अवकाश न रहने पर वह अपनी अतृप्त वासना को काव्य में सांकेतिक अभिव्यक्ति देता है। प्रकृति उसकी सहचरी का काम देती है। वह उसे संवेदनशील सजीव प्राणी के रूप में मानता है! कभी कभी तो प्रकृति के प्रतीकों से ही अपनी बात कहता है। उसे जड़ चेतन में एक ही भाव सूत्र पिरोया हुआ जान पड़ता है। यहाँ वह सर्वात्मवादी हो जाता है। उसकी वृत्ति अन्तमुंखी होती है और भावनाएं सूक्ष्म। अपना व्यक्तित्व ही उसका केन्द्र होता है। इस प्रकार छायावादी कविता रोमाँटिक कविता से मिलती जुलती वस्तु है।

इन दोनों में अन्तर इतना है कि छायावाद भारत की उपज है। इसलिए उस पर यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा, सामाजिक मान्यता और साहित्यिक विचारधारा का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है। इस भिन्नता के आधार पर हम छायावादी कविता को 'रोमांटिसिज्म' का भारतीय संस्करण भी कह सकते हैं। सारांश यह है कि सन् १६२०-२२ से १६३५ तक के बीच की वह कविता जिसके भाव पक्ष में व्यक्तिवाद, अतृप्तप्रेम, निराशा और वेदना, प्रकृति का मानवीयकरण और तादात्म्य, सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति, जिज्ञासात्मक रहस्य भावना आदि बातें मिलती हैं और भावपक्ष की इस नूतनता के कारण जिसके कलापक्ष में नवीन छन्द विधान, नवीन अलङ्कार विधान, लाक्षणिक शब्दावली और प्रतीकों का प्रयोग होता है, छायावादी कविता कही जाती है।

इस कविता के आरम्भ में ही नहीं बहुत पीछे तक कवियों ने अतृप्त भावना के चित्र दिए हैं, जिसे देखकर कुछ आलोचक उसे प्रच्छन्न शृङ्गार से युक्त बतला कर रीतिकालीन कविता का नवीन सस्करण मानते हैं। और सिद्ध करते हैं कि रीतिकालीन और छायावादी कविता में कोई विशेष अन्तर नहीं है! वैसे यदि छायावाद की कोई विशेषता है तो वह यह है कि काव्य में प्रकृति का इतना महत्व पहले कभी भी नहीं स्वीकार किया गया था जितना कि छायावाद में। प्रकृति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए ही नहीं आई, उसका केवल मानवीकरण ही नहीं हुआ, प्रस्तुत

सुन्दर गीत सुनने में आए । इनके अतिरिक्त सर्व श्री उदयशङ्कर भट्ट, रामशङ्कर शुक्ल, तारा पाँडेय, नरेन्द्र, आरसी, केसरी, सुमन, सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, गोपालसिंह नेपाली तथा अंचल अच्छे सङ्गीत कवि हैं। इन कवियों में सभी छायावादो नहीं हैं । इनमें से युवक वर्ग अधिकाँशत: प्रगतिवादी हैं। इन कवियों ने भी इन्हीं भावनाओं से परिपूर्ण गीत लिखे हैं। प्रगतिवाद के इस युग में भी गीतों में छायावाद के ही आँसू लिखे हुए हैं। आज के और छायावादी कवियों के गीतों में अन्तर यह है कि आज वासना खुली झाँकने लगी है, तब वह ढकी दबी थी। आज के गीतों में कला का स्तर उतना ऊँचा नहीं है।

प्रश्न ४—छायावाद की विस्तृत व्याख्या करते हुए छायावाद और रहस्यवाद का अन्तर समझाइए।

उत्तर—छायावाद की अबतक निम्नलिखित परिभाषाएं बन चुकी हैं—१—जो समझ में न आवे उसे छायावाद कहते हैं। २—रहस्यवाद का ही दूसरा नाम छायावाद है। ३—छायावाद रहस्यवाद की प्रथम सीढ़ी है। ४ छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधान और अमूर्त उपमानों को लेकर चलने वाली एक शैली है। ५—प्रकृति में मानवीय अथवा ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहते हैं। ६—स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाए छायावाद के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ रही हैं। कारण यह है कि या तो वे अस्पष्ट हैं या असंगत और एकाँगी। वास्तव में छायावाद को समझने के लिए उसकी परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक है। हमारी समझ में प्रथम महायुद्ध के बाद की राजनीतिक निराशा और समाज सुधार के परिणाम स्वरूप, नैतिक दबाव के कारण स्वच्छन्दता प्रेमी कवियों ने जो कविताएं लिखीं वही छायावाद कहलाया। ये कविकाएं अंग्रेजी की रोमांटिक कविताओं से मिलती जुलती थीं। रोमान्टिक कवि समाज, धर्म, साहित्य और राजनीति सब में क्रान्ति चाहता है और एक अद्वितीय स्वप्नलोक की सृष्टि कर उसमें शान्तिपूर्वक अपने जीवन को बिताना चाहता है। विश्व के संघर्ष

गीतिकाव्य में अलग-अलग भावों के लिए एक एक छन्द रहता है। इसीलिए उसे मुक्तक कहते हैं।

मुक्तक काव्य ऐसी छन्दोबद्ध रचना को कहते हैं। जिसके एक छन्द का भाव दूसरे से मुक्त या निरपेक्ष हो। इसके दो विभाग किए गए हैं— प्रगीतात्मक और पाठ्यात्मक। मुक्तक प्रधानतया शृंगार एवं विनय के ही अधिक मिलते हैं। वीर रस के मुक्तक पदों की परम्परा भी खूब चली है। मीरा, बिहारी, तुलसी, सूर, रहीम आदि के पद मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। आधुनिक काल में छायावादी रचनाएँ एवं गीतों के रूप में मुक्तक काव्य का सुन्दर विकास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "प्रबन्ध काव्य यदि एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक गुलदस्ता है।"

प्रश्न ३—आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

उत्तर—आधुनिक युग में भारतेन्दु जी से गीतिकाव्य का प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु एवं सत्यनारायण ने ब्रजभाषा में पदशैली को अपनाकर राधा कृष्ण की प्रेमानुभूति में परम पवित्र गीतों की रचना की। इनके अतिरिक्त श्री वियोगी हरि ने भी ब्रजभाषा में ही राधा कृष्ण की अनन्य भक्ति में तन्मय होकर सुन्दर पदों की सृष्टि की। यद्यपि इनके पहले भी गीतों में परिवर्तन उपस्थित होने लगे थे, किन्तु उनका पूर्ण विकास प्रसाद युग में ही हुआ। अतएव शुद्धरूप में हम आधुनिक गीतिकाव्य का प्रारम्भ प्रसाद जी से हीं मान सकते हैं।

भारतेन्दु युग और प्रसाद युग का संधिकाल द्विवेदी युग है। इस युग में वस्तुतत्व और वर्णन प्रणाली का ही प्राधान्य रहा। इसी से इसे "इतिवृत्तात्मक काव्य का युग" कहा जाता है। इस युग के गीतिकारों में श्रीधर पाठक और मैथिलीशरण गुप्त प्रधान हैं। गुप्त जी ने किसी स्वतन्त्र गीतिकाव्य की रचना नहीं की। उनके गीत उनके प्रबन्ध काव्यों में यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं। ठाकुर गोपालशरणसिंह की कादम्बिनी के कतिपय गीत तथा शिवाधार पांडेय और मुकुटधर पांडेय के मुक्तक गीत सहृदयता से परिपूर्ण है। द्विवेदी युग में गीतकाव्य का जो स्रोत प्रच्छन्न था वह

छायावाद युग में विशेष रूप से प्रत्यक्ष हुआ। छायावाद के विकास काल में ही गुप्तजी और ठाकुर साहब के गीत प्रस्फुटित हुए।

प्रसाद जी ने जिस प्रकार छायावाद द्वारा हिन्दी कविता का स्तर ऊँचा उठाया उसी प्रकार नाटकीय गीतों का भी। उनके नाटकीय गीत अत्यन्त मनोहर एवं सुन्दर हैं। "अरुण यह मधुमय देश हमारा" वाला गीत अपनी मधुरता एव भाव प्रबलता के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रकार नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने नवीन गीतिकाव्य का प्रारम्भ किया। पन्त, निराला और महादेवी ने उसमें सगीत की सृष्टि की। गुप्तजी की यशोधरा, ठाकुर साहब की कादम्बिनी तथा प्रसाद जी की लहर और कामायनी के गीतों द्वारा द्विवेदी युग के गीतकाव्य का, गीतिकाव्य के इस नवीन प्रवाह के साथ सम्मिलन हुआ।

गुप्त, प्रसाद, महादेवी, रामकुमार वर्मा, नवीन आदि के गीत संगीत की देशी प्रणाली पर अवस्थित है। सूर तुलसी और मीरा की गीतशैली से उसमें विशेष भेद नहीं। किन्तु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न सगीत की सृष्टि की। बङ्गला में टैगोर स्कूल ने जिस प्रकार गीतिकाव्य में सङ्गीत के नए प्रयोग उपस्थित किए, उसी प्रकार हिन्दी गीतिकाव्य में पन्त और निराला ने किए। 'ज्योत्स्ना' के नाट्यगीतो के बाद 'युगान्त' से पन्त की काव्यधारा बदल गई। उसमें एक कृत्रिम कला के दर्शन हुए। अतः गीतिकाव्य के क्षेत्र में निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। निराला के अधिकाँश गीतों में उनकी कला अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है, उतनी अभिव्यक्ति के प्रति तन्मय नहीं। उनका काव्य पाण्डित्य उनके कवि को सहज नहीं रहने देता। महादेवी के गीत सहज गति शीलता, आत्म-विस्मृति, भाव-विदग्धता और सङ्गीत में सर्वश्रेष्ठ हैं उनमें करुणा का पुट एक विशेष आकर्षण उत्पन्न कर देता है।

'बच्चन' अपने हालावाद को लेकर तूफान की तरह आए और उतनी ही शीघ्रता से समाप्त हो गए। उनकी मधुशाला खूब प्रसिद्ध हुई। इसके पश्चात् उनके 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' आदि में पुनः

प्रबन्धकाव्य और गीतकाव्य में पहला अन्तर यह है कि प्रबन्ध काव्य में एक लोक प्रसिद्ध कथा का वर्णन होता है, जिसमें नायक के पूर्ण जीवन का चित्र होता है। उनके प्रासगिक कथाएँ भी होती हैं। इसके विपरीत गीतकाव्य में न किसी के जीवन का वर्णन होता है और न प्रासंगिक कथाएँ ही होती हैं। उसमें कवि के हृदय की एक ही वृत्ति अथवा उद्गार को अभिव्यक्ति का स्वरूप मिलता है। दूसरा अन्तर यह है कि प्रबन्धकाव्य का विभाजन सर्गों में होता है। उसमें कथा की शृङ्खला और प्रबन्धात्मकता की पूर्ण रक्षा की जाती है। गीतकाव्य में एक ही उद्गार की अभिव्यक्ति होने के कारण एक ही पद अथवा गीत स्वतन्त्र स्थान का अधिकारी होता है। वहँ जितना सक्षिप्त होगा उतना ही सफल समझा जायगा।

तीसरा अन्तर यह है कि प्रबन्ध काव्य में बाह्य चित्रण और मानसिक भावों की एक गहरी भावना का प्रकाशन उसका लक्ष्य होता है जो अपनी तीव्रता के कारण हृदय को झकझोर देता है। चौथा अन्तर यह है कि प्रबन्धकाव्य में यथासाध्य नवरस परिपाक का प्रयत्न किया जाता है। इसलिए उसमें भाषा के विविध रूप, गुण-वृत्ति, रीति, अलङ्कार आदि का प्रचुर प्रयोग होता है। गीतिकाव्य मे केवल प्रेम अथवा करुणा यह दो ही भाव प्राधान्य रखते हैं। इसलिए वहाँ भाषा का रूप कोमलकान्त पदावली द्वारा निखरता है। अलङ्करण तो वहाँ होता ही नहीं क्योंकि केवल अनुभूति को सहृदय तक पहुंचाना ही उसका कार्य होता है। पाँचवाँ अन्तर यह है कि प्रबन्ध काव्य में वर्णन की प्रधान्ता रहती है। उसमें आदर्श होने के कारण वह पठनीय अधिक होता है। गीतकाव्य संगति के आधार पर चलता है। तथा गेयता उसकी प्रथम शर्त है। इसलिए उसका प्रभाव जितना श्रवण द्वारा होता है उतना चक्षु द्वारा नहीं। छठा अन्तर यह है कि प्रबन्ध काव्य में कवि का व्यक्तित्व परदे के पीछे रहता है। गीतकाव्य में वह स्वयं आत्मनिवेदन करता दिखाई देता है। उसमें प्रबन्ध काव्य के समान विश्लेषण के लिए स्थान नहीं होता। प्रबन्ध काव्य में कथा की शृंखला के लिए एक निश्चित क्रम रहता है जब कि

है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक व्यापक मानवता का भाव रहता है।

नायक की महान कृतियों, विजय यात्राओं और साहसपूर्ण कार्यों में जातीय भावनाओं तथा महत्वाकांक्षाओं का प्रकाशन होता है और नायक के द्वारा जातीय, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान दिखाया जाता है। महाकाव्य आकार-प्रकार में भी बड़ा होता है। उसके साथ ही उसकी शैली और विषय दोनों ही गौरवपूर्ण होते है। महाकाव्य जाति की सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक होते हैं। महाकाव्य का कवि भी नायक की भाँति स्वय सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक बन जाता है। इन्हीं विशेषताओं और प्रभावों को दृष्टि में रखकर महाकाव्य के लक्षणों का निर्माण किया गया है।

प्रश्न २—गीतकाव्य की विशेषताएँ बताते हुए प्रबन्ध और गीतकाव्य का अन्तर समझाइए। साथ ही मुक्तक काव्य पर भी अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—गीतकाव्य का सम्बन्ध हृदय से है। अतएव उसका अन्तरग अथवा वस्तु तत्व हृदय के अनुरूप ही बहुत सुकोमल, सरल और भावना-पूर्ण होना चाहिए। भावना की सुकुमारता के साथ ही साथ भाषा भी सरल, सुमधुर और व्यजक होनी चाहिए। गीतकाव्य का प्रकरण सुन्दर मनोहर और संक्षिप्त हो साथ ही प्रभावोत्पादक भी हो। उसमें कल्पना का नवीन और उन्मुक्त होना आवश्यक है। भावों की अभिव्यक्ति तीव्रतम होनी चाहिए जिससे उसका प्रभाव अधिक से अधिक पड़े। भाव विच्छिन्न और अस्पष्ट न हों। सुकुमारता की रक्षा के लिए सङ्गीत का प्राधान्य तथा कोमल रसों का समावेश होना अत्यधिक जरूरी है। शान्त, शृंगार और वात्सल्य गीतकाव्य के प्रियरस हैं। गीत को संक्षिप्त होना चाहिए क्योंकि इससे उसका प्रभाव सामूहिक रूप में पड़ता है। संक्षेप में गीतकाव्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति, अन्तजर्गत का चित्रण, प्रकरण अथवा भावना की सुन्दरता एव उद्‌गारों का प्रस्फुरण, भाषा की सुकुमारता, सरलता और व्यजकता शब्दों का मधुर चयन, भाषा का भावना से सामंजस्य, साक्षात प्रभाव और संक्षिप्तता।

जीवन की अन्य भावनाओं की अभिव्यक्ति की भी वह माध्यम बनी। इसी से यदि प्रकृति में मानव व्यापारों की छाया या ब्रह्म की छाया को व्यक्त करने वाली कविता को ही छायावाद कह दिया जाता है, जो प्रकृति के प्राधान्य के कारण है, तो असंगत नहीं। इस विवेचना से स्पष्ट है कि छायावाद एक व्यापक शब्द है। जो एक काल की विशिष्ट प्रकार की कविता के लिए प्रयुक्त होता है-उस काल की जिसमें पाश्चात्य विचारों के प्रभाव और भारतीय जीवन की विषमता से उत्पन्न निराशा ने मिल कर एक नई सभ्यता को जन्म दिया था।

रहस्यवाद और छायावाद के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न सम्मितियाँ हैं। कोई इनको एक मानते हैं और कोई पृथक। इस प्रश्न को समझाने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि जीवन और जगत, जो कविता में अभिव्यक्त होते हैं, इन वादों से क्या सम्बन्ध रखते हैं। यह स्पष्ट है कि सृष्टि विधान की पूर्णता तीन तत्वों से होती है— ब्रह्म, जीव और जगत। जब ब्रह्म और जीव की एकता का पतिपादन काव्य की भाषा में होता है तब उसे रहस्य वाद की सज्ञा दी जाती है और जब जगत अथवा प्रकृति के भीतर ब्रह्म अथवा जीव की छाया का निरूपण होता है तब छायाबाद की सृष्टि होती है। अभिप्राय यह है कि छायावाद में प्रकृति का प्राधान्य है। इसीलिए महादेवी वर्मा और पन्त छायावाद को रहस्यवाद की प्रथम सीढ़ी मानते हैं। जो लोग छायावाद और रहस्यवाद को एक मानते हैं वे भ्रम में हैं। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद को छायावाद की एक विशेषता माना है। वहाँ भी उनका अभिप्राय यही है कि छाया-वाद में जहाँ जीव और ब्रह्म की एकता का विधान होता है वहाँ उतने अंश में रहस्यवाद होता है। वैसे छायावाद केवल प्रकृति से ही नहीं बना है उसमे भावपक्ष और कलापक्ष दोनों की विलक्षणताओं को दृष्टिगत रख कर यह कहा जा सकता है कि वह काव्य की एक शैली मात्र है, जिसमें प्रकृतिप्रेम, विश्व बन्धुत्व की भावना, आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति, प्रतीकों की योजना, नवीन छन्द विधान, भाषा की लाक्षणिकता, दुखवाद आदि प्रमुख तत्व समाविष्ट हैं।

रहस्यवाद में भी अटपटी वाणी और प्रतीकों का प्रयोग किया गया जाता है। रूपकों और लाक्षणिक शब्दावली का समावेश होता है। परन्तु जहाँ छायावाद मे 'व्यक्ति' केन्द्र होता है वहाँ रहस्यवाद में 'ब्रह्म' केन्द्र होता है। छायावाद में सब कुछ व्यक्ति के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति के लिए उस क्रम से होता है तो रहस्यवाद मे स्वरूप ज्ञान और उससे उत्पन्न आनन्द की अनुभूति के प्रकाशन की चेष्टा रहती है। इस प्रकार निश्चय ही छायावाद और रहस्यवाद दो भिन्न वस्तुएँ हैं। यदि ऐसा न होता तो यह दो वाद कभी इतना अधिक प्रचार न पाते और विद्वान् शीघ्र ही इन वादों के अन्तर्गत आने वाली सामग्री का विवेचन करके उनकी एकता सिद्ध कर देते लेकिन ऐसा नहीं हुआ तो इसलिए कि वस्तुतः उनमें तात्विक अन्तर है।

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिए कि प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है अथवा उपयोगितावाद ही प्रगतिवाद है।

उत्तर—"प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है" इस विषय की आलोचना के लिए यह आवश्यक है कि हम संक्षेप में प्रगतिवाद और मार्क्सवाद की विशेषताएं जान ले। प्रगतिवाद की विशेषताएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—(१) कविता की जन क्रांति के लिए अस्त्र के रूप में प्रयोग करना और उसमें किसान मजदूरों को वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए उकसाना। (२) निम्न वर्ग की समस्याओं का चित्रण और उच्च वर्ग की शोषक नीति का भंडाफोड़ करना। (३) यथार्थ का चित्रण और आदर्श का बहिष्कार। (४) समाज की प्राचीन मान्यताओं का इसलिए विरोध करना क्योंकि आर्थिक दृष्टि से शोषित मानव उनके द्वारा जकड़ा हुआ होने से भाग्यवादी हो जाता है और अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं करता। (५) नारी स्वातंत्र्य की पुकार। उसे पुरुषके समान ही अधिकार दिलाना। ६) भाषाका अत्यन्त सरल होना, क्योंकि इस साहित्य को जनसाधारण तक पहुँचाना है। (७) पिंगल शास्त्र के नियमों की अवहेलना के कारण 'कला कला के लिए' न करना 'कला शुद्ध रूप से जीवन के लिए' हो गई है।

मार्क्सवादी पदार्थ जगत को यथार्थ मानते हैं। उनकी धारणा है कि पदार्थ जगत का अस्तित्व मनुष्य चिन्तन से स्वतन्त्र है। मार्क्सवादी उसी

साहित्य को सच्चा मानता है जो मानव जीवन के प्रति ईमानदार है। उनका विश्वास 'कथन में न होकर करनी' में है। उसके लिए आज की बुनियादी शक्तियाँ वे हैं जो पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद की स्थापना के प्रयत्न में लगी हैं। इसी कारण मार्क्सवाद को समाजवाद भी कहा जा सकता है। मार्क्स दर्शन के अनुसार समाज का उत्कर्षापकर्ष उसकी आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है। प्रत्येक समाज का रहन-सहन का स्तर उसका वैधानिक तथा राजनीतिक ढांचा, आर्थिक आधार पर ही विकसित होता है। आर्थिक उन्नति से ही समाज की उन्नति होती है। मार्क्सवाद जीवन की विवेचना में अर्थ को प्रधान मानता है। समाज के व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ अर्थ के कारण ही अच्छी बुरी बनती हैं। देखा गया है कि अर्थाभाव के कारण बहुत से मनुष्य चोर-डाकू बन जाते हैं।

'प्रगतिवाद' एव 'मार्क्सवाद' के इस संक्षिप्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि दोनों के मूल में आर्थिक समस्या का समाधान प्रस्तुत करना ही प्रमुख है। प्रगतिवाद की विषम सामाजिकता का कारण अर्थ का असमान विभाजन ही है। इसी कारण उसमें वर्ग सघर्ष का स्वर तीव्र है। वह प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की दृष्टि से देखना चाहता है। इन दोनों वादों की इसी समानता को लक्ष्य कर पन्तजी ने लिखा है—"प्रगतिवाद में उपयोगितावाद के प्राधान्य के कारण ही उस साहित्य में कला का ह्रास और विचारों का प्राधान्य बढ़ता चला जा रहा है। इसी के कारण छायावाद का अन्त हुआ।" दूसरे रूप में हम यों कह सकते हैं कि कल्पना लोक में विचरण करने वाले छायावाद का प्रगतिवाद ने गला घोंट दिया। आज के कवि ने यह अनुभव कर लिया है कि 'कितनी चिड़िया उड़े आकाश, दाना है धरती के पास।" चिड़िया को कल्पनालोक से उतर कर ठोस यथार्थ भूमि पर उतरने पर ही दाना सुलभ हो पाता है। इसी क्रिया से कृषि, वाणिज्य, व्यवस्था, कला-कौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में खण्ड-खण्ड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है। इस प्रकार प्रगतिवाद आज जन-जीवन का साहित्य बन गया है जिसमें युग की सम-

स्याएँ मुखरित हो उठी हैं।

आज के कलाकार को एक विषम परिस्थिति का सामना करना है। एक ओर तो उसके जीवन को उसके व्यक्तिगत हर्ष और विषाद अपनी परिधि में बांधे हैं तथा दूसरी ओर समाज उसकी समष्टिगत चेतना तथा उसकी व्यापक संवेदनशीलता की परीक्षा करना चाहता है। पहली अवस्था में प्रकृति ने उसे आश्रय दिया। उसकी सौन्दर्यानुभूति प्रकृति से जा मिली। उसे अनुभव हुआ कि उसका जीवन सम्पूर्ण तथा सार्थक है। परन्तु दूसरी अवस्था में वह निराश्रय ही रहा। ऐसी दशा में वह प्रत्येक भौतिक पदार्थ में सौन्दर्य की अपेक्षा शिवत्व को ही खोजने लगा। इस प्रकार इस नवीन प्रगतिशील विचारधारा का मापदण्ड उपयोगिता हो रहा जैसा कि पन्तजी ने कहा है। मार्क्सवाद में भी उपयोगिता का प्रश्न सर्व प्रधान है। इसी साम्य को लक्ष्य कर कहा है कि 'राजनीति में जो समाजवाद है साहित्यिक क्षेत्र में वही प्रगतिवाद है।" अतः कहा जा सकता है कि "प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण है और उसमें तथा उपयोगितावाद में कोई अन्तर नहीं हैं।" प्रगतिवादी साहित्यिक सदैव जन-जीवन के साथ रहता है। वह उससे दूर हट कर केवल कला की उपासना में तन्मय रहना अच्छा समझता है।

प्रश्न ६--पलायनवाद को समझा कर लिखिए। आज इसका क्या स्वरूप है?

उत्तर—जीवन की यथार्थता और संघर्ष से घबरा कर, जगत से दूर एक कल्पनालोक बसा कर उसमें निवास करने की वृत्ति पलायनवाद कहलाती है। 'पलायन' का अर्थ है भाग जाना। छायावादी काव्य में यह प्रवृत्ति प्रमुख रही है। प्रत्येक छायावादी कवि ने इस प्रवृत्ति को अपनाया है। छायावाद के प्रवर्त्तक प्रसाद ने लिखा है--

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।"

निराला कहते हैं--"हमें जाना जग के उस पार

जहाँ नयनों से नयन मिलें
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नव रस धार
वहीं जाना इस जग के पार ।"

युगवाणी और ग्राम्या के प्रगतिवादी पन्त प्रगतिशील संसार से घबरा कर कहा करते थे--

"वहीं कहीं जी करता मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ,
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ ।"

उन्हें यह संसार भी सुन्दर एवं रमणीय लगता है परन्तु साथ ही वह इसके संघर्षों से भी डरते है—

"यदि न डुबाता जल, रह कर चिर मदुल तरल तर
तो मैं नाव छोड़ गंगा के गलित स्फटिक पर,
आज लोटता ज्यों तड़ित लहरों के संग जी भर ।"

इसी कारण उनका मन बारम्बार जगत के बाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होता है परन्तु वह भयभीत होकर हट आते हैं क्योंकि उन्हें "डूबने का भय है" । उन्हें तो "भाती तट को चल जल माली ।" महादेवी वर्मा तो सदैव इस संसार से ही दूर रहती हैं। वह तो वेदना का साकार रूप है—

"मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ ।"

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "पलायनवाद जीवन जगत में व्याप्त संघर्ष एवं कोलाहल की व्यावहारिक निराकरणता किसी सौन्दर्य लोक के मधु आवरण से आच्छादित होकर जगत को विस्मरण करने की संज्ञा है ।" ऐसी दशा में मानव हृदय अपने स्वप्नलोक के संसार में अपने मधुर सपने सजोया करता है । इस दशा में जगत के प्रति उसकी सद्भावनाओं का अन्त हो जाता है । उसके सरस प्रेम और दुलार की भावना एक नए लोक में ही जीवन पाकर पल्लवित और पुष्पित होती है । यही पलायनवाद का उद्देश्य और लक्ष्य प्राप्ति की

चरम सीमा है। संक्षेप में पलायनवाद की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) चिर विस्मृति का आह्वान, (२) हृदय शक्ति के विश्राम का क्षणिक प्रयत्न, (३) नए लोक की मधुमय एवं आकर्षक कल्पना, (४) वर्तमान के प्रति नैराश्य। वर्तमान काल में प्रसाद जी को ही 'पलायनवाद' का प्रवर्त्तक माना जाता है। उनके काव्य में ससार के संघर्ष और कोलाहल के प्रति मधु भावना है। उसमें उद्विग्नता नहीं, हृदय की शान्ति है।

छायावाद में पलायन की भावना अत्यन्त तीव्र दिखाई पड़ी। द्विवेदी युगीन नैतिकता के बन्धनों से जकड़े हुए छायावादी कवियों ने अतृप्त प्रेम को अपने काव्य में व्यक्त किया। स्थूल जगत के प्रति निषेधात्मक बन्धनों के कारण वह आन्तरिक सूक्ष्म जगत में लीन हो गए। उन्होंने वस्तु जगत से दूर अपना एक निराला काल्पनिक लोक बसाया और उसी में भ्रमण करने लगे। कवि स्थूल जगत के संघर्ष से त्रस्त होकर अपने मनोजगत में छिपकर बैठ गए। लेकिन उनकी यह पलायनवादी मनोवृत्ति उन्हें अधिक काल तक कल्पना के सौन्दर्य लोक में नहीं रमा सकी। अन्ततः उन्हें वर्तमान मानव जगत की विभीषिकाओं ने आकर्षित किया और वह कल्पना लोक से उतर कर ठोस धरती पर आ गए। इस प्रकार 'पलायनवाद' समाप्त हो गया।

प्रश्न ७—यथार्थवाद, व्यक्तिवाद और प्रगीत मुक्तक पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर—**यथार्थवाद**—इतिहास किसी देश की जिन सामाजिक परिस्थितियों का उल्लेख करता है, साहित्य में उन्हीं का विस्तृत चित्रण मिलता है। यदि समाज का चित्रण तथा कार्यों का मूल्याङ्कन ज्यों का त्यों कहीं अच्छा, कहीं बुरा कर दिया जाय तो समाज का यथार्थतः काम चलाऊ रूप हमारे साहित्य में अवश्य रह सकता है। परन्तु यथार्थवाद इतने से ही सन्तुष्ट नहीं, वह सत् तथा असत् दोनों को स्वेच्छानुसार महत्व देने भर को अपना उद्देश्य नहीं मानता। यथार्थवादी कहता है कि समाज में जो कुछ बुरा है, घृणित है, हीन है, असत् है उसको साहित्य में स्थान मिलना चाहिए क्योंकि अच्छा, सुन्दर, उत्तम तथा सत् तो केवल कल्पना में ही है, वास्तविक

जीवन में नहीं। यदि है भी तो इतना कम है कि हम उसको व्यर्थ या अत्यल्प समझ कर छोड़ भी सकते हैं।

यथार्थवाद यह भी कहता है कि प्रत्येक देश तथा काल में यह भी देखा गया है कि जो पापी, दुष्ट, अनाचारी होते हैं उन्हीं की सदा जीत होती है। जो विजयी होता है वह धर्मात्मा मान लिया जाता है और पराजित होने वाला पापी। कम शक्ति होने के कारण जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं, उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परन्तु समाज का एक बड़ा भाग यदि उसे व्यवहार्य बना दे तो वही पुण्य मान लिया जाता है, धर्म हो जाता है। इसलिए साहित्य में केवल यथार्थ, असत् घृणित को ही स्थान मिलना चाहिए, सत्, सुन्दर तथा उच्च को नहीं। यथार्थवाद का पारिभाषिक अभिप्राय शाब्दिक अभिप्राय से नितान्त भिन्न है। वह यह मानता हुआ कि समाज में असत्य, अशिव और असुन्दर का ही बोलबाला है, सत्य, शिव, सुन्दर का नहीं, इसी प्रकार के चित्रण को साहित्य कला का चरम उद्देश्य मानता है। उसके यहाँ इससे भिन्न चित्रण कल्पित तथा असत्य हैं। ऐसे चित्रण का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं।

संक्षेप में यथार्थवाद से केवल हमें वस्तुस्थिति का—वास्तविक दशा का—यथावत् ज्ञान होता है न कुछ अधिक, न कुछ कम। इसमें जीवन का प्रत्यक्ष सत्य अङ्कित होता है। समाज की आर्थिक विषमता, शोषकों के अत्याचार, दासता, कारुण्य, क्षोभ-विक्षोभ सब का प्रभावक एवं संशोधक चित्र होता है। उदाहरणार्थ—

> "श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
> माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥"

यथार्थवाद के गुण—(१) जीवन के प्रति यथार्थ, स्वाभाविक एवं वास्तविक दृष्टिकोण, (२) समाज की अव्यवस्था की शक्तिशालिनी प्रतिक्रिया, (३) वर्णन में वस्तुओं की यथार्थता पर अधिक बल एव स्पष्टता, (४) आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्न।

यथार्थवाद के दोष—(१) यथार्थवाद का दुष्प्रयोग, (२) जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का चित्रण, (३) भद्दे और समाज द्वारा निषिद्ध

विषयों के परित्याग की उपेक्षा, (४) अर्थ गाम्भीर्य या चमत्कार का अभाव।

यथार्थवाद के पोषक कवि—प्रेमी, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र, दिनकर, नवीन आदि।

व्यक्तिवाद—अठारहवीं शताब्दी, में राज्य का व्यक्ति पर कठोर नियन्त्रण होने से औद्योगिक क्रान्ति के साथ राज्य के विरुद्ध क्रान्ति व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द हुई। व्यापारी वर्ग के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता व बन्धनों का अभाव उनकी दृष्टि से आवश्यक हो उठा। साहित्य में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन हुए। अंग्रेजी कवियों शैली, कीट्स, बायरन आदि युवक कवि साहित्य के बँधे बँधाये प्राचीन बन्धनो के प्रति विद्रोह की भावना लेकर साहित्यिक क्षेत्र में आए। उन्होंने प्राचीन भावनाओं, रीति, गुण, अलङ्कार, छन्द आदि का विरोध कर ऐसे साहित्य का सृजन किया जिसमें उनका व्यक्तित्व मुखर हो उठा। अपनी रोमाण्टिक भावनाओं का प्रकाशन कर उन्होंने रोमाटिसिज्म नामक नई धारा का प्रवर्त्तन किया।

राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक अनिवार्यतः बुरी वस्तु, मानव कमजोरी की देन व व्यक्ति के स्वार्थ और सनक द्वारा उत्पन्न माना गया। उसके अनुसार राज्य के कार्य केवल बाह्य आक्रमण से सुरक्षा, आन्तरिक रक्षा, कानूनों का पालन आदि माना गया। इसी व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का अनुकरण उपरोक्त शैली आदि कवियो ने साहित्य में भी किया। यह एक महत्वपूर्ण तत्व है जो आत्म निर्भरता, आत्म चेतनाओं द्वारा आत्मोन्नति या व्यक्तित्व के विलतस के लिए अवसर प्रदान करना है। मनुष्य को मूल्यतः स्वार्थी अथवा अपना सबसे बड़ा हितैषी समझना गलत है। समाज ही मनुष्य को पतित होने से रोकता है। यदि व्यक्ति स्वतः प्रगति करेगा तो स्वार्थों का सङ्घर्ष अनिवार्य है। समाज ही एक ऐसा सङ्गठन है, जिसमें व्यक्ति व समाज के स्वार्थ भिन्न व विरोधी नहीं हैं।

व्यक्तिवाद की इस नवीन धारा का स्पष्ट प्रभाव हमारे छायावादी कवियों पर पड़ा। पन्त जी ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि वह यूरोप की इस नवीन साहित्यिक धारा से प्रवाहित हुए हैं। छायावादी कवि सङ्घर्ष

शील संसार से दूर हट कर स्वयं को केवल अपने व्यक्तित्व में सीमित कर अपने कल्पना लोक में भ्रमण करता रहता है। उसके लिए सामाजिक नियमों एव बन्धनों का कोई महत्व नहीं रहता। प्रत्येक प्राचीन बन्धन का उल्लङ्घन कर अपनी व्यक्तित भावनानुसार नये मान देता एव नये नियमों का निर्माण करता है। छायावाद के प्रवर्त्तकों प्रसाद, पन्त, निराला आदि में इसी भावना के दर्शन होते हैं। निराला के छन्द विद्रोह तो प्रसिद्ध हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण आचार्य द्विवेदी प्रभृत्ति विद्वानों ने छायावाद का विरोध किया था। वह इस प्रवृत्ति को समाज के लिए घातक समझते थे। समाज से प्रथक रहकर कोई भी साहित्यकार जीवित नहीं रह सकता। परिणामस्वरूप छायावाद का अन्त हुआ और हमारे छायावाद के प्रवर्त्तक अपने कल्पना लोक को छोड़कर जन भूमि पर उतर आए। यहाँ से प्रगतिवाद का जन्म हुआ जो व्यक्ति के स्थान पर समाज को प्रधानता देता है।

प्रगीत मुक्तक—पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से इधर कुछ दिनों से हिन्दी में प्रगति (लिरिक्स) भी लिखे जाने लगे हैं। इसको हम गेय मुक्तक भी कह सकते हैं। इस प्रगीत काव्य में सङ्गीत का प्राधान्य होता है। यूरोप में कविता के दो विभाग किए गए हैं—एक बाह्यार्थ निरूपक (आबजेक्टिव) और दूसरा स्वानुभूतिव्यंजक (सब्जेक्टिव)। इनमें पहले विभाग में कवि का व्यक्तित्व नहीं होता। कवि निरपेक्ष भाव से इतर पदार्थों का वर्णन करता रहता है। परन्तु दूसरे विभाग में कवि अपना व्यक्तित्व ही प्रदर्शित करता है। प्रगीत मुक्तक में कवि की स्वानुभूति का प्रदर्शन होता है। कवि की यह स्वानुभूति सुख दुख दोनों की ही हो सकती है। हमारे भावावेग शारीरिक माध्यम को त्यागकर वाणी द्वारा प्रकट होते रहते हैं।

प्रगीत मुक्तक में कवि का अपना दृष्टिकोण रहता है। वह अपने हृदय के रागात्मक भाव को आत्म निवेदन के रूप में प्रकट करता है। राग की तीव्रता को स्थिर रखने के लिए उसमें संक्षिप्तता, भाव की एकता और अविति अत्यन्त आवश्यक है। बाबू गुलाबराय का मत है कि—"सगीत्मकता और उसके अनुकूल सरस कोमलकान्त पदावली, निजी रागात्मकता, संक्षिप्तता, और भाव की एकता प्रगीत काव्य के मुख्य तत्व हैं। यह काव्य

की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।" सवैये आदि भी इसी प्रगीतकाव्य के रूप माने जाते हैं। परन्तु आज गीत को ही इसका प्रधान रूप मानते हैं।

पण्डित रामदहिन मिश्र गीतिकाव्य के दो भेद करते हैं। एक वह जिसमें कवि की संवेदनात्मक इच्छा, आकांक्षा, सुख, दुख, आशा, तृष्णा, आदि की भावनाएँ रहती हैं। उनमें कवि की आत्मा ही बोलती है। दूसरे में कवि का हृदय संयोग उतना नहीं प्रतीत होता। वहाँ वह उदासीन सा प्रतीत होता है। पहली को अन्तर्मुखी और दूसरी को बहिर्मुखी गीति कविता कहते हैं। अन्तर्मुखी गीति कविता को ही प्रगीत मुक्तक कह सकते हैं।

अतीत काल से इन प्रगीतों का अत्यधिक प्रचार होने से प्रबन्ध काव्यों के निर्माण में शिथिलता आ गई। इसीसे यूरोप में इनके विरुद्ध प्रबल आन्दोलन हो रहा है। परन्तु हिन्दी में इनका प्रवाह चल ही रहा है। गद्य के आविर्भाव से उसमें कमी अवश्य आ गई है। प्रगीत की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह सहानुभूति व्यंजक होने के कारण अधिकाँशतः लोकानुभूति से पृथक होता है। इसीसे आज के प्रगतिशील युग में इसका अधिक सम्मान नहीं हो रहा है। आज का पाठक स्वानुभूति के साथ लोकानुभूति का मिश्रण आवश्यक मानता है।

प्रश्न ८—छायावाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए और प्रगतिवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी डालिए।

उत्तर—छायावाद—छायावाद की सबसे पहली और मूल विशेषता अतृप्त प्रेम है। द्विवेदी युग की नैतिकता के बन्धनों से जकड़े हुए इन कवियों ने अतृप्त प्रेम को ही छायावाद में सर्वप्रथम व्यक्त किया। स्थूल जगत के प्रति निषेधात्मक बन्धनों के कारण वह आन्तरिक सूक्ष्म जगत लीन हो गए। निरालाजी की 'जुहीकी कला' इस भावनाका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। प्रकृति के इस छोटे से उपादान को लेकर कवि ने जिस ढङ्ग से उसे प्रस्तुत किया है वह एक युवक की मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्र

है। 'प्रसाद' का 'आँसू' एवं महादेवी और पन्त की अनेक कविताएं इसी मनोवृत्ति का प्रकाशन करती हैं।

छायावाद की दूसरी विशेषता प्रतीकवाद हैं। कवि अपनी बात को अनूठे ढंग से कहना चाहता है। सुख दुख के लिए दिवस और रात्रि, हर्ष और विषाद के लिए प्रभात और संध्या, हृदय के लिए आकाश, आन्तरिक निराशा के लिए बादल, हलचल के लिए आँधी आदि सर्वथा नवीन प्रतीकों का प्रयोग किया गया। इनका प्रयोग जीवन की जटिलता के ही कारण हुआ जिसके परिणाम स्वरूप कविता भी कुछ अस्पष्ट हो गई। तीसरी विशेषता प्रकृति में चेतन का आरोप करना है। प्राचीन कवियों के लिए प्रकृति जड़ थी लेकिन छायावादी कवियों के लिए प्रकृति मनुष्य की भाँति सजीव और चैतन्य है। पन्त की 'छाया', निराला की 'जुही की कली' महादेवी की 'धीरे-धीरे' उतर क्षितिज से आ बसन्त रजनी' आदि कविताएं इस बात की प्रमाण हैं। चौथी विशेषता सूक्ष्म मनोवृत्तियों को काव्य का विषय बनाना है। अब कवि प्राचीन कवियों के समान स्थूल बातों को लेकर नहीं चलता। आज वह विषाद, लज्जा, वासना जैसी मनोवृत्तियो को अपने काव्य का विषय बनाता है। 'आँसू' जैसी क्षणिक वस्तु पर खण्ड काव्य तक लिख देता है। पाँचवीं विशेषता विश्व बन्धुत्व और मानवता प्रेम है। द्विवेदी युग की सकीर्ण देशभक्ति और जाति की सीमाओं से वह ऊपर उठ चुका है। छठी विशेषता वस्तु जगत से दूर कोई अलौकिक जगत बना कर रहने की है। इसको पलायनवाद कहते हैं। पलायनवाद में कवि स्थूल जगत के संघर्ष से त्रस्त होकर अपने मनो जगत में छिपकर बैठकर जाता है।

प्रगतिवाद—छायावाद की प्रतिक्रिया और समाजवाद के प्रभाव ने प्रगतिवाद को जन्म दिया। छायावाद और प्रगतिवाद दोनों की प्रेरणाओं में अन्तर यह है कि छायावाद को कवियों और कलाकारों ने जन्म दिया है और छायावादी रचनाओं से असन्तुष्ट और और समाजवाद से प्रभावित साहित्यक समुदाय में प्रगतिवाद की चर्चा प्रारम्भ हुई है तथा अपने राजनीतिक आदर्शों को साहित्यिक माध्यम द्वारा प्रकट करने का प्रयास हुआ है। इस

प्रकार प्रगतिवाद एक 'वाद' के रूप में आ गया। अज्ञेय ने "संक्रान्ति काल की कुछ साहित्यिक समस्यायें" शीर्षक निबन्ध में प्रगतिवाद के विषय में लिखा है—" इस साहित्य से प्रगति पैदा हुई। इसलिए यह प्रगतिशील साहित्य है इसलिए प्रगति पैदा करेगा। प्रगतिशीलता, साहित्य पर निर्णय करने बैठकर स्वयं एक नैतिक विधान बन जाती है, प्रगति का 'वाद' बन कर स्वय एक रूढ़ि हो जाती है। साहित्य के लिए तैयार किए गए बन्धनों में वह स्वयं बँध जाती है।"

अज्ञेय के उपर्युक्त कथन के आधार पर तो यह मानना पड़ेगा कि 'वाद' में फेर में पड़कर प्रगति शीलता का वास्तविक उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है और वह स्वयं उन्हीं 'वादों' का एक अङ्ग हो जाती है, जिनके विरोध में वह खड़ी हुई है। प्रगतिवाद साहित्यकार और कवि का पथ प्रदर्शन नहीं कर सकता। वह एक कार्य यह कर सकता है कि सच्चे आलोचक पैदा करे जो कुरुचि पूर्ण और संकीर्ण साहित्य का विरोध करे और सुन्दर सत्साहित्य को प्रोत्साहित करे। प्रगतिवाद का उद्देश्य अत्यन्त उच्च एव उपयोगी है। उसके अनुसार साहित्यकार ऐसा साहित्य उत्पन्न करे जो मानव जीवन और समाज को प्रगति दे सके, उसे पतन की ओर न ले जावे। साथ ही साथ वह साहित्य सर्व-जन सुलभ हो, सरल भाषा में लिखा हुआ हो और यथार्थ जीवन को लेकर चलने वाला हो। संक्षेप में प्रगतिवाद के मूल में यही बातें हैं। यह हमारी साहित्यिक गति मे परिवर्तन करने के लिए हैं, साहित्य के लिए एकदम नई बाते नहीं हैं। तुलसीदास जी ने काव्य की, प्रगतिवाद के अनुकूल ही व्याख्या की है—

"सरल कवित कीरति विमल, जेहि आदरहिं सुजान।
सहज बैर विसराय रिपु, जो सुनि करहि बखान॥"

प्रगतिवाद की विशेषताओं का वर्णन इससे पहले प्रश्न संख्या ५ में कर दिया गया है।

प्रश्न ९—प्रतीक विधान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—'प्रतीक' शब्दका अर्थ चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जब साम्य के आधार पर किसी शब्द को किसी भावना या वस्तु का चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप मान लेते हैं तब उनके द्वारा कथन में मार्मिकता आ जाती है । उदाहरण के लिए 'ऊषा' को लीजिए। यह शब्द आनन्द अथवा सौख्य का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार 'आशा' शब्द प्रभात का प्रतीक माना जाता है। प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्द से स्वतः भावनाओं के विकास की योजना हो जाती है जैसा कि 'ऊषा' तथा 'आशा' के कहते ही क्रमशः आनन्द तथा प्रभात की पूर्ण व्यंजना हो जाती है। चूंकि प्रतीक किसी न किसी विशिष्ट अर्थ की व्यंजना के लिए प्रयुक्त होते हैं इसलिए उनके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है उसमें अनुभूति की तीव्रता अनिवार्यतः आ जाती है।

गम्भीर और उच्च कोटि के कवि सदैव प्रतीकों के आश्रय से अपने भावों की व्यजना करते हैं। जायसी का 'पद्मावत' और प्रसाद की 'कामायनी' तो पूरे के पूरे प्रतीक के आधार पर खड़े है। 'पद्मावत' में स्वयं जायसी ने 'पद्मावती को ब्रह्म का प्रतीक तथा रत्नसेन को साधक का प्रतीक माना है। इसी प्रकार कामायनी में 'श्रद्धा' कोमल भावनाओं की प्रतीक है और इड़ा परुष भावनाओं अथवा बुद्धिवाद की। इन महाकाव्यों के अन्य पात्र भी इसी प्रकार किसी न किसी भाव या वस्तु के प्रतीक हैं। इन्हीं प्रतीकों के कारण इनमें भावों की मार्मिक व्यजना हुई है। साथ ही गम्भीरतम भावनाओं का अनुभव कराने में भी उनसे पर्याप्त सहायता मिलती है। इनके सहारे अर्थ पाठक के हृदय में सहज रूप से बैठता चला जाता है।

कबीर आदि निर्गुण मार्गी कवियों में एक ही वस्तु के अनेक प्रतीक मिलते हैं जैसे—

मन—मच्छ, मीन, जुलाहा, सियार, सावज, हस्ती, मतंगज आदि।

जीवात्मा—पुत्र, पारथ, जुलाहा, सिंह, मूसा, भौंरा, योगी, आदि।

संसार—सायर, वन। माया—माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया।

इनके साथ ही कुछ प्रतीक निश्चित से है। अन्तःकरण के लिए हरिण, ज्ञान दृष्टि के लिए अग्नि, तत्व ज्ञान के लिए 'अमृत' जैसे प्रतीकों का प्रयोग

होता है। आधुनिक प्रतीकों के उदाहरण प्रश्न ८ के प्रारम्भ में छायावादी प्रतीकों के रूप में दिये जा चुके हैं।

प्रश्न १०—आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण की विविध शैलियों का विवेचन कीजिए।

उत्तर—आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रयुक्त प्रकृति चित्रण की विविध शैलियों का विवेचन करने के लिए हमें भारतेन्दु काल से अब तक विभिन्न विचार धाराओं का विवेचन करना पड़ेगा। इन शैलियों को हम निश्चित शीर्षक अथवा उपशीर्षकों में विभाजित नहीं कर सकते। भारतेन्दु काल के कवियों का प्रकृति के प्रति आकर्षण तो रहा किन्तु उसमें मानवीय व्यापारों की ही प्रधानता रही। रीतिधारानुसार प्रकृति के उद्दीपन रूप का भी चित्रांकन किया। भारतेन्दु के अनन्तर पं० श्रीधर पाठक ने प्रकृति में द्रवणशीलता का अनुभव किया। इन्होंने प्रकृति के क्षण क्षण परिवर्तित होते हुए वेश का निरीक्षण किया और परम्परागत रेखा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्दता पूर्वक गेहूं और मटर के खेत में विचरण किया।

जो गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी।
दिन दिन बढ़ने लगीं विपुल शोभा सनी॥"

प्रकृति के उद्दीपन रूप में इन्होंने दाम्पत्य प्रेम और सात्विक भावों का समावेश कर उसे सुन्दरी नारी और जन्मदायिनी माँ के रूप में अङ्कित किया।

सुधारक द्विवेदी के प्रभाव से 'नायिका भेद' के स्थान पर प्रभात, सुमन बुलबुल, कृषक, हेमन्त आदि विषयों पर कविताएँ हुईं। आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के सौम्य और उग्र, कोमल और कर्कश रूपों का वर्णन किया। गुप्त, हरिऔध आदि ने प्रकृति क पृष्ठ भूमि और देश के अङ्ग रूप में ही महत्व प्रदान किया। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने उसमें मानवीकरण की प्रतिष्ठा की। छायावाद में आकर प्रसाद 'झरने' की 'लहर' में रहस्यवाद के शीतल सुरभित समीर के साथ अठखेलियाँ करने लगे। पन्त मंजुल मृदुल पल्लवों में मुग्ध हो गये। निराला की ओजस्विनी वाणी ने उसमें शक्ति का संचार किया और महादेवी ने प्रकृति और पुरुष का एकी-

करण कर दिया। छायावादी मानव के त्रस्त मन ने प्रकृति के सुरम्य अंचल में आश्रय स्थान प्राप्त किया। अपनी तन्मयता में मानव ने प्रकृति प्रेयसीके कोमलगात का स्पर्श और अनन्त आनन्दका अनुभव किया। कवियों ने प्रकृति का विविध रूपों में नाना प्रकार से शृङ्गार किया इसका कारण यह था कि इस काल में द्विवेदी युग के स्थूल के प्रति छायावादी सूक्ष्म की प्रतिक्रिया हुई। लोक दृश्यों के बाह्य सौन्दर्य का स्थान अन्तर व्यापिनी सौन्दर्य सुषमा ने ले लिया और वस्तु परिगणन के स्थान में आत्मानुभूति पर भाव प्रधान काव्य की रचना हुई। कवि भाव लोक में विचरण करता हुआ कल्पना के मधुर स्वप्नों में व्यस्त हो गया। प्रकृति के अन्तर में उसने अद्भुत सौंदर्य के दर्शन किए। उसने प्रकृति के अन्दर एक नारी रूप की उद्भावना की साथ ही प्रकृति में मानवरूप व्यापार और भावों का प्रतिबिम्ब देखा और अपने हृदय में प्रकृति के हर्ष विषाद का आभास पाया। प्रकृति उसकी सहज आत्मीया बन गई।

प्रतीक रूप में भी प्रकृति का प्रयोग किया गया। छायावादी कवियों ने नए प्रतीकों को जन्म दिया। झंझावात को हृदय के उद्वेग और विद्युत को स्मृति का प्रतीक मान कर नवीन लाक्षणिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया। प्रकृति के ध्वनिबोधक शब्दों का भी प्रयोग हुआ। 'पवन गति' में सर सर, मर मर, झन झन, सन सन; नूपुरों के शब्दों में सन्, रिन्, झन्, किन् किन्; निर्झरों में कलकल, टलमल आदि ध्वनिबोधक शब्दों को अपनाया गया। इसके साथ ही उन्होंने प्रकृति चित्रण को अलङ्कार और उद्दीपन रूप से ही न देखकर आलम्बन रूप से भी देखा। यहाँ प्रकृति और मानव का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया। आलम्बन के अतिरिक्त प्रकृति का सापेक्ष रूप से महत्व अलङ्कार प्रयोग में भी स्वीकृत किया गया। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों के प्रयोग द्वारा प्रकृति का महत्व स्वीकार किया गया। आलम्बन और अलङ्कार के अतिरिक्त प्रकृति को सप्राण मान कर उन्होंने इसमें मानव भाव और मानव रूप का भी आरोप किया। रहस्यवादी दृष्टिकोण होने से उन्होंने प्रकृति में विश्वात्मा के दर्शन किए।

प्रगतिशील काव्य के युग में आकर प्रकृति का स्थान गौण हो गया है। आज मानव का महत्व अपेक्षा कृत प्रकृति से अधिक है। यन्त्रों के कारण प्रकृति मनुष्य की दृष्टि से ओझल होती जा रही है। परन्तु प्रगतिवाद का कवि स्वयं को प्रकृति से पूर्ण रूपेण तटस्थ नहीं रख सका है, किसी न किसी रूप में वह प्रकृति का उपयोग कर ही रहा है। 'करील', 'तार-सप्तक', 'प्रलय-सृजन' आदि में प्रगतिशील कवियों ने भी प्रकृति चित्रण किया है। इससे प्रमाणित होता है कि मनुष्य स्वभाव से ही प्रकृति प्रेमी है। वह पूर्णतः प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता।

उत्तमा दिग्दर्शन प्रथमखण्ड

प्रश्नपत्र—४

गद्य, निबन्ध, कथा साहित्य तथा नाटक

निबन्ध

(१) चिन्तामणि (प्रथम भाग)—	श्री रामचन्द्र शुक्ल
(२) भट्ट निबन्धावली—	श्री बालकृष्ण भट्ट
(३) अतीत के चलचित्र—	सुश्री महादेवी वर्मा
(४) अशोक के फूल—	श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

कथा साहित्य

(१) कर्मभूमि—	श्री प्रेमचन्द
(२) मृगनयनी—	श्री वृन्दावनलाल वर्मा
(३) टेढ़े मेढ़े रास्ते—	श्री भगवतीचरण वर्मा
(४) निमन्त्रण—	श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी
(५) इक्कीस कहानियाँ—	श्री रायकृष्णदास

नाटक

(१) मुद्राराक्षस—	श्री हरिश्चन्द्र
(२) चन्द्रगुप्त—	श्री जयशङ्कर प्रसाद
(३) सिन्दूर की होली—	श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र
(४) प्रतिनिधि एकांकी	श्री अश्क
(५) हड़ताल—	श्री प्रेमचन्द (अनुवादक)

चिन्तामणि (श्री रामचन्द्र शुक्ल)

प्रश्न १—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की शैली की विशेषताएं समझाइए

उत्तर—शुक्ल जी हमारे सम्मुख सम्पादक, अनुवादक, कवि, निबन्धकार आलोचक आदि के विभिन्न रूपों में आते हैं। इन रूपों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ कहानियाँ और नाटक भी लिखे हैं। परन्तु इन सब रूपोंमें उनकी हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध एक सफल एवं अत्युच्च निबन्धकार और आलोचक के रूपमें ही है। अतः उनकी शैली के उत्कृष्टतम रूप के दर्शन इन्हीं दो क्षेत्रों में होते हैं। सुप्रसिद्धि आलोचक 'बफन' ने एक बार लिखा था—',शैली ही मनुष्य है।" इसका भाव यह है कि शैली से हमें लेखक के व्यक्तित्व के विषय में बहुत कुछ मालूम हो सकता है। बफन का यह कथन हिन्दी लेखकों में शुक्लजी के लिए जितना सत्य है उतना कदाचित् अन्य किसी लेखक के लिये नहीं। "शुक्लजी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है, तथा जीवन एक अध्यापक है। उनके साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को हम एक निर्भर युक्त भूधर कह सकते हैं, जिसमें एक ओर मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता है तो दूसरी ओर हृदय की स्रोतस्विनी भावुकता।" यह दोनों ही बातें शुक्ल-साहित्य में स्पष्ट रूप से मिलती है। उनकी निबन्ध शैली में मस्तिष्क की गम्भीर गुरुता के साथ ही साथ भावुकता के भी दर्शन होते हैं।

शुक्लजी के गंभीर व्यक्तित्व और आलोचनात्मक विषय के कारण उनकी शैली के मुख्य तीन रूप हैं—(१) समीक्षात्मक। (२) गवेष्णात्मक। (३) भावात्मक।

समीक्षात्मकः—शुक्ल जी आधुनिक हिन्दी साहित्यिक आलोचना शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। उनकी आलोचना शैली गंभीर, संयत और मार्मिक है। वाक्य प्रायः छोटे छोटे होते है। विषय का स्पष्टीकरण अत्यन्त शिष्ट और संयत है। उसमें कहीं भी अस्पष्टता नहीं आने पाती। इस समीक्षात्मक शैली के भी दो रूप है—सैद्धांतिक समीक्षा तथा व्याव

हारिक समीक्षा। सैद्धांतिक समीक्षा के दर्शन "कविता क्या है ?" "काव्य में लोकमङ्गल की साधनावस्था" "साधारणीकरण एवं व्यक्तिवैचित्र्यवाद" आदि काव्य शास्त्रीय निबन्धों में होते है। इन निबन्धों में निगमन शैली का प्रयोग मिलता है। अनुच्छेदन (पैराग्राफ) के प्रारम्भ में ही सूत्र रूप में सिद्धांत एवं विषय का प्रतिपादन कर दिया जाता है तथा अन्त में "साराश यह है" कहकर उस विषय को स्पष्ट कर देते है । व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र," "तुलसी का भक्तिमार्ग" मानस की धर्मभूमि आदि निबन्ध हैं। इनमें उतनी विवेचनात्मक गभीरता नहीं मिलती। 'तुलदास', 'जायसी की भूमिका' 'सूरदास' आदि में उनकी आलोचनात्मक शैली के सर्वश्रेष्ठ रूप के दर्शन होते हैं। ऐसे निवन्धो में शैली के दो रूप मिलते हैं। एक में वह छोटे २ वाक्यों द्वारा गहनविषय को स्पष्ट करते जाते हैं। यह शैली बड़ी मार्मिक है। दूसरा रूप वह है, जहाँ लेखक अनुचित प्रसङ्गों से क्षुब्ध होकर अत्यन्त शिष्ट एवं संयत व्यग्य करते है।

गवेषणात्मक शैली - इस शैली का रूप कुछ अधिक दुरुहता और गंभीरता लिये हैं । जब उन्होंने अपनी शुद्ध आलोचनात्मक शैली में ही व्यावहारिक भाषा का कम प्रयोग किया है तो गम्भीर गवेषणा में तो उसका कहीं स्थान ही नहीं रह जाता। इस शैली के दर्शन वहाँ होते हैं। जहाँ शब्द निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के दिग्दर्शन एव प्रतिपादन की आवश्यकता हुई है। इस शैली के और आलोचनात्मक शैली के वाक्यविन्यास में विशेष अन्तर न होकर केवल शब्द योजना में ही थोड़ा सा अन्तर मिलता है। एक में मार्मिक आलोचना है तथा दूसरी में गवेषणात्मक विवेचन।

भावात्मक शैली:—मनोविकारों पर गम्भीर एव सुंदर लेख लिखने का प्रयास हिन्दी मे सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही किया था। इनके लिए उन्होंने जिस शैली को अपनाया, वह उनकी साहित्यिक शैली से कुछ भिन्न है। इसमें वाक्य छोटे २ और सरल हैं, जिनसे विषय सुबोध और सरस हो जाता है। शब्द योजना में भी विशेष अन्तर नहीं है परन्तु विषय की स्वछन्दता के कारण भाषाके जिस प्रचलित और व्यावहारिक रूपको यहाँ अपनाया

गया है। उससे भावव्यंजना में जो प्रवाह आ गया है वह इस शैली की विशेषता है। इन निबन्धों में विचार शक्ति का अच्छा सङ्गठन है। एक के उपराँत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। जिनमें से यदि एक वाक्य या एक शब्द भी निकाल या बदल दिया जाय तो समस्त भावमाला अस्त-व्यस्त हो जाती है। इस शैली के भी मुख्य भेद किये जा सकते हैं। जब वे मनोविकारों की व्याख्या करते हैं। तब व्याख्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं जिसमें साहित्यिक शैली की सी गम्भीरता है। करुणा, क्रोध, लोभ आदि निबन्ध इसके उदाहरण हैं। दूसरा रूप वह है जहाँ विषय की व्याख्या विवेचना या गवेषणा अत्यन्त सरल ढग से उदाहरण देकर की गई है। ऐसे स्थल हृदय में एक गुदगुदी उत्पन्न कर देते हैं। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध में इन दोनों मनोविकारों का अन्तर अत्यन्त सरम एव सरल रूप से स्पष्ट किया गया है। इनमें कहीं कहीं हास्य और विनोद के भी सुंदर अवतरण मिल जाते हैं।

हास्य का पुटः—शुक्ल जी के गद्य में गम्भीर विवेचन के साथ-साथ मीठी चुटकियाँ भी मिलती हैं जिनसे विषय एव शैली नीरस होने से बच जाती है। मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर है, जहाँ जहाँ मार्मिक परिहास के साथ अत्यन्त सुंदर रूप मे हुआ है, जैसे—"हवा से खेलने वाली स्त्रियाँ देखीं नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होगी। चाहे उनके जिन्दादिली की कद्र न की हो।" और "अपनी कहानी का प्रारम्भ ही उन्होंने इस ढग से किया है जैसे कि लखनऊ के भांड घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।" तथा "हनुमान जी कभी २ भक्तमण्डली में किसी सेवक के सिर आ जाया करते हैं।" इसके अतिरिक्त एक कविजी का उद्धारण देते हुये उन्होंने लिखा है—"एक कविजी ने कहा है है—काजर दे नहिं, एरी सुहागिनि, आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन।" यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है. तव तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए हँसिया, छुरी आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।" इस प्रकार के हास-परिहास के योग से गम्भीर विषय भी बहुत रोचक हो जाता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त शुक्ल जी ने कहीं कहीं प्रभावोत्पादन के लिए विरोधाभास का रूप देकर विषय को मार्मिक बना दिया है। जैसे—"वात्सल्य व शृंगार क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आंखों से किया है । उतना किसी अन्य कवि ने नहीं।" अपने गंभीर अध्ययन से उन्होंने कुछ धारणायें बना ली थीं जिन्हें उन्होंने बड़ी बलवती भाषा में व्यक्त किया है–'पद्मिनी क्या सचमुच सिंहल की थी''' पद्मिनी सिंहल की हो नहीं सकती ।"

भाषा के क्षेत्र में शुक्लजी विशुद्धता के पक्षपाती थे । उनकी भाषा संस्कृत बहुल है । गम्भीर विषयो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते समय उनकी भाषा क्लिष्ट हो जाती है । ऐसी विशुद्ध भाषा उन्होंने प्रायः गम्भीर आलोचनात्मक लेखों में ही लिखी है। ऐसी प्रौढ़ और सबल भाषा आलोचना साहित्य के लिये बड़ी आवश्यक थी। परन्तु गवेषणात्मक निबंधों में यह विशेश क्लिष्ट हो गई है। यह क्लिष्टिता मनोविकार सम्बंधी निबंधों में प्रायः नहीं मिलती। इन निबंधों की भाषा अपेक्षाकृत सरल और व्यावहारिक है, जिसने निबधों को विशेष रोचक बना दिया है।

प्रश्न २—चिन्तामणि में सग्रहीत निबन्धों का परिचय देते हुए बताइए कि वे विचार प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान।

उत्तर—'चिन्तामणि' में संग्रहीत निबन्धों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—भावात्मक और समीक्षात्मक समीक्षात्मक निबन्धों के भी दो विभाग हो सकते हैं—सैद्धांतिक समीक्षा विषयक और व्यावहारिक समीक्षा विषयक। 'कविता क्या है,' 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' आदि सैद्धांतिक समीक्षा के निबन्ध हैं और 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,' तुलसी का भक्तिमार्ग' आदि व्यावहारिक समीक्षा के। इन निबन्धों से सर्वत्र शुक्लजी का व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देता है । विषयों का प्रतिपादन मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है। इनमें उत्साह, क्रोध, घृणा, भय, लोभ और प्रीति, श्रद्धा और भक्ति आदि मनोविकारों पर लिखे हुए निबन्ध, भाषा, शैली, विषय प्रतिपादन आदि की दृष्टि से हिन्दी के सर्व श्रेष्ट निबन्ध माने जा सकते हैं। इन में उत्कृष्ट निबन्धों की सभी विशेषतायें विद्यमान हैं।

इन निबन्धों में सर्वत्र विचारों की संबद्धता है। वे विषय प्रधान होते हुये भी व्यक्ति प्रधान हैं। उनमें हास्य, व्यग्य और विनोद का पुट भी अवसर आने पर सुन्दर दिया गया है। इस प्रकार उनमें रोचकता आ गई है। इसके साथ ही उनमें बुद्धि पक्ष के साथ साथ हृदय पक्ष को भी स्थान दिया गया है। भाषा शैली में एक विचित्र भव्यता, ओजस्विता तथा विशालता है जिसके द्वारा उनकी उठान, उनके विकास तथा उनकी समाप्ति में अभूत भावात्मकता आ गई। प्रायः ये सभी निबन्ध विचारात्मक हैं और निगमन शैली में लिखे गये हैं। निगमन शैली में अनुच्छेद के प्रारम्भ में ही सूत्र रूप में सिद्धान्तों को व्यक्त कर तत्पश्चात् उनका प्रतिपादन उदाहरणों, उद्धरणों और तर्कों द्वारा किया जाता है। इस शैली में विचारात्मक निबन्ध ही लिखे जाते हैं। शुक्ल जी को सूत्र रूप में कहने की अद्भुत क्षमता के दर्शन इन निबन्धों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त विषय को स्पष्ट, रोचक और आकर्षक बनाने के लिये उन्होने बीच बीचमें प्रसग मार्मिकताके साथ कथाओं का भी सन्निवेश किया है। इन निबधों में भावों पर लिखे गये निबन्धों की भाषा समीक्षात्मक निबन्धों की भाषा की अपेक्षा सरल है। अपने मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में मुहाविरों का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से उनके सभी निबन्ध उच्च कोटि के हैं।

चिंतामणि के इन निबन्धों के विषय में विद्वानों में यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि इन्हें विचार प्रधान माना जाय या व्यक्ति प्रधान। इसके विषय में पुस्तक के आरम्भ में अत्यन्त संक्षिप्त परिचय देते हुए शुक्लजी ने स्वयं लिखा है कि "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा को निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" शुक्लजी के इस कथन से भी यह ध्वनि निकलती है कि उनके ये निबन्ध विचार प्रधान हैं, साथ ही उसमें हृदय का भी स्थान २ पर प्रयोग होता गया है। विचार प्रधान निबन्धों

में बुद्धि पक्ष प्रधान रहता है और व्यक्ति प्रधान निबन्धों में हृदय की प्रधानता रहती है, जैसे—सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध।

शुक्लजी ने अधिकतर विषय प्रधान निबन्ध लिखे हैं। ऊपर हम शैली की दृष्टि से उनके निबन्धों का विभाजन कर चुके हैं। यहाँ विषय की दृष्टि से उनका विभाजन करना पड़ेगा। इस दृष्टि से भी हम उनके दो विभाग कर सकते है—एक वे जो जीवन से सम्बन्ध रखने वाले हैं और दूसरे वे जो साहित्य को लेकर चले हैं और जिनमें उनके आचार्यत्व की छाप है। जीवन सम्बन्धी निबन्धों में मनोविकार सम्बन्धी सभी निबन्ध माने जायेंगे। साहित्यिक लेखों मे कविता क्या है, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद तथा रसात्मक बोध के विभिन्न स्वरूप आदि लेख आयेंगे। दूसरे विभाग के निबन्ध अत्यन्त जटिल और गूढ़ चिंतन के विषय हैं। इन पर लेख लिखना लोहे के चने चबाने के समान है। कौतूहल या मनोरंजन के लिए यहा स्थान नहीं। यह तो तत्ववेत्ता और समीक्षक का क्षेत्र है। इसलिए इस प्रकार के निबन्धों में स्वभावतः ही विचारो की प्रधानता होना अनिवार्य है। प्रथम विभाग के निबन्धों में भी तर्क एव विवेचन का प्राधान्य अधिक मात्रा में हुआ है परन्तु वहाँ भी शुक्लजी का विचारक रूप ही प्रधान है।

समष्टि रूपसे लगभग सभी निबन्धोंमें बुद्धि तत्व प्रधान है क्योंकि "यात्राके लिए निकलती रही है बुद्धि," पर 'तुलसी का भक्तिमार्ग', 'लोभ और प्रीति आदि निबंधों में उसने हृदय को भी साथ ले लिया है। इनमें विचारों का प्राधान्य होते हुये भी उनका जीवन से पूरा लगाव है। शुक्लजी का सात्विक क्रोध, लोकरक्षा के भाव तथा मार्मिक व्यग्य इन निबन्धों को लोहे के चने होने से बचाये रखते हैं। यदि उनमें हृदय तत्व का समावेश न होता तो वे अत्यन्त नीरस एवं शुष्क बन जाते हैं। उनमें स्थान-स्थान पर लेखकके भावुक एवं सरस हृदय का परिचय मिलता है। कहीं कहीं वे बड़ी मीठी चुटकियाँ लेते हैं—"मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशों से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।" अवसर विशेष पर उनकी शैली ओजस्विनी बन जाती है और उसमें तीव्र व्यंग्य का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि इन निबन्धों में विचार का प्राधान्य तो है पर साथ ही साथ हृदय का भी सहयोग मिलता गया है। पग २ पर लेखक की व्यक्तिगत अनुभूति के दर्शन होते हैं जिससे हमें प्रत्येक पंक्ति पर रुक-रुक कर आगे बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार वहाँ हमें विचार और व्यक्तित्व का अत्यन्त सरस एव करुणापूर्ण सहयोग दिखाई देता है। यह शुक्लजी की अपनी विशेषता है। इस क्षेत्र मे उन्हें कोई नहीं पा सकता।

प्रश्न ३—क्या यह मत ठीक है कि "आचार्य शुक्लजी की शैली में नीरसता और शुष्कता है।"

उत्तर—शुक्लजी की गम्भीर तथा क्लिष्ट भाषा एवं विचारों की गहनता के कारण उन पर यह आक्षेप लगाया गया है कि उनकी शैली शुष्क और नीरस है। उसमें आर्षित करने वाला प्रवाह और रोचकता नहीं है। इस प्रश्न के समाधान हेतु हमें शुक्लजी को सम्पूर्णतः परख कर उनके साहित्य और शैली पर दृष्टिपात करना पड़ेगा।

अभी तक सब मानते आये है कि शुक्ल जी हिन्दी में "शैली ही व्यक्ति है" के एकमात्र ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके साहित्य की प्रत्येक पंक्ति और शब्द से उनका गहन, गंभीर विचार संकुल मुख झाँकता सा लगता है। ऐसा लगता है जैसे यह आदमी बहुत गहरा सोचता है, बहुत गहरा लिखता है। वास्तव में उनकी गम्भीर विश्लेषणात्मक व्यवस्थित शैली उनका सशक्त एव अमिट स्मारक है। किसी की शैली को नीरस और शुष्क कह देना उचित नहीं है, क्योंकि वह एक सापेक्ष्य बात है, जो प्रायः मूलतः विषय पर आधारित है। जिस विषय पर शुक्ल जी ने लिखा है वह स्वतः इतना गम्भीर और गूढ़ विषय है कि बड़े बड़े आलोचक उस पर कलम चलाने में हिचकते हैं। हम उनके साहित्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—साहित्यिक निबन्ध, गवेषणात्मक निबन्ध और स्वतन्त्र भाव या मनोविकारों पर लिखे गये निबन्ध। इनमे से प्रत्येक विषय पर उन्होंने इतना पूर्ण और सारगर्भित लिखा है कि उसे चरम सीमा पर पहुँचा दिया है जहां और कुछ लिखने या कहने को नहीं रह जाता। इन तीनों में ही उन्होंने तीन विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है।

उनकी गवेषणात्मक शैली में उनकी सूर, तुलसी एवं जायसी की भूमिकायें आती हैं। यह सभी भूमिकायें लम्बी, गम्भीर, पूर्ण और परिश्रम साध्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रत्येक एक 'थीसिस' हो। 'तुलसी' के वे एकमात्र आचार्य हैं। जायसी की भूमिका भारतीय आलोचना क्षेत्र की एक चिर स्मरणीय घटना है। उन्होंने इसके द्वारा उपेक्षित कवि जायसी को उठाकर सूर और तुलसी के साथ बैठा दिया। ऐसा करना साधारण प्रतिभा से सर्वथा परे की बात है। किन्तु इतने गम्भीर विषय में भी वे कहीं खोये से नहीं लगते इसका कारण है उनकी विवेचना की स्पष्टता। बड़ी सावधानी एवं संयत भाषा में, विविध शीर्षकों और विभागों द्वारा वे अपने विषय को बढ़ाते और स्पष्ट करते हुए चले गए हैं। साथ ही तुलनात्मक आलोचना भी अपनाते गये हैं। हस्तगत विषय की अन्य विषयों से तुलना करते हुये वे उसका स्थान, महत्व, कोटि सभी की व्याख्या विवेचना में समान सचेत रहते हैं। वास्तव में इस स्थान पर वे आदर्श आलोचक हैं। उनकी सूझ, पैठ, विषय को चलाने का ढंग सभी अनुकरणीय हैं। उनका उद्देश्य यथा तथ्य का निरूपण तथा वस्तु का वास्तविक मूल्याँकन होता है।

इन्हीं भूमिकाओं में हमें उनके विविध विषयों के ज्ञान तथा गहन-गंभीर पाँडित्य के दर्शन होते हैं। जैसे जायसी के दार्शनिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में सूफी दर्शन की व्याख्या तथा सूर के पुष्टिमार्ग का स्पष्टीकरण और 'काव्य में रहस्यवाद' में अन्य विविध दार्शनिक विषयों की व्याख्या। अपने विषय की पकड़ तथा उसे ग्रहण करने का उनका ढङ्ग इतना सशक्त सबग है कि आश्चर्य होता है। अपने साहित्यिक निबन्धों में शुक्लजी विभिन्न साहित्यिक समस्याओं पर गंभीर विचार मनन करते दिखाई देते हैं। वहां उनका दृष्टिकोण एक आचार्य का दृष्टिकोण है। उनका ध्येय कुछ साहित्यिक भ्राँतियों को दूर करना है। यहां उनके अपने सिद्धांत और मान्यतायें हैं जिनकी कसौटी पर कसकर वे विविध निर्णय देते रहते हैं। 'साधारणी करण' एवं काव्य में प्रकृति चित्रण वाले निबन्धों में उनके इस रूप के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार 'काव्य में रहस्यवाद' नामक निबन्ध में उनकी साहित्यिक दृढ़ता को देखकर आश्चर्य एवं श्रद्धा से नत हो जाना पड़ता है।

इन प्रकार के निबन्धों में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, शुक्ल जी की बुद्धि और हृदय दोनों साथ साथ चले हैं। हृदय के बुद्धि के साथ इसी संयोग ने उनके इतने गम्भीर विषयों को इतना सरल, विनोद प्रिय और रोचक बना दिया है। हम पहले प्रश्न में कुछ उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि उनके निबन्धों में सर्वत्र गम्भीर एवं शिष्ट हास्य, व्यग्य एवं मार्मिकता के दर्शन होते हैं। चिन्तामणि के लगभग सभी निबन्धों मे ऐसी सरस और कोमल उक्तियां मिल जाती हैं जहाँ गम्भीर विवेचन से थका हुआ हमारा मस्तिष्क क्षणिक विश्राम पाकर, पुनः आगे चल देता है। कहीं श्लेष, कहीं विरोधाभास, कहीं कटुक्तियाँ और कहीं सरस प्रकृतिचित्रण द्वारा वह हमारे मस्तिष्क को दुलगाते चले चलते हैं जिससे वह थककर बैठ न जाय। कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं, एक नीचे दिया जाता है –
"लोभियो! तुम्हरारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय निग्रह, तुम्हारी मानपमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है।" इसमें नीरसता ढूंढने वालों का क्या कहा जाय। इसके साथ ही वह स्थान-स्थान पर मनोरजक उदाहरणों द्वारा तथा अरबी फारसी के सामान्य प्रचलित शब्दों एव मुहाविरों द्वारा भी रोचकता उत्पन्न कर देते हैं।

हम ऊपर कह आये हैं कि शुक्लजी के निबन्ध अत्यन्त गम्भीर हैं। उनमें निम्नकोटि की सरलता एव हास्य ढूंढने वालों को तो निराश ही होना पड़ेगा। उनके अध्ययन के लिए अत्यन्त उच्च स्तर की आवश्यकता है। समय काटने के लिए हम चिन्तामणि नहीं पढ़ सकते। उसमें गम्भीरता और विवेचन है। इस नीरसता के आक्षेप का उत्तर प्रसिद्ध आलोचक डाक्टर सत्येन्द्र ने अत्यन्त विवेक एव तर्क पूर्वक दिया है "उनके निबन्धों को शुष्क कहना ही बस उन पर एक आक्षेप है। शुक्लजी ने साहित्य के प्रत्येक रूप को एक विशिष्ट धरातल पर पहुँचाने का पूरा प्रयत्न किया है।...... शुक्ल जी निबन्ध को गम्भीर प्रयत्न की अभिव्यक्ति मानते हैं। साहित्य में विशिष्ट गाँभीर्य (High seriousness) के वे वैसे ही पोषक हैं जैसे मैथ्यू

आर्नल्ड। निबन्धों को उन्होंने उसी दृष्टि से साहित्यिक रूप दिया है। उनके निबन्धों का क्षेत्र मनोजगत के तत्त्वों का क्षेत्र है। उन मनोजगत के तत्त्वों को उन्होंने प्रबन्ध या ग्रंथ का रूप नहीं लेने दिया। उन्होंने इस मनो-जगत के तत्वों का निरूपण विज्ञान की शुद्ध वस्तुवादिनी प्रणाली से नहीं किया। 'वस्तु' का निरूपण करते हुये उन्होंने 'भाव' का सम्पर्क इतना घनिष्ठ बनाये रखा है कि "निबन्ध" व्यक्तित्व से, हृदय के धर्म और मर्म से दूर नहीं हो पाता। यह 'वस्तु' और 'भाव' का सयोग एक अद्भुत प्रयोग है। भाव के इस संयोग के कारण ये निबन्ध सरस ही हुये हैं, शुष्क नहीं। **पर साहित्य की गंभीरता के लिए पाठक के मन का भी एक संस्कार आवश्यक है जिनका वह संस्कार नहीं वे शुक्लजी के निबन्ध की वस्तु को नहीं पकड़ पाते** । वे ही कह उठते हैं कि शुक्लजी के निबन्धों मे शुष्कता है।" अन्यथा शुक्लजी के निबन्धों में नीरसता और रोचकता नहीं आने पाई है।

प्रश्न ४—"शुक्ल जी एक निर्धारित रुचि वाले समालोचक थे।" इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—शैली की नीरसता और शुष्कता के समान ही शुक्ल जी पर यह आक्षेप किया जाता है कि उन्होंने अपनी रुचि के अनुसार अपने माप-दण्ड बना लिए थे और उसी पर वे समस्त साहित्य को तौलते थे। यह रुचि उनसे पक्षपात तक करा लेती थी। आधुनिक रहस्यवादी काव्य को वे आदर न दे सके। अलङ्कारवादी उन्हें अप्रिय रहे। इन सबका कारण 'तुलसी' माने जाते हैं। तुलसी शुक्ल जी के मापदण्ड थे। वे सबको उनकी तुलना में रखकर तौलते थे, तुलसी के कारण ही उन्होंने चमत्कारवादी केशव की निन्दा की। रामचरितमानस के कारण, मुक्तक के सम्मुख, प्रबन्ध काव्य को श्रेष्ठ माना। यही आक्षेप है जो शुक्ल जी पर किये जाते हैं।

ऊपर के आरोपों को सामने रखकर शुक्ल जी की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने "काव्य में रहस्यवाद" नामक निबन्ध में रहस्य-वाद और छायावाद की आमूल-चूल छानबीन करने की चेष्टा की है। इन्दौर वाले भाषण में अपने आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण

किया है। रहस्यवाद को उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टियों से देखा है। उसमें उन्होंने एक पूर्ण निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि से उसे देखने का प्रयत्न किया है। उसमें कहीं भी पक्षपात अथवा नियत रुचि का परिचय नहीं मिलता। ऐसा आरोप वही लगाते हैं जो निबन्ध को समझ नहीं पाये हैं।

शुक्ल जी ने अपने मापदण्ड को सम्मुख रखकर कवियों एवं ग्रन्थों को ऊँचा नीचा बताया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया, इसका उत्तर जानने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि उन्होंने वर्णित विषय को दृष्टि में रखकर काव्य को दो श्रेणियों में बाँटा है—(१) आनन्द की साधनावस्था व प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले, (२) आनन्द की सिद्धावस्था पर उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले। प्रथम श्रेणी में रामचरितमानस, पद्मावत (उत्तरार्द्ध), हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश आदि प्रबन्ध काव्य तथा भूषण आदि कवियों के वीर रसात्मक मुक्तक तथा आल्हा आदि प्रचलित वीर गाथात्मक गीत ; दूसरी श्रेणी में सूरसागर, कृष्ण भक्त कवियों की कविताएँ, बिहारी सतसई, रास पचाध्यायी तथा आधुनिक छाया वादी कविताएँ मानी हैं। इस वर्गीकरण का आधार शुक्ल जी के इन वचनों से स्पष्ट है हो जाता है—"काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी व त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के साधन मनुष्य का हृदय जब विश्व हृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय से भी मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है।"

शुक्ल जी के उक्त कथन में कहीं भी पूर्व धारणा नहीं मिलती। उन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर उसी काव्य को श्रेष्ठ माना है जो जीवन और जगत के साथ सटा हुआ चलता है। इसी को उन्होंने 'साधनावस्था' अथवा 'प्रयत्नावस्था' कहा है। इसके लिये उन्होंने सगुण-गोचर जगत की विशालता तथा विराटता के साथ मानव हृदय का तादात्म्य आवश्यक समझा है। शुक्ल जी उसी काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं जहाँ उस ब्रह्म की व्यक्त

सत्ता के रूप प्रकृति रूप प्रकृति, मानव और अवतार एकाकार हो जाते हैं। वही शान्ति और सुख का विधान होगा। इसी से उन्होंने शक्ति, शील और सौन्दर्य के प्रतीक राम को अपना मापदण्ड माना है। उन्होने लोकरंजक रूप से लोकरक्षक रूप को अधिक महत्व दिया है क्योंकि उनके हृदय में सबके प्रति कल्याण कामना है। उनका अलङ्कारो का विरोध भी उचित है। अलङ्कारों की अति सबने बुरी बताई है। अलङ्कार साधन हैं साध्य नहीं। शुक्ल जी ने जहाँ इनकी प्रधानता या अति देखी है वहीं उसका विरोध किया है। केशव के विरोध का कारण यही है।

उन्होंने जो तुलसी को इतना मान दिया है उसका कारण यह है कि वे उनको बौद्धिक विवेचन में सब दृष्टियो से सन्तुष्ट करते है। इस अपूर्व सन्तोष से ही उनमें तुलसी के प्रति भक्ति का उदय हुआ है। कृष्ण काव्य को उन्होंने लोकजीवन मे हटा पाया इसी से वे उचित आदर न दे सके। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं 'कि शुक्लजी की समालोचना प्रणाली वैज्ञानिक आधार पर निर्भर है. उनकी धारणाये निश्चित अवश्य हैं, पर धारणाये उन्होंने विचारपूर्वक, बिना किसी दुराग्रह के बनाई हैं।" अतः उपर्युक्त आक्षेप निर्मूल है।

प्रश्न ५—हिन्दी साहित्य में शुक्लजी का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार और आलोचक सम्राट माने जाते हैं। वह हिन्दी साहित्य के उन्नायक और उसकी गति-विधियो के व्यक्तित्व मे जो गम्भीरता और उनके स्वभाव में जो शालीनता, उदारता और सत्यप्रियता थी उसे उन्होंने अपनी बलिष्ठ लेखिनी द्वारा हिन्दी साहित्य को दान दिया। शुक्ल जी के आलोचक विचारक व्यक्तित्व पर बहुत से समसामयिक लेखकों से टीका-टिप्पणी की है और प्रायः सभी ने एक स्वर से उनके महत्व का अनुभव किया है। शुक्लजी और डाक्टर रिचर्डस का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये डाक्टर नगेन्द्र ने लिखा है कि 'शुक्ल जी आउट-आव डेट हो गये।" श्री शिवदानसिंह चौहान का मत है कि "शुक्ल जी ने अपनी तर्क शून्यता और दुराग्रह को ढांकने के लिये अनपेक्षित पांडित्य प्रदर्शन का रूपक रचा था।" इन दोनों

मान्य आलोचकों की इस कटु आलोचना का कारण यह है कि वे शुक्लजी में कुछ ऐसी चीजें ढूँढ़ते हैं जो उनमें नहीं हैं ; और साथ ही वे उन विशेषताओं की उपेक्षा भी करते हैं जो उनमें हैं। डाक्टर नगेन्द्र के विरोध के मूल में सम्भवतः एक बड़े की आलोचना कर स्वयं प्रकाश में आने की भावना हो। चौहान के विरोध का कारण तो स्पष्ट है। शुक्लजी लोक-संग्रह के अत्यन्त प्रबल समर्थक थे। इस कारण उन्होंने उस साहित्य की कटु आलोचना की जिसमें लोक की उपेक्षा की गई है। वे नीतिवादी थे। इस कारण शृंगार के नाम पर उशृंखलता भी स्वीकार नहीं करते थे। चौहान जैसा दृष्टिकोण रखने वाले नवयुवक कवियों एवं आलोचकों को शुक्ल जी की आलोचना इसी कारण खटकती थी। उपर्युक्त कटु आलोचना इसी मनोवृत्ति का परिणाम है।

इसके विपरीत सुप्रशिद्ध आलोचक एवं निबन्धकार बाबू गुलाबराय एम० ए० का मत है कि "यह बात निर्विवाद है कि गद्य साहित्य की ओर विशेष कर निबन्ध साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने में शुक्लजी अद्वितीय हैं। इस नाते हम उनको युग निर्माता भी कहें तो कुछ अनुचित न होगा। निबन्धों के क्षेत्र में गूढ़ विवेचन और सूक्ष्म विश्लेषण को लाने का श्रेय आचार्य शुक्ल जी को ही है।"

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल के प्रखर व्यक्तित्व का चित्रण निम्नलिखित शब्दों में किया है—"रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं। वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरलता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो "हाँ" कहना पड़ेगा या "न", बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। वे तनकर कहते हैं- "मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।" फिर भी शुक्ल जी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराने की गुलामी पसन्द नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनके लिए एक दम असह्य है। शुक्ल जी इसी बात में बड़े हैं और इसी जगह उनकी कमजोरी है।" आचार्य हजारीप्रसाद के उक्त

कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी का व्यक्तित्व कितना निर्भीक और प्रखर रहा है। उन्होंने जो कुछ लिखा पूर्ण चिन्तन और मनन के उपरान्त लिखा। अपनी आलोचना में उन्होंने किसी का लिहाज नहीं किया। जो सत्य समझा उसी का प्रतिपादन पूर्ण शक्ति से किया और जिसे असत्य समझा उसका पूर्ण शक्ति से खण्डन किया।

शुक्लजी की शैलियों के विविध रूपों को देखकर एक प्रसिद्ध आलोचक ने कहा था—"शुक्लजी का हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है तथा जीवन एक अध्यापक है।" उन्होने अपने निबन्धों की भाषा शैली एव विचार पद्धति से हिन्दी गद्य को काव्य के कलात्मक स्वरूप पर तो तिष्ठित किया ही है पर उनका सबसे अधिक उपकार आलोचना के क्षेत्र में नई समीक्षा प्रणाली की उद्भावना में पाया जाता है। इस क्षेत्र मे उन्होंने आचार्य वन कार्य किया है। तार्किक पद्धति पर आज जो आलोचनायें निकल रही हैं उसका श्रेय उन्हीं को है। निबन्ध की श्रेष्ठता के कारण ही 'साहित्यालोचन' की प्रतिद्वन्द्विता में चितामणि को मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। शुक्लजी का हिदी साहित्य का इतिहास अपने ढंग का अद्वितीय है। इससे श्रेष्ठ एवं पूर्ण अन्य कोई साहित्य का इतिहास अभी तक नहीं निकल सका है। गम्भीरता के कारण क्लिष्टता उनके निबधों में एक दुर्गुणता सी मानी जाती है। परंतु यह क्लिष्टता विषय गाम्भीर्य के कारण ही है। प्रसाद साहित्य के समान इनके निबंध एवं अधिकांश आलोचनाएँ परिष्कृत एव प्रौढ मस्तिष्कि के ही पठन की सामग्री प्रस्तुत करती हैं—जन साधारण की नहीं।

समष्टि रूप से शुक्ल जी हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्यकार थे। "वह सफल अनुवाद, सहृदय कवि, सत्समालोचक, उत्कृष्ट निबन्धकार, प्रौढ़ कोषकार, निष्पक्ष इतिहासकार और अद्वितीय शैलीकार थे। उनकी उद्भावना शक्ति मौलिक और उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इनके व्यक्तित्व पर भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की स्पष्ट छाप थी। उनके अध्ययन में अपनत्व था, अनुकरण नहीं। इसीलिए उन्होंने प्रत्येक साहित्यिक क्षेत्र में अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया। यही मौलिकता उनकी साहि-

त्यिक रचनाओं का प्राण ।" है (राजेन्द्रसिंह गौड़)

शुक्लजी के विषय में ऊपर की गई विरोधी प्रशंसात्मक आलोचनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य में शुक्लजी एक मात्र सर्वप्रथम मौलिक आलोचक एव निबधकार हुए हैं। अभी तक उनके रिक्त स्थान की पूर्ति कोई नहीं कर सका है। हिंदी को शुक्ल जी के समान दृढ़ एव सशक्त आलोचक की आवश्यकता है जो वर्तमान हिदी साहित्य में फैली हुई उच्छृंखलता को सयत कर सके।

प्रश्न ६—"यदि गद्य कवियो या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की। भाषा की पूर्ण सक्ति का विकास निबधों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" इस अवतरण की छायामें शुक्ल जी के निबन्धों के महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—काव्य हृदय से उत्पन्न होता है। उसमें भावों और कल्पनाओं का स्फुरण स्वाभाविक रूप से होता है। वे जिस रूप में निसृत होते है, उसी रूप मे व्यक्त कर दिए जाते है। व्याकरण द्वारा वाक्य-विन्यास का जो स्वरूप निश्चित है, उसका काव्य में कोई विचार नहीं होता। उसमें शब्दो को तोड़ मरोड़ कर देते हैं। इच्छानुसार शब्द गढ़ने की स्वतन्त्रता कवि को अपेक्षाकृत अधिक होती है। इन कारणो से काव्य की भाषा का स्वरूप बहुत कुछ सांकेतिक होता है। 'सांकेतिक' से भाषा के उस स्वरूप के अभिप्राय है, जिसमें अभिव्यक्ति भावों, कल्पनाओं को समझने के लिए पाठक को बहुत कुछ अपनी कल्पना के द्वारा कार्य करना पड़ता है और उन भावों और कल्पनाओं के मानस चित्र अपनी बुद्धि द्वारा बनाने पड़ते हैं। इस प्रकार कवि होने के लिए भावुकता और कल्पना तत्वो की अत्यत आवश्यकता है। इसके विपरीत गद्य में कठिनाई अधिक है। वहाँ विचारो का प्राधान्य होता है। भाषा का व्याकरण सम्मत होना शब्दों के स्वरूप का शुद्ध होना और कम से कम अप्रचलित या नये शब्दों का प्रयोग करना गद्य की आवश्यकता होती है। अतएव गद्य लिखना काव्य की अपेक्षा कठिन है। गद्य में लेखक पाठक के ऊपर अभिप्राय को समझने की जिम्मेदारी नहीं छोड़ सकता। इसीलिए उसकी भाषा सांकेतिक न होकर ठोस होती है। उसमें भाषा

द्वारा ही प्रत्येक विचार का स्पष्टीकरण करना होता है। यह हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता। तभी कहा गया है कि गद्य कवियो की कसौटी है।

निबन्ध गद्य की एक शाखा है और यह गद्य की कसौटी मानी जाती है। उपन्यास, कहानी, नाटक आदि मे भाषा का स्वरूप बहुत कुछ शिथिल रहता है। परन्तु निबन्ध मे थोड़े में बहुत कुछ कहना होता है वह स्पष्ट और प्रभावशाली ढंग से कहना होता है। यह कार्य कठिन है। प्रवाह रखना और विचारो का लक्ष्य के साथ प्रकट करना निबन्ध की विशेषताएँ होती हैं। निबधकार को थोड़े से समय में ही बहुत और गम्भीर बात करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति मे भाषा शिथिल रहेगी तो निबधकार अपने उद्देश्य में सफल नहीं होगा। वह तो तभी सफल हो सकता है जब उसके विचारों में कसावट हो। और यह कसावट आती है भाषा के विचारपूर्ण प्रयोग तथा सक्षिप्त कथन शैली से। शुक्ल जी के निबन्धों मे यह गुण पूर्ण मात्रा में मिलता है। वहाँ विचारो की शृङ्खला कहीं नहीं टूटती। उनमें इतनी चुस्ती है कि यदि वाक्य भी निकाल ले तो समस्त अनुच्छेद ही अस्त-व्यस्त हो जाय। इस गठन और कसावट पर शुक्ल जी बहुत बल देते हैं। भाषा की शक्ति का विकास भी वे इसलिए निबन्ध मे मानते हैं। अतएव उनका यह कथन अक्षरशः सत्य है कि गद्य यदि कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य कसौटी है।

भट्ट निबन्धावली (बालकृष्ण भट्ट)

प्रश्न १—भट्ट जी की भाषा का परिचय देते हुए बताइए कि उन्होंने खड़ी बोली के आदर्श का पूर्ण निर्वाह नहीं किया।

उत्तर—जिस समय भट्ट जी ने लिखना प्रारम्भ किया उस समय भाषा के तीन रूप प्रचलित थे—राजा शिवप्रसाद की भाषा, राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा एवं भारतेन्दु जी की भाषा! भट्ट जी की भाषा में इन तीनों रूपों के दर्शन होते हैं। वस्तुतः वे भाषा को शुद्धिवादी दृष्टिकोण से नहीं

देखते थे, भट्ट जी सम्पादक थे, इसलिए शुद्धवादी दृष्टिकोण से उनका काम भी नहीं चल सकता था। उनकी दृष्टि में हिंदीका 'प्रोज' (गद्य) बड़ा पोच था। अतः वे उसकी अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाना चाहते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वे "हिन्दी गद्य को विविध रूप सम्पन्न और समीचीन बनावें। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जहाँ अरबी फारसी के नेस्तनाबूद, मरसञ्ज, राहत, सिन, फरागत आदि शब्दों का प्रयोग किया। वहाँ करेक्टर, नेशन, प्रोम्पटर, जीनियस विहेवियर जैसे अंग्रेजी शब्दों का भी खुल कर प्रयोग किया। कहीं कहीं तो उन्होंने शीर्षक भी अंग्रेजी में दे दिए थे। ऐसा करने का कारण यह था कि वे भाषा में भाव प्रकाशन की सुगमता लाने, उसे व्यापक रूप देने और अङ्गरेजी शिक्षित व्यक्तियों को हिन्दी से परिचित कराने के पक्षपाती थे। शैली की दृष्टि से उनकी भाषा के दो ही रूप मिलते हैं--संस्कृत गर्भित भाषा वाला रूप और अरबी फारसी शब्दों वाली मुहावरेदार भाषा का रूप। इनके बीच में अङ्गरेजी के शब्द जमाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। कभी कभी अर्थ सरल करने के लिए वे एक ही शब्द के संस्कृत और विदेशी दोनों रूप दे देते थे। जैसे—'मुकुर या दर्पण' 'प्रतिष्ठा या इज्जत।' कभी कभी शब्द गढ़ भी लेते थे, जैसे-सुन्दराया, वेवनावट, टटके टटके, मरपच साहित्य। सच तो यह है कि और संस्कृति के पण्डितो के समान वे अपने गद्य लेखों को काठिन्य से जकड़ कर नीरस नहीं होने देना चाहते इसीलिये उन्होंने अपनी भाषा को व्यापक रूप दिया था। ऐसे सिद्धान्तों को लेकर भाषा लिखने वाले लेखक की भाषा में स्थानीय प्रयोगों का आ जाना भी स्वाभाविक है। यद्यपि खड़ी बोली के आदर्श एवं शुद्ध रूप के बीच में स्थानीय प्रयोग बाधा उपस्थित कर उसका रूप बिगाड़ देते हैं। परन्तु हमें यहाँ भट्ट जी के उद्देश्य को देखकर यह भी देखना है कि इस प्रकार के स्थानीय प्रयोगों से उनकी भाषा का रूप बिगड़ा है या उल्टी उसमें सजीवता आ गई है जो भावों को स्पष्ट करने में सहायता हुई है।

कुछ उदाहरणों द्वारा हम यह देखेंगे कि उनके यह प्रयोग कैसे हुए हैं—"न जानिए किस जून कैसी सरस्वती मुख से निकल पड़ती है "राजा

की नियत और प्रजा के पुण्य का फल उजागर कर देंगे।" दो वर्ष के लिए चिऊंटियाँ ढोअन बन्द हो जाय"! इन उदाहरणों में जून, उजागर, चिंऊटियों ढोअन आदि प्रयोग खड़ी बोली के लिए अपरिचित हैं। यह पूरबी स्थानीय शब्द है। इन्हें हिन्दी का सामान्य पाठक नहीं समझ सकता ऐसे प्रयोग खड़ी बोली के लिए घातक हैं। परन्तु साथ ही हमें यह भी देखना चाहिए कि उस समय तक खड़ी बोली का कोई एक रूप निश्चित नहीं हो पाया था। उस समय तक भाषा का निर्माण हो रहा था। इसके साथ ही भट्ट जी का दृष्टिकोण भाषा के प्रति व्यापक था। इसीसे वे यह प्रयोग कर गए।

भट्ट जी की भाषा में महावरों का भी अच्छा प्रयोग मिलता है। परन्तु गम्भीर लेखों में भी जहाँ मुहावरों की झड़ी सी लग गई है वहाँ वह खटकता है। उनकी भाषा को देख कर यह कहा जा सकता है कि वे विषयानुकूल भाषा के विचित्र रूपों का प्रयोग करने में समर्थ थे। उनकी दृष्टि भावों और विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति पर रहती थी उन्हें शब्दों के देशी या विदेशी होने की चिन्ता नहीं थी। दूसरे भट्ट जी की लेखनी सदा समय के प्रतिकूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारों के जमाने में तत्पर रहती थी। इसी से उनकी भाषा चटपटी, तीखी व्यंजनात्मक तथा चमत्कार पूर्ण होती चली गई। एक प्रकार से आपने हिन्दी भाषा के गद्य की दुर्बलता हटा कर उसमें चलतापन, विविध भाव, विषय और प्रकाशन प्रकार तथा योग्यता भर दी।

प्रश्न २—भट्ट जी की शैली पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—शैली की दृष्टि से भट्ट जी की रचनाएं अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। उन पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। वह अपने प्रत्येक वाक्य में बोलते से जान पड़ते हैं। उनकी शैली की यही विशेषता है कि वह छोटे २ विषयों को भी खूब बढ़ा चढ़ा कर लिखते थे। अपने निबन्धों में गम्भीर्य तथा स्वाभाविकता की दृष्टि से भट्ट जी हिन्दी के "चार्ल्स लैम्ब" कहलाते हैं। लम्बी कल्पना की उड़ान में आप अंग्रेजी निबन्ध लेखक 'एडीसन' और 'स्टील' की तुलना में रखे जा सकते हैं। आपने हिन्दी में कोष्ठबन्दी

और पद्यात्मक गद्य की शैली चलाई। इसी से आप आविष्कारक गद्य लेखक कहलाते हैं।

भट्ट जी के निबन्ध साधारणतः तीन पृष्ठों से अधिक नहीं होते थे। वह अधिकतर भावावेश में लिखा करते थे इसी से उनकी लेखनी में बल आ जाता था। हिन्दी प्रदीप के सम्पादक रूप में उनकी भाषा मज गई थी और शैली में निखार आ गया था। प्राधान्य रूप से उनकी शैली के दो रूप मिलते हैं।—परिचयात्मक और भावात्मक।

परिचयात्मक शैली—इस शैली में भट्ट जी ने साधारण व्यावहारिक और सामाजिक विषयों पर निबन्ध लिखे है। उनके उपन्यास एवं कौतूहल पूर्ण लेख भी इसी शैली में पाये जाते हैं। परन्तु यह शैली उनके साहित्यिक रूप का प्रतिबिम्ब नहीं मानी जा सकती इस शैली में वे सामान्य जन का साहित्य लिखा करते थे।

भावात्मक शैली-भट्टजी के वास्तविक साहित्य रूपके दर्शन इसी शैली में होते हैं। इसकी तीन विशेषताए हैं प्रथम, इसमें शुद्ध हिन्दी का प्रयोग है। यह प्रवाहपूर्ण, संयत एव भावानुकूल है। द्वितीय, उपमा, रूपक, उत्पेक्षा आदि अलङ्कारों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग मिलता है। इस स्थान पर हम इसे अलङ्कारिक शैली कह सकते हैं। तृतीय. भावों एवं विचारों के साथ कल्पना का सुन्दर समन्वय किया गया है। इसी समन्वय में उनके गद्य काव्य का विकास दिखाई देता है। यह शैली अत्यन्त सुन्दर और भावुकता पूर्ण है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त भट्ट जी की शैली में विनोद पूर्ण वक्रता, हास्य, व्यंग्य भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। उनके व्यग्य में तीखापन अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह चिढ़ कर व्यंग्य कर रहे हैं। उन्होंने अपनी शैली में पूर्ण मौलिकता अपनाई थी किसी का अनुकरण नहीं किया। उस पर उनका पूर्ण अधिकार था। भट्ट जी हिन्दी गद्य की दरिद्रता का अनुभव कर उसे पूर्णता देना चाहते थे। इसीलिए उनकी शैली के विभिन्न रूप सामने आए।

शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से हम उनकी शैली तीन प्रकार की पाते हैं - एक संस्कृत प्रधान होती थी, दूसरी कुछ-कुछ उर्दू की ओर झुकाव लिए हुए थी तथा तीसरी में विदेशी शब्दों का खुल कर प्रयोग किया गया था। संस्कृत प्रधान शैली में आलङ्कारिक प्रयोगों की अधिकता है। उर्दू मिश्रित शैली में साधारण विषयों पर लिखा है। इनमें मुहावरों, सूक्तियों आदि का खूब प्रयोग हुआ है। तीसरी शैली के द्वारा वह अंग्रेजी शिक्षितों को हिन्दी के प्रति आकर्षित करने के लिये लिखा करते थे। उनकी तीनों शैलियों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत प्रधान शैली—"शान्ति और क्षमा के यह आधार थे, अज्ञान तिमिर को हटाने को सहस्रांशु थे, हठ और दुराग्रह आदि महाक्रूर ग्रह के अस्ताचल थे, उदारभाव के हृदय गिरि थे।" उर्दू मिश्रित शैली—"चन्द के उपदेश का असर बड़े बाबू पर कुछ ऐसा हुआ कि उस दिन से यह सब सोहबत संगत से मुंह मोड़ अपने काम में लग गया। वसूल और तहसील की एक मद खुद आप जाँचता था।" कहीं कहीं पूरबी प्रयोगों के साथ देशज एवं तद्भव शब्दों की छटा भी दिखलाई पड़ती थी।

"अस्सी बरस की खोलहड़ी जप्पल बुढ़ियाए उपदेश देती हैं, बेटा अब तुम सयाने भए घर दुआर की फिकर रखा करो, दुलहनिया की नथिया टुटगे हैं, बतसिया का ब्याह नियरान हैं, सदा फक्कड़ बने रहने से काम न सरे है।

प्रश्न ३—श्री बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सामान्य रूप से हम भट्टजी के निबन्धों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—भावात्मक और विचारात्मक! भावात्मक निबन्धों का संग्रह "भट्ट निबन्धावली" के प्रथम भाग में और विचारात्मक निबन्धों का संग्रह द्वितीय भाग में किया गया है। निबन्धों के विस्तार को देखते हुए विद्वानों ने भट्टजी के निबन्धों के छः भेद किए है जो निम्नलिखित हैं (१) विचित्र तथा असाधारण विषयों पर—"अहेरी की स्त्रियां अहेर हैं!" नाक निगोड़ी भी बुरी बला है। 'भकुआ कौन है' आदि। इन निबन्धों के सुनते ही हंसी आ जाती है। इनमें मसखरापन और हास्य कूट-कूट कर भरा है

परन्तु उसमें गम्भीरता है। इसमें मानव जीवन पर एक दृष्टि डाली गई है। (२) विषयों पर—जैसे 'पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता' ! इनमें व्यंग्य चातुर्य विशेष रूप से रहता है ! (३) काल्पनिक—जैसे आँसू चन्द्रोदय आदि ! इनमें लेखक अपनी कल्पना शक्ति का अच्छा परिचय देता है। (४) गम्भीर तथा शिक्षाप्रद विषयों पर—जैसे "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है।" मनुष्य की बाहरी आकृति मन की प्रतिकृति है, 'आत्मनिर्भरता,' 'माता का स्नेह' आदि ! इन निबन्धों में उनकी विचार शक्ति और मनन शीलता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। (५) सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्ध जैसे शंकराचार्य और गुरु नानक देव। ये प्राचीन और नवीन दोनों परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर लिखे गए हैं ! जीवनियों पर लिखे गए निबन्ध भी इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। (६) भावात्मक—जैसे 'कल्पना' ! इनमें रस और भाव की सुन्दर व्यंजना हुई है।

भट्टजी ने इन सब निबन्धों को जनता की दृष्टि से लिखा है ! पाठक की रुचि ऐसी ही रचनाओं में रमती है, जो उसके जीवन की किसी समस्या को लेकर लिखी गई है और जिनकी भाषा सरल और आकर्षक हो ! भट्ट जी के निबन्ध इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। राजनीति, समाज और साहित्य की तत्कालीन सभी समस्याओं पर उन्होंने अपने लेखों में विचार किया है। हास्य व्यग्य प्रधान शैली में लिखे गए उनके लेख तो मानव मन की गहराइयों के पृष्ठ के पृष्ठ हमारे सम्मुख खोलते चले जाते हैं। उनमें सूक्तियों का समावेश एक जान डाल देता है।

उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। जनता के जीवन की झलक इसी कारण उनके साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलती है उन्होंने कहीं भी अपने पाठकों की उपेक्षा नहीं की है। मनुष्य के अन्धविश्वास, पाखण्ड और आडम्बर से लेकर सड़ी गली रूढ़ि, रीति रिवाज, सरकारी अन्याय, अत्याचार तथा साहित्यिक अधोगति, अवनति तक पर खरी बातें और वह भी ऐसे ढङ्ग से कि दिल में घर करती चली जाँय, भट्ट जी की विशेषता है। ऐसे सजीव जिन्दादिल लेखक हिन्दी मे बहुत कम हुए हैं।

अतीत के चल चित्र (महादेवी वर्मा)

प्रश्न १—महादेवी वर्मा के गद्य की विशेषताएँ लिखिए और "व्यक्तिगत निबन्ध" को स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर—महादेवी वर्मा के दो साहित्यिक रूपों—गद्यकार महादेवी और पद्यकार महादेवी में इतना अधिक अन्तर दिखाई देता है कि उन्हें एक ही व्यक्ति के दो रूप नहीं कहा जा सकता । कविता मे वे व्यक्तिवाद की उपासिका हैं । उनका ससार के अन्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता ! वे अपनी सारी प्रकृतियों को अपने में ही केन्द्रित कर के उस अज्ञात प्रियतम को खोजने निकलती हैं किन्तु गद्य में वे एक दम बदल जाती हैं । गद्य में उनकी सारी प्रवृतियाँ समाज की ओर प्रसारित हो उठीं हैं । समाज के मध्य में अपने को स्थिर रख कर स्वयं प्रकाश स्तम्भ की भांति उसकी प्रत्येक बात पर प्रकाश डालती हैं ।

उन्हें विचार के क्षणों में गद्य लिखना पसन्द है । उनका यह विचारक रूप भारतीय नारी समस्याओं के विषय में ही अधिक चिन्तन मनन करता है । दुखों से अभिशप्त भारतीय नारी का उन्होने पक्ष लिया है । भारतीय नारी का जीवन आरम्भ से अन्त तक इतना कठोर होता है कि उस पर सोचने के लिए गद्य से अच्छा कोई दूसरा रूप हो भी नहीं सकता । इसी कारण उन्होंने नारी का पक्ष लेकर बहुत सयत और कलापूर्ण विद्रोह किया है । उनके इस विद्रोह के दो स्पष्ट रूप हैं । इन्हें इनके गद्य के भी दो भाग कहा जा सकता है एक स्थान पर वे गहन गम्भीर विचारक की भांति स्त्री जीवन की समस्याओं को सोचती है । उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करती हैं । ऐसे स्थान पर उनका गद्य विवेचनात्मक और गवेषणात्मक है । यहाँ उनके कवित्व और हृदय के योग की अपेक्षा मस्तिष्क ही अधिक सुखद और सक्रिय है, जैसे "शृंखला की कड़ियाँ" । दूसरा वह रूप है जिससे महादेवी अपनी वैज्ञानिकता को गौण कर के एक कलाकार की भाँति नारी जीवन से सहानुभूति दिखाती है, वास्तविकता का उद्घाटन करती है । ऐसे निबन्धों में उनके हृदय की सहानुभूति, वास्तविकता की मार्मिकता पर आद्र मेघों की

भांति झर जाती है। ऐसे निबन्धों में वे अपने विषय के साथ इतनी घुल-मिल गई हैं कि उन निबन्धों को एक पृथक वर्गमें रखना पड़ा है। वे व्यक्तिगत निबन्ध कहलाते हैं। इनमें "अतीत के चल चित्र" और 'स्मृति की रेखाएँ" है।

व्यक्तिगत निबन्ध लेखक के व्यक्तित्व से इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि वह आत्मकथा के अंश से प्रतीत होते हैं। पर ऐसा होता नहीं। आत्मकथा में लेखक का व्यक्तित्व ही सबल होता है—वह उस व्यक्तित्व के विकास की कथा होती है। परन्तु व्यक्तिगत निबन्धों में विषय और वस्तु ऐसे सम्बद्ध रहते हैं कि उन्हें पृथक नहीं किया जा सकता। इसमें लेखक अपना चित्रण विषय को अधिक से अधिक स्पष्ट और हृदयंगम कराने के लिए करता है। निश्चय ही वह अपनी कथा का एक पात्र होता है और विषय को अपने दृष्टिकोण से सोचता है किन्तु उसमें उसका उद्देश्य विषय को ही अधिक स्पष्ट करना है। कुछ लोग व्यक्तिगत निबन्ध को प्रथम पुरुष में लिखी गई कहानी समझ लेते हैं परन्तु यह भ्रम है। इसमें कहानी के तत्व नहीं होते। सोधा सादा वर्णन होता जिसमें वार्तालाप बहुत ही कम होता है। ऐसे निबन्धों को हम प्रथम पुरुष में लिखे गए स्केच या रेखाचित्र कह सकते हैं किन्तु शुद्ध रेखाचित्र नही। इस प्रकार ये निबन्ध न तो आत्मकथा के अश होते हैं और न प्रथम पुरुष में लिखी गई कहानी! यह दोनों के मध्य की चीज मानी जा सकती है। अंग्रेजी में चार्ल्सलैम्ब के तथा हिन्दी मे महादेवी वर्मा, गुलाबराय एम० ए० एव सियाराम शरण गुप्त के निबन्ध इसी कोटि में माने जाते हैं?

किन्तु महादेवीजी के ये निबन्ध एक विशेष ढङ्गके हैं। निरीह प्राणियों के लिए लेखिका के हास्य में अथाह करुणा है। इस करुणा के योग से उनके पात्र सजीव हो उठे हैं। इन पात्रों के साथ वह पूर्णतः घुलमिल गई हैं। सभी पात्र प्राय निम्न श्रेणी के ही हैं। उनकी स्वाभाविक दुर्बलताओं की वे अपेक्षा नहीं कर सकी हैं। उनके सभी चित्र अत्यन्त सशक्त हैं। स्थानों और नखाशख के वर्णनों में उनकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण है। निराला जी के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में ऐसे पूर्ण एवं सशक्त चित्र,

उनके समान और कोई नहीं दे सका है। इन निबन्धों की शैली पूर्णतया मौलिक और अपनी हैं। उसे छायावादी गद्य का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। शब्द विन्यास, वाक्य विन्यास एवं विषय प्रतिपादन की शैली मधुर और कौशल पूर्ण है। भावों और कविता से प्रत्येक शब्द ओत प्रोत है। उन्होंने शैली में अपनी आत्मा का सारा रस निचोड़ कर रख दिया है। उनके वाक्य लम्बे और बड़े अवश्य है परन्तु ऐसे नहीं कि उन्हें बार २ पढ़ना पड़े। साथ ही प्रत्येक वाक्यमें छलकती हुई भावुक कल्पना और सरस कवित्व ने उसे इतना रोचक और हृदय स्पर्शी बना दिया है कि पाठक का मन विवश शब्दों की तरंगों पर नाचता है। उसमें गद्य काव्य का सा आनन्द आता है इसी कारण कहा गया है कि—"आपके (महादेवी जी) संस्मरणों का गद्य एक प्रकार से गद्य काव्य का ही प्रतिस्पर्द्धी है।

प्रश्न २—"अतीत के चलचित्र' को आप गद्यकाव्य मानेंगे अथवा व्यक्ति गत निबन्धों का संग्रह।

उत्तर—व्यक्तिगत निबन्धों का विश्लेषण हम गत प्रश्न में कर चुके हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने से प्रथम गद्यकाव्य को समझ लेना आवश्यक है। गद्यकाव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है। भावना का प्राधान्य तो उसमें सर्वाधिक होता है तथा एक ही केन्द्रिय भावना का प्राधान्य होता है। इस कारण वह गीत के समान छोटा होता है। भावावेश में अधिक लम्बी रचना असम्भव है। गद्यकाव्य की भाषा गद्य की होती है किन्तु भाव प्रगीत काव्यों के से। गद्य के शीरीर में पद्य की सी आत्मा बोलती हुई दिखाई देती है। संक्षेप में गद्यकाव्य की यही विशेषताएं मानी गई हैं।

महादेवी जी प्रकृत रूप से कवियित्री ही हैं परन्तु हम पहले कह चुके हैं कि गद्यकार महादेवी का रूप पद्यकार महादेवी से नितान्त भिन्न ही हो गया है। कहना चाहिए कि जो पक्षी कविता के आकाश में कल्पना की सुनहरी रश्मियों में विचरता है, व्यथा के नीड़ में निर्वेद प्राप्त करना चाहता है, वही गद्य की धरती पर उसकी कठोरता के विषय में विचार करने लगता है। महादेवी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्हें विचार के

उन्हें में गद्य लिखना पसन्द है । इस कारण उनके गद्य में भावना के स्थान पर विचार का ही प्राधान्य रहता है । परंतु उनका कवि सर्वत्र एवं सर्वथा उपेक्षित ही नहीं रह जाता । गम्भीर विवेचन के समय उनका गद्य विवेचनात्मक और गवेषणात्मक हो उठता है। यहाँ मस्तिष्क ही अधिक प्रखर और सक्रिय रहता है। जैसे—शृङ्खला की कड़ियाँ। दूसरे स्थान पर वह गम्भीर विवेचन को छोड़कर एक कलाकार की भांति नारी जीवन से अनुभूति दिखाती हुई वास्तविकता का उद्‌घाटन करती हैं। इसमें भावुकता के प्रावल्यवश वह अपने को तटस्थ और निरपेक्ष नहीं रख पातीं, और न अपने विषय का इतिवृत्तात्मक ढग से वर्णन ही कर पाती हैं। ऐसे निबन्धों में इतना घुलमिल जाती हैं कि विद्वानों ने इस प्रकार के निबन्धों को 'व्यक्तिगत' निबन्धों की संज्ञा दी है। यद्यपि उनमें गद्य काव्य काव्य के कुछ लक्षण अवश्य मिल जाते हैं परन्तु उन्हें हम पूर्ण रूप से गद्य नहीं मान सकते। "अतीत के चलचित्र" में ऐसे ही निबन्ध संगृहीत हैं।

व्यक्तिगत निबन्धों का विवेचन गत प्रश्न में हो चुका है। वह न तो आत्मकथा का अश माना जा सकता है और न प्रथम पुरुष में लिखी गई कहानी रेखाचित्र मानते हुए भी शुद्ध रेखाचित्र नहीं मान सकते। रेखाचित्र और गद्यकाव्यों में अपने चरित्रों पर विश्लेषणात्मक टीका टिप्पणी नही की जाती परन्तु इन निबन्धों में अपने चरित्रों पर खूब विश्लेषणात्मक टीका टिप्पणी मिलती है। अतः उन्हें दोनों में से शुद्ध रूप से एक भी नहीं मान सकते। अस्तु,

अतीत के चल चित्र महादेवी जी की प्रथम गद्य रचना है। उसमें उनके सस्मरण संकलित है। इन संस्मरणों में लेखिका ने ऐसे व्यक्तियों की स्मृति को ताजा किया है जिन्हें ससार साधारणतया भूल जाता है। लेखिका ने पुस्तक के प्रारम्भ में ही अपनी गहरी अनुभूति और संवेदना से अपने कलात्मक उद्‌देश्य की घोषणा सी की है :—

"जिनके आँसुओं ने मेरा पथ स्वच्छ किया है,
जिनकी बिखरी कथाओं ने मेरे लिए जीवन की शृङ्खला जोड़ी है,
जिनकी ममता सुन्दर, सरलता शिव और मनुष्यता सत्य रही है,

जो अपने उपकारों से अनजान और मेरी कृतज्ञता से अपरिचित हैं,
उन्हीं अपने धूमिल चलचित्रों के,
चिर उज्जवल आधारों को ।"

गद्य काव्य में भाव की प्रधानता होने के कारण भावावेश होता है और वह आकार में भी छोटा होता है परन्तु इस पुस्तक के रेखाचित्र लम्बे हैं अतः उन्हें गद्य काव्य नहीं कहा जा सकता । भाषा शैली में कहीं कहीं गद्य काव्य की सी झलक मिल जाती है परन्तु उसमें भी वह असयम नहीं मिलता जो गद्य काव्य का विशिष्ट गुण माना जाता है, उसमे भावना सर्वत्र विचारों के आधार पर ही चलती है । उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिलता । हाँ इतना अवश्य है कि गद्य के शरीर मे पद्य की सी आत्मा अवश्य बोलती है । इसलिए हम 'अतीत के चलचित्र' को गद्य काव्य न कह कर व्यक्तिगत निबन्धों का ही संग्रह मानेंगे ।

इन चित्रों के विषय में महादेवी जी ने स्वयं लिखा है– "इन स्मृति चित्रों में मेरा जीवन भी छा गया है । यह स्वाभाविक भी था । अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुंधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं । उसके बाहर तो वे अनन्त अंधकार के अंश हैं । मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं वह बाहर रूपान्तरित हो जायेगा । फिर जिस परिचय के लिए कहानीकार अपने कल्पित पात्रों को वास्तविकता से सजा कर निकट लाता है, उसी परिचय के लिए मैं अपने पथ के साथियों को कल्पना का परिधान पहना कर दूरी की सृष्टि क्यों करती । परन्तु मेरा निकटता जनित आत्मविज्ञापन उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है, जो इसके पार नहीं देख सकता, वह इन चित्रों के दृश्य तक नहीं पहुँच सकता ।"

अशोक के फूल (हजारीप्रसाद द्विवेदी)

प्रश्न १—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक परिचय देते

हुए 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध संग्रह पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ला ११, संवत् १६६४ को बलिया जिले के 'दुबे का छपरा' नामक ग्राम में प० अनमोल द्विवेदी के यहाँ हुआ था। इनका कुल ज्योतिष विद्या के लिए कई पीढ़ियों से प्रसिद्ध रहा है। इनके प्रपितामह, पितामह और पिता इस विद्या के प्रकाँड विद्वान् माने जाते थे। हजारीप्रसाद जी की प्रारम्भिक शिक्षा उनके चचा की देख रेख मे एक मिडिल स्कूल में प्रारम्भ हुई। सन् १६२० में मिडिल पास कर इन्होंने १६२२ से संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। हिंदू विश्वविद्या लय काशी से सन् १६२७ मे एडमिशन की परीक्षा पास की। इसी वर्ष इनका विवाह हो गया। संस्कृत साहित्य की अपेक्षा आपकी अभिरुचि ज्योतिष के प्रति अधिक थी। सन् १६३० में आपने इन्टर और आचार्य की परीक्षा पास की। अस्वस्थता के कारण ये बी० ए० की परीक्षा देने में असमर्थ रहे यद्यपि इन्होंने प्रयत्न बहुत किया था। सन् १६३० मे आप शान्ति-निकेतन पहुँच गए। साहित्य निर्माण की प्रेरणा आपको यहीं मिली।

शान्ति निकेतन के कलापूर्ण, साहित्यिक एवं सौम्य वातावरण एवं कवीन्द्र रवीन्द्र, आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे कलाकारों, विद्वानों एवं पत्रकारों की प्रेरणा से युवक हजारीप्रसाद के हृदय में साहित्य निर्माण की प्रेरणा उत्पन्न हुई। उन्हें हिन्दी साहित्य की ओर लाने का श्रेय पण्डित बनारसीदास को दिया जाता है। ये शान्ति-निकेतन मे अध्यापन कार्य करते हुए साहित्य के अध्ययन और निर्माण में दत्तचित्त रहे। कुछ समय पूर्व तक आप वही हिन्दी विभाग के अध्यक्ष भी रहे थे। आजकल आप हिन्दू विश्व-विद्यालय-काशी मे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

आपका व्यक्तित्व अत्यन्त सरल, सौम्य और उदार है। साहित्यिक गुटबन्दियों से सदैव दूर रहते हैं। हिन्दी संस्कृत, बंगला, अपभ्रंश, पाली एवं अन्य कई भाषाओं के प्रकाँड विद्वान् हैं। अध्ययनशील होने के कारण आत्मप्रचार एवं आत्म प्रशंसा से सदैव उदासीन रहते है। इसी कारण

एकान्त प्रिय हैं। अपनी विद्वता, सुलझी हुई विवेचना एवं प्रौढ़ अध्ययन और आकर्षक गम्भीर शैली के कारण आप एक प्रकार से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं। परन्तु आपमें शुक्लजी की सी अक्खड़ता और व्यङ्ग का अभाव है। सन् १६४७ में करांची हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद के आप सभापति मनोनीत किए गए थे। १६४८ में दरभंगा की ओरियण्टल कान्फ्रेन्स के भी आप ही सभापति थे। सन् १६४६ में लखनऊ विश्व-विद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आल लिट्रेचर' की सम्मानित उपाधि प्रदान कर उनकी साहित्यिक सेवाओं का सम्मान किया था। 'सूर-साहित्य' पर इन्दौर की साहित्य-समिति ने आपको स्वर्ण-पदक प्रदान किया था। 'कबीर' पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। वह विश्व भारती तथा अभिनव भारती पुस्तक माला का सम्पादन भी भी कर चुके हैं।

द्विवेदी जी हिन्दी के मौन साधक और प्रौढ़ साहित्यकार हैं। हिन्दी में उनकी दो प्रकार की रचनाएं प्राप्त हैं। मौलिक और अनूदित। मौलिक रचनाओं में सूर-साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, प्राचीन भारत तथा कला-विलास, नख दर्पण में हिन्दी कविता, विचार और वितर्क, अशोक के फूल, हमारी साहित्य समस्यायें, बाणभट्ट की आत्मकथा, सूरदास की कविता, नाथ सम्प्रदाय, चौरंगीनाथ की प्राण संकली, रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान, कबीर पंथी साहित्य, साहित्य का साथी, और चारुचन्द नामक लेख माने जाते हैं। अभी कुछ समय पूर्व 'हिन्दी साहित्य' नामक एक हिन्दी साहित्य का इतिहास भी निकला है। उनके अनूदित साहित्य में प्रबन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रबन्ध कोश, विश्व परिचय, लाल कनेर तथा मेरा बचपन की गणना की जाती है। इनमें से अन्तिम तीन ग्रन्थ कवीन्द्र रवीन्द्र के हैं जिनका अनुवाद किया गया है।

द्विवेदी जी हिन्दी के दार्शनिक साहित्यकार हैं। उनकी गणना उन इने-गिने हिन्दी-साहित्यकारों में की जाती है जिनकी प्रतिभा साहित्य के विविध अङ्गों की ओर अग्रसर न होकर केवल एक ओर विकसित हुई है। वह मुख्यत: आलोचक हैं। विद्यार्थी जीवन समाप्त करने के पश्चात् ही

विश्वभारती के सम्पर्क में आने के पश्चात् उन पर एक ओर ता रवीन्द्र साहित्य का प्रभाव है और दूसरी ओर संस्कृत साहित्य का। उनका मूल निष्ठा भारत की प्राचीन संस्कृति में है, पर इसके साथ ही नूतनता का आश्चर्यजनक सामंजस्य उनमें पाया जाता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, ज्योतिष और विभिन्न मत मतान्तरों एवं धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया है, इससे उनकी रचनाओं में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक हो गया है। उनमें छोटी से छोटी वस्तु को भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने और परखने की अद्भुत क्षमता है। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में अध्ययन और चिन्तन का विशेष स्थान है। उनका रचना काल सन् १९५२ के लगभग माना जा सकता है। उस समय से अब तक उन्होंने हमें जो साहित्य दिया है उसे हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—निबन्ध और आलोचना। अगली पंक्तियों में हम इन्हीं पर विचार करेंगे—

(१) द्विवेदी जी का निबन्ध साहित्य—द्विवेदी जी उच्चकोटि के निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों के दो संग्रह 'विचार और वितर्क' तथा अशोक के फूल प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो अभी अप्रकाशित हैं इन समस्त निबन्धों के विषय विभिन्न प्रकार के हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से हम उन्हें दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—विचारात्मक। उनके विचारात्मक निबन्धों की दो श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबन्धों की गणना की जा सकती है जिसमें उन्होंने छोटी से छोटी बात को लेकर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से उस पर विचार किया है। इनसे उनकी विचार शक्ति, अनुभूति की गहराई तथा चिन्तन शैली का यथेष्ठ परिचय मिल जाता है। हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वह साधारण से साधारण विषय को गम्भीर रूप देने तथा उस पर अपने व्यक्तित्व और अपने अध्ययन एवम् चिन्तन का रङ्ग चढ़ाने में अत्यन्त कुशल हैं। वह धार्मिक तथा दार्शनिक प्रवृत्ति के निबन्धकार हैं इसलिये उनके इस श्रेणी के निबन्धों के विषय सामाजिक जीवन-सम्बन्धी होते हैं। अपने ऐसे निबन्धों में उन्होंने जन-हित की दृष्टि से अपने विषय पर विचार प्रकट किये हैं और उसके सम्बन्ध में उपयोगी एवम् क्रियात्मक झुकाव दिये हैं।

द्विवेदी जी द्वितीय प्रकार के निबन्ध आलोचनात्मक होते हैं। इस प्रकार के निबन्ध भी दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबन्धों को स्थान दिया जा सकता है जिनमें साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है और द्वितीय श्रेणी में उन निबन्धों की गणना की जा सकती है जिनमें साहित्यकारों की रचनाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। अपने इन दोनों श्रेणियों के निबन्धों में अत्यन्त सतर्क, सयत और गम्भीर है। इन पर उनके व्यक्तित्व और विद्वता की स्पष्ट छाप है। आलोच्य विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी जी हिन्दी के प्रौढ़ निबन्धकार हैं। उनके निबन्ध विचारों से परिपूर्ण होते हैं और उनमें दार्शनिक तत्वों की प्रधानता रहती है। विभिन्न धर्मों के गम्भीर अध्ययन के कारण उनके दृष्टिकोण में जो व्यापकता और उदारता आ गई है वही उनके निबन्धों का प्राण है। उनके अधिकाश निबन्ध व्याख्यात्मक हैं। इसी से इनके निबधों में विस्तार अधिक मिलता है। शुक्ल जी की प्रतिभा सूत्रात्मक हैं। वे संक्षेप में बहुत कुछ कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त शुक्लजी की सी मनोविश्लेषण की प्रणाली के दर्शन भी हमें द्विवेदीजी में नहीं होते। मनोवृत्तात्मक निबंधों का उनके निबंध साहित्य में अभाव है। उनके निबधों के विषय या तो सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं या साहित्य के विभिन्न अंगों से। उनके विवेचन में भी शुक्लजी की सी गम्भीर एव प्रभावपूर्ण विवेचना का अभी अभाव रहता है। सम्भव है कालान्तर में उनमें भी वही शक्ति पैदा हो जाय।

द्विवेदी जी का आलोचना—साहित्य हमें दो रूपों में मिलता है—एक 'हिंदी साहित्य की भूमिका' एवं 'हिंदी साहित्य' के रूप में तथा दूसरा कबीर तथा सूर की आलोचना के रूप में। उनके ये दोनों रूप प्रौढ़ और व्यापक हैं। उनकी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' हिंदी आलोचना साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। उन्होंने इसमें हिंदी साहित्य की प्रेरक शक्तियों का वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया है। उनका

मत है कि—प्रत्येक देश का साहित्य, समाज, संस्कृति और चिन्तन, एक अविच्छिन्न विकास परम्परा और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब हुआ करता है जिसे गति देने में भौगलिक, आर्थिक मनोवैज्ञानिक कारण काफी हिस्सा लेते हैं। जब तक इन बातों का ज्ञान नहीं होता तब तक साहित्य के इतिहास को पढ़ने का डिक्शनरी को याद करने की अपेक्षा अधिक मूल्य नहीं हो सकता।" इसी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने हिंदी साहित्य की भूमिका नामक पुस्तक लिखी थी। उन्होने हिंदी साहित्य का उसके पूर्ववर्ती संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृक, पाली आदि के साहित्य से परम्परागत सम्बंध स्थापित कर साहित्य के इतिहास को एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से देखने की प्रेरणा दी है।

उनकी आलोचना का दूसरा रूप कबीर और सूर की आलोचना है। द्विवेदी जी का हिंदी के आदिकाल और भक्तिकाल का अध्ययन विशेष रूप में विशाल और गम्भीर है। उपरोक्त आलोचनाएँ इसी अध्ययन का परिणाम हैं। इन आलोचनाओं में उनका दृष्टिकोण प्राचीनतावादी है। उन्होंने संस्कृत की शास्त्रीय पद्धति पर प्रभाववादी आलोचनाएँ की हैं। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति अङ्गरेजी से प्रभावित है। द्विवेदी जी नवीन दृष्टिकोण को पूर्णरूप से अपनाने में असमर्थ रहे है।

भाषा और शैली की दृष्टि से द्विवेदी जी बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा शुद्ध हिंदी है। विषयानुकूल उन्होंने संस्कृत के क्लिष्ट और सरल दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है इससे उनकी भाषा के दो रूप हो गए हैं। निबंधों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। उनमें सरल तत्सम शब्दों के साथ साथ उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। कहीं कहीं अङ्गरेजी के शब्द भी मिल जाते हैं। वे अपनी भाषा की गठन के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहते हैं। इसीसे उनकी भाषा सर्वत्र साहित्यिक ही मिलती है। उसका व्यावहारिक रूप कम है। इनकी भाषा का दूसरा रूप उनकी आलोचनात्मक रचनाओं में मिलता है। इनकी भाषा अधिक संस्कृत गर्भित और प्राँजल है। विदेशी शब्दों का इसमें वहिष्कार है। पर वह कहीं भी अत्यधिक दुरूह नहीं बन पाई है। वह स्वाभाविक तथा प्रभावपूर्ण होने के कारण बोध-

गम्य तथा प्रभावोत्पादक है।

उनकी शैली सर्वत्र गवेषणात्मक है। उनकी आलोचनात्मक तथा विचारात्मक रचनाएँ भी इसी गवेषणात्मक शैली में लिखी गई हैं। शब्दचयन विषयानुकूल हैं। शैली स्वाभाविक है। उसमें प्रयत्न के दर्शन नहीं होते। प्रत्येक शब्द विचार का प्रतीक होता है। वाक्य कुछ लम्बे होते हैं परन्तु उनके कारण विचारों की शृङ्खला नहीं टूटने पाती। सूत्रात्मक रूप से कहने की उनमें अधिक क्षमता नहीं है। इसी से अपनी शैली में वह व्याख्यात्मक अधिक हैं। "अपनी गम्भीर से गम्भीर बात को साधारण पाठक तक पहुँचाने में वे ऐसी भाषा और ऐसी शैली का प्रयोग करते हैं कि वर्ण्य-विषय की आत्मा पाठठ के सामने साकार हो जाती हैं।

'अशोक के फूल' द्विवेदी जी के साँस्कृतिक, साहित्यिक एवं शिक्षा-विषयक निबन्धों का संग्रह है। 'द्विवेदी जी उन इने गिने चिन्तकों में से हैं, जिनकी मूल निष्ठा भारत की पुरानी संस्कृति में है, लेकिन साथ ही नूतनता का आश्चर्यजनक सामजस्य उनमें पाया जाता है। प्रस्तुत संग्रह के निबन्धों का अध्ययन करने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी प्राचीनता वादी हैं। उनका दृष्टिकोण प्राचीन आचार्यों के समान ही शास्त्रीय है। परन्तु साथ ही वे समय की गति को पहचानने में भी भूल नहीं करते। समय की आवश्यकता को देखते हुए वह परिवर्तन में विश्वास करते हैं। इसी से नवीन विचारधारा को भी उनके साहित्य में पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त हुआ है। वे प्रधान रूप से समन्वयवादी हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने बाबू श्याम सुन्दरदास एवं बाबू गुलावराय के मार्ग को अपनाया है। उपरोक्त दोनों महारथी यथासम्भव अति को त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुसरण करते आए हैं। द्विवेदी जी भी उनके अनुयायी से प्रतीत होते हैं। उनके साहित्यिक निबन्धों में अपने एक निश्चित मत एवं निष्कर्ष के स्थान पर समझौते की सी भावना मिलनी है। आचार्य शुक्ल के समान वे तन कर अपना मत नहीं प्रकट कर पाते। इस कारण उनके निबन्ध जिज्ञासा तो उत्पन्न करते हैं परन्तु प्रेरणा नहीं दे पाते। उनमें एक नवीन दृष्टिकोण के तो दर्शन होते है परन्तु वह दृष्टिकोण कुछ सीमा तक अपर्ण और अस्पष्ट सा होता है। इस

संग्रह के निबन्ध इसके प्रमाण हैं।

द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, ज्योतिष और विभिन्न धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया है। इन निबन्धों में इस अध्ययन की स्पष्ट छाप है। इन निबन्धों के अध्ययन से द्विवेदी जी की एक और विशेषता सामने आती है। वह यह कि छोटी से छोटी चीज को भी वे सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं ? बसन्त आता है, हमारे आस पास की वनस्थली रंग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित हो उठती है, लेकिन हममें से कितने ऐसे हैं, जो उसके इस आकर्षक रूप को देखकर आनन्दित होते हैं ? अपनी जन्मभूमि का इतिहास हममें से कितने जानते हैं ? पर द्विवेदी जी की तीक्ष्ण दृष्टि उन छोटी पर महत्वपूर्ण चीजों को देखे बिना नहीं रह सकी। इस संग्रह के अनेक निबन्धों में इस सूक्ष्म निरीक्षण और वस्तु विशेष के प्रति विशेष प्रेम का परिचय मिलता है।

इन निबन्धों को देखकर भारतेन्दु कालीन निबन्धों की याद आ जाती है। उन निबन्धों में जैसा उन्मुक्त उल्लास और विषय वैविध्य था वही इनमें मिलता है। इनमें उन्मुक्त उल्लास के साथ ही साथ गम्भीर विवेचन और गहन अध्ययन के भी दर्शन होते हैं। हमारे अधिकांश पाठकों की यह भ्रांत धारणा है कि निबन्ध केवल साहित्यिक ही होते हैं। इसका कारण यह है कि साहित्यिक और विशेष रूप से आलोचनात्मक निबन्धों की आजकल इतनी भरमार और माँग है कि लेखकों का ध्यान अन्य स्वतन्त्र विषयों की ओर जाता ही नहीं। पत्र पत्रिकाओं में भी प्रायः साहित्यिक निगन्धो के ही दर्शन होते हैं। संग्रहों के रूप में भी साहित्यिक निबन्ध ही विशेष रूप से पाये जा रहे हैं। स्वतन्त्र निबन्धों के संग्रह न के बराबर हैं और जो हैं भी उनका कोई प्रचार नहीं हो रहा। आज हम निबन्ध लेखक उसी को मानते हैं जो आलोचनात्मक निबन्ध लिखता हो। द्विवेदी जी इसके अपवाद हैं। उन्हें हम सच्चा निबन्ध लेखक मान सकते हैं। उन्होंने अपने निबन्धों के विषय साधारण से साधारण वस्तुओं से लेकर गम्भीर साहित्यिक समस्याओं तक से लिए हैं।

प्रस्तुत संग्रह में चार प्रकार के निबन्ध है। साहित्यिक—हमारे पुराने

साहित्य के इतिहास की सामग्री, संस्कृत का साहित्य, पुरानी पोथियाँ, काव्य कला। आलोचना का स्वतन्त्र मान। साहित्यकारों का दायित्व, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। **सांस्कृतिक**—अशोक के फूल, भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, भारतीय संस्कृति की देन आदि। **सामाजिक**—बसन्त आ गया, प्रायश्चित की घड़ी, सावधानी की आवश्यकता, एक कुत्ता और एक मैना, नया वर्ष आ गया आदि। **शिक्षा-सम्बन्धी**—हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली। इनके अतिरिक्त 'मेरी जन्मभूमि' जैसे व्यक्तिगत निबन्ध, भारतीय फलित ज्योतिष जैसे वैज्ञानिक निबन्ध भी इस संग्रह में मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के निबन्धों के इस संग्रह को देखकर लेखक के विशाल ज्ञान, व्यापक दृष्टिकोण, गम्भीर अध्ययन और विषयानुकूल भाषा लिखने की शक्ति एवं योग्यता को देखकर दङ्ग रह जाना पड़ता है।

कर्मभूमि (प्रेमचन्द)

प्रश्न १—'कर्मभूमि' उन्यास की कथा को संक्षेप में लिखिए।

उत्तर—लाला समरकान्त, दिल्ली के एक धनी साहूकार हैं जिन्होंने बेईमानी से धन पैदा किया है। अमरकान्त और नैना एक पुत्र और पुत्री उसकी सन्तानें हैं। यह दोनों सौतेले भाई-बहिन होते हुए भी प्रगाढ़ स्नेह बन्धन में बँधे हुए हैं। पिता अत्यन्त कंजूस है। उसका सिद्धान्त है कि बिना कमाए खर्च करने का अधिकार किसी को भी नहीं होना चाहिए। इससे अमरकांत के विद्याध्ययन में बाधा पड़ती है परन्तु उसका एक अभिन्न मित्र सलीम सदैव उसकी सहायता करता रहता है। कुछ समय उपरान्त अमर का विवाह 'सुखद' नामक एक अभिमानिनी, तेज स्वभाव वाली और फैशन पसन्द लड़की से हो जाता है। अमर सीधा-सादा, देशप्रेमी युवक है। सुखद शृङ्गार प्रिय है। दोनों के स्वभावों में यथेष्ट विरोध है। सुखद चाहती है कि अमर पिता की आज्ञा मान कर, छल-कपट का व्यापार करना सीखे परन्तु अमर को असत्य से घृणा है।

एक दिन अमर अपने मित्र सलीम और शान्तिकुमार के साथ गाँवों

में जाता है। वहाँ वह एक अबला की गोरों के अत्याचार से रक्षा करता है। उसमें देशप्रेम प्रबल हो उठा है। इसी समय सुखदा गर्भवती होती है और उसके आग्रह पर अमर पिता की दूकान पर बैठने लगता है। वहाँ उसे कालेखाँ नामक एक चोर के द्वारा अपने पिता के असली व्यापार का पता चलता है कि वह चोरी की चीजें खरीद कर बेचता है। इसी समय एक दिन पाँच रुपए मासिक वजीफा पाने वाली एक मुस्लिम बुढ़िया रुपए माँगने आती है। अमर उसके साथ उसके घर जाकर उसकी लड़की सकीना से परिचय प्राप्त करता है। एक दिन अमर की दूकान के सम्मुख, गाँवों में गोरों के अत्याचार की शिकार स्त्री, एक अँग्रेज को छुरे से मार डालती है। उस पर केस चलता है। अमर, सुखदा और सुखदा की मा रेणुका, सलीम और शान्तिकुमार के साथ मिल कर इस केस की पैरवी करते हैं। वह स्त्री छूट जाती है। इससे इन सबका नगर में सम्मान बढ़ जाता है।

अमर सकीना के पास कभी कभी जाता है। उसे सकीना से प्रेम हो जाता है। इसी समय अमरकान्त पिता से लड़ कर सुखदा सहित घर छोड़ देता है और कपड़े की फेरी लगाने लगता है। सुखदा भी एक स्कूल में नौकरी कर लेती है पर दोनों सन्तुष्ट नहीं रह पाते। एक दिन अमर सकीना के घर जाकर प्रेम की बातें कर रहा था कि बुढ़िया आ गई और उसने अमर को फटकार कर निकाल दिया। अमर सकीना से विवाह करने पर तुल जाता है। कुछ दिनों बाद वह देहातों में काम करता है जहाँ हत्याकाण्ड के अभियोग से छूटी हुई स्त्री मुन्नी रहती है। देहातो में प्रचार कार्य से अमर का प्रभाव बढ़ जाता है। उसने गाँव में एक पाठशाला भी खोल ली है और चमारों की गाय का माँस खाने की आदत भी वह छुड़ा देता है।

इधर नगर में समरकान्त की कथा में, अछूतों के प्रवेश को लेकर फौजदारी हो जाती है जिसमें शान्तिकुमार के चोट आती है। लालाजी पुलिस की सहायता लेते हैं। गोली चलती है। बीच में आने से सुखदा के चोट लगती है। मन्दिर खुल जाता है। सलीम आई० सी० एस० होकर उसी इलाके में तैनात होता है जहाँ अमर रहता है। इसी बीच नैना का

धनीराम से विवाह हो जाता है । सुखदा और शान्तिकुमार 'सेवाश्रम' खोलकर जनसेवा आरम्भ कर देता है । किराए सम्बन्धी बिल को लेकर सुखदा हड़ताल करा देती है और अन्त में गिरफ्तार हो जाती है । उधर अमर करबन्दी को लेकर उस क्षेत्र में प्रचार करता है । सलीम अमर को गिरफ्तार कर लेता है । अमर की गिरफ्तारी का समाचार सुनकर लाला समरकान्त उसी गाँव में पहुँचते हैं । उनकी शिक्षा से सलीम के भाव बदल जाते हैं और वह किसानों में घूम घूम कर सच्ची रिपोर्ट इकट्ठी करने लगता है । उसे पदच्युत कर जेल भेज दिया जाता है । वहाँ सब मिल जाते हैं ।

बनारस में सभाबन्दी कानून का उल्लंघन कर, सभा करने पर शान्ति कुमार गिरफ्तार हो जाते है । उनका स्थान नैना लेती है पर उसे उसका पति धनीराम शूट कर देता है । उसके बाद सकीना, सुखदा आदि सभी जेल भेज दिए जाते हैं । वहीं उनकी अमर और सलीम से भेंट होती है । सब एक दूसरेको क्षमा कर देते हैं । सलीम सकीना की शादी हो जाती है ।

प्रश्न २—कर्मभूमि की सम्यक् आलोचना लिखिए ।

उत्तर—'कर्मभूमि' मध्यकालीन कॉंग्रेस आन्दोलन का प्रतीक है । इसी कारण इसकी ख्याति बढ़ गई थी । शीर्षक उपन्यास में वर्णित कथा पर अवलम्बित होने के कारण सार्थक है । इसमें क्रियाशील जीवन के चित्र हैं । पात्रों का चरित्रगत विकास उनकी क्रियाशीलता में ही है । इसका नायक अमरकान्त कर्मठ एवं अध्यवसायी युवक है । उपन्यास के मूल में प्रेमचन्दजी की यह धारणा कार्य करतीं प्रतीत होती है कि 'सिद्धान्त सदैव स्थिर नहीं रहते परिस्थितियाँ मानव को निश्चित ध्येय पर दृढ़ नहीं रहने देतीं । कर्म ही संसार में सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है ।" इस आधार पर हम कर्म भूमि को आदर्शवादी उपन्यास मान सकते हैं । केवल एक पात्र 'मुन्नी' के चरित्र में अमनोविज्ञानिक आदर्शवाद मिलता है । मुन्नी की कथा अनावश्यक है । यदि उसे निकाल भी दिया जाय तो मुख्य कथा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । मुन्नी के द्वारा प्रेमचन्दजी ने भारतीय नारी की नारी धर्म सम्बन्धिनी भावना की उच्चता का चित्र खींचना चाहा है । इस प्रकार

की नारी भावना संस्कार जन्य ही हो सकती है—वह सर्व साधारण में सुलभ नहीं। मुन्नी के चरित्र में कहीं भी विकास नहीं मिलता। उसका आचरण और आदर्श समझ में ही नहीं आता कि लेखक उससे क्या करवाना चाहता है।

मुन्नी के अतिरिक्त अन्य पात्रों का विकास मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से हुआ है पात्र विकास का आधार है—सार्वजनिक सेवावृत्ति। अमर और सुखदा इस वृत्ति का विकास ग्राम और नगर में अलग अलग करते हैं। अमर कर्मयोगी है। उसका सेवाभाव सुखदा से उच्च एवं विशुद्ध है। सुखदा में त्याग प्रवल है। समरकान्त का त्याग परिस्थितियों एवं परिजनों के मोहवश त्याग है। इसमें प्रेमचन्दजी एक आदर्श की स्थापना कर रहे हैं, इसी कारण उनके सभी पात्र आदर्श के आधार पर खड़े हैं। आदर्शवाद के आधिक्य से चरित्रों में कहीं कहीं अस्वाभाविकता भी आ गई है। सलीम का त्याग पत्र अस्वाभाविक लगता है। वह भिन्न रहते हुये भी अमर का विरोध करता तो अधिक स्वाभाविक लगता। आदर्शवाद की अधिकता ने उपन्यास के स्वाभाविक विकास में बाधा उपस्थित करदी है।

स्थल और अवसर के अनुसार, कभी कभी, नाटकीय ढंग से पात्रों का प्रवेश कराके प्रेमचन्द घटना को ही द्रुतगति नहीं देते, चरित्र चित्रण की शैली मे भी एक प्रकार का नूतन मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य ले आते हैं। अमर द्वारा सकीना के-घर जाकर उसे छाती से लगाना और उसी समय बुढ़िया का आ जाना, इस स्थल पर क्रियाओं और वार्तालाप द्वारा एक ही स्थल पर, एक ही घटना द्वारा तीनों पात्रों की चारित्रिक विशेषता दर्शाने वाले सबल, सम्वाद लिख कर, प्रेमचन्द ने अपने पात्रों की मार्मिक, मनोहर एवं मनोवैज्ञानिक व्यवस्था उपस्थित करदी है।

'कर्मभूमि' के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद जी की अनुभूति एवं उसके अभिव्यक्ति करने की शैली, भाषा तथा शब्द-विन्यास कुछ निराले ही होते हैं। वे जो कुछ कहना चाहते हैं साँगोपाँग कह जाने में समर्थ हैं। वे अपने पात्रों के हृदय में घुस कर अपने पाठकों के मस्तिष्क में निकलते हैं। उनकी दृष्टि अत्यन्त तीव्र है। वातावरण का कोई भी भाग

उनकी सूद्म दृष्टि से बच नहीं पाता है। कर्मभूमि की भाषा उनके अन्य उपन्यासों के समान ही "हिन्दुस्तानी" है। उसमें सर्वत्र पात्रानुकूलता है। कथा में शिथिलता नहीं मिलती। मनोवैज्ञानिकता के समावेश से पाठकों का कौतूहल सदैव जागृत रहता है। प्रथमार्द्ध सुन्दर है किन्तु अन्तिम आधे भागमें कथा की रुचि और औत्सुक्य बढ़ाने वाली क्षमता शिथिल होगई है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'कर्मभूमि' भाषा, भाव सम्वाद, शैली चरित्र चित्रण आदि की दृष्टि से एक अत्यन्त उच्चकोटि का उपन्यास है। उसे पढ़ कर काँग्रेस आन्दोलन की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। कुछ आलोचक ऐसे उपन्यासों की गणना प्रचारात्मक साहित्य में भी करते हैं, परन्तु प्रेमचन्द का उद्देश्य प्रचार नहीं था।

प्रश्न ३—प्रेमचंद जी ने कर्मभूमि में किस समस्या का प्रतिपादन किया है और उन्हें उसमें कहाँ तक सफलता मिली है?

उत्तर—मुंशी प्रेमचंद अपने सभी उपन्यासों में किसी न किसी समस्या को लेकर चले हैं। कर्मभूमि में भी कई समस्याओं को उठा कर उनके समाधान का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास को केन्द्रीय समस्या "अछूतों की समस्या" है। इसके साथ ही इसमें कर बंदी के रूप में 'किसान समस्या" पर भी यथेष्ठ प्रकाश डाला गया है। अछूतों की समस्या के लेखक ने दो भेद कर दिए हैं—ग्रामीण अछूतों की समस्या जिंनका आधार आर्थिक पहलू है। इन शूद्रों का युगों से शोषण होता चला आया है। इसके साथ ही ग्रामीण अछूतों की दूसरी समस्या "विचारों की भिन्नता" के रूप में भी सामने आई है। इन दोनों समस्याओं का आन्योन्याश्रय सम्बध है। इसमें एक की दूर करने में दूसरी बाधक हो जाती है। गाँवों में अछूतों में कुछ विचार इतनी गहरी जड़ जमा चुके है कि उन्हें बदलना अत्यत कष्ट साध्य है। अमर ने अपने प्रचार द्वारा इन्हीं दो समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। अछूतों की समस्या का दूसरा भेद नागरिक अछूतों से सम्बंध रखता है। इन्हें यद्यपि ग्रामोण अन्याय एवं अत्याचार का इतना शिकार नहीं होना पड़ता परंतु इनके लिए भगवान के दर्शन और कथा श्रमण वर्जित है। वह भी उच्चवर्णों के समान मंदिरों में

जाकर अपने भगवान के दर्शन करना तथा भगवान की कथा सुनना चाहते हैं परंतु सवर्णों के नेता उन्हें यह अधिकार नहीं देना चाहते। नगर के आंदोलन का श्री गणेश इसी समस्या से होता है।

आगे चल कर यह समस्या अछूतों की एकता की समस्या का रूप ले लेती है। सुखदा अछूतों के मुखियाओं को बुला कर हड़ताल में सहयोग देने के लिए कहती है। परंतु उनमें से अधिकांश अपनी आर्थिक अवस्था का बहाना बना कर सहयोग देने में आनाकानी करते हैं। उनमें अशिक्षा है। उसी कारण एकता का अभाव है। महात्मा गांधी के अछूतोद्धार आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रेमचन्द जी ने इस समस्या को एक राष्ट्रव्यापी एवं राजनीतिक रूप दे दिया है और उसी समस्या की धुरी पर कथा का सम्पूर्ण चक्र चलता रहता है। अमर और मुन्नी का चमारों के गाँव में रहना एव उनकी कुरीतियों तथा दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न करना, ये सब इसी समस्या के अङ्ग हैं। आगे चलकर भगवान के प्रश्न को लेकर इसका भावनात्मक रूप भी उपस्थित किया है। शान्तिकुमार अछूतों से कहते हैं—"तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहां सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं। यह तुलना अछूतों और सवर्णों के अन्तर को स्पष्ट कर देती है।

इसके साथ ही उसमें वर्ग संघर्ष की भावना के भी दर्शन होते हैं। अमीर येन केन प्रकारेण सदैव गरीबों को दबाते रहते हैं। म्युनिसपैलिटी की एक सुन्दर भूमि पर गरीबों के क्वाटर बनने का विरोध किया जाता है तथा उस भूमि को नगर के सम्भ्रान्त व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ के लिए हथियाना चाहते हैं। सरकार भी उन्हीं का साथ देती है। प्रेमचन्द जी ने इसी समस्या को कितने सुन्दर रूप में व्यक्त किया है— 'पढ़े लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाने के लिए एक संगठन बना लिया है। इसी का नाम गवर्नमेन्ट है—गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेण्ट का खातमा हो जाता है।"

दूसरी ओर किसान समस्या को लिया है। बड़े-बड़े जमीदार एवं मठाधीस ऐश करते हैं। उनकी दौलत देखकर गरीबों की आँखों में

चकाचौंध हो जाता है। महन्त के वर्णन में प्रेमचन्दजी ने इसी कारण अतिशयोक्ति का सहारा लिया है। इधर गरीब किसान, जो उनका दाता है, भूखों मरता है। इसी के विरोध में, अमर के नेतृत्व में, करबन्दी आन्दोलन चलता है जो तत्कालीन काँग्रेस से असहयोग आँदोलन की छाया है। इन विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रेमचंद जी ने अत्यन्त सुंदर ढङ्ग से किया है परंतु वे उसमें स्थायित्व लाने मे सफल नहीं हो सके हैं। मंदिर प्रवेश द्वारा अछूतों की समस्या का तथा दूसरी ओर सरकार द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति द्वारा किसानों की समस्या का समाधान कर दिया गया है। इन समाधान में गाँधी जी के आँदोलन का ही स्पष्ट प्रभाव है।

प्रश्न ४—उदाहरण सहित सिद्ध कीजिए कि "प्रेमचन्द के कथा साहित्य की परिधि जीवन के किसी भी क्षेत्र को घेर लेती है। वैयक्तिक और सामाजिक जितनी भी समस्यायें हैं, उन सब का परिचय प्रेमचन्द की लेखनी को है।"

उत्तर—प्रेमचन्द से पहले प्रायः सभी लेखक जीवन को मनोरंजन और घटनाओं के समूह के रूप में देखते थे। किसी ने भी उसे इतनी स्वाभाविकता और सचाई के साथ नहीं देखा था। किसी को भी यह नहीं ज्ञात था कि जीवन में स्वयं भी एक ऐसी प्राणवान धारा है जो उसी के समान विकासमयी और समस्या संकुल है। जो कुछ हमें लिखना है वह जीवन से तनिक भी प्रथक नहीं है। सच्चे साहित्यकार 'साहित्य समाज का प्रतिम्बिम्ब है" के प्रतीक होते हैं। साहित्य में उपन्यास ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम जीवन को सम्पूर्णतः प्रदर्शित कर सकते हैं। इसके लिए गहरी दृष्टि और विस्तृत अनुभव की आवश्यकता होती है। कुशल उपन्यास की तीन कसौटियाँ हैं—अनुभव, पैनी दृष्टि और अभिव्यक्ति। आधुनिक युग में प्रेमचन्द ही ऐसे उपन्यासकार हुए हैं। जिन्होंने हमारे सम्पूर्ण जीवन के विविध पक्षों की अत्यंत सुन्दर रीति से विवेचना की है।

प्रेमचन्द के कथा साहित्य की परिधि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को घेर

लेती है। हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का कोई ऐसा अङ्ग नहीं है जिसे प्रेमचन्द ने न छुआ हो। ग्रामीण जीवन के तो वे अकेले कलाकार हैं, जिन्होंने ग्रामीणों के रुद्ध कण्ठों की वाणी को सशक्त रूप में मुखर किया है। इस वर्ग का उनका स्नेहदान सर्व प्रथम मिला है। आज हमारा समाज अनेक भागों में विभक्त है और उसके साथ हमारा जीवन भी जैसे—ग्रामीण जीवन, शहरी जीवन, शोषक और शोषित, मध्यवर्ग और निम्न वर्ग। इन सब का विवरण उनके उपन्यासों में उपलब्ध है।

प्रेमचन्द जी के सभी व्यक्ति 'टाइप' या एक वर्ग विशेष के प्रतिनिधि हैं। उन्होंने शुद्ध रूप से व्यक्तिगत जीवन को नहीं उठाया है। उनका 'गवन' ही एकमात्र ऐसा उपन्यास है जो व्यक्तिगत समस्या पर आधारित है। किन्तु गवन की जालमा का आभूषण-प्रेम और रमानाथ की मानसिक विलासिता हमारे समाज की विकृति का भी प्रतिनिधि है। उसमें स्त्रियों के आभूषण-प्रेम का दुष्परिणाम दिखाया गया है। इसी प्रकार 'रङ्गभूमि" में विनय और सोफिया का चित्रण दो व्यक्तियों की व्यक्तिगत समस्याओं का चित्रण न होकर उस वर्ग के प्रतीक रूप में अधिक है। प्रेमचन्दजी के व्यक्तियों की यह विशेषता है कि हम उन्हें समाज से तनिक भी पृथक नहीं कर सकते। वे समाज के अविच्छिन्न अङ्ग होकर हमारे सामने आते हैं। प्रेम भी उनके जीवन का उसी प्रकार का एक अङ्ग है जिस प्रकार और बातें। गोदान' में डाक्टर मेहता प्रेम के विषय में सोचते समझते हैं, सो तो है ही, वे समाज की और बातों से भी मुँह नहीं फिराते।

प्रेमचंद जी को समाज के प्रत्येक स्तर की समस्याओं का पूर्ण ज्ञान है। समाज का कौन सा वर्ग दूसरेके विषय में क्या सोचता है, इसको भी वे खूब जानते हैं। गोदान और रगभूमि मे मिल-मालिक, राजा महाराजा प्रोफेसर, बैरिस्टर इत्यादि उच्चवर्ग और उसमध्यवर्ग की व्यक्तिगत और सामाजिक कुंठाओं के उनके चित्रण को देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। उपन्यासों के अतिरिक्त उनकी कहानियों में भी विभिन्न वर्गों का यथार्थ-चित्रण है। लेकिन उनके चित्रण का सच्चा क्षेत्र निम्नवर्ग और मध्यवर्ग ही है। उनके प्रत्येक उपन्यास में इन्हीं वर्गों का चित्रण प्रधान है। उनकी

कहानियों में अवश्य वैयक्तिक समस्याओं का चित्रण मिलता है।

उपन्यासों में 'सेवासदन' में वेश्या और समाज की समस्या; 'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार समस्या; 'निर्मला' मे बहुविवाह और वृद्धविवाह की समस्या; 'रंगभूमि' में पूँजिपति-मजदूर समस्या; 'गोदान' मे मुख्यतः किसान जमींदार समस्या पर यथार्थवादी ढङ्ग से विचार है। इनमें सम्बन्धित खण्ड चित्रों मे व्यक्तिगत समस्यायें हैं। प्रेमचन्द जी ने अपने इन चित्रों को एक वर्ग से सम्बन्धित सभी बातों को प्रायः एक व्यक्ति की कथा मे गूंथ दिया है। प्रायः हिंदू स्त्री के जीवन की सभी विषमताओं और आपदाओं का चित्र 'निर्मला' में है। ग्रामीण जीवन के तो प्रायः सैकड़ों चित्र और समस्यायें उनके उपन्यासों में बिखरी पड़ी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे समाज और जीवन का चित्र, जो समस्यायें प्रेमचन्द जी ने हमारे सामने रखी हैं वे सब पूर्ण तो हैं हीं साथ ही गतिशील भी है। प्रारम्भ से अन्त तक उनका विचार गहरा उतरता गया है। इसी कारण आज का प्रगतिशील साहित्यकार उनका इतना प्रशंसक है।

प्रश्न ५—सिद्ध कीजिए कि प्रेमचन्द हिंदी साहित्य के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं।

उत्तर—इस प्रश्न के समाधान के लिए पहले हमें उनके पूर्व उपन्यासों के इतिहास एवं उस समय के प्रचलित उपन्यासों को देखना होगा। हिंदी साहित्य में उपन्यास अंग्रेजी से बंगला द्वारा आया। इसलिए साहित्य के इस अंग का प्रारम्भ अनुवादों से हुआ। जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों के अनुवाद प्रारम्भिक काल में खूब निकले। इनमें सबसे अधिक जोर बंगाली उपन्यासों का रहा। उस समय बंगला उपन्यास की रुचि हिन्दी की अपेक्षा अधिक परिष्कृत थी। उनमें चरित्र चित्रण का भी प्राधान्य था। समाज, व्यक्ति और राष्ट्र उस समय के बंगाली उपन्यासों ध्येय बन चुके थे। उन उपन्यासों के हिंदी अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुए। इनसे मौलिक उपन्यास-निर्माण की भी प्रेरणा मिली।

इन अनुवादों के अतिरिक्त उस समय जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों का एक छत्र राज्य था। देवकीनदन खत्री का चंद्रकाँता अत्यंत लोक प्रिय रहा और साधारण पाठकों में अब भी हैं। पाठक इन उपन्यासों के रहस्यों और तिलस्मी घटनाओं में डूब जाता है। कहते हैं इसे पढ़ने के लिए बहुतों ने हिंदी सीखी थी। इनके अतिरिक्त गोपालराम गहमरी के इसी प्रकार के उपन्यास भी बहुत लोकप्रिय हुए। इसी क्षेत्र में किसोरीलाल गोस्वामी भी आते हैं, यद्यपि उन्होंने उस समय कुछ मौलिक उपन्यास भी लिखे। इनके अतिरिक्त मराठी और अंग्रेजी से भी कुछ अनुवाद किए गए जो अधिक लोकप्रिय न हो सके।

यों हिंदी के सबसे पहले उपन्यासों में गिने जाते हैं, बालकृष्ण भट्ट के "नूतन ब्रह्मचारी" तथा 'सौ सुजान और एक अजान' है। इसके अतिरिक्त श्री निवासदास का "परीक्षा गुरू" और कृष्णदास का "निस्सहाय हिंदू" भी इसी कोटि में आते हैं। प्रचलित तिलिस्मी और अनुवादित उपन्यासों के सम्मुख ये अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके क्योंकि न तो इसमें समाज का वह सजीव चित्रण था, न पात्र इतने सशक्त। तिलिस्मी, जासूसी तथा बंगला उपन्यासों के द्वारा पाठकों की रुचि भी उच्चतर होती जा रही थी लेकिन स्वयं हिंदी के पास उन्हें देने के लिए कोई अच्छे ग्रंथ नहीं थे। लोगों को अपनी चीज की चाहना थी। उस समय प्रेमचन्दजी हिंदी में आए जैसे सारा हाल अभिनंदन और स्वागत में तालियों से गड़गड़ा उठा।

प्रेमचन्द जी का 'सेवासदन' उस समय की प्रचलित धाराओं में सबसे प्रथम प्रकार का उपन्यास था। उनमें एक सीधी सरल स्वाभाविकता थी। हमारी कमजोरियाँ, सामाजिक बुराइयाँ, कुरीतियाँ, हमारी दैनिक समस्यायें आदि उनका विषय थीं। इसलिए प्रेमचन्द जी के 'सेवासदन' का जितना अधिक आदर एवं स्वागत किया गया, वह जहाँ जनता की भूख का सूचक था, वहाँ वह प्रेमचन्द सी की मौलिक प्रतिभा और समाज की मनोवृत्ति पहचानने वाली तीव्र दृष्टि का भी द्योतक थी। प्रेमचन्द जी की मौलिकता उनकी भाषा और समस्याओं का भी चित्रण करने ढङ्ग में है। हमारे समाज का कोई भी ऐसा अङ्ग नहीं बचा जो उनसे छूट गया हो।

इन सभी बातों की ओर उनकी दृष्टि सबसे पहले गई और सबसे पहले, सबसे अच्छी तरह उन्होंने इन समस्याओं का चित्रण किया।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही प्रेमचन्द जी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार माने गए हैं। उन्होंने ही तत्कालीन रुचि एवं समस्याओं को पहचान कर उन्हें चित्रित किया। यही उनकी लोक प्रियता की एक मात्र कुंजी है। वे उर्दू से हिन्दी में आए थे, इसलिए उनकी शैली में एक अद्भुत निखर था। जिनके कथानक उस समय के प्रचलित कथानकों में सबसे अधिक प्रभाव शाली एवं नवीन थे। उस समय अनुवादों और तिलिस्मी उछल कूदों से बचना उन जैसे ही कुशल उपन्यासकार का काम था। इसी कारण वह प्रथम मौलिक उपन्यासकार कहलाए।

प्रश्न ६—प्रेमचन्द को आप यथार्थवादी उपन्यासकार मानते हैं या आदर्शवादी ?

उत्तर—यह प्रश्न बहुत दिनों से साहित्य समीक्षकों की चिन्तना का विषय रहा है। अनेक समीक्षकों ने प्रेमचन्द की इस युग का पूर्ण चित्रण करने वाला कलाकार मान कर उन्हें यथार्थवादी माना है। क्योंकि परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करने में केवल वही कलाकार सफल हो सकता है जो कल्पना की मनोहर भूमि में अपने मनोनुकूल आदर्शों का निर्माण एवं चित्रण न कर वास्तविकता की कठोर भूमि पर आकर यथार्थ चित्रण करता है। परन्तु प्रेमचन्द स्वयम् को न तो पूर्ण आदर्शवादी मानते हैं और न पूर्ण याथर्थवादी। वे उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझते हैं। इसी कारण उनका कहना है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ का समन्वय कर अपने यथार्थ को आदर्श के प्रति उन्मुख किया है। इस प्रकार उनको 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी' की संज्ञा देना ही अधिक समीचीन है।

इन दोनों वादों के विषय में उन्होंने स्वयम लिखा है—"यथार्थवादी

कथानकों में सबसे अधिक प्रभाव शाली एवं नवीन थे। उस समय

कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता। यथार्थवाद अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, इसलिए वह हमारी दुर्बलताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है।" इसी कारण वह यथार्थवाद का चित्रण सीमा के भीतर अच्छा मानते हैं। मनुष्य सदैव दुख नहीं चाहता। वह कभी कभी कल्पना द्वारा ही सुख पाना चाहता है। हमारी इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। यथार्थवाद यदि हमारी आखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। इसलिए प्रेमचन्द जी के शब्दों—"आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार, सद्विचार से पाठक को मोहित करलें।" इस प्रकार प्रेमचंद जी शुद्ध उपयोगितावादी हैं। जो उपयोगी है उसे ग्रहण करने में उन्हें हिचक नहीं। वह यथार्थ में से ही आदर्श के तत्त्वों को ढूँढ़कर उन्हें उपयोगी बनाना चाहते हैं।

इसी भावना से प्रभावित होकर उन्होंने जीवन की व्याख्या दोनों रूपों में की। पाठकों ने प्रत्यक्ष की वास्तविकता पर विश्वास कर कल्पना की भूल भुलैयों में घूमने से इन्कार कर दिया। प्रेमचन्द जी ने उन्हें उनकी इच्छित वस्तु प्रदान की। इन दोनों के चित्रण में उन्होंने अद्भुत संयम से काम लिया। यथार्थ के चित्रण में उन्होंने कुरूपता और अश्लीलता नहीं आने दी तथा आदर्श की असम्भव कल्पना भी नहीं की। उन्होने यथार्थ की कुरूपता को मिटा कर उसे सुडौल बना दिया। इसी कारण उनका साहित्य जन-साहित्य बन सका। 'कर्म भूमि' में शान्तिकुमार आदर्शवाद के विषय में कहते हैं—"मेरे आदर्शवाद में व्यावहारिकता का भी स्थान है क्योंकि कोरा आदर्शवाद ख्याली पुलाव है।" आगे चलकर उन्होंने कहा है "यथार्थ का महत्त्व आदर्श से जौ भर भी कम नहीं है।" इस प्रकार वह इन दोनों के समझौते में जीवन की सफलता मानते हैं।

प्रेमचंद जी अपने पात्रों का प्रारम्भ में यथार्थवादी दृष्टिकोण से करते

हैं। फिर उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में डालते उठाते उनके चरित्र को सशक्त बनाते जाते हैं। अन्त के जाकर वह अपने आदर्शवाद के मोह में पड़ कर एक ऐसे आदर्श समाज अथवा आश्रम की स्थापना कर देते हैं जहाँ सब शुभ है। कथा का उतार प्रारम्भ होते ही उनकी आदर्शवादिता जन्मती है। "वहाँ संगम की तरह यथार्थ की यमुना स्वच्छन्द रूप से अपने तटवासियों को अद्भुत सौंदर्य से तृप्त करती आती है और आदर्श की गङ्गा में मिल जाती है। दूर तक सित-असित दोनों धाराएं हिलती मिलती अपनी छटा से दर्शकों को रिझाती चलती हैं परन्तु अन्त में यथार्थ की यमुना आदर्श की गंगा में विलीन हो जाती है। पश्चात्, क्रमिक गति से कथा उसी ओर बढ़ती है जिधर लेखक की आदर्शवादिता का संकेत होता है।" प्रेमचंदजी के आदर्श महान् और उच्च हैं। इनके अनुकरण से मानव सुखी हो सकता है परन्तु क्या ऐसे समाज की स्थापना आधुनिक युग में सम्भव है? यह भविष्य का प्रश्न है।

मृगनयनी (बृन्दावनलाल वर्मा)

प्रश्न १—श्री बृन्दावनलाल वर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्व पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—वर्मा जी एक सुरक्षित, अध्ययनशील और सुलझी हुई विचार-धारा के लेखक हैं। उन्होंने न तो कभी राजनीतिक दलबन्दी में भाग लिया और न साहित्यिक दलबन्दी में। इसी कारण वे साहित्यिक 'वादों' के चक्कर में न पड़ कर स्वतन्त्र रूप से रचना करते चले आये हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानी एवं नाटक तीनों प्रकार की रचनाएँ की हैं। उनके उपन्यास और नाटक दो प्रकार के हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। कहानियों के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'हरिसिंगार' में सामाजिक, 'कलाकार का दण्ड' में अन्य सभी प्रकार की एवं 'दबे पांव' में उनके शिकारी जीवन की कहानियाँ संग्रहीत हैं। ऐतिहासिक नाटकों में फूलों की बोली, हँस मयूर, झाँसी को रानी और जहाँदारशाह हैं। सामाजिक नाटकों में धीरे धीरे, राखी की लाज, बाँस की फाँस, पायल, मंगल सूत्र

कब तक, पीले हाथ, सगुन, काश्मीर का काँटा, टंटा गुरु आदि हैं। सामाजिक उपन्यासों में कुण्डली चक्र, प्रत्यागत, हृदय की हिलोर, प्रेम की भेंट, कभी न कभी, लगन, अचल मेरा कोई तथा शबनम है। इनमें से अभी कई अप्रकाषित भी हैं।

हिन्दी साहित्य में वर्मा जी की प्रसिद्ध विशेष रूप से ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में है। यद्यपि वर्मा जी अपने ऐतिहासिक नाटकों की तुलना प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों से करने की भी बात कहते हैं। परन्तु अभी तक किसी भी आलोचक ने इस तुलना को उचित नहीं समझा है। हिन्दी साहित्य में उनका ऐतिहासिक उपन्यासकार का ही रूप अधिक परिचित है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में गढ़कुण्ढार, विराट की पद्मिनी झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, कचनार, मुसाहिब जू, छत्रसाल, सत्तर सौ बत्तीस, शाह गफूर, आनन्दघन, ललिताहित्य, राणासांगा, माधव जी सिंधिया, टूटे काँटे, मृगनयनी और सोना की गणना की जाती है। इनमें प्रथम तीन और मृगनयनी उनके श्रेष्ठ उपन्यास माने जाते हैं। मृगनयनी पर तो विभिन्न साहित्यिक सस्थाओं द्वारा लगभग ५०००) रुपये के पुरस्कार भी प्रदान किए जा चुके हैं। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को कुछ आलोचक वर्मा जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानते है। गढ़कुण्ढार का सा सुंदर संघर्षमयं ऐसिहासिक चित्रण हिंदी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि इसकी सीमा बुंदेलखण्ड के भी एक विशेष प्रदेश तक सीमित है, परन्तु उसका ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। 'विराट की पद्मिनी' अभी तक हिंदी का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक रोमांस माना गया है। उसकी 'कुमुद' वर्मा जी की एक अद्भुत देन है।

वर्मा जी से अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में मध्य युगीन बुंदेलखण्डी इतिहास को साकार स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उनके उपन्यासों को 'बुंदेलखण्डी उपन्यास' भी कहा जाता है। इनमें मध्ययुग से लेकर अब तक की घटनाओं का अङ्कन मिलता है। उनके इन उपन्यासों का आधार इतिहास है, साथ ही अनेक दंतकथाएँ और किम्बदंतियाँ भी फिर भी ऐतिहासिक सत्य की रक्षा सर्वत्र की गई है। हिंदी साहित्य में

प्रसाद जी महाभारत काल से लेकर सम्राट हर्षवर्धन के समय तक के काल को अपने नाटकों में उतार चुके हैं। हरिकृष्ण प्रेमी ने मुगल युग का चित्रण किया है। इन दोनों का क्षेत्र लगभग उन घटनाओं से रहा है जिनका सम्पूर्ण भारत से सम्बन्ध है। परन्तु वर्मा जी के उपन्यासों में बुन्देलखण्ड एवं उसके आस पास के प्रदेश में घटित घटनाओं का ही वर्णन है। उन्हें बुन्देलखण्ड से इतना मोह है कि वे उससे बाहर नहीं जा सके हैं। दूसरे झाँसी की रानी को छोड़कर अन्य किसी भी उपन्यास का राष्ट्रीय दृष्टि से अधिक महत्व नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार प्रसाद जी अतीत का भव्य एवं प्रेरक चित्र उपस्थित करने में सफल हुए हैं वैसे वर्मा जी नहीं। इनके उपन्यासों में अधिकाँशतः एक सीमित क्षेत्र की पारस्परिक राजनीतिक कलह एवं रोमांस की ही प्रधानता है। उन वर्णन में प्रेरक भव्यता का अभाव है। वर्णित युग का ऐसा प्रभावशाली चित्र नहीं मिलता जो पाठक में गौरव की भावना उत्पन्न कर सके। झाँसी की रानी अपवाद अवश्य है।

उपन्यास कला की दृष्टि से इन उपन्यासों का विशेष महत्व है। इन उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का इतना सुन्दर समन्वय किया गया है कि पाठक को एक साथ ही इतिहास का भी ज्ञान होता चलता है और सुन्दर उपन्यास के पढ़ने का भी आनन्द आता रहता है। कथा-वस्तु का संगठन अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण होता है। उसमें शिथिलता अथवा नीरसता नहीं आ पाती। विभिन्न घटनायें संयत, एक दूसरे की पूरक और व्यंजक होती हैं। घटना प्रधान उपन्यास होने के कारण घटनाओं की प्रधानता रहती है। अनेक आलोचकों का मत है कि वर्मा जी हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कथा कहने वाले हैं। उनमें वे सभी गुण मिलते हैं जो एक सफल कथाकार में होने चाहिए। वह कथा को अत्यन्त रोचक ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं जिसकी रोचकता में तन्मय होकर पाठक उनकी निर्बलताओं की ओर ध्यान नहीं दे पाता। यही वर्मा जी की सफलता का रहस्य है। वर्मा जी का अपना मत है कि जब तक कहने के लिए एक रोचक कहानी ही नहीं है तो कहने वाला कहेगा क्या? इसलिए उनकी दृष्टि में कहानी का महत्व सबसे अधिक है। वे इसी कारण कहानी के आधार पर

घटनाओं का निर्माण और विकास दिखाते हैं। उनकी कहानी में अद्भुत आकर्षण हृदयस्पर्शिता एवं प्रभावोत्पादकता होती है।

घटनाओं का चित्रण पहले वे सुन्दर प्राकृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण कर, तब करते हैं। कारण यह है कि उनके मनमें बुन्देलखण्ड का प्राकृतिक सौन्दर्य समाया हुआ है। वे स्थान स्थान पर पृष्ठभूमि के रूप में उसका चित्रण करने का मोह संवरण नहीं कर पाते और इससे उनकी कला में एक निखार आ जाता है। उनके उपन्यासों में बुन्देलखण्ठ साकार हो उठता है।

ऐतिहासिक रोमांस उनके उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता है। इन रोमांसों का आधार जनश्रुति, परम्परा और कल्पना होती है। विराटा की पद्मिनी का रोमांस अद्वितीय माना जाता है। प्रेमचन्द के होरी और सूरदास एवं प्रसाद जी की देवसेना, अलका, मालविका, वासवी आदि नारी पात्रों के समान 'विराट की पद्मिनी' की कुमुद, गढ़ कुंढार की तारा एवं मृगनयनी हिन्दी साहित्य में अमर रहेंगीं। 'कुमुद' का चरित्र तो अपने प्रकार का अद्वितीय है। निर्जन मन्दिर के सामने तारा का विवाह करके गले में माला डालना, कुमुद का माँ वेतवा की गोद में विश्राम लेना, अजित और पूना का पहाड़ियों में मिलना आदि घटनायें पाठकों के मानव पट में सदैव के लिए अंकित हो जाती हैं। पात्रों के प्रति सहानुभूति की इसी सीमाको उभारने में रोमांस की सार्थकता का रहस्य निहित है। वर्मा जी तुमुल कलह कोलाहल के बीच प्रेमी-प्रेमिकाओं की करुणा और दुखांत की अभिव्यजना करनेमें कुशल है। इतिहास के आधार से सुगठित प्रेम कहानी की सजीव और मर्मस्पर्शी उद्भावना में वे अद्वितीय हैं। रोमांस के अतिरिक्त उनका युद्ध वर्णन भी अत्यंत सुंदर और विश्वासोत्पादक होता है। उनकी लड़ाइयाँ किताबी लड़ाइयाँ नहीं हैं, उनकी प्रणय लीलाये संपन्न व्यक्तियों के मानसिक विलास का उफान नहीं वरन् प्राणोंका विनिमय करने वाले सजीव, स्वाभिमानी व्यक्तियों की जीवन परिस्थितयाँ हैं। वर्मा जी की लेखनी में वर्णन की अपूर्व शक्ति, भाव प्रकाशन की कलात्मक क्षमता, चरित्र चित्रण की सजीवता, कथानक की मर्म स्पर्शिता और रोचकता सभी कुछ है। साथ ही प्रकृति के साथ

मानवीय भाव-उद्वेलन की भाव-प्रवणता का उनका चित्रण बहुत ही हृदय हारी होता है।

वर्मा जी उच्चवर्गीय पात्रों के साथ ही साथ निम्नवर्ग के पात्रों के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखते हैं। सामाजिक चित्रण में अधिकांशतः किसानों के प्रतिदिन के चित्र ही मिलते हैं। वह किसानों की निराशा एवं दयनीय स्थिति के चित्रण में पूर्ण सजग रहते हैं। 'मृगनयनी' के राई गांव का चित्रण इसका प्रतीक है। उसके पात्रों में लगभग सभी प्रकार के पात्र मिल जाते हैं। वीरों का रणोल्लास एवं कायरों की भीरूता, राजाओं के अत्याचार और प्रजा की दीनता आदि सबके अत्यन्त सजीव और मर्मस्पर्शी चित्र खींचने में वह सिद्धहस्त हैं। उनके पात्रों में पुरुष पात्रों की अपेक्षा नारी पात्र अधिक उभर कर आते हैं। उनके पात्र शृंगार और वीर रस के प्रतीक होते हैं।

उनके उपन्यासों में कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी और मनोरंजक होते हैं। इन कथोपकथनों की नाटकीयता दर्शनीय है। कथोपकथन मनोवैज्ञानिक और तर्क संगत होते है। साथ ही हावभावों के समावेश से उनकी शक्ति और बढ़ जाती है। 'मृगनयनी' में लाखी और निन्नी, लाखी और अटल एवं मानसिंह और मृगनयनी के कथोपकथन अत्यन्त सुन्दर और सजीव हुए हैं। वर्मा जी इस कला में अत्यन्त कुशल प्रतीत होते हैं। उनके पात्रों की बातचीत स्वाभाविक, प्रसगानुकूल, सरस और रमणीय होती है। छोटे छोटे वाक्यों में बोलते हुए उनके पात्र अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होते हैं। लम्बे और धारा प्रवाह कथोपकथनों के दर्शन इन उपन्यासों में नहीं होते। इनके कथोपकथन सदैव कथा को गति देने एवं पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में सहायक सिद्ध होते हैं। नटों का प्रसंग इस बात का सुन्दर उदाहरण है।

वर्मा जी के उपन्यासों में देशकाल का अत्यन्त सफल और हृदयग्राही चित्रण मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्मा जी जिस स्थान का वर्णन कर रहे हैं वे वहाँ की भूमि से पूर्ण रूप से परिचित हैं। इसी कारण वे वर्णित स्थान का सजीव चित्र उपस्थिति कर देते हैं। कहा जाता है कि

उन्होंने अपने कथानकों के घटनास्थलों में अनेक बार भ्रमण किया है, उन स्थानों के भग्नावशेषों पर बैठकर वहाँ की अतीत घटनाओं को स्मृति के सहारे जगाया है। वे जिस काल और स्थान का वर्णन करते हैं वह पाठकों के सामने अपनी सम्पूर्ण चित्रोपमता के साथ उपस्थित होकर वातावरण की सृष्टि करने में सहज ही सहायक सिद्ध होता है। वे जिस समय के कथानक पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं, वह उनकी मानसिक दृष्टि के सामने बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ है। कथानक में आने वाले सभी स्थल स्वाभाविक रूप से विस्तार के साथ उपस्थित होते है। चौदहवीं सदी के युद्ध का वर्णन पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने सामने तलवारों की चमक, गोलियों की सनसनाहट, घायलो की व्याकुल चीख, विजेताओं का अभिमानपूर्ण आह्लाद और युद्ध का सारा कोलाहल देख सुन रहे हैं। इस वर्णन कौशल से इनके उपन्यासों में प्रभावोत्पादक और विश्वास उत्पन्न करने की क्षमता साकार सी हो उठती है और पाठक देशकाल से पूर्णतया परिचित और वातावरण से एक रस हो जाता है।

वर्मा जी की शैली सरल, सरस और सशक्त है। वे छोटे-छोटे वाक्यों की सहायता से दुरूह से दुरूह विषय को भी बड़ी सरलता से पाठक के मन और मस्तिष्क में उतारने में समर्थ होते हैं। वे प्रमुख रूप से कहानीकार हैं इसलिए वे सीधी अपनी कहनी कहते चलते हैं। निरर्थक वाग्जाल और घटनाएँ उनमें कम मिलती है। प्रथम अनुच्छेद से ही वे कहानी का आरम्भ कर देते हैं और अपने पात्रों का परिचय देने के लिए कहीं भी नहीं रुकते। उनका परिचय यथा समय मिलता है। चरित्र विश्लेषण में भी वे अपने को अधिक से अधिक तटस्थ रखते हैं। पात्र अपने चरित्र का परिचय स्वयं ही घटनाओं, परिस्थितियों और कथोपकथन द्वारा दे देते हैं। किसी भी घटना एवं पात्र की आलोचना स्वयं लेखक के शब्दो में नहीं मिलेगी। शैली के प्रवाह में उनकी उपमा प्रियता की बहुलता बहुत खटकती है। वे एक के बाद दूसरी उपमाओं का ढेर सा लगाते जाते हैं जिससे वर्णन की स्वाभाविकता तो नष्ट ही होती है, पाठक भी ऊबने लगता है। परन्तु कहीं कहीं जहाँ उपमा की संख्या का मोह उन्हें नहीं सताता वे

अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक उपमा दे जाते हैं। उदाहरणार्थ—"कुमुद की आँखें तरल हो गईं ; ऐसी शायद ही पहले कभी हुई हों। जैसे गुलाब की पंखड़ी पर ओसकण ढलक आए हों।" परन्तु महमूद बघर्रा के वर्णन में वर्मा जी को उपमाओं का ढेर लगाने का मोह सताने लगा है।

भाषा की दृष्टि से वर्मा जी को समृद्ध नहीं माना जा सकता। भाषा की उनके पास बड़ी कमी है। उनका शब्द कोष बहुत सीमित ज्ञात होता है। इसी कारण भाषा में ओज नहीं मिलता। सरल और स्पष्ट होने पर भी उनकी भाषा प्रेमचन्द के समान चलती हुई और मुहावरेदार नहीं होती यद्यपि मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग वर्मा जी खुलकर करते हैं परन्तु भाषा की अशक्तता के कारण उनसे ओज नहीं उत्पन्न होता। साथ ही स्थानीय बुन्देलखण्डी भाषा के शब्दों का प्रयोग सौन्दर्य उत्पन्न करने के स्थान पर भाषा को हास्यास्पद बना देता है। ऐसे शब्दों का प्रयोग मृगनयनी, कचनार एवं सोना में अधिक हुआ है। उन्होंने कई ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। जिससे यह प्रतीत होता है कि उनका भाषा ज्ञान शुद्ध नहीं है जैसे होष्ठ, कृपालुता, एकान्तता, हरित-भरित, एवं 'अवरुद्ध' के स्थान पर 'विरुद्ध', 'प्रदर्शन' के स्थान पर 'निदर्शन' आदि शब्दों का प्रयोग नितान्त अशुद्ध है। इसके अतिरिक्त वाक्य-संगठन में अङ्गरेजी का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। ये वाक्य अङ्गरेजी के अनुवाद से प्रतीत होते हैं। "स्वर्ण के लजाने वाली बालों की एक लट" अङ्गरेजी सौन्दर्य प्रियता का उदाहरण है। भारत में तो कृष्ण केशराशि का ही उल्लेख किया जाता है। यदि सुन्दर कथानक के साथ वर्मा जी के पास एक समृद्ध और सशक्त भाषा भी होती तो उनकी प्रतिभा में चार चाँद लग जाते।

उपर्युक्त गुणों एवं अवगुणों के रहते हुए भी आज का पाठक वर्मा जी का अत्यन्त आभारी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक मात्र वही एक ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं जिन पर हम गर्व कर सकते हैं। परन्तु वर्मा जी की नवीनतम कृति 'सोना' से ऐसा प्रतीत होता है कि वर्मा जी को यदि कहीं से कोई साधारण से साधारण भी किम्वदन्ती अथवा ऐतिहासिक घटना का पता चलता है तो वह उसको लेकर तुरन्त एक नवीन

उपन्यास का निर्माण कर देते हैं। इस कार्य विस्तार से उनकी कला का ह्रास ही हो रहा है।

प्रश्न २—उपन्यास के तत्वों के आधार पर 'मृगनयनी' की आलोचना कीजिए।

उत्तर—उपन्यास के छः प्रधान तत्व माने जाते हैं कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य। उपन्यास के निर्माण में लेखक को इन तत्वों का योग करना पड़ता है। कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यासों के दो भाग माने जाते हैं। १—शिथिल कथावस्तु वाले, जैसे चन्द्रकान्ता आदि। इनमें घटनायें असम्बद्ध रूप से आशातीत संख्या में घटित होती रहती हैं। २—सुगठित कथावस्तु वाले, जैसे गोदान आदि। इनमें घटनायें परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। मृगनयनी एक शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। अतः इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का परिचय कराने के हेतु कुछ ऐसी घटनाओं का समावेश कर दिया गया है जिनका मुख्य कथा से कोई निकट सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। जैसे नसीरुद्दीन की ऐय्याशी, महमूद बघर्रा का विस्तृत वर्णन आदि। यदि इन प्रसङ्गों को कथा में से निकाल दिया जाय तो मूल कथा के संगठन में कोई अवरोध नहीं उपस्थित होता। दूसरी ओर मूल कथा अपनी स्वाभाविक गति से विकास पाती हुई अन्त तक चली जाती है और उसका अन्त सुखद होता है।

कथा का आरम्भ ग्वालियर पर सिकन्दर लोदी के आक्रमण के उपरान्त की अव्यवस्थित दशा के वर्णन से आरम्भ होता है। मृगनयनी, लाखी और अटल की युवावस्था के चित्र का अंकन न होने से उनका बाल्य-काल ओझल रह जाता है। मृगनयनी अपने रूप और शक्ति के लिए प्रसिद्ध है। उसी को केन्द्र मान कर विभिन्न राजनीतिक घटनायें घटती रहती हैं। नटों की कथा का समावेश निन्नी और लाखी के अपहरण से ही किया गया है। आगे राजा मानसिंह द्वारा मृगनयनी का पाणिग्रहण, अटल और लाखी का अन्तर्जातीय विवाह कर नटों के साथ नरवर की ओर प्रस्थान, उसी समय नरवर पर गयासुद्दीन का आक्रमण, लाखी द्वारा नरवर की रक्षा, राजा मानसिंह का समय पर पहुँच कर सहायता देकर लाखी और

अटल को ग्वालियर ले जाना आदि घटनायें अत्यन्त स्वाभाविक रूप से घटित होती रहती हैं जिनसे कथा की गति स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती है। उसके पश्चात् ग्वालियर से बैजू और कला का आगमन, सिकन्दर का आक्रमण, मृगनयनी और सुमन मोहिनी की प्रतिद्वन्द्विता, युद्ध, अटल लाखी का बलिदान, मानसिंह की विजय आदि घटनाये क्रमशः कथा को अवसान की ओर ले जाती है। यहाँ मृगनयनी का क्रियात्मक शौर्य शान्त होकर उसकी कला और प्रेरक शक्ति में वृद्धि होती है। एक प्रकार से वही आगे की सम्पूर्ण कथा को सञ्चालित करती सी प्रतीत होती है। अन्त सुन्दर और सुखद होता है।

परन्तु कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो कथा में गतिशीलता उत्पन्न कर देते हैं। महमूद बघर्रा का विस्तृत वर्णन यद्यपि है मनोरंजक परन्तु वस्तु कथा से उसका प्रकट कोई सम्बन्ध नहीं है। नसीरुद्दीन के विलासी जीवन के चित्रण को यदि पूर्ण रूप से उड़ा दिया जाय तो कोई हानि नहीं होगी। नटों का प्रसंग अत्यन्त विस्तृत और उबा देने वाला है। राजा मानसिंह और मृगनयनी की कला साधना को वर्मा जी की लेखनी निखार देने में असमर्थ रही है। वहां भी अनावश्यक प्रसगों द्वारा कथा को बढ़ाया गया है। परन्तु प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक है इसलिए इन प्रसंगों का आना आवश्यक है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि यदि वर्मा जी इन प्रसगों को कौशल पूर्वक संक्षिप्त कर मूल-कथा से सङ्कुटित कर देते तो उपन्यास का सौन्दर्य बढ़ जाता।

पात्र—उपन्यासों में पात्र दो प्रकार के होते हैं १—स्थिर चरित्र—इनके चरित्र में प्रारम्भ से अन्त तक कोई परिवर्तन नहीं होता। वे एक रस रहते हैं। २—गतिशील चरित्र—इनके गुण-अवगुण घटनाओं के साथ निरन्तर बिकास पाते रहते हैं और अन्त में वे सर्वथा भिन्न रूप ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु इस परिवर्तित रूप के बीज उनके पूर्व चरित्र में निहित रहते हैं। 'मृगनयनी' के पात्रों में राजा मानसिंह, बोधन पुजारी, विजय जंगम, कला, सुमनमोहिनी स्थिर चरित्र वाले पात्र हैं। इनका जो रूप उपन्यास के प्रारम्भ में आता है वही रूप अन्त तक रहता है। राजा मानसिंह का शौर्य, वीरत्व,

दृढ़ता एवं कुछ-कुछ विलासी भावना; बोधन और विजय जंगम की अपने सिद्धान्तों के प्रति अटूट आस्था, कला और सुमनमोहिनी की षडयन्त्रकारिणी प्रकृति आदि आरम्भ से अन्त तक एकरस रहती है। उनमें कोई अन्तर नहीं आता, न उनके चरित्र में ही कोई विकास होता है।

गतिशील चरित्र वाले पात्रों में मृगनयनी, लाखी, अटल और गायक बैजनाथ प्रमुख हैं। मृगनयनी, लाखी और अटल में शक्ति, शौर्य, वीरत्व, स्वाभिमान आदि गुण प्रारम्भ से ही लक्षित होते हैं। मृगनयनी में किसी भी गुण को ग्रहण करने की अपूर्व शक्ति है। इसी कारण वह कालान्तर में नृत्य, संगीत और चित्रकला में अपूर्व कुशलता प्राप्त कर लेती है। अपनी शक्ति और वीरता से राजा मानसिंह को सम्हालती रहती है। ग्वालियर की मृगनयनी और राई की निन्नी के स्वरूप में महान् अन्तर पड़ जाता है परन्तु ध्यान से देखने पर वह उसी का विकसित रूप प्रतीत होता है। अटल और लाखी प्रारम्भ से ही वीर, विद्रोही और स्वाभिमानी हैं। इसी कारण जीवन में भटकते हुए भी वे दृढ़ रहते हैं और सच्चे प्रेमी और वीर के समान अपना बलिदान कर देते हैं। बैजनाथ के गुणों का निरन्तर विकास होता रहता है और अन्त में वह आचार्य की पदवी ग्रहण कर लेता है। इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र गौण है। प्रधान पात्रों के चित्रण में पूर्ण स्वाभाविकता की रक्षा की गई है। वे तथा उनके गुण घटनाओं को गति देने में सदैव सहायक रहे हैं। संक्षेप में सभी पात्र सजीव हैं।

कथोपकथन—पात्रों का चरित्र-विकास कथोपकथन के ही माध्यम से अधिक स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण होता है। उसी से पात्रों में सजीवता आती है। वार्तालाप में रस और रमणीयता के लिए नाटकीयता का प्रयोग आवश्यक है। इससे वह सहज, स्वाभाविक और तर्क संगत प्रतीत होता है। वार्तालाप के साथ भावभंगी का भी विशेष महत्त्व है। वाक्य छोटे-छोटे और विषय से सम्बद्ध होने आवश्यक हैं। निरर्थक वार्त्तालाप नीरसता उत्पन्न कर देता है। वार्तालाप के उपर्युक्त गुण न्यूनाधिक मात्रा में इस उपन्यास में मिल जाते हैं। प्रारम्भ में निन्नी, लाखी और अटल के वार्तालाप से उनकी सरलता, भोलापन, निष्कपटता, पारस्परिक स्नेह, वीरता, स्वाभि-

मान और शौर्य प्रकट होता है। पश्चात् मृगनयनी, मानसिंह, बैजनाथ, विजय जंगम की बातचीत से उनकी चरित्रगत विशेषताओं का स्पष्टीकरण अत्यन्त सुन्दर रूप में होता है। गयासुद्दीन और मटरू की बात-चीत दोनों के क्रमशः विलासी और खुशामदी रूप को स्पष्ट करती है। इस वार्तालाप में उनकी भावभंगी अत्यन्त सहायक हुई है। इससे कथा में गति आ जाती है। परन्तु नटों की बातचीत को अनावश्यक विस्तार दिया गया है। इसी प्रकार बोधन, मानसिंह और विजय का विवाद भी नीरसता उत्पन्न करता है। वैसे सभी पात्रों की बातचीत उनके चरित्र के अनुकूल ही चलती है। वाक्य छोटे-छोटे और प्रभावपूर्ण हैं। निन्नी और मानसिंह का प्रथम वार्तालाप अत्यन्त सुन्दर और मनोमोहक है। वर्मा जी वार्तालाप द्वारा चरित्र का विकास करने में सिद्ध हस्त हैं। उपन्यास सुन्दर और मार्मिक कथोपकथनों से भरा पड़ा है।

देशकाल—देश काल का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और मनोरम है। प्रारम्भमें तत्कालीन भूभाग और परिस्थिति का चित्रण साकार चित्र उपस्थित करने में समर्थ है। प्राकृतिक वर्णन पूर्ण और सजीव हैं। उनसे बुन्देलखण्ड हमारे सम्मुख स्पष्ट हो जाता है। तत्कालीन राजनीति का विवरण पूर्ण ऐतिहासिक है। सामाजिक और धार्मिक चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और देशकाल के अनुरूप हैं। जाति-पाँति तथा धर्म की समस्याओं का स्वरूप इतिहास सम्मत और प्रामाणिक है। लाखी-अटल का सम्बन्ध, होली का वर्णन, बोधन विजय का विवाद इस पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार आज से साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व की कथा के वर्णन में वर्मा जी ने तत्कालीन मानव-समाज, सामाजिक बन्धन, रहन-सहन, आचार-विचार, धर्म, वेश-भूषा, भौगोलिक चित्रण आदि के सुन्दर और सफल चित्र दिए हैं। इससे वह युग साकार हो उठा है। देशकाल की ऐतिहासिक उपन्यासों में यही सफलता मानी जाती है और मृगनयनी में इसका कलात्मक चित्रण हुआ है।

शैली—प्रस्तुत उपन्यास वर्णन शैली में लिखा गया है। इस शैली में लेखक को अपने तथा पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने में सुविधा रहती है। वर्मा जी अत्यन्त सरल भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा किसी भी

पात्र, घटना या स्थान का साकार चित्र उपस्थित कर देते हैं। उपन्यास की पृष्ठ संख्या १२४, १२३, २०६, २१०, ४२० आदि में इस शैली के सुन्दर दर्शन होते हैं, वर्णन में संक्षिप्तता के साथ मनोहरता भी है। सर्वत्र लम्बे लम्बे क्लिष्ट वाक्यों से बचा गया है। व्याख्या की दृष्टि से सम्पूर्ण उपन्यास में एक दो स्थल ही महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। गम्भीर और चिन्तनीय विषयों को भी सरल भाषा में उपस्थित करने का प्रयत्न मिलता है। शैली परिस्थिति के सफल निर्माण में पूर्ण सहयोगिनी है। शिकार और युद्ध के वर्णन तो अद्वितीय है। वहाँ ओज और प्रवाह दोनों ही लक्षित होते हैं। पाठक बरबस शैली के प्रवाह में बहता चला जाता है। ऊबता नहीं। मुस्लिम पात्र उर्दू मिश्रित भाषा बोलते हैं, ग्रामीण पात्र असंस्कृत तथा उच्च वर्गीय पात्र संयत और शुद्ध। मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। परन्तु अनेक स्थलों पर भाषागत दोष भी मिलते हैं। वाक्य संगठन दोषपूर्ण है। व्याकरण का ध्यान नहीं रखा गया है। स्थानीय प्रयोगों का स्पष्ट प्रभाव है। महमूद बघर्रा के वर्णन में उपमानों का आधिक्य नीरसता उत्पन्न कर देता है। वर्मा जी सीधी, सरल कथा के उपयुक्त भाषा तो अत्यन्त सुन्दर लिख लेते हैं परन्तु गम्भीर विषयों के सम्बन्ध में भाषा उनका साथ नहीं देती। वहाँ वह शिथिल और भावों को व्यक्त करने में असमर्थ रहती है। इसी कारण तांडव नृत्य और मृगनयनी द्वारा चित्रित चित्र के भाव में कला और स्पष्टता का अभाव आ गया है यद्यपि कल्पना अत्यन्त सुन्दर और उच्च है। वर्मा जी का भाषा पर अधिकार नहीं है।

उद्देश्य—वर्मा जी को प्रस्तुत उपन्यास की रचना की प्रेरणा ग्वालियर की एक सम्मानित पाठिका से प्राप्त हुई थी। उसने वर्मा जी से मृगनयनी और ग्वालियर नरेश मानसिंह के ऐतिहासिक रूमानी कथानक पर एक उपन्यास लिखने का अनुरोध किया था। फलस्वरूप 'मृगनयनी' का सृजन हुआ। यह तो हुई मूल प्रेरणा। उद्देश्य यह था कि मृगनयनी और मानसिंह के पवित्र और सुन्दर शौर्यपूर्ण चरित्र द्वारा आधुनिक युवक समाज को प्रेरणा प्राप्त हो सके। आज की नारियाँ मृगनयनी और पुरुष मानसिंह बन सकें। साथ ही वर्तमान जाति पाँति की समस्या भी आ खड़ी हुई है। समस्या वही

है अन्तर केवल समय का है। आज के पूंजीपतियों को विजय जंगम का 'कायम श्रम' एक चेतावनी है। बोधन की धार्मिक हठधर्मी घातक हो सकती है। जीवन में शौर्य और कला की आराधना भी साथ-साथ और सफलता-पूर्वक की जा सकती है। यह मानसिंह और मृगनयनी के जीवन से स्पष्ट है। देश के प्रति विश्वासघात सदैव निन्दनीय है। राजसिंह इसका प्रतीक है। झूठ शौर्य और अहं की निष्फलता भी उसमें मिल जाती है। ये सब उद्देश्य तो अनायास रूप में आ ही गए हैं परन्तु वर्मा जी का प्रधान उद्देश्य तो मृगनयनी और मानसिंह के ऐतिहासिक चरित्रों को एक आदर्श रूप में पुनः जीवित कर देना ही प्रतीत होता है और उसमें वे सफल हुए हैं।

प्रश्न ३—"मृगनयनी एक शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है" इस कथन के पक्ष अथवा विपक्ष में अपना मत प्रकट कीजिए।

उत्तर—पिछले प्रश्न में ऐतिहासिक उपन्यास का विश्लेषण करते हुए हमने देखा कि शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास में देशकाल पात्र और घटनाओं का ऐतिहासिक और वास्तविक होना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टि कोण से मृगनयनी एक शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास माना जा सकता है। उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र मानसिंह, मृगनयनी, लाखी, अटल, बोधन विजय जंगम, राजसिंह, सिकन्दर लोदी, गयासुद्दीन, महमूद बघर्रा, नसीरुद्दीन एवं बैजू बावरा प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र हैं। इनके अतिरिक्त वर्णित सभी प्रमुख घटनायें भी ऐतिहासिक ही हैं। उपन्यास के 'परिचय' में वर्मा जी ने इस विषय पर प्रकाश डाल कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उन्होंने इस उपन्यास के निर्माण में शुद्ध इतिहास का आधार तो ग्रहण किया ही है, साथ ही वास्तविकता और चरित्रगत विशेषताओं को अधिक विकास देने के लिए कुछ किम्वदन्तियों का भी उपयोग किया है। इन किम्वदन्तियों के उपयोग से स्वाभाविकता और सरसता में वृद्धि ही हुई है। साथ ही मूल ऐतिहासिक स्वरूप की भी रक्षा हो गई है।

ग्वालियर का राजा मानसिंह तोमर का राज्यकाल तोमर शासन का स्वर्ण युग कहलाता है, उस समय सम्पूर्ण भारत में युद्ध एवं अराजकता का साम्राज्य स्थापित था। बहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी सदैव युद्ध

और जन पीड़न में व्यस्त रहे। दोनों ने अनेक बार ग्वालियर पर आक्रमण किए परन्तु उन्हें विफल मनोरथ होना पड़ा, गुजरात के शासक महमूद बघर्रा का भयानक व्यक्तित्व और रक्त प्रियता इतिहास प्रसिद्ध है। माँडू का सुल्तान गयासुद्दीन और उसका पुत्र नसीरुद्दीन अपनी विलास-प्रियता के लिए बदनाम हैं। जहाँगीर ने नासिरुद्दीन की पंद्रह हजार बेगमों की कथा को सुनकर उसकी कब्र तक उखड़वा डाली थी। नरवर पर सिकन्दर का आक्रमण तत्पश्चात् नगर का विध्वंस और राजसिंह की असहाय अवस्था भी प्रसिद्ध घटना है। बैजू बावरे का व्यक्तित्व और उसका स्थापित किया हुआ ग्वालियर का संगीत विद्यापीठ का वर्णन भी इतिहास में है। ग्वालियर किले के मान मन्दिर और गूजरी महल रानी मृगनयनी की ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा कर रहे हैं बैजू बावरा के सङ्गीत क्षेत्र में नए आविष्कार गूजरी टोड़ी, मङ्गल गूजरी आदि राग भी इसे सिद्ध कर रहे हैं। मृगनयनी अपने समय में शौर्य और कला के लिए विख्यात थी, उपन्यासकार ने उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की पूर्ण रक्षा की है। बोधन ब्राह्मण भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। उसके वध की कथा इतिहास प्रसिद्ध है। विजय जंगम मानसिंह तोमर का मित्र था। वर्मा जी ने उपर्युक्त सभी पात्रों एवं घटनाओं के ऐतिहासिक स्वरूप की पूर्ण रक्षा करते हुए मृगनयनी का निर्माण किया है।

किम्वदन्तियों का उपयोग वर्मा जी ने उपन्यास में स्वाभाविकता लाने के लिए किया है। एक किम्वदन्ती के अनुसार राजा मानसिंह के दो सौ रानियाँ थीं तथा दूसरी के अनुसार केवल आठ। उन्होंने दूसरी को ही अपनाया है जो स्वाभाविक है। दूसरी किम्वदन्ती मृगनयनी द्वारा जंगली भैंसे के सींग मोड़ देने की कथा के विषय में है। किम्वदन्ती के अनुसार यह घटना ग्वालियर में घटी थी। परन्तु ग्वालियर के किले में जंगली भैंसे का पहुँचाना असंगत है, अतः वर्मा जी ने इस घटना को राई के जंगलों में दिखाया है जो घटना को एक स्वाभाविक और मनोहर रूप प्रदान कर देता है। इसका आधार भी किम्वदंती ही है। राई गाँव से ग्वालियर तक बनवाई गई नहर के अवशेष भी अब तक प्राप्त हैं जिससे यह घटना भी

संगत प्रतीत होती है । नटों वाली घटना भी किम्वदंती के आधार पर गढ़ी गई है ।

प्रस्तुत उपन्यास में वर्मा जी ने उपर्युक्त ऐतिहासिक घटनाओं, पात्रों, एवं किम्वदन्तियों के सुन्दर सम्मिश्रण से कथा का निर्माण किया है । पात्रों के व्यक्तित्व के निर्माण में उन्होंने उपन्यासकार की स्वतन्त्रता का उपभोग किया है परन्तु उनके ऐतिहासिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए । अपने इस पावन प्रयत्न में विभिन्न घटनाओं द्वारा उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशा का साकार एवं सरस रूप उपस्थित कर दिया है । विजय जंगम का कायक श्रम का सिद्धाँत भी ऐतिहासिक आधार पर ही आधारित है । देश-काल का चित्रण इतना सफल हुआ कि हम उपन्यासको पढ़ते समय वर्तमान को भूल निन्नी और लाखी के साथ जंगल में शिकार खेलने लगते हैं । यही ऐतिहासिक उपन्यासकार की पूर्ण सफलता मानी जाती है । वर्मा जी ने अपनी उर्वर एवं विलक्षण कल्पना शक्ति के द्वारा तत्कालीन पात्रों एवं घटनाओं को इस प्रकार गुम्फित किया है कि उसमें ऐतिहासिक नीरसता का नाम भी नहीं मिलता । परन्तु अपनी इस कल्पना में वह इतिहास के समय से दूर नहीं हटे हैं ।

इस प्रकार हमने देखा कि 'मृगनयनी' में एकशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास के सभी गुण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । उसमें उसके सभी तथ्यों का भली भांति उपयोग किया गया है ।

प्रश्न ४—'मृगनयनी' में वर्णित तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

उत्तर—मृगनयनी में जिस युग का चित्रण किया गया है वह भारतीय इतिहास, विशेष कर उत्तर भारत के इतिहास में अपनी अराजकता, अत्याचार और युद्ध'प्रियता के लिए प्रसिद्ध है । बंगाल से लेकर गुजरात और सिंध तक छोटे-छोटे राज्य फैले हुये थे । दिल्ली का लोदी वंश इन पर प्रभुत्व रखने में असमर्थ था । इस कारण ये राजा और सुल्तान सदैव युद्ध में उलझे रहे । इन युद्धों के मूल में सीमा-विस्तार, धन-लोलुपता, नारी अपहरण और युद्ध प्रियता प्रधान कारण थे । ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह

का शासन-काल तोमर शासन का स्वर्णयुग कहा जाता है। परन्तु इस वीर, कलाप्रेमी, प्रजावत्सल नरेश को सदैव मुस्लिम आक्रांताओं का प्रतिरोध करना पड़ा जिससे समय-समय पर उसके राज्य की सुव्यवस्था और शाँति भंग होती रही। 'मृगनयनी' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय गुजरात का महमूद बघर्रा, माँडू के गयासुद्दीन खिलजी तथा नसीरुद्दीन की अत्याचार प्रियता, रक्तपात और विलास प्रियता के कारण उत्तर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में हाहाकार मचा हुआ था। दक्षिण की बहमनी सल्तनत और विजयनगर राज्य आपस मे युद्धरत थे। जौनपुर, बिहार और बङ्गाल में पठान सरदार अशाँति मचाये हुए थे। राजस्थान का राणा भी कभी-कभी इन युद्धों मे भाग लेने को विवश हो जाता था।

ग्वालियर पर बहलोल लोदी ने कई आक्रमण किये परन्तु वह विफल मनोरथ रहा। फिर उसके पुत्र सिकन्दर लोदी ने पाँच बार आक्रमण किया और सदैव असफल रहा। एक बार गयासुद्दीन भी सेना सहित नरवर पर चढ़ आया जो ग्वालियर के राज्य में था। उसे वहाँ से पराजित होकर भागना पड़ा। ग्वालियर और माँडू पर बघर्रा का भी दांत था। एक बार वह भी चल पड़ा, परन्तु अपने राज्य के आँतरिक विरोध से विवश होकर लौट गया। बघर्रा केवल नर रक्त बहाने के लिए ही युद्ध करता था। गयासुद्दीन विलासी था अतः कामनियों की तलाश मे लगा रहता था। नसीरुद्दीन तो और भी पतित था। उसने पन्द्रह हजार बेगमे इकट्ठी कर रखीं थीं। ग्वालियर चारों ओर से इन अत्याचारी शासकों से घिरा हुआ था। यह राजा मानसिंह का ही साहस और शौर्य था जिसने इन अत्याचारों तथा आक्रांताओं को सदैव नीचा दिखाया।

उस समय राजनीतिक चाले भी खूब चली जाती थीं। विरोधियों के गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए भेदिए रहते थे। शासक गण सदैव एक दूसरे को लड़ा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि का अवसर देखते रहते थे। उनमें विलास प्रियता बढ़ रही थी। मुसलमान शासक राजनीति की पवित्रता में विश्वास नहीं करते थे। सिकन्दर लोदी द्वारा मानसिंह के सेनानायक निहालसिंह का वध इसका प्रमाण है। निहालसिंह दूत था जो सदैव अवध्य

होता है। वर्मा जी ने उपर्युक्त सभी पात्रों एवं घटनाओं को ऐतिहासिक आधार पर ही चित्रित किया है। इस प्रकार उस काल को कराल, कठोर और काला युग कहा जा सकता है। उस समय का राजा मानसिंह ही एक ऐसा शासक है जिसमें एक आदर्श नरेश के सभी गुण विद्यमान हैं।

तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति भी अत्यन्त विशृङ्खलित और अव्यवस्थित थीं। राजनीतिक अराजकता के कारण-प्रजा निर्धन थी। सर्वत्र दुख दारिद्रय का साम्राज्य था। समाज पर पण्डितों और मुल्लाओं का आतङ्क था मुल्लाओं द्वारा बोधन का बध बताता है कि तत्कालीन शासक सदैव मुल्लाओ को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। गयासुद्दीन को भी यही अनुभव हुआ था। बोधन की धार्मिक हठधर्मिता ने अटल और लाखी को बहुत सताया। जाति पाति की समस्या उस समय अत्यन्त उग्र थी। गूजरों और अहीरों में सम्बन्ध नहीं हो सकता था। बोधन ने इसी कारण अटल और लाखी का विवाह कराना अस्वीकार कर दिया था। पुजारी खेत की उपज में से एक निश्चित भाग का अधिकारी माना जाता था। समाज पर उसका प्रभुत्व था। राजा तक उसका सम्मान करते थे। किसानों की दशा बहुत खराब थी। राई गाँव का जीवन इसका प्रमाण है। परन्तु जनता सदैव उत्साहपूर्वक अपना कार्य करती थी, क्योंकि वह आये दिन के उपद्रवों की अभ्यस्त बन गई थी। समाज में छल प्रपच आदि कम थे। अधिकाँश जन भोले और निरीह थे नटों के प्रसङ्ग से नटों जीवन का अच्छा परिचय मिल जाता है। वे भेदिये का काम करने में पटु प्रतीत होते हैं। बहु विवाह की भी प्रथा थी। राजा मानसिंह के आठ रानियाँ थीं।

विजयजगम का 'कायक श्रम' वाला सिद्धान्त प्रचार पा रहा था। जनता एवं शासक दोनों वोर शारीरिक परिश्रम में विश्वास रखते थे। कला के क्षेत्र में संगीत, नृत्य, वास्तु-कला और चित्रकला का प्रचार था। ग्वालियर दरबार में इन सभी कलाओं को प्रश्रय प्राप्त था। बैजू बावरा द्वारा स्थापित संगीत विद्यापीठ आज भी प्रसिद्ध है। परन्तु ये कलाएँ राजदरबारों तक ही सीमित थीं। जनसाधारण का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। धार्मिक परिस्थिति के विषय में बोधन और विजय के जंगम के प्रश्न में प्रकाश डाला जायगा) संक्षेप

में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ यही थीं।

प्रश्न ५—'मृगनयनी' उपन्यास के आधार पर उस समय की कला-प्रियता पर एक संक्षिप्त एवं सारगर्भित निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'मृगनयनी' उपन्यास में वास्तु कला, संगीत कला, नृत्य कला और चित्रकला का वर्णन मिलता है। मुसलमान मूर्ति निर्माण के विरोधी रहे हैं। इसी कारण सिकन्दर लोदी ने नरवर का ध्वस करते समय वहाँ के मन्दिर तथा सुन्दर मूर्तियों को तोड़ डाला था। गयासुद्दीन इस क्षेत्र में सहिष्णु है। एक मस्जिद के निर्माण में कारीगरों ने बेलबूटों, पत्तियों और फूलो की पच्चीकारो के साथ चिड़ियों तथा बन्दरों की मूर्तियाँ बना दी थीं। गुम्बजों की खिड़कियाँ मन्दिरों के बन्दनवार जैसी थीं। कँगूरे मोर और घोड़े के सिर वाले पत्थरों पर आधारित थे। मुल्लाओं ने इन बातों का विरोध किया। और गयासुद्दीन को अनमने मन से उनकी बात को स्वीकार करना ही पड़ा।

राजा मानसिंह वास्तुकला का प्रेमी था। वह ग्वालियर के प्राचीन तैल मन्दिर जैसा एक नवीन भवन बनाना चाह रहा था। विजयजङ्गम ने सुझाया "तैलङ्ग शैल के बनवाइये। ऊपर के दोनों खण्डों में वन-उपवन की भिन्नता पूर्ण शालीनता, छोटी-छोटी पहाड़ियों की प्रतिमा रूप मढ़ियाँ, बड़े पहाड़ों सरीखे आड़े शिखर चौर आड़े शिखरो पर पहाड़ों के अनेक तुङ्गों के प्रतीक, मन्दिर के चारों पार्श्व त्रिभुजाकार, इन कमल गुञ्जित त्रिभुजो के शिखर पर सूर्य का गोल मण्डल।" मानसिंह तो 'टाँकी के हथौड़े की कविता और सगीत के ताल और तान को उस भवन में मूर्त करना चाहता था। वह भवन को सौन्दर्य, लालित्य और आस्था का मन्दिर, जो मृगनयनी की कोमल भावनाओं का सदन, चाह, शक्ति और बड़प्पन प्रतीक हो। मानसिंह ने इसी कल्पना को साकार करने के हेतु मान मन्दिर और गूजरी महल का निर्माण किया जो स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतीक माने जाते हैं।

गायक बैजनाथ संगीत कला के आचार्य थे। वे सदैव विभिन्न रागरागिनियों के आविष्कार में ही तन्मय रहते थे। राजसिंह के दरबार से वे ग्वालियर आ गए। वहाँ बैजू के संगीत और विजयजंगम की वीणा में प्रति-

द्वन्द्विता स्थापित हो गई, जिसमें विजय को सादर पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बैजू मृगनयनी के संगीत शिक्षक बन गये। मुगनयनी की कुशाग्र बुद्धि एवं तीव्र कल्पना ने उन्हें नये-नये सुझाव दिये, जिससे इस अमर कलाकार ने गूजरी टोड़ी, नङ्गल गूजरी इत्यादि रागों का आविष्कार किया। सभी कलाकारों को राज्य का संरक्षण प्राप्त था। राजा स्वयं संगीत प्रेमी था। वह सदैव बैजू और मृगनयनी को प्रोत्साहन करता रहता था। बैजू की तल्लीनता एक सच्चे कलाकार की तल्लीनता थी। परन्तु इस सङ्गीत कला का प्रचार या प्रभाव केवल राजमहलों तक ही सीमित था। जनता उससे उदासीन अथवा अनभिज्ञ थी। बैजनाथ द्वारा आविष्कृत ध्रुवपद और धमार की गायकी एवं उनका स्थापित किया हुआ ग्वालियर का विद्यापीठ, जिसके शिष्य तानसेन थे, आज भी भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

संगीत के साथ ही साथ नृत्य को भी प्रोत्साहित किया जाता था। बैजू बावरे की सगिनी कला, नृत्य सँगीत और चित्रकला तीनों में पारंगत थी। कलाकार गाता था। कला कभी संगीत में उसका साथ देती और कभी उसकी गतों पर थिरक उठती। विजय भी इस कला में रुचि रखता था। मानसिंह के दरबार में कभी कभी नृत्य और संगत की सभा जुड़ती थी जो रात्रि के अन्तिम प्रहर तक चलती रहती थी। मृगनयनी की तो कलाओं के प्रति रुचि स्वाभाविक ही थी। उसने विजय के सहयोग से तांडव नृत्य का अभ्यास किया और एक दिन अनुकूल अवसर पाकर एकान्त में मानसिंह के सम्मुख उसका प्रदर्शन भी किया। मृगनयनी संगीत और नृत्य के साथ साथ वीणा वादन का भी अभ्यास करती थी। आचार्य विजयमंगल उसके गुरू थे। इन कलाकारों की संगत में पड़ कर अटल को भी वीणा वादन का शौक चर्राया परन्तु एक दिन पागल कलाकार बैजू द्वारा हतोत्साहित कर दिया गया।

कला चित्रकला भी जानती थी कि मृगनयनी ने उससे इसका अभ्यास किया और थोड़े ही समय में सुन्दर चित्र बनाने लगी। सुमनमोहिनी का चित्र सीखना तो एक दुरभि-सन्धि मात्र थी। मृगनयनी की चित्रशाला में अवतारों के, देवताओं के, कौमुदी महोत्सव, वसन्तोत्सव, राग-रागनियाँ

आदि के स्वनिर्मित कलात्मक चित्र थे । परन्तु मृगनयनी की प्रखर प्रतिभा तीव्र कल्पना शक्ति और उसका सजग व्यक्तित्व 'कला और कर्त्तव्य' नामक चित्र में ही विकास पा सके थे। इस चित्र की कल्पना, भाव एवं रूपरेखा उच्च, श्रेष्ठ और अद्भुत थी । यह मानसिंह को कला और कर्त्तव्य के प्रति समान रूप से प्रेरित करता रहता था। जब मानसिंह ने इन दोनों की साधना सन्तुलित रूप से की तभी मृगनयनी ने उसमें पूरे रङ्ग भरे थे।

कलाओं की इस अनवरत साधना का क्षेत्र केवल राजवर्ग तक ही सीमित था। मृगनयनी कला के साथ ही कर्त्तव्य के प्रति भी सदैव सजग रहती थी। उसका मत था, "किसान कैसे प्रबल बने ? कलाओं की शिक्षा से ? उँह ! उससे उनकी बाँहों को कितना बल मिलेगा ? पेट भर खाने को मिले, दूध, मठा, घी, कपड़े और कुछ इनके पचता भी रहे। तब कलायें इनकी बाहु को स्थिरता दे सकेंगी ? यह सब कैसे हो ? राजा सेना को पुष्ट करले तो इस काम के करने के लिए कहूंगी।" बैजू के यह उलाहन देने पर कि, राजा अब गायन वादन की ओर अधिक ध्यान नहीं देते, मृगनयनी ने कहा था, "मैं तो देती हूँ ! इनको सेना, राजनीति इत्यादिके सम्हालनेमें लगे रहने दीजिए।" मृगनयनी कला और कर्त्तव्य के प्रतीक भावना और संकल्प को जीवन तखड़ी के दो पलड़े मानती थी । इन दोनों के समान समन्वय की आवश्यकता है। यही उसका उद्देश्य था।

निमन्त्रण (भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

प्रश्न १—श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की जीवनी पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए उनका साहित्यिक परिचय दीजिए।

उत्तर—श्री वाजपेयी जी का जन्म कानपुर जिलान्तर्गत मङ्गलपुर नामक ग्राम में सम्वत् १९५६ में प्रसिद्ध विद्वान पण्डित शिवचरनलालजी के यहाँ हुआ था। इनके मामा तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय जगन्नाथ मिश्र भी उसी ग्राम के निवासी थे। वाजपेयी जी पर इनकी शिक्षा एवं विचारों का बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ा था। इन्हीं मामा जी की संरक्षता में वाजपेयी जी

की प्रारम्भिक शिक्षा मङ्गलपुर ग्राम की पाठशाला में प्रारम्भ हुई। वाजपेयी जी का प्रारम्भ से ही विद्या के प्रति अनुराग था। बचपन में ही वह संस्कृत श्लोकों का धारा प्रवाह उच्चारण करने लगे थे। इनके पिताजी की आर्थिक स्थिति सम्पन्न नहीं थी। इधर इनके मामा जी का भी इनकी तरुणावस्था में ही देहावसान हो गया। फलस्वरूप वाजपेयी जी को मिडिल पास करने के उपरान्त स्थानीय पाठशाला में अध्यापक का कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसलिए उनकी नियमित शिक्षा का अन्त हो गया। परन्तु उनका विद्यानुराग पूर्ववत जारी रहा। इस अनुराग को स्थानीय ब्रजभाषा के कवि बाँकेलाल चतुर्वेदी से बहुत प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वाजपेयी जी ने चतुर्वेदीसे काव्य कला की शिक्षा प्राप्त की। सन् १९१४ में श्रीमती एनीबीसेंट के प्रयत्न से कानपुर में होमलीग पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हो गए।

वाजपेयी जी को अङ्गरेजी का ज्ञान नहीं था। इस कारण उन्हें पुस्तकालय का कार्य चलाने में कठिनाई का अनुभव हुआ। फलस्वरूप उन्होंने अङ्गरेजी पढ़ने का विचार किया; परन्तु इसी समय उनके बड़े भाई की मृत्यु हो जाने के कारण सम्पूर्ण परिवार का उत्तरदायित्व उन्हीं पर आ गया। इनका विवाह बारह वर्ष की अल्पायु में पहले ही हो चुका था। इतना सङ्कट पड़ने पर भी ये हतोत्साह नहीं हुए। इन्होंने स्वाध्याय द्वारा अङ्गरेजी का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। इसी स्थान पर रहते हुए इन्होंने कविता करना प्रारम्भ किया जो तत्कालीन 'प्रताप' एवं 'उत्साह' नामक पत्रों में प्रकाशित हुईं। सन् १९२० में कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'ससार' नामक समाचार पत्र में ये प्रूफ-रीडर के पद पर नियुक्त हुए और क्रमशः उन्नति करते करते अन्त में उस पत्र के प्रधान सम्पादक बन गए। कविताओं के साथ-साथ ये लेख और कहानियाँ भी लिखते थे। 'यमुना' नामक कहानी और 'विचार स्वातन्त्र्य का व्यवहारिक रूप' नामक लेख से इनकी ख्याति बहुत बढ़ी। 'यमुना' की लोकप्रियता से इनकी अभिरुचि कथा साहित्य के प्रति बढ़ी जिसके फलस्वरूप कालान्तर में अगणित उच्चकोटि की कहानियों और अनेक श्रेष्ठ उपन्यासों की इन्होंने रचना की।

वाजपेयी जी का जीवन बहुत अस्त-व्यस्त रहा है। इन्हें जीविकोपार्जन

के निमित्त विभिन्न प्रकार के अनेकों कार्य करने पड़े हैं। वे अपने जीवन में मुनीम, कम्पाउन्डर, प्रूफरीडर, सहायक सम्पादक, सम्पादक, पुस्तकाध्यक्ष आदि अनेक पदों पर कार्य कर चुके हैं। परन्तु उनकी साहित्यिक रुचि ने उन्हें सदैव अपनी ओर आकर्षित कर पथ-भ्रष्ट होने से बचाए रखा है। चार वर्ष तक इन्होंने साहित्य सम्मेलन में सहायक मन्त्री का भी कार्य किया है। साथ ही पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता भी रह चुके हैं। इनके जीवन की विविधता ने ही इन्हें इतना सफल एव मार्मिक कलाकार बना दिया है। अन्त में हिंदी संसार ने साहित्य के इस अथक सेवक की सेवाओं को स्वीकार कर इन्हें अबोहर-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-परिषद का सभापति नियुक्त कर, इनका सम्मान किया। अन्य साहित्यकारों के समान इन्हें भी चलचित्र जगत के आकर्षण ने अपनी ओर खींचा। सन् १६४५ से १६४६ तक बम्बई में रहकर ये सिनेमा के लिए कथा, सम्वाद और गीत लिखते रहे, परन्तु वहाँ का दूषित वातावरण इस साहित्य मनीषी को सन्तोष न दे सका और ये लौट कर प्रयाग आ गए। आजकल वहीं रहते हैं।

वाजपेयी जी बहुमुखी प्रतिभाशाली साहित्यकार हैं। इन्होंने उपन्यास, कहानी, कविता, निबन्ध, नाटक एव बाल साहित्य आदि साहित्य के विभिन्न अङ्गों पर अधिकार पूर्ण सफल रचनाए की हैं। साथ ही अनेक मासिक, साप्ताहिक एवं दैनिक पत्रों का सम्पादन भी किया है। इस कारण ग्रन्थों के सम्पादन में इनकी अद्भुत सम्पादन कला के भी दर्शन होते हैं। उनकी रचनाएँ कालक्रमानुसार निम्नलिखित है—

उपन्यास—प्रेम पथ, मीठी चुटकी, अनाथ पत्नी, त्यागमयी, लालिमा प्रेम निर्वाह, पतिता की साधना, पिपासा, दो बहिनें, निमंत्रण, गुप्तधन, अङ्कडाई।

कहानी संग्रह—मधुपर्क, दीपमालिका, हिलोर, पुष्करिणी, खाली बोतल, मेरे सपने, ज्वार भाटा, कला की दृष्टि, उपहार, अङ्गारे, उतार-चढ़ाव।

बाल-साहित्य—आकाश पाताल की बातें, बालकों के शिष्टाचार, शिवाजी, बालक प्रह्लाद, बालक ध्रुव, हमारा देश, नागरिक शास्त्र की

कहानियाँ और शिक्षा की योजना।

सम्पादित ग्रन्थ–प्रतिनिधि कहानियाँ, हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ, नव कथा, नवीन-पद संग्रह और युगारम्भ। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने छलना नामक एक नाटक भी लिखा है। इनकी कविताओं का 'ओस की बूँद' नाम से संग्रह किया गया है। आजकल 'अन्तर्नाद' नामक उपन्यास लिख रहे हैं। इसे समाप्त करने के उपरान्त इनका विचार नाटक और एक महाकाव्य लिखने का है।

वाजपेयी जी सन् १६२० से निरन्तर साहित्य सेवा करते आ रहे हैं। इस लम्बे ३२ वर्ष के समय में इन्होंने जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। जीवन के भयङ्कर संघर्ष से संघर्ष करते हुए भी उनकी साहित्य साधना अबाध गति से चलती रही है। इन्होंने सर्वप्रथम कविता करना प्रारम्भ किया। फिर सम्पादक हुए। इस रूप में लेखादि प्रचुर मात्रा में लिखे। लेखों से क्रमशः कहानी, उपन्यास और नाटकों की ओर झुके। अन्त में कथा-साहित्य को ही उन्होंने अपनी साहित्य-साधना का एकमात्र क्षेत्र चुन लिया जिसके परिणाम स्वरूप उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियों और १४ उपन्यासों का सृजन किया। उन्होंने सदैव मस्ती के क्षणों में कविता और चिन्तन के समय में कहानी तथा उपन्यास लिखे हैं। काल-क्रमानुसार वाजपेयी जी प्रसाद और प्रेमचन्द के समकालीन हैं। परन्तु इन्होंने इन दोनों महान् कलाकारों से प्रेरणा तो अवश्य प्राप्त की परन्तु उनका अक्षरशः अनुकरण नहीं किया। शरत्बाबू से ये प्रभावित बताए जाते हैं। अपने कथा साहित्य के निर्माण में इन्होंने वस्तु-संगठन अपना रखा है तथा शैली और उद्देश्य में प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों की भाषा एव विचार-धारा का समन्वय कर दिया है। इस रूप में हम इन्हें एक सर्वथा मौलिक कलाकार मान सकते हैं। इस मौलिकता का प्रधान कारण उनका अपना जीवन-संघर्ष ही रहा है। यही जीवन संघर्ष उनकी रचनाओं में साकार हो उठा है। वे वास्तविक जीवन के उपासक हैं। उनका कथन है—"सत्य के सौन्दर्य का पुजारी हूँ। मधु का ही नहीं, वट्टु सत्य का भी। सत्य का दर्शन, चिन्तन और मथन मैं साहित्य में करना और देखना चाहता हूं।" सत्य का यह अनुसन्धान ही उनके

साहित्य में बिखरा मिलता है। वे शुद्ध मानवता के उपासक हैं। इसी से वहाँ कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का महत्व अधिक है।

वास्तविकता की प्रधानता के कारण ही उनके कथानक और पात्र किसी कल्पित लोक के न होकर इसी ठोस एवं वास्तविक जगत के होते हैं। उन्होंने आधुनिक मध्यमवर्गीय समाज को अपना वर्ण्य विषय बनाया है। मध्यम-वर्गीय परिवार के चित्र खींचने में वे सिद्धहस्त हैं। इन्होंने प्रेमचन्द, प्रसाद आदि के समान विस्तृत राजनीतिक, सामाजिक आदि जीवन को स्पर्श नहीं किया है। ये अपने परिवारिक चित्रण के संकुचित क्षेत्र में ही सीमित होकर रह गए हैं। इसका कारण यह है कि वाजपेयी जी वर्गवादी न होकर व्यक्तिवादी हैं। उनका मत है कि यदि व्यक्ति उन्नत होगा तो समाज अथवा वर्ग स्वय ही उन्नत हो जायगा। इसी भावना के कारण वे जहाँ भी प्रेम, दुख और कष्ट का एकत्र वातावरण पाते हैं उसी को अपने कथानक का आधार बना लेते हैं। उनकी छोटी-छोटी कहानियों में ऐसे चित्रण अधिक मिलते हैं। इसी से ये कहानियाँ सरस, सहानुभूतिपूर्ण और भाव-व्यंजक होती हैं। ये व्यक्तिगत दुखों का चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से करते हैं। इनके पात्र कभी तो भाग्य से निरन्तर संघर्ष करते रहते हैं और कभी असफल होने पर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाते हैं। इनके लगभग सभी उपन्यासों में आत्महत्या का प्रसङ्ग अवश्य आता है। कहा जाता है कि वाजपेयी जी स्वयं एक बार आत्महत्या करने पर उतारू हो गए थे।

अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण दो प्रकार से करते हैं-पात्रों के कथोपकथन द्वारा और कार्यों द्वारा। उनके मध्यमवर्गीय पात्र महात्वाकाँक्षी होने के कारण स्वभावतः सघर्ष शील होते हैं। वे निरन्तर आगे बढ़ने के लिए सघर्ष करते रहते हैं। अधिकाँश इस सङ्घर्ष में सफल हो जाते हैं और कुछ असफल होने पर आत्महत्या कर लेते हैं। सङ्घर्षमय जीवन का यही सत्य है—वाजपेयी जी का ऐसा विश्वास है। परन्तु उनके पात्रों का चरित्र विकासपूर्ण एवं स्वाभाविक नहीं हो पाता। उनके अपने जीवन में भौतिक तृप्ति का अभाव रहा है। इसलिए उनके लगभग सभी पात्र भी इस अभाव से पीड़ित रहते हैं। साधारणतः उनकी पात्र संख्या सीमित रहती है। सभी पात्र

अपने चरित्र के अनुकूल नपी-तुली भाषा में अपने भावों को व्यक्त करते हैं। वे भाग्यवादी होते हुए भी कर्म-शील हैं। साथ ही वे रोमाँस और प्रेम की अनुभूतियों से ओतप्रोत यौवन के उपासक भी हैं। यौवन की इस उपासना के कारण उनके अधिकाँश पात्र सेक्स-पीड़ित हैं। युवक-युवतियों की अतृप्त, नैतिकता हीन विलासी भावना उनके उपन्यासों में यत्र तत्र मिल जाती है।

कथोपकथन की दृष्टि से वाजपेयी जी को अधिक सफल माना जा सकता है। उनके पात्र अल्पभाषी न होकर वाचाल एवं भाषण कला में पटु होते हैं। कथोपकथनों की भाषा स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक होती है। पात्र नपी तुली भाषा में संक्षेप में अपने भावों को व्यक्त कर जाते हैं। पाठक इन कथोपकथनों में तल्लीन हो जाता है। वाजपेयी जी अपने हृदय की सारी सरसता अपने सम्वादों में व्यक्त कर पाठकों को मुग्ध करने में प्रवीण प्रतीत होते हैं। आप जीवन में दुख की प्रधानता मानते हैं। इसलिए इनके अधिकाँश कथानक पूर्ण होते समय जीवन के प्रति राग के स्थान पर विराग की ही भावना अधिक रखते हैं। वाजपेयी जी की एक त्रुटि यह है कि वे अत्यधिक भावुक होने के कारण वस्तु सङ्गठन के प्रति उदासीन हो जाते हैं। फलतः वस्तु सङ्गठन शिथिल और अस्त-व्यस्त हो जाता है।

नारी समस्या को लेकर उन्होंने 'छलना' नामक एक नाटक भी लिखा है। इस नाटक के पात्रों में भी वही आह और कराह हैं जो उनके अन्य पात्रों में मिलती है। इसके गीत मधुर और गेय हैं। भाषा भी कवित्वपूर्ण है। इनकी कविताएं 'ओस की बूँद' नामक सग्रह में सग्रहीत हो चुकी हैं। वे यौवन और प्रेम के कवि हैं। इसलिए इन कविताओं में सरसता, माधुर्य और उन्मुक्त जीवन का सौन्दर्य मिलता है। भावों का चित्रण सुन्दर और मधुर है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। इनके सम्पादित अधिकाँश कहानी-संग्रह विभिन्न पाठ्यक्रमों में स्वीकृत हैं। इनका बाल-साहित्य शिक्षाप्रद एवं मनोरंजक है। इस क्षेत्र मे इनकी तुलना सोहनलाल द्विवेदी से की जा सकती है।

भाषा में खड़ी बोली के व्यवहारिक रूप के दर्शन होते हैं। साधारणतः विदेशी शब्दों का बहिष्कार मिलता है। संस्कृत प्रधान होते हुए भी उसमें

क्लिष्टता नहीं आने पाती। भाषा सर्वत्र विषय और भाव के अनुकूल ही रहती है। कहीं-कहीं फारसी और अरबी के तत्सम् रूपों का भी प्रयोग किया है। इनके प्रयोग से भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि ही हुई है। भाषा उनकी वशवर्तिनी सी प्रतीत होती हैं। उसमें सर्वत्र स्वाभाविकता है। मुहावरों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। शैली तीन प्रकार की मिलती है—विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक और भावात्मक। इनमें छोटे-छोटे भाव-व्यंजक वाक्यों का प्रयोग किया गया है। निरर्थक वाक्य अथवा शब्द बहुत कम मिलते हैं। दृश्यों के चित्रण में साकार चित्र सा उपस्थित हो जाता है। पात्रों की वेशभूषा और हावभाव का चित्रण अत्यन्त मनोरम और मनोवैज्ञानिक होता है। चरित्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के समय शैली गम्भीर और दुरूह हो जाती है। संक्षेप में उनकी शैली प्राँजल, सशक्त, प्रवाहपूर्ण और प्रभावोत्पादक है।

वाजपेयी जी विनोद-प्रिय साहित्यकार हैं। इस कारण वे अपने साहित्यिक क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय हैं। लेखक के साथ ही साथ वे सुन्दर वक्ता भी हैं। आधुनिक कथाकारों में वाजपेयी जी अपना एक विशिष्ट स्थान बनाने में समर्थ हो सके हैं। इस सफलता का रहस्य स्वयं उनका संघर्षमय जीवन है। वे स्वयं अपने जीवन और व्यक्तित्व के निर्माता हैं। उनके साहित्य में मध्यवर्गीय सङ्घर्षपूर्ण जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्र मिलते हैं। इसी कारण वे इतने लोकप्रिय हो गए हैं।

प्रश्न २—भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी के 'निमन्त्रण' उपन्यास की कथा संक्षेप में लिखिए।

उत्तर—-उपन्यास के नायक शर्माजी का परिवार केवल तीन व्यक्तियों का है—शर्माजी, उनकी पत्नी रेणु और उनका दो साल का नन्हा सा पुत्र रञ्जन। शर्मा जी 'संजीवन' पत्र के संस्थापक एवं सम्पादक हैं। गाँधी जी के स्वतन्त्रता आन्दोलन ने मजदूर आन्दोलन को बल दिया। मजदूरों और मजदूरों के उस आन्दोलन के शर्मा जी नेता हैं। शहर में उनका मान सम्मान सब कुछ। अपने पत्र 'संजीवन' के द्वारा वे निर्भय होकर आन्दोलनों को बल देते जाते हैं मालती एक अभिजात्य वर्ग की सुशिक्षित नारी है जो शर्मा

से परिचित और प्रभावित है। वर्षों पहले शर्मा जी उसके अध्यापक भी रह चुके हैं। मालती का आकर्षण शर्मा जी की ओर बढ़ता है और एक ऐसी घटना भी आती है जब शर्मा के अन्तर में भी मालती के लिए एक स्थान हो जाता है। क्रमशः मालती शर्मा जी के यहाँ आना जाना प्रारम्भ करती है। उनके साथ समाज सेवा करने के लिए आजन्म अविवाहित रहने का व्रत भी लेती है। किन्तु शर्मा जी उसके इस व्रत से सहमत नहीं हैं। मालती का विकार शर्मा जी के प्रति धीरे धीरे बढ़ता है जिसे शर्मा जी की पत्नी रेणु ताड़ जाती है परिणाम स्वरूप शर्मा जी के घर में कटुता की ज्वाला सुलगने लगती है और बढ़ते बढ़ते काफी बढ़ जाती है। इसका संदेह मालती की और दोनों भाभियोंको होता है। शर्मा जी अपना सामाजिक उत्तरदायित्व निर्वाह करने में काफी सतर्क हैं। उन्हें प्रति पल 'संजीवन' के निकालने और मजदूर आन्दोलन को गतिशील रखने में चिंतित रहना पड़ता है। साथ ही मालती और शर्मा जी के अन्तर का द्वन्द्व भी बराबर चलता रहता है। एक बार रेणु के आग्रह से मालती शर्मा जी के ही घर पर सोती है क्योंकि रेणु की तबियत ठीक नहीं है। काफी सफाई दे चुकने पर भी मालती रात्रि को रेणु के समीप से उठ कर पेटीकोट रहित केवल साड़ी पहनकर चुपचाप शर्मा जी के कमरे में जाती है किन्तु शर्मा जी को अपने कर्तव्य का ध्यान रहता है और मालती तथा शर्मा जी के बीच एक ऐसा अन्तर आ जाता है कि दोनों की बात चीत भी बन्द हो जाती है।

किन्तु मालती को सामाजिक क्षेत्र में लाने वाले शर्मा जी ही हैं। मजदूर सभा में मालती से व्याख्यान दिलवाना, उसे इधर कार्य करनेके लिए प्रोत्साहन करना आदि का शर्मा जी को ही श्रेय है। धीरे धीरे मालती का सामाजिक क्षेत्र में मान सम्मान बढ़ता ही जाता है।

शर्मा जी के बीमार बच्चे को देखने के लिए आने वाले डाक्टर ललित मालती से काफी चिढ़ते हैं। कभी मालती से उन्होंने भी विवाह करने का प्रस्ताव मालती के समक्ष रखा था किन्तु मालती की ओर से वह स्वीकृत नहीं किया गया। डाक्टर साहब को मालती के चरित्र सम्बन्धी अन्य भी कितनी ही घटनाएं पता थीं। वे भी नहीं चाहते थे कि मालती और शर्मा

का आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध हो।

इस विषय में शर्मा जी की ओर से निराश होकर मालती अपने पूर्व परिचित कालिज मैगनीज के सम्पादक मिस्टर विनायक की ओर झुकती है जिन्होंने "साहित्य दर्शन और इतिहास तीन विषयों में एम० ए० किया है।" विनायक एक अपनी अकेली माँ के साथ काफी कठिनाई का जीवन बिताया करते हैं। 'संजीवन' में लेख लिखकर अपनी रोजी कमा लिया करते थे। किन्तु मालती की कृपा करने से उन्हें एक ट्यूशन भी मिल गया है मालतीके भाईके लड़के को ३०, रु० मासिक मिल जाया करते हैं। विनायक जी अब निश्चिंत हैं।

विपिन बाबू एक बहुत अच्छे कार्य कर्ता हैं। उनके अन्तर में समाज सेवा और मजदूर आन्दोलन दोनों पूरी तरह समाए हुए हैं। शर्माजी विनायक के प्रति बहुत सहानुभूति रखते हैं। किन्तु विनायक के अन्तर में भी एक ज्वाला है, एक वेदना है जिसे चुपचाप अपने में बसाए हुए हैं। वह बिवाहित है किन्तु उसके ससुर साहब उसकी पत्नी को भेजते नहीं है। न भेजने का बहाना तो कुछ और है किन्तु मूल कारण है विपिन के ससुर के स्वार्थ। स्वार्थ भी बहुत ही गन्दा और अन्य कार्य पूर्ण जिसके असह्य आघात से विपिन आत्मघात करने के इरादे से विष खा लेता है। विपिन अस्पताल आता है जिसमें मालती, शर्मा जी दोनों ही भरसक सहानुभूति पूर्ण प्रयत्न करते हैं। और विपिन विष के प्रभाव से बच जाता है। इस घटना में शर्मा जी और मालती दोनों एक बार फिर एक दूसरे के समीप आते हैं। पुरानी टीस शर्मा जी के अन्तर को पुन: वेदना देना आरम्भ कर देती है किन्तु शर्मा जी बहुत ही उच्च विचार और आदर्श के व्यक्ति हैं। वे मालती के इस अस्त व्यस्त अविवाहित जीवन को किसी प्रकार एक संतुलित धरा में प्रवाहित करना चाहते हैं। उन्हें विश्वास नहीं है कि मालती अविवाहित रह कर अपना जीवन सफलता के साथ बिता सकती है।

इधर विनायक मालती के घर नियमित रूप से आता है क्योंकि वह मालती के भतीजे का अध्यापक जो है। इसी बीच में मालती और विनायक में आकर्षण बढ़ता जाता है। इसकी ओर मालती की माँ और

भाभियों का ध्यान भी जाता है । माँ को विनायक मालती के योग्य जँचता तो अवश्य है किन्तु वह अभिजात्य वर्ग का नहीं है यही एक बड़ी कठिनाई है । भाभियों के लिए यह कठिनाई भी कुछ नहीं है ।

अब मजदूर आन्दोलन जोर पकड़ने लगता है । नेता लोग जेल जा रहे हैं । 'संजीवन' पत्र के सम्पादक शर्मा जी की बारी भी आती है । किन्तु प्रश्न यह उठता है कि उनके जेल जाने के पश्चात् पत्र को कौन चलावेगा । काफी विचार करने पर शर्मा जी पत्र का भार मालती और विनायक दोनों पर छोड़ देना तय करते हैं । शर्मा जी "पत्र के सम्पादक का कार्य विनायक को और व्यवस्था का कार्य मालती को सौंप देते हैं ।" उसी समय शर्मा जी अपने अन्तर के सम्पूर्ण भावों को मालती के लिए स्पष्ट कर देते हैं । जेल जाते हुये शर्मा जी को मालती की भाभी पूर्णिमा द्वारा मालती और विनायक दोनों के होने वाले विवाह सम्बन्ध की सूचना मिली और शर्मा जी उन दोनों को अपनी हार्दिक बधाइयाँ देकर चल दिये ।

उपन्यास की इस सम्पूर्ण कथा के बीच में एक प्रासंगिक कथा और आती हैं जो इस प्रकार है । मालती का भाई ब्रजनाथ जिसका जीवन गुप्त रूप से अत्यन्त दूषित था किन्तु प्रत्यक्ष में वह समाज के समक्ष अपने को पूर्ण साफ बनाये हुये था अपने यौवन के प्रारम्भिक दिनों में वीणा नाम की सुन्दरी से प्रेम करता था । उससे प्रेम सम्बन्धी अनेक वायदे भी किये थे, किन्तु अन्त में उससे अपना स्वार्थ साधन कर त्याग दिया था । आज वही वीणा वेश्या वृत्ति ग्रहण कर अपने अन्तर में सुलगती हुई प्रतिशोध की भावना को बसाए हुये हैं । अब वह वीणा नहीं थी बूँदी थी । निदान एक दिन ऐसा आ ही गया जब वीणा (बूंदी) प्रतिशोध ले सके । एक दिन ब्रजनाथ बाबू बूँदीके हाथ पड़ गए और वह उसे अनेक प्रकार के बहानों में ले जाकर एक ऐसे स्थान में ले गई जहाँ ब्रजनाथ बाबू बूँदी के चंगुल से निकलने में सब प्रकार से असमर्थ थे । बूँदी ने अनेक प्रकार की भावनाएँ और बहाने देकर ब्रजनाथसे दो हजार रुपये वहीं बैठे बैठे टेलीफून से मंगवाये । ब्रजनाथ के समक्ष और चारा ही क्या था । किन्तु अन्त में जब सारा राजखुला तब पता चला कि यह बूँदी वही वीणा है जिसका जीवन

ब्रजनाथ के कारण ही इस दशा को प्राप्त हुआ है। बूँदी ने ब्रजनाथ को रुपयों के साथ वापस कर दिया।

इस प्रकार इसकी सम्पूर्ण कथा में वाजपेयी जी ने आज के समाज की अधिक से अधिक कमजोरियों को खोल कर रखने का प्रयत्न किया है। सफल वे उसमें बहुत अंशों तक हुए हैं।

प्रश्न ३—उपन्यास के तत्वों के आधार पर 'निमंत्रण' उपन्यास की आलोचन कीजिए।

उत्तर—'निमंत्रण' उपन्यास की कथा में हमारे सामान्य जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को वाजपेयी जी ने शृंखलित करके एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया है। इन्होंने जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के बीच में होकर इस प्रकार निकाला है कि वे सभी छोटी-छोटी घटनाएँ बहुत महत्वपूर्ण बन गई हैं। प्रत्येक घटना एक दूसरे से इतनी सम्बद्ध है कि एकाधि स्थल को छोड़कर कहीं भी उसमें अनेकता नहीं रह गई है। इसमें प्रमुख और प्रासगिक सभी कथाएँ एक अन्वित से रखी गई हैं। मुख्य कथा है 'संजीवन' पत्र के सम्पादक शर्मा जी के नेत्रत्व में चलने वाले मजदूर आन्दोलन की जिसमें मालती आकर अपनी सेवाएँ अर्पित करती हैं। जैसे-जैसे पूंजीपतियों के मजदूरों के प्रति अत्याचार बढ़ते जाते हैं आन्दोलन बल पकड़ता जाता है जिसमें मालती विनायक, विपिन आदि सभी अपना भरसक सहयोग प्रदान करते जाते हैं। किन्तु इस बाह्य आन्दोलन के साथ ही साथ मालती और शर्मा जी के अंतर का आन्दोलन भी बराबर तीव्र होता जाता है। जिसमें शर्मा जी की पत्नी रेणु का अन्तर भी अपना सहयोग करता जाता है। इस शर्मा जी के परिवार की मुख्य कथा के साथ ही अन्य सभी प्रासङ्गिक कथाएं सम्बद्ध हैं। रञ्जन का बीमार पड़ना जिसमें डाक्टर ललित का आना जो मालती से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध है। विनायक का शर्मा जी के पत्र संजीवन से लेखक की दृष्टि से सम्बन्धित होना और शर्मा जी की ओर से निराश मालती का उसकी ओर आकर्षित होना तथा इसलिए विनायक को अपने भतीजे का ट्यूशन दिलाना। विपिन शर्मा के नेत्रत्व में काम करने वाला

कार्यकर्ता है जो अपने मन में एक गुब्बार छिपाए हुए है और जिसका परिणाम होता है जीवन के ऐसे गन्दे नाले से निकलने के लिए विष खा लेना आदि आदि। केवल एक कथा को छोड़कर शेष सभी कथाएं ऐसी हैं कि यदि उसे कथा के मध्य से निकाल दिया जाय तो कथा की शृंखला में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। वह एक है बूंदी और ब्रजनाथ बाबू की कथा। यह कथा उपन्यास से इस प्रकार तटस्थ है कि न तो उन दोनों पात्रों का उपन्यास की कथा के लिए कोई उपयोग है और न उस घटना का ही अन्य घटनाओं के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध है। यद्यपि लेखक ने बूंदी के द्वारा यह कहलाकर कि 'तुमने मालती के रुपयों को अपने नाम शेयर खरीद लिए हैं, उसे भी जोड़ने का प्रयास किया है किन्तु वह वस्तुतः असफल ही रहा है। हाँ उपन्यास जिस लक्ष्य को रखकर लिखा गया है कि उसमें सामाजिक जीवन के लगभग सभी पहलुओं का चित्रण कर दिया जाय। उसकी पूर्ति में यह घटना अवश्य सहायक होती है कि समाज में छिपे छिपे किस प्रकार अनाचार हुआ करते हैं, किस प्रकार मनुष्य रुपयों के बल पर अपने कुकृत्यों पर पर्दा डाले रहता है, वेश्याएं किस प्रकार भयङ्कर से भयङ्कर कदम उठा सकती है तथा नारी अपने प्रतिशोध के लिए किस प्रकार और कितनी भयङ्कर हो जाती है।

देशकाल का यथार्थ परिचय देने में वाजपेयी जी अपने इस उपन्यास में पूर्ण सफल हैं। विदेशी शासन को समाप्त करके स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए उठाये गए आन्दोलन का समय था। यह आन्दोलन महात्मा गांधी के नेत्रत्व में हो रहा है बल पकड़ रहा है, और इतनी सफलता प्राप्त कर रहा है कि जनता प्राण पण से उसमें सहयोग देकर उनका समर्थन कर रही है। शर्मा जी के नेत्रत्व में पनपने वाला यह मजदूर आन्दोलन भी उसी की एक शाखा है। प्रत्येक के अन्तर में देशोद्धार, दीनोद्धार और नारीउद्धार की आग भड़क रही है। अपनी व्यक्तिगत सभी समस्याओं को उलझी हुई छोड़कर सभी देश की समस्या को सुलझाने में एकाग्र हैं। शिक्षा का प्रसार बढ़ रहा है। अंग्रेजी शिक्षा अब हमारे अन्दर पर्याप्त स्थान पा चुकी है। न केवल पुरुषों में ही वरन् नारी समाज में भी आधुनिक शिक्षा का

प्रभाव और प्रसार बराबर बढ़ रहा है। नारियाँ अपने अधिकारों की मांग अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर कर रही है। समाज में क्या क्या बुराइयाँ फैली हुई हैं इसका वास्तविक चित्र प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर हो रहा है। मालती अपना सब कुछ किसी के लिए समर्पित करने के लिए प्रस्तुत रहती है। उसके ऊपर उसका स्वयं का अधिकार है अन्य किसी का नहीं। समाज में इतनी तेजी से कार्य करती है कि थोड़े ही दिनों में ख्याति प्राप्त कर लेती है किन्तु उसके अन्तर में जो आग धधक रही है उसकी शान्ति का कोई उपाय न होने के कारण उसमें स्थिरता नही आ ती और इसीलिए उसे चैन कहाँ है। रेणु एक गृहस्थ नारी है, सुयोग्य पत्नी है और वात्सल्य-मयी माँ है। किन्तु मालती के व्यवहार ने उसके अन्तर में एक तूफान उठा दिया है जिसने उसकी घर की शान्ति को भंगकर दिया है। किन्तु रेणु एक समझदार नारी है। वह मनोवैज्ञान का ज्ञान काफी रखती है। वह अपने को इस योग्य बनाती है कि शर्मा जी का ध्यान उसे छोड़कर कहीं अन्य ओर न जाने पावे। शेष नारी पात्र भी पर्याप्त स्वाभाविक हैं। मालती की दोनों भाभियों का इतना अधिक परिचय नितान्त अनावश्यक तो नहीं है किन्तु आवश्यकता से अधिक अवश्य है। बूंदी में एक प्रताड़ित नारी का प्रतिशोध और एक वेश्या की सभी कूट नीतियाँ मिल जाती है।

वाजपेयी जी के इस उपन्यास की शैली बड़ी ही रोचक तथा गम्भीरता लिए हुए है। उपन्यास के प्रत्येक अङ्क में वर्णित घटना के अनुसार एक भूमिका के रूप में उसका मर्म कह दिया गया है जिससे दो बातें हो जाती है। एक तो अनुकूल वातावरण की सृष्टि हो जाती है जिससे घटना प्रवाह. में पाठक को प्रवेश करने के लिए अपने मानसिक स्तर को उसी के उपयुक्त बनाना होता है। दूसरी बात यह है कि लेखक को कथा के अतिरिक्त भी सीधे रूप में अपने विचार पाठकों तक पहुँचाने में सुविधा हुई है। साथ ही लेखक को बहुत कुछ कहने के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र मिल गया है। इस प्रकार लेखक ने अपने भावों को व्यक्त कर अपने उद्देश्य की पूर्ति की है।

उपन्यास के सभी पात्र अपनी अपनी जगह पर अपनी अपनी परिस्थिति

के अनुसार उपयुक्त हैं उनकी गति विधि भी उसी के अनुकूल है। उनका मानसिक धरातल भी उनकी अपनी अपनी स्थिति और परिस्थिति के ही अनुकूल है। लेखक ने उन सभी पात्रों को ठीक और उचित चित्रित कर उपन्यास को एक उच्चता प्रदान करने का लेखक ने सफल प्रयत्न किया है। शर्माजी एक उत्तरदायी व्यक्ति हैं। सम्पूर्ण शहर की राजनीति उन्हीं पर आधारित हैं। यदि वे अपने कर्त्तव्य से दूर हट जाते तो सब कुछ गड़बड़ हो गया होता किन्तु इन्हें जितना कर्त्तव्यनिष्ठा होना चाहिए उससे भी कहीं अधिक हैं। इसीलिये वे सब कुछ बहुत अच्छी प्रकार संभाल लेते हैं। एक ओर वे सर्व त्यागी देश सेवी नेता हैं। किन्तु दूसरी ओर वे गृहस्थी भी हैं। एक ओर उनका कर्त्तव्य अपनी पत्नी और बच्चे के लिए भी हैं किन्तु दूसरी ओर उनके अन्तर के किसी कोने में मालती के लिये भी स्थान हैं। घर बाहर सभी जगह के उत्तरदायित्व उन पर हैं किन्तु सबको सफलता से निभाते हैं। वे आदर्श हैं। दूसरी ओर विनायक है। वह अपने स्थान पर हैं अवश्य किन्तु उसका व्यक्तित्व बड़ा लचर पचर सा है। वह तीन विषयों में एम ए० होते हुये भी अपने व्यक्तित्व से कहीं भी प्रभावित नहीं कर पाते। विपिन एक कर्मठ देश सेवी हैं। अपने अन्तर में आग छिपाए है। किन्तु अपना कर्त्तव्य बराबर पालन करता चला जा रहा है। डाक्टर साहब का नाम केवल मालती के चरित्र पर कुछ प्रकाश डालने के लिए ही आया है। ब्रजनाथ अपने ढङ्ग का पात्र है किन्तु उसमें लेखक ने भी काफी स्वाभाविकता को लाने का प्रयत्न किया है। नारी पात्र में मालती रेणु दो ही हमें अधिक प्रभावित कर पाती हैं। मालती अभिजात्य वर्ग की सुशिक्षिता नारी है। यौवन का अल्हड़पन है। बन्धन युक्त वैवाहिक जीवन से दूर मालती है। उन्मुक्त बिहार में ही उसका विश्वास है किन्तु उसका व्यक्तित्व है प्रभावशाली। उसके व्याख्यानों में एक जादू है वाणी में एक संगीत की सी मधुरता है। बातों में चापल्य और गम्भीरता है। समाज सेवा का भाव है।

उपन्यास का प्रारम्भ भी बड़े सुन्दर रूप में हुआ है। लेखक समस्या को सामने रखने के लिए स्वयं ही शका और प्रश्न उठाता है। प्रश्न कितना उपयुक्त और गम्भीर है "मनुष्य आदर्श के लिए लड़ रहा है। लड़ते-लड़ते

उसे कितने युग बीते। किन्तु उसकी लड़ाई का अन्त नहीं है। क्या इसलिए कि वह उसे छू नहीं पाता?—या इसलिए कि आदर्श एक कल्पना है—स्वप्न?" इस प्रकार उपन्यास की शैली बड़ी ही रोचक है। छोटे-छोटे अंकों में वस्तु के छोटे-छोटे भाग कर उसे बड़े सतुलन के साथ विभाजित किया है। भाव कहीं भी उलझे नहीं हैं। बहुत स्पष्ट और संक्षिप्त किन्तु अन्तर की वारी जिस क्रम से व्यक्त की गई है वह बड़ी ही सुन्दर है।

सम्पूर्ण उपन्यास इस प्रकार से ढाला गया है कि प्रत्येक पात्र का अन्तर द्वन्द्व से पूर्ण है। जो जितना उलझा है उसके अन्तर में उतना बड़ा तूफान उठ रहा है। प्रत्येक पात्र इसका शिकार है। क्या शर्माजी, क्या रेणु क्या भालू जी, क्या विपिन, क्या डाक्टर साहब सभी अपने अन्तर में दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष को देखने में व्यस्त हैं। यहाँ तक कि विपिन के अन्तर का द्वन्द्व तो इतना तीव्र हो जाता है कि वह उसे सहन न कर आत्मघात करने को वाध्य हो जाता है। शर्मा जी के अन्तर का द्वन्द्व निम्न पंक्तियों में किस प्रकार व्यक्त हो रहा है—

"शर्माजी को मालती याद आती न हो, यह बात नहीं है।······ एक स्मृति है जो हृदय से टलती नहीं हैं। एक लकीर है जो हृदय पटल पर खिंच कर रह गई है। एक सरिता है, जो बह रही है। एक सागर है जो लहराया करता है।

"किन्तु हृदय के भीतर, इसके ऊपर एक आदर्श भी है। वे सोचते हैं कि यह सब तो व्यक्ति से सम्बद्ध है। यह तो मोह है, एक प्रलोभन है, एक मरीचिका, एक छलना। इसमें कोई तत्व नहीं हैं।

"असल चीज यह है कि शरीर का खेल मेरे जीवन और मेरे आदर्श से टकराएगा और में उसे सहन कर लूँगा। ऐसा कैसे हो सकता है। मुझे जो कुछ होना है; हो जाय; किन्तु मैं अपने आदर्श को कैसे त्याग सकता हूँ। मैं वासना को अपने ऊपर आक्रमण करते हुए कैसे देख सकता हूँ! मैं रेणु के साथ बंधा हुआ हूँ। उसके अधिकारों का अपहरण मुझसे कैसे हो सकता है। मैं ऐसा नहीं कर सकता!

"शर्मा जी के अन्दर एक द्वन्द्व और है। वह है नैतिकता की रक्षा के

मानते हैं कि यदि मनुष्य समाज की नैतिक भावनाओं की उपेक्षा करेगा तो वह अपना घर और कुटुम्ब ही नहीं, अपने समस्त समाज को विषक्त कर के समस्त मानवता की हत्या कर डालेगा। मनुष्य जीवन वह पशु जीवन को अपना लेगा।"

मालती के अन्तर का द्वन्द्व भी बड़ा ही तीव्र है। लेखक ने स्वयं ही कहा है—"मालती परस्पर विरोधी विचारों में पड़ गई। भीतर और बाहर का क्षण-क्षण का द्वन्द्व उसकी मुद्रा पर आए बिना न रह सका।"

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने नए नए उपमानों के प्रयोग कर अपनी मौलिक उद्भावनाओं से परिचय कराया है। जैसे—"सिगार मशीन की तरह से जो जवान चलती है" कह कर जवान के लिए कैंची जैसे पुराने उपमान को हटा कर नया उपमान प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार और भी—

"यह सुनकर शर्माजी को आश्चर्य हुआ; किन्तु उस आश्चर्य में एक विचित्र प्रकार की मधुरता थी। उन्हें अपूर्व प्रसन्नता हुई, कुछ उस तरह की; जैसी समुद्र के किनारे पर पहुँच जाने पर हो।—आशंका भी हुई; जैसी परीक्षा दे देने के पश्चात् हुआ करती है। वे चल रहे हैं, किन्तु प्रतीत हो रहा है, आज इस गति में थोड़ा परिवर्तन है।"

उपन्यास की भाषा बड़ी ही उपयुक्त और सरल है। उसमें नित्य की बोलचाल की भाषा का रूप होने से स्वाभाविकता की रक्षा सर्वत्र बनी रही है। जैसे 'चाय चक्रय', 'घुस फुसाहट' आदि शब्द ऐसे ही हैं। भाषा में वह शक्ति है कि जो मर्म तक अपना प्रभाव पहुँचा सके—"प्रश्न के अन्दर एक चोट है।" "दाँतों में कहीं से एक त्रण दबाकर उसे खुटकती और फुरकती हुई बोली" दोनों हाथों को परस्पर गुंफित कर के उसे ऐसे ढङ्ग से अँगड़ाई ली कि एक दम से जैसे दसों अँगुलियाँ चटाचट बोल उठीं। बात को सूत्र रूप में तथा कहावत के रूप में कहने की बड़ी कुशलता है—"आदर्श का पथ ही काँटों से भरा रहता है"; "हृदय दान के क्षेत्र में मनुष्य जितना मुखर और स्पष्ट होता है; जीवन में वह उतना ही निश्चित स्वाभिमानी और कष्ट सहिष्णु भी होता है"; संघर्ष प्रेम की गली है·······जो कसा नहीं गया, उसकी कीमत क्या ?" संघर्ष व्यक्तियों में नहीं वास्तव में

आदर्श और सिद्धान्तों में होता है।" "त्याग प्राप्ति का हेतु है" 'क्रान्ति का ही अपना एक नाम इतिहास है' भाषा पात्रों के अनुकूल है। पात्र का जैसा स्तर है उसी स्तर की भाषा है, एक मुसलमान द्वारा भाषा का कितना स्वाभाविक रूप आया है—

"आपतो—मेरा ख्याल है—अच्छा सा उनका नाम है—परदयेविमेन किशोर (प्रद्युम्नकिशोर) लेट रायवहादुर साहब की डाक्टर हैं न ? जी हाँ, वही तो··· वही तो··· मैं सोच रहा था मेरे फादर उनके यहाँ मुहर्रिर हो गए थे।····जी हाँ। एक आध बार मैं आपकी कोठी पर गया था। मगर क्या ? आपकी तकरीर क्या हुई, गोया सल्तनते वर्तानिया के लिये आपने एक नयी जहमत वरपा करदी। मेरा अपना ख्याल तो यह है कि पिछले दस साल के अन्दर ऐसी पुरजोश तकरीर हुई ही नहीं। हजार हजार मुवारिकवाद।"

भाषा में चलते हुए अँग्रेजी के शब्दों का बहिष्कार नहीं दिया गया है। उन्हें बराबर वही स्थान मिला है जो बोल चाल में रोजमर्रा मिलता रहता है।

उपन्यास के प्रत्येक पात्र के कथोपकथन में एक गान है। एक आवश्यक उपयोगिता है और एक प्रकार का रस है। कहीं भी ऐसे लम्बे कथोपकथन नहीं हुए हैं जहाँ पर कि अस्वाभाविकता की गंध आने आने वरन् वे पात्रों के चरित्र को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हैं। बड़े ही सुन्दर रूप से बड़े ही थोड़े में हास्य का भी पुट रखा है। शर्मा जी के मुंशी जी की मुरलीधर क्लर्क से जो बातें हुई हैं उसमें लेखक ने बड़ा ही कमाल दिखाया है—

"पास ही मुरलीधर नामक एक क्लर्क बैठे थे। उनकी ओर देखकर धीरे से कहने लगे—देखा आपने मुरलीधर बाबू ? पच्चीस पच्चीस रुपये एडवाँस और कटती तीन रुपये माहवार।

फिर भी तवियत नहीं भरी तो बोले—"कुरसी जरा इधर खिसका लो" और साथ ही अपने दाँए बाँए देखने लगे कि कोई सुन तो नहीं रहा है। जब इतमीनान हो गया कि बात कही जा सकती है, तो मुरली बाबू के आने और टेविल पर कुहनी टेक कर उनके झुकते ही कहने लगे—फोरमैन के सामने ही मुझसे पूछ रहे थे—कितना रुपया नकद इस समय सेफ मे

होगा ? पूछो नौकर के सामने इस तरह का सवाल भी कोई करता है। मुरली बाबू ने भी समर्थन में सिर हिलाते हुए कह दिया—बड़े तजरबे की बात आपने कही है। आपकी क्या बात है।

"बात सुनो-बात सुनो" कहते हुए इधर उधर निगाह फैलाकर मुन्शी जी फिर बोले—"ये बातें तुमको बहुत गुप्त रूप से बता रहा हूँ। इनको गाँठ में बाँध लो। बहुत काम देंगी।.......और सुनो।....मान लो, फोरमैन को जरूरत ही थी तो पच्चीस रुपये उसने मांगे थे, आप पन्द्रह दिला देते। अरे माँगने को वह सारी सल्तनत माँग सकता है?

'सल्तनत' शब्द के उच्चारण के साथ उठाई हुई पैंसिल टेबिल पर दे मारते हैं।

मुरली बाबू का सिर हिल रहा है। वे समर्थन कर रहे हैं—सो तो है ही। माँगने को तो........।

"बात सुनो-बात सुनो" कहते हुए झुककर कान के पास मुँह ले जाकर फिर मुन्शी जी बोले....मांगने को तो मैं माँग सकता हूँ—'तुम अपनी बीबी मेरे साथ कर दोगे ? बोलो, मैं पूछता हूं, तुम अपनी (कुछ और जोर से) मेरे साथ कर दोगे ?

दफ्तर के सभी बाबू लोग मुन्शी की तरफ देख कर रह जाते हैं। कोई खाँसता है कोई मुसकराता है और कोई पड़ोसी कानाफूंसी करने लगता है। परन्तु मुन्शी जी अकड़कर बैठ जाते हैं और दूसरी ओर देखते हैं।

मुरली अब तक समर्थन कर रहा था, पर बुड्ढे की इस बात को सुनकर जान पड़ता है; उसको भी उमंग आ गई है। स्वर को अस्वाभाविक रूप में बदल कर पैर छूते हुए वह बोला—मैं किसी से कहूँगा नहीं, पर इतना जरूर बता दीजिए कि आप आजकल कौनसा टानिक खारहे हैं ? बस वही मैं भी आप से थोड़ा लेलूँगा। अधिक नहीं तो कमीशन तो आपको मिल जायगा।

× × × ×

एक साथ आवाजें आती हैं—मुंशी जी क्या बात है।........हर दसवें महीने अण्डा पक जाता होगा। जी, आप समेत।........और मुंशी जी

बिगड़ कर कह उठते हैं—सब लोग अपना अपना काम देखो। फोर मैन रुपए के लिए सामने खड़ा है। मुझे फुरसत नहीं है। जाइए मुरली बाबू, मैंने फिजूल में इतना वक्त खराब किया।"

उपर्युक्त इस कथोपकथन में कितनी स्वाभाविकता, कितनी मधुरता कैसा हास्य, कैसी मीठी चुटकी तथा मनोवैज्ञानिक पकड़ कितनी मार्के की है। मनोवैज्ञानिक चित्रण तो उपन्यास में सर्वत्र पाया जाता है जिसके कारण उपन्यास बहुत ही उच्च कोटि का बन पड़ा है।

वातावरण उपस्थित करने में भी वाजपेयी जी ने बड़ा कौशल दिखाया है। प्रत्येक स्थिति और घटना के लिए वे पहले उचित और उपयुक्त वातावरण उपस्थित करते हैं—"अब बूँदा बाँदी बन्द हो गई है। झिल्ली अलबत्ता गा रही है। पिछवाड़े की झाड़ी में दमकते हुए जुगनू, बीच बीच में अपने में महान' मेंढ़कों के स्वर और लपकती हुई बिजली और रात का सन्नाटा; सब मिलकर एक भयानक दृश्य उपस्थित कर देते हैं।"

शब्द चित्र उपस्थित करने में वाजपेजीजी बड़े दक्ष हैं। इस उपन्यास में भी उन्होंने बड़े ही मार्के के शब्द चित्र दिए हैं—शर्मा जी का शब्द चित्र देखिए—गिरधारी; अवस्था चालीस के लगभग। बदन एक हरा, वर्ण गेहुँआ। लम्बी नाक पर सुनहले फ्रेम के चश्मे का ब्रिज। खादी का कुरता पहने हैं। पैरों में आमतौर पर चप्पल रहता है; कभी कभी लाल महाराष्ट्री जूता; जिसकी ऐड़ी मुड़ी हुई। पैदल जरा तेज चलते हैं। कामके समय मजाक से चिढ़ते हैं। हाथ में छाता छड़ी कुछ भी नहीं रखते। सिर प्रायः नंगा रहता है। बालों का एक गुच्छा कभी यानी भौंह पर आ जाता है।"

मुद्राराक्षस—(भारतेन्दु)

प्रश्न १—नाटककार भारतेन्दुजी की मूल्यांकन करते हुए उनके कृतित्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अपने नाटकों और प्रहसनों में भारतेन्दु ने प्राचीन नाट्यकला

के सिद्धान्तों को पूर्ण रूपेण नहीं अपनाया है। कथा और कथावस्तु की दृष्टि से उनकी रचनाओं में कोई प्रख्यात आख्यान नहीं है। प्राचीन काल में जीवन का लक्ष्य, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति था। अतएव साहित्य में भी उसी आदर्शानुसार चरित्र चित्रण किया जाता था। परन्तु भारतेन्दु युग की भावना बदल चुकी थी। नाटक का उद्देश्य "अधिकारी" के फलागम को अवस्था पर लाना नहीं रह गया था। उनके अनुसार नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते थे यथा—शृंगार, हास्य, कौतुक, समाज संस्कार और देश वत्सलता। शृंगार और हास्य जगत में प्रसिद्ध हैं। कौतुक द्वारा लोगों के चित्त विनोदार्थ किसी मंच विशेष द्वारा कर्त्तव्य कर्म है—यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति निवारण अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन आदि। देश वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों व देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और यह प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं।"

भारतेन्दु के उपर्युक्त शब्द स्वयं उनके नाटकों की मौलिकता और नवीनता के प्रति संकेत करते हैं। युग परिवर्तन के साथ-साथ उन्होंने नाटक रचना में भी परिवर्तन उचित समझा। भारतेन्दु ने 'नाटक" नामक एक छोटी सी पुस्तिका में अपने मत को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय राजनीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन आलोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है।" उन्होंने अपने नाटकों में उक्त मत का पूर्ण पालन किया। उनका विचार था कि नाट्यकला कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रों के प्रति विशेष दृष्टि रखनी उचित है। इसी कारण उन्होंने पात्रों का संग्रह वास्तविक जीवन के अनेक स्तरों से कर नाटकों में मौलिकता का समावेश किया। अलौकिकता का बहिष्कार भी किया। उनके नाटकों में सत्यवादी प्रजावत्सल हरिश्चन्द्र भी हैं और अन्धेर नगरी के ज्ञान हीन राजा भी; उनमें त्यागी, वीर, प्रेमी, सुन्दर भी हैं और पापात्मा मीर अब्दुर शरीफखाँ सूर भी हैं। उनमें मंत्री वैद्य,

पण्डित, काजी, मुल्ला, शिफारिसी, व्यापारी, पंडे, लुच्चे, गुण्डे, कुंजड़े आदि भी हैं और राजनीतिक कर्मचारी भी हैं। इन सब पात्रों का चरित्र प्रत्येक पात्र के अनुकूल, उपदेशप्रद और यथार्थ है। अपने समकालीन फारसी नाटकों के लिए उनका यह प्रयास एक सफल चुनौती था।

भारतेन्दु प्रमुख रूप से कवि थे। इसी कारण उनके नाटकों में कवित्व का अंश अधिक है। "लोगों का मत है कि उनकी श्रेष्ठ कविताएँ उनके नाटकों में हैं। अपने नाटकों में इन सुन्दर गीतों का समावेश कर उन्होंने एक अद्भुत वस्तु नाटक साहित्य को दी। ये गीत केवल काव्य ही नहीं है वरन् चरित्र चित्रण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वैसे तो मानव हृदय के उद्गारों की अभिव्यंजना सदा से ही कविता में होती आई है परन्तु किसी विशेष परिस्थिति के अनुकूल एक निश्चित पृष्ठभूमि में जब इनका समावेश होता है तो इनका प्रभाव दुगना हो जाता है। 'भारत दुर्दशा' और 'नीलदेवी' के गीत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन गीतों का एक ऐतिहासिक महत्व भी है। उस समय पारसी कम्पनियों के नाटकों में जो रुचिहीन संगीत का प्रदर्शन होता था उसे रोकने और जनता की रुचि को सुसंस्कृत करने में इन गीतों ने बड़ा काम किया।

नाट्यकला की दृष्टि से देखा जाय तो भारतेन्दु में हमें ऐसे कुशल नाटककार के दर्शन नहीं होते, जो अपने बाद काफी समय तक साहित्यिक क्षेत्र को प्रभावित करता रहे। वे केवल नाटकों के जन्मदाता हैं। उन्होंने केवल प्रारम्भ कर दिया था। अधिकांश उत्कृष्ट नाटक तो बाद में लिखे गए। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह आरम्भ पुष्ट और सुन्दर हुआ। आधुनिक और नवीन के सन्धि स्थल पर खड़े होकर जहाँ उन्होंने मतिराम और देव के से सवैये लिखे, वहाँ देशभक्ति और उपदेशों से पूर्ण कविता भी की जिसकी भाषा खड़ी बोली है। नाटकों में वे समय और अन्य साहित्यों, जैसे बंगला और अङ्गरेजी, को देखते हुए भी संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार ही अपना प्रत्येक पग रखना चाहते थे। अपने को प्राचीन से बिल्कुल पृथक कर, बिल्कुल नवीन ढङ्ग से नाटक लिखना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। रुचि और समय की भी उपेक्षा असम्भव

थी। इसलिए उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। अङ्क, गर्भाङ्क, विष्कम्भक इत्यादि को बदल कर उन्होंने अङ्क और दृश्य की परम्परा चलाई। किन्तु सूत्रधार, नान्दी तथा पात्रों का वर्गीकरण संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार ही किया। आधुनिक युग के अनुरूप चरित्र चित्रण एवं मानव भावनाओं की विविध स्थितियों का अध्ययन वे नहीं दे पाए।

संक्षेप में भारतेन्दु ने प्राचीन परिपाटी का विश्लेषण कर, उसमें से देशकाल के उपयोगी उपकरणों को लेकर तत्कालीन प्रभावों के साथ उनका अपूर्व समन्वय करके आवश्यक नाटक साहित्य की सृष्टि की। इसके द्वारा प्राचीनता की रक्षा भी हो गई और भविष्य के लिए पथ प्रदर्शन भी हो गया। उनकी नाट्य साहित्य के लिए यही मौलिक और नवीन देन रही। इसी कारण हिंदी साहित्य के एक युग का नामकरण उन्हीं के नाम पर हुआ। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में; "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का वास्तविक महत्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग पर ले जाने में हैं। शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिन्दी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण समर्थ नहीं हुए थे, भारतेन्दु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इसमें उनके उच्च पद का पता लगता है।"

प्रश्न ३—सिद्ध कीजिए कि 'मुद्राराक्षस' नाटक में संस्कृत नाट्यशास्त्र के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं।

उत्तर—'मुद्राराक्षस' प्रमुखतया एक राजनीतिक नाटक है। इसमें आरम्भ से अन्त तक तत्कालीन प्रचलित कूटनीति के दर्शन होते हैं। इसका आधार ऐतिहासिक है परन्तु इसमें ऐतिहासिक आधार लेते हुए भी नाटककार ने संस्कृत नाट्य शास्त्र के लक्षणों का पूर्ण निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। संस्कृत नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटक के प्रधान तत्व वस्तु नायक तथा रस हैं। कथावस्तु काल्पनिक, पौराणिक या ऐतिहासिक कैसी भी हो सकती है। नाटक के आरम्भ में पूर्वरङ्ग होता है जिसमें सर्वप्रथम नान्दी पाठ होता है, फिर सूत्रधार भूमिका में नाटक और नाटककार का परिचय देता है। प्रस्तावना के उपरांत नाटक प्रारम्भ होता जाता है। कथा-

वस्तु को–प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम में विभाजित किया जाता है। आधिकारिक और प्रासंगिक दो प्रकार की कथाएँ साथ साथ चलती हैं। आरम्भ और प्रयत्न की अवस्थाओं तक आधिकारिक कथा की दो अर्थ प्रकृतियाँ बीज और बिन्दु रहते हैं। तत्पश्चात् प्रकरी और पताका के रूप में प्रासंगिक कथा का समावेश होता है। सम्पूर्ण नाटक को दो भागों में बांट देते हैं—दृश्य और सूच्य। दृश्य में रङ्गमंच पर अभिनय दिखाया जाता है तथा सूच्य में उन घटनाओं की सूचना दी जाती है, जो दिखाई नहीं जातीं। यह सूचना विष्कम्भक, अकांस्य, प्रवेशक, अङ्कावतार और चूलिका द्वारा दी जाती है। इन्हें अर्थोपक्षेपक भी कहते हैं। अन्त में भरत वाक्य होता है। सभी नाटक सुखान्त होते हैं।

मुद्राराक्षस का आधार ऐतिहासिक है, यद्यपि उसमें कल्पना का भी मिश्रण है। पात्रों में केवल चाणक्य, चन्द्रगुप्त और राक्षस ही ऐतिहासिक हैं। घटनाएँ लगभग सभी काल्पनिक हैं। यह राजनीतिक दाँवपेच का एक चमत्कारिक प्रयास है। आरम्भ में प्रस्तावना है। 'चन्द्र बिम्ब पूरण भए'' श्लेषात्मक वाक्य द्वारा सूत्रधार नाटक एवं नाटककार का परिचय देता है। चाणक्य के प्रवेश से नाटक का प्रारम्भ होता है। कथावस्तु का केन्द्रबिन्दु राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार करना है। राक्षस नन्द के विनाश से दुखी होकर पर्वतेश्वर के पुत्र मलयकेतु का सहारा लेकर चन्द्रगुप्त को मरवाने का प्रयत्न करता है। इधर चाणक्य राक्षस के प्रयत्नों को विफल करने, उसे पकड़ने तथा उसके द्वारा मंत्रित्व स्वीकार कराने का जाल रचता है। दोनों के साधन गुप्तचर ही हैं। प्रथम अङ्क में ही चाणक्य को राक्षस की अंगुलि मुद्रा प्राप्त हो जाती है। उसे पाकर वह कहता है कि अब तो राक्षस हमारे हाथ आ गया। यही कथानक का 'बीज' है। प्रस्तावना के पश्चात् यहाँ तक की कथा 'आरम्भ' की अवस्था है। बीज और आरम्भ को ''मुख'' नामक सन्धि जोड़ती है। मुद्रा के पाने पर चाणक्य शिष्य को कलम और दावात लाने को कहते हैं। साथ ही कहते कि क्या लिखूँ ? इस लेख से राक्षस को जीतना है। फिर शिष्य को लेकर शकटदास से लिखने को कहते हैं। यही छोटा प्रसंग आगे और पीछे

के प्रसंगों को जोड़ने वाला "मुखसन्धि" है।

बीज के पश्चात् नायक के प्रयत्न में कथावस्तु का विकास होता है। इसका नाम बिन्दु है। पर्वतेश्वर के आभूषण ब्राह्मणों को दिलाना, शकटदास से पत्र लिखाना, सिद्धार्थक का शकटदास को लेकर भागना और अन्त में चाणक्य का यह कथन है कि सबका मार्ग मङ्गलमय हो, 'बिन्दु' है और सारे क्रिया कलाप 'प्रयत्न' अवस्था के हैं। विरोधगुप्त नाम का सँपेरा रंगमंच पर राक्षस की नीतियों का उद्घाटन करता है। यही 'प्रतिमुख सन्धि' है जो प्रयत्न और प्राप्त्याशा के बीच की कड़ी है। प्रतिमुख से ही प्रतिद्वन्द्वी नायक के क्रिया कलापों के साथ प्रासंगिक कथा 'पताका' का श्री गणेश हो जाता है। मलयकेतु की कथा यहाँ से प्रारम्भ होकर अन्त तक चलती है। मलयकेतु एवं राक्षस की मैत्री होती है। भागुरायण मलयकेतु के हृदय में राक्षस के प्रति शङ्का उत्पन्न कर देता है और अन्त में इसी के कारण राक्षस को असफलता मिलती है। कौमुदी महोत्सव के अवसर पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त का विरोध हो जाता है और चाणक्य अस्त्र फेंककर चला जाता है। इसे देखकर कुछ क्षण के लिए दर्शक समझता है कि राक्षस अपनी नीति में सफल हो रहा है पर जब भागुरायण के द्वारा सिखाए जाने पर बाहर से राक्षस के वचनों को सुनकर अविश्वास प्रकट कर देता है तो दर्शक को नायक के विजय की आशा हो जाती है। यही प्राप्त्याशा' है। इसके पश्चात् मलयकेतु ज्योतिषी को बुलाकर मुहूर्त्त पूछता है। राक्षस को अपशकुन की आशङ्का होती है। यह 'गर्भ सन्धि' है।

यहीं क्षपणक जीवसिद्ध की एक छोटी सी कथा और आ मिलती है। जीवसिद्ध के कारण मलयकेतु राक्षस का विरोध कर सकता है। वह राक्षस के सहायक चित्रवर्मा आदि को मरवा डालता है। राक्षस हताश हो जाता है। यही 'नियताप्ति' है। जीवसिद्ध की कथा 'प्रहरी' है। सिद्धार्थक और सुसिद्धार्थक का वार्तालाप चाणक्य की नीति का उद्घाटन करते हुए पीछे की कथा को आगे से जोड़ता है—यही 'विमर्श सन्धि' है। अन्त में राक्षस सब प्रकार से विवश होकर चन्दनदास की रक्षा के निमित्त मन्त्रिपद

स्वीकार कर लेता है। मन्त्रिपद ग्रहण की स्वीकृति ही नाटक का कार्य है और अन्तिम कथाभाग फलगम है। कार्य के पश्चात् चाणक्य मलयकेतु को उसके पिता का राज्य दिलवाता है और चन्दनदास को नगर का सेठ घोषित करता है। यह सब 'निर्वहण सन्धि' हैं।

सबके अन्त में नाटक का 'सुखान्त' राक्षस के आशीर्वाद के रूप में भरत वाक्य से होता है । नाटक के बीच में विष्कम्भक और प्रवेषक के भी प्रयोग हैं। नाटक के रंगमंच पर एक बूंद भी रक्तपात नहीं होता। सम्पूर्ण नाटक में रसात्मकता रहती है। सामाजिकों (दर्शकों) में आरम्भ से ही चाणक्य के प्रति सहानुभूति हो जाती है। चाणक्य की विजयों और राक्षस की हारों में सामाजिक को हर्ष होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मुद्राराक्षस' में संस्कृत नाट्यशास्त्र के तत्वों का पूर्ण पालन हुआ है।

प्रश्न ४—मन्त्री राक्षस का चरित्र चित्रण करते हुए उन त्रुटियों को दिखाइए जिनके कारण राक्षस असफल हुआ। चाणक्य से उसके चरित्र की तुलना कीजिए।

उत्तर—'मुद्राराक्षस' में विचक्षण राजनीतिज्ञ चाणक्य, अपनी कूटनीति द्वारा राक्षस को पराजित कर अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल होना है। फलागम की दृष्टि से तो चन्द्रगुप्त इस नाटक का नायक माना जाता है, परंतु यदि वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाय तो राक्षस ही इस नाटक का नायक प्रतीत होता है। सम्पूर्ण कथावस्तु उसी को लेकर चलती है। चाणक्य प्रारम्भ से अन्त तक यही प्रयत्न करता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर ले। राक्षस अपनी स्वामिभक्ति में अटल रहता है और चन्द्रगुप्त का विरोध करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण नाटक में बल, बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इसी कारण कथावस्तु इतनी जटिल हो गई है। कोमल भावों के लिए स्थान न होने के कारण शृंगार का नितान्त अभाव है।

नाटक में प्रदर्शित इस राजनीति के अनुसार ही राक्षस के चरित्र का अङ्कन किया गया है। राक्षस एक स्वामिभक्त, आदर्शवादी और दृढ़निश्चयी व्यक्ति है। नन्द के नाश के पश्चात् भी वह चन्द्रगुप्त का समर्थक नहीं हो सका। वह सदैव चन्द्रगुप्प को पदच्युत करने के प्रयत्न में रहता है। चाणक्य

का प्रलोभन, भय, आतङ्क उसे अपने कर्तव्य पथ से विचलित करने में पहले असफल रहा है। यह राक्षस के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। कठोरता के सामने, विपत्ति की बाढ़ में वह उग्र हो उठता है। शक्ति उसे झुका नहीं पाती, किन्तु विनम्रता के सम्मुख वह एक भोले बालक के समान झुक जाता है। बुद्धिमत्ता में वह चाणक्य द्वारा प्रशंसित है। यद्यपि कूटनीति में वह चाणक्य के सम्मुख एक बच्चा है। हृदय की निश्छलता के कारण कूटनीति में वह असफल रहता है। मित्र के लिए सर्वस्व निछावर कर देना उसका सबसे महान गुण है। चाणक्य राक्षस की इसी निर्मलता एवं निर्बलता पर चोट कर उसे पराजित कर देता है।

चाणक्य और राक्षस के चरित्रों में बहुत अन्तर है। दोनों ही षड्यन्त्रकारी हैं और साथ ही निस्वार्थी भी। चाणक्य ने जो कुछ भी किया सब चन्द्रगुप्त की भलाई के ही लिए किया। अन्त में सफल होने पर उसने मन्त्रिपद स्वयं न ग्रहण कर राक्षस को दे दिया। इधर राक्षस भी अपने गत स्वामिवंश का बदला लेने का प्राणपण से प्रयत्न करता है। वह चन्द्रगुप्त को हटाकर किसी अन्य को राजा बनाना चाहता है। इसमें उसका अपना व्यक्तिगत कोई स्वार्थ नहीं था। इस निस्वार्थता तक चाणक्य और राक्षस एक समान हैं पर इससे परे उनके चरित्रों में महान् अन्तर है। चाणक्य दूरदर्शी, दृढ़प्रतिज्ञ और कूटनीति में पारंगत थे। देश में होने वाली प्रत्येक घटना पर उनकी तीव्र दृष्टि थी। उन्हें अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था। उनकी मेधाशक्ति एवं स्मृति अद्वितीय थी। इसी कारण उन्हें सफलता मिली। उन्होंने शत्रु के षड्यन्त्रों से स्वय लाभ उठाकर उन्हें ही पराजित किया। इनमें मनुष्यों के पहचानने की अपूर्व शक्ति थी। इसके विपरीत राक्षस ने अन्त तक अपने ही विश्वस्त मनुष्यों से धोखा खाया। राक्षस को मानव मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं था। कोई भी व्यक्ति प्रतिपक्षी की बुराई कर उसका विश्वासपात्र बन जाता था। शत्रु के यहाँ से भाग आने को राक्षस एक अत्यन्त उत्तम प्रमाण मानता था। एक बार उसे इसमें शङ्का भी हुई। पंचम अङ्क में वह सोचता है—"चन्द्रगुप्त की ओर से मनुष्य हमारी सेना में भर्ती हो रहे हैं। इससे हमारा मन शुद्ध नहीं है। कुछ समय

स्वयं ही इस विषय पर विचार कर इस निश्चय पर पहुँचता है कि—"वा! जो लोग चन्द्रगुप्त से उदास हो गए हैं वही इधर मिले है, मैं व्यर्थ सोच करता हूँ।" परन्तु अन्त में जब चाणक्य का भेदिया सिद्धार्थक, शटकदास की चिट्ठी लेकर तथा पर्वतक के आभूषण पहन कर जब स्वयं को पकड़ा देता है तब राक्षस को चाणक्य के सम्पूर्ण कुकृयों का पता चलता है। परिणामस्वरूप मलयकेतु राक्षस का विरोधी हो जाता है। यह सब इसी कारण हुआ था कि भोले भाले राक्षस ने प्रत्येक चापलूस व्यक्ति पर विश्वास कर लिया और कूटनीति में पारङ्गत न होने के कारण चाणक्य की कूटनीतिक चालों को समझने में असमर्थ रहा।

राक्षस वीर योद्धा था, पर राजनीति के कुटिल मार्गों में उसकी गति नहीं थी। इसी कारण उससे अनेक भयङ्कर भूलें हुईं। द्वितीय अङ्क में वह अपने भेदिये विराधगुप्त को देख कर अचानक उसका नाम लेकर पुकार उठा, फिर उस बात को उड़ाने की चेष्टा में दूसरी भूल कर बैठा अर्थात् प्रियम्बदक से कहा कि "सर्पों से जी बहलाता हूं, यद्यपि उसके पहले ही कह चुका था कि 'साँप देखनेको जी नहीं चाहता!' और उसे इसलिए बुलाया था कि 'वह सुकवि है, मैं भी इसकी कविता सुनना चाहता हूँ।' राक्षस ने इसी प्रकार की अन्य अनेक भूलें की जिससे उसकी गुप्त अभिसन्धि शत्रु पर प्रकट होती गई। कारण यह है कि राक्षस का स्वभाव मृदुल और उदार होने के कारण वह प्रत्येक पर विश्वास कर लेता था।

घटनाओं के वर्णन में यह विशेषता है कि वे सर्वत्र चाणक्य की योजनाओं के अनुसार ही घटती हैं। चाणक्य घटनाओं का अनुशासन उसी प्रकार करता है जैसे कठपुतली वाला अपनी पुतलियों पर। इस अवस्था में या तो हम चाणक्य की बहुज्ञता और दूरदर्शिता का परिचय पाते हैं अथवा नाटककार पर अस्वाभाविकता का दोष लगा सकते हैं। कभी कभी अनुकूल घटनाएँ ठीक समय पर घटित होती देखी गई हैं परन्तु सर्वत्र एवं सदैव नहीं। इस नाटक में सर्वत्र चाणक्य की योजनानुसार घटनाओं को घटाकर नाटककार ने राक्षस को पराजित कराया है जो पक्षपात सा प्रतीत होता है। राक्षस कूटनीति में निपुण न होते हुये भी राजनीति के दांवपेच भली प्रकार

जानता है। वह षड्यन्त्रों के रचने में अत्यन्त निपुण है। इसकी विभिन्न षड्यन्त्रों की योजनाओं से उनकी बुद्धिमता के दर्शन होते हैं परन्तु सरल हृदय का होने के कारण उसने गुप्तचरों से सदैव धोखा ही खाया। राक्षस भावुक एवं स्नेही मित्र है। शकटदास के एक रक्षक सिद्धार्थक को देखकर पहले तो वह शङ्का करता है परन्तु फिर भावुकता के आवेश में उस पर विश्वास कर लेता है। चाणक्य राक्षस की इस शुद्धता को जानता था इसी कारण उसने चन्दनदास वाला प्रसंग रचकर उसे वश में कर लिया।

इसके अतिरिक्त राक्षस भाग्यवादी है। वह अपनी सम्पूर्ण असफलता का भार अपने दुर्भाग्य पर डालकर शान्त हो जाता है। वह अस्थिर बुद्धि का है। इसी कारण षड्यन्त्रों की रूपरेखा तो अच्छी बना लेता है परन्तु उन्हें कार्य रूप में नहीं परिणत कर पाता। उसके चरित्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह आगे बढ़ना तो जानता है पर विघ्न आने पर पीछे हटना नहीं जानता। चाणक्य में यह गुण है। राक्षस सफलता न मिलने पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। मलयकेतु के दोषारोपण के समय चुप रहकर दैव को पुकारने लगता है। अन्त में व्याकुल होकर सोचता है कि मैं युद्ध अथवा चन्दनदास को बचाऊँ। उसके हृदय की शुद्धता और सज्जनता ने ही उसे सब प्रकार से नीचा दिखाया।

प्रश्न ५—नाटकत्व की दृष्टि से मुद्राराक्षस और चन्द्रगुप्त की तुलना करते हुए दोनों की चरित्र चित्रण सम्बन्धी विशेषताओं का संक्षेप में निर्देश कीजिए।

उत्तर—नाटकत्व की दृष्टि से किसी नाटक की विवेचना करने में कई बातों का ध्यान रखा जाता है। साधारण रूप से नाटकों में निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिए—नाटक की कथावस्तु अधिक लम्बी न हो। एक बैठक में पूर्ण अभिनय हो जाना चाहिए। कथा का आधार सामाजिक ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक कैसा भी हो पर उसमें मानव जीवन का चित्रण होना चाहिए। उसमें प्रसाद गुण का होना प्रमुख है। साथ ही मनोरंजन एवं सङ्गीत भी आवश्यक है। कथोपकथन संक्षिप्त एवं सरल हों। चरित्र चित्रण सजीव और माँसल होना चाहिए जो दर्शकों में रसकी

अनुभूति उत्पन्न कर सके। बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व नाटक को रोचक बनाते हैं।

इस विशेषता के आधार पर मुद्राराक्षस और चन्द्रगुप्त पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दोनों नाटकों की कथावस्तु बहुत लम्बी है। यथावत् रूप में इन नाटकों का अभिनय अत्यन्त कष्ट साध्य है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के केवल २६ दृश्यों के अभिनय में एक बार ६ घन्टे लगे थे। इस लिए इन नाटकों को अभिनय योग्य बनाने के लिए बहुत काट छाँट करनी पड़ती है। मुद्राराक्षस की कथावस्तु गढ़ी हुई है परन्तु चन्द्रगुप्त की अत्यन्त शिथिल है। तृतीय अङ्क तक तो घटनाएँ आँशिक रूप से एक दूसरे से संगठित प्रतीत होती है परन्तु चतुर्थ अङ्क तो पृथक रूप से एक अलग नाटक सा प्रतीत होता है। इसके कारण संकलन त्रय का भी विधान नहीं हो पाया है। सम्पूर्ण कथा लगभग २५ वर्षों का समय ले लेती है। घटनाएँ भी मगध, तक्षशिला और राजपूताने के गण तन्त्रों में घटतीं हैं। इसके विपरीत मुद्राराक्षस की कथा संगठित है। उसमें सङ्कलन त्रय का पूर्ण निर्वाह किया गया है। सम्पूर्ण कथा केवल एक वर्ष में समाप्त हो जाती है। कथा में कहीं भी शिथिलता नहीं परन्तु दर्शक निरन्तर उन्हीं कूटनीतिक दाँव पेचों को देखकर ऊब उठता है।

दोनों नाटकों का आधार ऐतिहासिक हैं परन्तु दोनों में ही कल्पना का प्राचुर्य है। चन्द्रगुप्त, नन्द, राक्षस, पर्वतक या पर्वतेश्वर ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हैं। मुद्राराक्षस में साधारण मानव जीवन का चित्रण नहीं मिलता। सर्वत्र राजकीय प्रधान पुरुषों एवं उनके गुप्तचरों के घात प्रतिघात हैं। चन्द्रगुप्त में भी प्रधानता तत्कालीन राजनीति की ही है। सामाजिक चित्रण कम है। परन्तु वहाँ चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, मालविका आदि जीवन के साधारण स्तर से ही ऊपर उठते हैं। उनमें मानवोचित सम्पूर्ण गुण एव दुर्बलताएँ विद्यमान हैं। वह प्रेम करते हैं, उनमें प्रेम कलह भी होती है परन्तु कर्त्तव्य के सम्मुख वह प्रेम को भूल जाते हैं। अलका कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही जनता में देश प्रेम का अलख जगाती फिरती है। इसमें उस समय की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति का सुन्दर परिचय मिलता है

परन्तु चन्द्रगुप्त का कथानक प्राचीन सामन्त कालीन युग का चित्र है, जिसे देखकर हम चमत्कृत हो उठते हैं।

भाषा दोनों की भिन्न है। मुद्राराक्षस अनुवाद है। उसकी भाषा अत्यन्त सरल एवं प्रसाद गुण पूर्ण हैं। इसमें सर्वत्र भारतेन्दु की 'सर्वप्रिय', साधारण, सरल भाषा का प्रयोग मिलता है। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त की भाषा प्रसाद जी की 'सर्वप्रसिद्ध' भाषा है जो जनसाधारण की भाषा नहीं हैं। उसमें प्रसाद गुण का अभाव है। साधारण काव्यमय संस्कृत गर्भित भाषा और अतीत कालीन सम्बोधन उसे जन साधारण के लिए दुरूह बना देते हैं।

मनोरंजन नाटक का एक प्रधान उद्देश्य माना गया है। इसके लिए उसमें संगीत, नृत्य एव हास्य का समावेश होना अत्यावश्यक माना गया है। इस दृष्टि से ये दोनों नाटक पूर्ण रूपेण दर्शक का मनोरंजन नहीं कर पाते। लम्बे-लम्बे स्वगत कथन उबा देने वाले हैं। चन्द्रगुप्त में संगीत की सुन्दर छटा दीख पड़ती है। उसमें अनेक प्राणदायक एवं माधुर्य से ओत-प्रोत गीत हैं जो दर्शकों में सिहरन उत्पन्न कर देते हैं। विलासी नन्द के दरवार में नृत्य का भी आयोजन मिलता है। मुद्राराक्षस में इनका सर्वथा अभाव है। हास्य के दर्शन तो दोनों में से किसी में भी नहीं होते। इसी प्रकार विशाल कथानक भी दर्शकों को उलझन में डाल देता है। वह बेचारे नाटक के समझने में ही दिमागी कसरत करते रह जाते हैं तब तक दृश्य बदल जाता है।

कथोपकथन दोनों में ही अत्यन्त लम्बे हैं। लम्बे स्वगत कथन एवं वार्तालाप दर्शकों को उबा देते हैं। वार्तालाप में नीरसता है। मुद्राराक्षस के कथोपकथन में कूटनीति की बातों के अतिरिक्त कहीं भी शालीनता के दर्शन नहीं होते। चन्द्रगुप्त के वार्तालाप अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर एवं सरस हैं। दृश्य परिवर्तन मुद्राराक्षस में तो बिल्कुल ही नहीं हैं। केवल बड़े बड़े अङ्क हैं। हास्य, विनोद या प्रणय का अभाव है। स्त्रीपात्र कोई भी नहीं है। चन्द्रगुप्त में पर्याप्त दृश्य परिवर्तन हैं। युद्ध की भयङ्करता के साथ ही साथ प्रणय की कथा भी चलती रहती है। विभिन्न प्रेम प्रसङ्ग

नाटक की राजनीतिक नीरसता को आंशिक रूप में दूर कर देते हैं। स्त्री पात्र अत्यन्त सरस एवं प्राण दायक है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से मुद्राराक्षस में चाणक्य और राक्षस को छोड़ कर कोई महत्वपूर्ण चरित्र ही नहीं है। अन्य सभी पात्र निर्जीव हैं। उनमें मनोवैज्ञानिक भावनाओं के दर्शन नहीं होते। निर्जीव शतरज की गोटों के समान चाणक्य एव राक्षस के इंगितों पर नाचते रहते हैं। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण हैं। उनमें सर्वत्र आन्तरिक संघर्ष है केवल राजनीति की नीरसता मात्र ही नहीं है। चाणक्य भी प्रेम करता है। अन्य सभी प्रेमी हैं ही। सभी पात्रों में मनोवैज्ञानिक विकास है। मुद्राराक्षस की भाँति परिस्थिति की विवशता हृदय परिवर्तन नहीं करती, प्रभाव आन्तरिक प्रेरणा को नहीं मारते।

संघर्ष की दृष्टि से मुद्राराक्षस में केवल वाह्य संघर्ष है। चन्द्रगुप्त में वाह्य संघर्ष के साथ ही साथ सुदर अन्तर्द्वन्द्व भी है। मुद्राराक्षस का राक्षस वाह्य सङ्घर्ष मे पराजित होकर मन्त्रित्व स्वीकार कर लेता है। उसमे कहीं भी अन्तर्द्वन्द्व नहीं मिलता। परन्तु चन्द्रगुप्त के चाणक्य तक मे प्रेम एवं विराग में द्वन्द्व चलता है। कर्त्तव्य और प्रेम का द्वन्द्व प्रत्येक पात्र में हैं। इस प्रकार चरित्र चित्रण की दृष्टि से चन्द्रगुप्त एक सफल नाटक है परन्तु नाटकत्व की दृष्टि से दोनों मे गम्भीर त्रुटियाँ हैं।

प्रश्न ६—मौर्यकालीन सामाजिक और राजनीतिक चित्रण सफलता के साथ 'मुद्राराक्षस' में हुआ है या प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में? विवेचन कीजिए।

उत्तर—'मुद्राराक्षस' में केवल एक वर्ष के समय में घटने वाली घटनाओं का अङ्कन है। उसमें केवल कूटनीति एवं षडयन्त्रों की प्रधानता है। उन षडयन्त्रों के भंवर में पड़कर नाटककार तत्कालीन सामाजिक स्थिति को छू भी नहीं सका है। केवल राजनीतिक स्थिति की थोड़ी बहुत झलक उसमें मिल जाती है—वह भी शुद्ध राजनीति न होकर कूटनीति मात्र हैं। कारण यह है कि इस नाटक का मूल लेखक विशाखदत्त एक राजवंशी पुरुष था। उसे राजदरबार में घटने वाल कूटनीतिक घटनाओं का अच्छा अनुभव था।

ऐसे व्यक्ति प्राय: वास्तविक समाज से अनभिज्ञ ही रहते हैं। इसी कारण वह समाज को न छू सका। उस समय के राजाओं में राज्य संचालन की योग्यता न थी। मंत्री राज्य का सर्वेसर्वा होता था। नन्द, पर्वतक, मलयकेतु, एवं उसके साथी पाँचों राजाओं का कोई व्यक्तित्व न था। वह निर्जीव पुतले मात्र हैं।

इसके विपरीत प्रसाद जी ने 'चन्द्रगुप्त' में तीन प्रधान घटनाओं का उल्लेख किया है। प्रथम सिकन्दर का भारत पर आक्रमण एवम् प्रत्यागमन दूसरा चन्द्रगुप्त द्वारा संचालित मगध का विद्रोह एवं उसका राज्यारोहण, तीसरा सील्यूकस एवं चन्द्रगुप्त का युद्ध तथा चन्द्रगुप्त द्वारा सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का पाणिग्रहण। इन सम्पूर्ण घटनाओं के घटने में लगभग २५ वर्ष का समय व्यतीत हो जाता है। इतने लम्बे विवरण के लिए प्रसाद जैसा आदर्शवादी कलाकार तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक स्थिति की उपेक्षा नहीं कर सकता था। उनका वास्तविक उद्देश्य ही भारतीय इतिहास के इस स्वर्णकाल का संघर्षमय एव शक्ति पूर्ण चित्रण कर जनता मे आत्मगौरव की भावना जाग्रत करता था।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर थी। राजा वीर होते हुए भी व्यक्तिगत वैमनस्य में पड़ सामूहिक समस्याओं की उपेक्षा कर रहे थे। वे मध्यस्थ रूप मे विदेशियोंकाभी आमन्त्रित कर रहे थे। आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की मसी और लेखनी प्रस्तुत हो रही थी। उत्तरापथ के खण्ड राज्य पारस्परिक द्वेष से जर्जर थे। दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे थे और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही थी।" यह थी उस समय की वास्तविक राजनीतिक स्थिति। देश मे छोटे छोटे राज्य थे। आम्भीक और पर्वतेश्वर में शत्रुता थी। देश द्रोही आम्भीक ने सिकन्दर को बुलाया। मगध में विलासी नन्द का शासक था। पश्चिम में मालवों और क्षुद्रकों को गणराज्य थे। सर्वत्र प्रान्तीयता का बोलबाला था। एक राष्ट्र की भावना का पूर्ण अभाव था। गान्धार कुमारी अलका "तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है" के उत्तर में सिंहरण से यह सुनकर, "मेरा देश मालव ही

नहीं गान्धार भी है" आश्चर्य से पूछ बैठती है, "क्या कहते हो ?" इससे स्पष्ट है कि संकुचित और हानिकारिणी भावना उस समय समस्त उत्तर भारत में फैल रही थी एक सर्वमान्य और शक्तिशाली सम्राट के अभाव में देश की राष्ट्रीयता छिन्न भिन्न होकर प्रान्तीयता में बट गई थी। इसी शक्ति विभाजन के कारण सिकन्दर पंजाब में विजयी हुआ।

विद्यार्थी गुरुकुलों में अध्ययन रत रहते हुए भी तत्कालीन राजनीति से पूर्ण परिचित रहते थे। सिंहरण और चन्द्रगुप्त जैसे नए स्नातक भी इसके प्रति सजग थे। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त राजनीति की सामयिक समस्यायें विद्यार्थियों के प्रिय विषय थे। इसके लिए राजनीति और अर्थ-शास्त्र के शिक्षक उन्हें सदा उत्साहित करते रहते थे। राष्ट्रचेतना पूर्ण रूप में थी जिसका परिणाम देश मे एकछत्र राष्ट्र की स्थापना मे हुआ।

चन्द्रगुप्त में राजनीतिक षडयंत्रो के प्राधान्य के साथ चाणक्य की कूट-नीति के भी दर्शन हो जाते है। परन्तु सम्पूर्ण राजकीय परिवर्तन रणक्षेत्र में ही हुए हैं। वहाँ पद-पद पर युद्ध के घात प्रतिघात होते रहते हैं। षडयन्त्र भी राजनीतिक ही हैं। अलका यवनों के नकशे ले जाती है। सिन्धु पर चुपचाप पुल बनाया जाता है। गुप्तरीति से चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका और कल्याणी युद्ध मे सक्रिय भाग लेते हैं। इसमे मानवीय गुणों का यथेष्ट प्रकाशन हुआ है। इस नाटक की कूटनीति मुद्राराक्षस के समान सबल नहीं है। मुद्राराक्षस मे चाणक्य की विजय का श्रेय उसकी कूटनीति को ही है। उसमें युद्ध नहीं होता। सामाजिक चित्रण भी कहीं नहीं मिलता। उसकी कूटनीति राजा, मन्त्री एव गुप्तचरों तक ही सीमित है। स्त्री पात्रों के अभाव के कारण कोमल मानवीय वृत्तियों के कहीं भी दर्शन नहीं होते। सर्वत्र राजनीति की नीरस जटिलता विद्यमान है। क्षत्रियकाल की प्रधानता होते हुए भी चन्द्रगुप्त, मलयकेतु, पर्वतक आदि क्षत्रित्व से रहित वीर हैं। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त के सभी पात्र वीर, उत्साही, बुद्धि-मान एवं शौर्य से पूर्ण है। चाणक्य, दाण्ड्यायन, कात्यायन आदि आदर्श ब्राह्मण हैं। वे पूर्ण तपस्वी है। राजाओं के प्रभाव को स्वीकार नहीं करते। चन्द्रगुप्त, सिंहरण, पर्वतेश्वर आदर्श वीर हैं। स्त्रीपात्र भी सुयोग्य, वीराङ्गना

हैं। अलका और कल्याणी राष्ट्र भावना की सजीव मूर्ति हैं। कुल, शील तथा धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण है। उनमें भावुकता है। वे रणक्षेत्र में भी जाती हैं। राजनीतिक व्यवहार में उनके विचार मान्य है।

राजवर्ग आमोद प्रिय है। नन्द-सभा में नर्तकियों का प्रिय स्थान है। राजाओं में आखेट एवं मद्यपान प्रचलित है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त नाटक द्वारा प्रसाद जी ने तत्कालीन भारत का सजीव चित्र उपस्थित किया है, जिसे देखकर हम गौरवान्वित हो उठते हैं। इस युग का उन्मुक्त एवं निश्छल प्रेम, सौहार्द पूर्ण सहयोग अद्वितीय है। मुद्राराक्षस में इनका कहीं नाम भी नहीं। शृङ्गार का नितान्त अभाव होने से वह अत्यन्त नीरस हो गया है।

प्रश्न ७—"जयशंकरप्रसाद की नाट्यकला पूर्ण तथा आदर्शवादी है" विवेचन कीजिए।

उत्तर—हम पिछले प्रश्न में प्रसादकालीन परिस्थितियों का उल्लेख कर चुके है जिनसे प्रेरित होकर उन्होंने अतीत को अपनाया था। भारतीय इतिहास में राजा परीक्षित और जन्मेजय से लेकर हर्षवर्धन तक का काल, भारतीयों के उत्कर्ष का काल माना जाता है। उस काल की एक विशेषता है। जहाँ इस काल में साहित्य, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि का चरम विकास हुआ वहाँ राजनीतिक उथल पुथल भी चरम सीमा पर पहुच चुकी थी। भारत की भारतीयता का विकास इसी काल में हुआ था। सांस्कृतिक एकता का आयोजन भी इसी काल में हुआ। प्रसाद जी का अपना युग भी उसी प्रकार का हलचल का युग था। हिंदू-मुस्लिम प्रश्न उग्र हो उठा था। कला और साहित्य के नवोन्मेष की चिन्ता थी। इन सब के लिए प्रसाद जी ने उस अतीत की ओर देखा। इन सब का समाधान उन्हें उसी काल में मिला। दूसरा कारण प्रसादजी की दार्शनिकता थी। शैवागम के 'आनन्द' की उपासना से उनकी गम्भीरता और शालीनता में वह शक्ति आ गई थी कि संघर्ष का विष पीकर भी वे हंसते-हंसते जीवन का खेल खेल सकें। घबराना उन्होंने नहीं सीखा था। वे संघर्ष को चुनौती देने की शक्ति रखते थे। अतीत में उन्हें यह संघर्ष भी मिला।

प्रसाद जी का विश्वास था कि अखण्ड भारतीयता का साँस्कृतिक पुनरुत्थान प्राचीन भारतीयता के उज्ज्वलतम चित्रों को भारतीयों के सम्मुख रखने से ही सम्भव है। इसलिए राय महोदय के ग्रहण किये हुए मुस्लिम युग को उन्होंने नहीं अपनाया। वे जानते थे कि इस युग में केवल विलास भावुकता और मनोरंजन ही प्रधान है। जीवन की आनन्ददायिनी नैतिकता, विवेक और चिन्तन उसमें नहीं है। ऐसे काल को लेकर वे क्या नवीनता दिखा सकते थे एव किस आदर्श की स्थापना कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने मुस्लिम काल की उपेक्षा कर बौद्धकाल को अपनाया। क्योंकि इसी काल में भारत भारत है। इसी भावना के कारण उनके सम्पूर्ण साहित्य में एक ऐसे महान आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है जो हमें जीवन को समझने एव सफल बनाने की प्रेरणा देता है।

प्रसाद जी में "पात्रों में प्राण फूँक देने वाली प्रतिभा अद्वितीय थी।" उनके गम्भीर व्यक्तित्व की छाप उनके अधिकाँश पात्रो पर है। उनके पात्रों में दुःख एवं सुख का संघर्ष है। उनके दार्शनिक विचार उनके पात्रों में मुखरित हो उठे हैं। उनके गौतम की यह वाणी कोरा उपदेश नहीं है—
"शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कार्य करते रहना चाहिए। दूसरों की ओर उदासीन हो जाना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। "प्रसाद के आदर्श उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव हृदय के लिए ही बने हैं।" इन आदर्शों को घोषित करने वाली देवी मल्लिका स्वय इनका मूर्त्तिमान रूप है। उनका आदर्श इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना करता है। मल्लिका, देवकी, राज्यश्री, देवसेना आदि नारी रूप में इस जगत की देवियाँ हैं। गौतम, वेद-व्यास, स्कन्दगुप्त, प्रेमानन्द, प्रख्यातकीर्त्ति आदि के मनुष्य कलेवर में देवत्व झाँक रहा है।

आदर्शों के लिए प्रसादजी ने पात्रों की ऐतिहासिकता को विकृत नहीं किया है। परन्तु उनमें अक्षरशः ऐतिहासिक सत्य ढूँढ़ना भी निरर्थक है। वहाँ तो उन्होंने इतिहास की पृष्ठभूमि पर पात्रों के व्यक्तित्व में आदर्शों की प्रतिष्ठा और उनके व्यापार का सामंजस्य किया है। इसी से उनके पात्रो के मनुष्यत्व में दैवत्व चमक उठा है। प्रसाद के आदर्श आध्यात्मिक और

आधिभौतिक दोनों प्रकार के हैं। उन्होंने अपने कतिपय आदर्शों के सांचे में पृथक पृथक पात्रों को ढाला है। गौतम, वेदव्यास, दाँड्यायन, प्रख्यातकीर्ति आदि समान भाव से सर्वभूतहित, विश्वप्रेम, करुणा, अहिंसा और विरक्तिपूर्ण भावना के आदर्श व्यवहार एवं उपदेश का प्रचार करते हुए प्रेम, उदारता की अभिव्यक्ति करते रहते हैं। इनके चरित्र विकास में आद्योपाँत विविध प्रकारके आदर्शों के सम्पूर्ण चित्र वर्तमान हैं। यहाँ तक कि भटार्क, विरुद्धक, शान्तिभिक्षु, उत्तंक, सुवासिनी, विशाख आदि विविध प्रमुख पात्र घात—प्रतिघातो द्वारा जीवन में आदर्शों की ओर अग्रसर होते हैं। इसके साथ ही आदर्शों का उत्कर्ष दिखाने के लिए प्रतिपक्ष में अनेक ऐसे निकृष्ट पात्रों की अवतारणा की गई है जो आरम्भ से अन्त तक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते पाए जाते हैं। •प्रपच बुद्धि, कश्यप, विजया, नन्द, शकराज, रामगुप्त, देवगुप्त आदि ऐसे ही पात्र हैं।

प्रसादजी के नारी चरित्र भी उनके आदर्श की जीती-जागती प्रतिमाएं हैं। इन पात्रों में भी पुरुषों के समान श्रेष्ठ चौर निकृष्ट दोनो प्रकार के पात्र है। निकृष्ट नारी पात्रों के दुर्गुण भी कालान्तर में नष्ट हो जाते हैं और वे आदर्श का अनुकरण करने लगती हैं। इनमें प्रेम के अतिरिक्त अन्य उदात्त वृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। अलका राष्ट्रप्रेम की सजीव मूर्त्ति है। देवसेना अपने प्रभावोत्पादक सङ्गीत लहरी से मानवमात्र के हृदय में देवप्रेम जगाती फिरती है।

पात्रों की उपर्युक्त विशेषताओं के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रसादजी ने एक विशेष आदर्श को सम्मुख रखकर इनका चित्रण किया है। वह ससार को दुखमय नहीं मानते। अन्त में सदैव सत्य की विजय होती है। इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग को अपने नाटकों में चित्रित किया है। भारत के पतनकाल का चित्रण कर वह जनता में निराशा का सचार नहीं करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने स्वर्णयुग का चित्रण कर जनता में देशप्रेम एवं नवीन आशा का संचार करने का प्रयत्न किया। इसी से उनके नाटकों में सर्वत्र भारतीय धर्म, संस्कृति एवं गौरव की विजय दिखाई गई है। उनका प्रत्येक

पात्र उनके इस आदर्श क पूर्ण रक्षा करता है। अतः हम कह सकते हैं कि अपने नाटकों में वे पूर्ण आदर्शवादी रहे हैं। यथार्थवाद की वीभत्सता से उन्होंने यथासम्भव अपने साहित्य को बचाने का प्रयत्न किया है।

प्रश्न ८—वस्तुयोजना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से चन्द्रगुप्त नाटक की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

उत्तर—'चन्द्रगुप्त' नाटक की आधिकारिक कथावस्तु है चन्द्रगुप्त द्वारा पंजाब की क्रान्ति में भाग लेने से लेकर अन्त में कार्नेलिया से उसका विवाह तथा राक्षस की मन्त्रि पद पर पुनः प्रतिष्ठा होने तक। प्रासंगिक कथाएं हैं—राक्षस और सुवासिनी की, अलका और सिंहरण की, चन्द्रगुप्त और कल्याणी की, चन्द्रगुप्त और मालविका की, चन्द्रगुप्त कार्नेलिया की, चाणक्य की, पर्वतेश्वर की और शकटार की। इस प्रकार इसमें प्रासंगिक कथाओं की भरमार है। प्रासंगिक कथाओं में सिंहरण और अलका की कहानी, पर्वतेश्वर और कल्याणी की कहानी, चन्द्रगुप्त और कल्याणी की कहानी आधिकारिक कथावस्तु के विकास में कोई सहायता नहीं पहुँचाती। कल्याणी और पर्वतेश्वर की अवतारणा तो चाणक्य की कूटनीति के लिए ही की गई है। चाणक्य ने इनके अतिरिक्त पात्रों में से किसी को मारकर और किसी को अपने कार्य के लिए साधक बनाकर उनकी नाटकगत स्थिति की रक्षा करली है।

इस नाटक की कथावस्तु में पाश्चात्य और भारतीय नाट्य प्रणाली का सम्मिश्रण है। एक ओर इसमें कार्यावस्थाएं, अर्थ प्रकृतियाँ और सन्धियाँ मिलती हैं, दूसरी ओर नान्दी, भरत वाक्य, आदि का बहिष्कार कर अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि की गई है। कार्यावस्थाओं में 'प्रारम्भ' अवस्था वहाँ तक मानी जायगी जहाँ तक चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अपमानित होने की कथा है। पश्चात् चन्द्रगुप्त का अनेक दुखद परिस्थितियों का सामना करने से लेकर अन्त में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का मगध में विप्लव कराके प्रजा का नेतृत्व ग्रहण करना 'प्रयत्न' अवस्था के अन्तर्गत आएगा। चन्द्रगुप्त का शासन हाथ में लेकर यवनों के खिलाफ शक्ति संचय करना 'प्राप्त्याशा' अवस्था होगी। वहाँ से लेकर पर्वतेश्वर. आम्भीक तथा उसकी सैन्य शक्ति.

फल प्राप्ति की बाधाओं को दूर करने की कथा 'नियताप्ति' अवस्था होगी। इससे अन्त तक की घटनाओं में 'फलप्राप्ति' होगी।

'अर्थप्रकृतियों' में 'बीज' प्रथम अङ्क में है जहाँ चन्द्रगुप्त के भावी कार्य व्यापार का बीज बपन होता है। द्वितीय और तृतीय अङ्क में विन्दु है। सिंहरण और पर्वतेश्वर की कथाएं 'पताका' कही जायँगी। फिलिप्स कार्नेलिया, चन्द्रगुप्त मालविका, चन्द्रगुप्त कल्याणी और पर्वतेश्वर और कल्याणी की कथाएं 'प्रकरी' के अन्तर्गत आएँगीं क्योंकि ये नाटक को गति देकर समाप्त हो जाती हैं। आम्भीक और राक्षस का चन्द्रगुप्त का अनुयायी बन जाना 'कार्य' है। अर्थ प्रकृतियों के अतिरिक्त इस नाटक में 'सन्धियाँ' भी हैं। प्रथम अङ्क में भारत को भावी सङ्कट से मुक्ति दिलाने का चन्द्रगुप्त का सङ्कल्प है। वह प्रथम अङ्क के आठवे दृश्य तक चलता है। यहाँ तक आरम्भ अवस्था और बीज अर्थप्रकृति के साथ 'मुख सन्धि' है। इसके उपरान्त सिकन्दर को भारत से लौटने तक की कुछ कथाए चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष में सहायक होती हैं। ये घटनाएं प्रतिमुख सन्धि की हैं। नन्दवंश के उन्मूलन तक का द्वन्द्व गर्भ सन्धि में आएगा। चन्द्रगुप्त के माता पिता के चले जाने, चाणक्य के रूठ जाने और सिंहरण के चाणक्य के साथ चले जाने से चन्द्रगुप्त के अकेले रह जाने तक विमर्श सन्धि है। आम्भीक और राक्षस के आत्म-समर्पण द्वारा सभी बाधाओं के दूर होने में निर्वहण सधि है।

इस प्रकार सस्कृत के नाट्यशास्त्र के दृष्टिकोण से कथावस्तु की योजना पूर्ण है। साथ ही पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वर्जित दृश्यों का भी प्रयोग हुआ है। प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य में युद्ध का दृश्य, षष्ठ दृश्य में मालविका का नौका पर चढ़ कर भागना, सिंहरण के साथ यवन का युद्ध, कल्याणी की आत्म हत्या, पर्वतेश्वर का वध आदि ऐसे ही दृश्य हैं। अङ्कों में विभाजन नहीं है। अङ्क भी चार हैं और पिछला बहुत बड़ा है। यह भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का सम्मिश्रण ही उनकी नवीनता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक अन्य नाटकों से भिन्न प्रकार

का है। इसमें स्त्री और पुरुष पात्रों का समान महत्व है। अन्य नाटकों की भाँति स्त्री ने पुरुष के व्यक्तित्व को दबा नहीं रखा है। परिणाम स्वरूप इन स्त्रियों में काव्यमयता की कमी है। दूसरी बात है नियतिवाद की। अन्य नाटकों की भाँति इन नाटक के पात्र नियतिवादी नहीं हैं। यहाँ नियति चाणक्य के हाथों की कठपुतली बनकर नाचती है।

चन्द्रगुप्त नाटक से प्रसाद ने दो बड़े काम किए हैं एक तो चन्द्रगुप्त को सजग, सबल और सजीव व्यक्तित्व वाला नायक बना दिया है और दूसरे चाणक्य को सुवासिनी की ओर आकर्षित कराके, चाणक्य के हृदय की कोमलता एवं सहृदयता का परिचय करा दिया है। नाटक में प्रधानता चाणक्य की ही है पर चन्द्रगुप्त भी युद्ध में, प्रेम में, संघर्ष में, शान्ति में वीरोचित भाग लेता है। उसमें भारतीय सम्राट के सभी गुण हैं। प्रेमिकाओं में कार्नेलिया, मालविका और कल्याणी में मालविका का चरित्र सबसे सुन्दर है। उसका प्रणय मूक होते हुये भी त्याग से मुखरित है। सिंहरण और अलका देश भक्ति के प्रतीक हैं। आम्भीक के रूप में एक देश द्रोही का चित्र है। नन्द विलासी और कर्त्तव्य हीन राजा है। संघर्ष काल की राजनीति की पूरी पूरी झलक पात्रों के चरित्रों में मिल जाती है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्रो में अन्तर्द्वन्द्वकी सृष्टि करके उन्हें आधुनिक योरोपिय ढंग के नाटकीय पात्र बनाने में प्रसाद जी को पूर्ण सफलता मिली है। प्रत्येक पात्र अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से सफलताके साथ अङ्कित किया गया है। इस प्रकार चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रसाद जी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल हुए हैं।

प्रश्न ६—चन्द्रगुप्त तथा चाणक्यके चरित्रों की तुलना करते हुए बताइए कि नाटक का नायक किसे मानना चाहिए ?

उत्तर—प्राचीन काल में नायक उसी को माना जाता था जो साहित्य शास्त्रियों द्वारा निर्धारित किए हुये लक्षणों से पूर्ण होता था। परन्तु आज कल कुछ आलोचक सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली पात्र को नायक मानने के पक्ष में हैं। शास्त्रीय दृष्टि से उस पात्र को नायक माना जाता है जिसका आदि से अन्त तक प्रमुख कार्य से घनिष्ट सम्बन्ध बना रहता है तथा अन्तिम

फल का भोक्ता है दूसरा पक्ष यह मानता है कि जो व्यक्ति कथानक का मुख्य केन्द्र बिन्दु होकर सामने आता है तथा जिसका प्रभाव या आंतक आरम्भ से अन्त तक सभी पात्रों या घटनाओं पर छाया रहता है वही नायक माना जाना चाहिए ।

प्रसाद जी के नाटकों में 'अजातशत्रु' एवम् 'चन्द्रगुप्त' के नायकों के विषय में काफी मतभेद है । 'अजातशत्रु' में फल का भोक्ता होने के कारण कुछ अजातशत्रु को नायक मानते हैं तथा कुछ आलोचक गौतम बुद्ध के व्यापक प्रभाव के कारण उन्हें ही नायक मानते हैं । महाभारत के नायक के विषय में भी यही समस्या उठ सकती है । वहाँ हम कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन में से किसे नायक माने । कृष्ण सूत्रधार है, अर्जुन सर्व श्रेष्ठ योद्धा हैं पर फल के भोक्ता युधिष्ठिर हैं । बिल्कुल यही प्रश्न 'चन्द्रगुप्त' के नायक के विषय में उठता है । नाटक का सूत्रधार चाणक्य है पर फल का भोक्ता चन्द्रगुप्त है ।

चाणक्य आरम्भ से अन्त तक सभी पात्रो एवम् घटनाओं पर छाया रहता है । वह किसी प्रकार विदेशियों को पराजित कर भारत को एक शक्तिशाली सम्राट के शासन में देखना चाहता है । इसके लिए वह षडयन्त्र और कूटनीति के बल से चन्द्रगुप्त को मगध का शासक बना देता है । राक्षस आदि के अन्तर्विद्रोह को कठोरता से शाँत करता है । पर्वतेश्वर की हत्या कराकर पञ्चनद प्रदेश को मगध में मिला लेता है । आम्भीक को लाकर सिंहरण को गाधार का शासक नियुक्त करता है । इस प्रकार गांधार से लेकर मगध पर्यन्त समस्त उत्तरापथ को एक शासन व्यवस्था में लाकर तथा चंद्रगुप्त द्वारा सिल्यूकस को पराजित कराके दीर्घकाल तक देश को वाह्य आक्रमणों से मुक्त कर देता है ।

चाणक्य का जीवन अत्यंत प्रभावोत्पादक और प्रतिष्ठा सम्पन्न है । उसके व्यक्तित्व की सराहना उसके प्रतिपक्षी भी करते हैं । राक्षस, आम्भीक आदि उसके त्याग को देखकर उसके अनुगामी बन जाते हैं । सिल्यूकस, सिकन्दर, कार्नेलिया सब मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा करते हैं । इसी कारण सम्पूर्ण कथा की गति, निर्माण, निरीक्षण, सम्पादन और अन्त उसकी

इच्छानुसार होता है ! परन्तु समस्त नाटक में कुछ स्थलों को छोड़ कर सभी स्थलों पर चाणक्य स्वयं परदे के पीछे रह कर, चन्द्रगुप्त को आगे कर कार्य करता रहता है । सम्पूर्ण कार्य चंद्रगुप्त द्वारा ही सम्पन्न होते हैं । कथानक के इस प्रकार संगठन द्वारा नाटककार चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाना चाहता है । नाटक के नामकरण से ही वह चन्द्रगुप्त को ही नायक मान रहा है । नाटक की ५२ पृष्ठों की वृहद् भूमिका में भी प्रसाद जी ने मौर्यवंश एवम् चन्द्रगुप्त से सम्बन्धित बातों का विस्तृत विवेचन किया है। चाणक्य के विषय में तो इतना ही लिखा है कि, "जहाँ तक ज्ञात होता है चाणक्य वेद धर्मावलम्बी, कूट राजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी थे । उनकी नीति अनोखी थी और उनमें अलौकिक क्षमता थी । नीति शास्त्र के आचार्यों में उनकी गणना है । यह अवश्य कहना होगा कि वह मनुष्य बड़ा प्रभावशाली था, जिसके बुद्धिबल द्वारा प्रशंसित राज्य कार्य क्रम से चन्द्रगुप्त ने भारत का साम्राज्य प्राप्त किया ।" इससे भी यही ध्वनि निकलती है कि प्रसादजी चाणक्य की महानता स्वीकार करते हुए भी चन्द्रगुप्त को ही नायक बनाना चाहते थे। उनके चन्द्रगुप्त में नायकोचित सभी गुण विद्यमान हैं ।

फलागम की दृष्टि से नाटककार का उद्देश्य चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाना है । किस प्रकार वह साधारण स्थिति से उठकर भारत का सम्राट बन जाता है । प्रथम अङ्क में हम उसकी अद्भुत वीरता देखते हैं । वह वीर है । भारत की परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल हैं । अन्य वीर योद्धा तथा चाणक्य जैसे महापुरुष उसकी सहायता करते हैं । प्रथम अङ्क में ही महर्षि दाँड्यायन उसके लिए भविष्य वाणी करते हैं । सब उसके व्यक्तित्व से प्रभावित है । हमें उसके उत्कर्ष की आशा बाँधने लगती है । द्वितीय अङ्क में चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट बन जाता है । चतुर्थ अङ्क में सैल्यूकस से युद्ध और मित्रता होती है तथा सिंहरण उसका आधिपत्य स्वीकार कर लेता है। राक्षस भी उसका मन्त्री बन जाता है और इस प्रकार चन्द्रगुप्त सम्पूर्ण उत्तरा पथ का एक छत्र सम्राट बन जाता है। यहाँ अलकारण :क की नायिका कोर्नलिया से उसका पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होत. सैनिव

इस प्रकार नाटककार ने चन्द्रगुप्त को ही नायक माना है परन्तु चन्द्रगुप्त के चरित्र में पूर्ण विकास न होने के कारण हमारा ध्यान चाणक्य की नीतियों पर केन्द्रित हो जाता है। वही एक व्यक्ति है जो नाटक के सम्पूर्ण चरित्रों एवं घटनाओं को एक दूसरे से बाँधे हुए है। नाटक में उसी की तूती बोलती है। वही नाटक का नायक बन बैठा सा प्रतीत होता है। चाणक्य के इतने विशद एवं प्रभावशाली चरित्र के चित्रण का कारण यही था कि प्रसाद जी चाणक्य सम्बन्धी ऐतिहासिक इतिहास का अपलाप नहीं कर सकते थे। मुद्राराक्षस का चाणक्य तो पूर्णरूपेण सर्वेसर्वा है। उसका चन्द्रगुप्त एक निर्वीर्य और शक्ति रहित कठपुतला है। परन्तु प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त में संकल्प, पुरुषार्थ, उत्साह, पराक्रम, निर्भीकता, कार्य कुशलता तथा सम्यक् व्यावहारिक ज्ञान आदि गुण प्रचुर मात्रा में हैं। इस कारण चाणक्य के सर्वग्रासी व्यक्तित्व के सम्मुख चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व पूर्णरूपेण दब नहीं पाया है। नाटक के प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए यदि चन्द्रगुप्त की शक्ति आवश्यक थी तो चाणक्य की बुद्धि की आवश्यकता उससे भी अधिक थी। चाणक्य को इसी कारण इतनी प्रधानता दी गई है।

मस्तिष्क को यदि शक्ति का सहारा न मिले तो कोरी कल्पना कुछ नहीं कर सकती। चाणक्य का मस्तिष्क चन्द्रगुप्त की शक्ति पाकर ही अपने ध्येय की प्राप्ति में सफल होता है। चाणक्य के त्याग के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त में नायकोचित सभी सात्विक गुण वर्तमान हैं और एक समय चाणक्य और सिंहरण के न रहने पर भी वह हताश नहीं होता। वीरता एव कुशलता पूर्वक युद्ध का संचालन करता है। इस भयानक विपत्ति के अवसर पर ही चन्द्रगुप्त की आत्म निर्भरता एवं दृढ़ आत्म विश्वास की परीक्षा होती है। इस परीक्षा से सिद्ध होता है कि उसमें अपने पैरों पर खड़े होने की पूर्ण शक्ति है और यहीं आकर वह नायक के सम्पूर्ण गुणों का अधिकारी बन जाता है। इस प्रकार हम नाटक में चाणक्य की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी चन्द्रगुप्त को ही नायक मानते हैं।

प्रश्न १ ़्द्रगुप्त का चरित्र विस्तार पूर्वक लिखिए।

उत्तर— त को नायक मानकर चार नाटक लिखे गए हैं—

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, द्विजेन्द्रलाल राय का चन्द्रगुप्त प्रसाद जी का चन्द्रगुप्त एवं सेठ गोविन्ददास का शशिगुप्त। मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त में स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव है। वह चाणक्य की कठपुतली है। राय का चंद्रगुप्त एक वीर योद्धा और शासक है। वहाँ भी चाणक्य प्रधान है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का विकास स्वतन्त्र रूप से तथा नाटक के वास्तविक नायक के रूप में हुआ है। इसमें चाणक्य के चरित्र का भी सविस्तार निदर्शन है किन्तु उससे चन्द्रगुप्त का चरित्र धूमिल नहीं हुआ है। वह केवल "प्रयत्न के फल का भोक्ता कठपुतला मात्र नहीं है, प्रयत्न में अपना क्षत्रिय भाग सुन्दरता के साथ पूरा करने वाला है।"

चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक हैं। उसमें धैर्य, पराक्रम, उदारता, कृतज्ञता आदि सभी वरेण्य गुण विद्यमान हैं। वह निर्भीक, साहसी, रणकुशल और अति परायण है। उसका व्यक्तित्व मनोहर और वीरत्व व्यंजक है। कार्नेलिया के शब्दों में "वह शृंगार और रौद्र का संगम है।" सकल्प, पुरुषार्थ, उत्साह, पराक्रम, कार्य कुशलता के द्वारा वह एक निर्वासित राजकुमार की स्थिति से उठकर भारत का सम्राट बन जाता है। वह शासन और शस्त्र विद्या दोनों में पारंगत है। उसे यवन रण-नीति का भी ज्ञान है। उसके चरित्र में पराक्रम एव साहस के अनेक उदाहरण हैं। वह अकेला ही नन्द के कारावास से, वररुचि और राक्षस की उपस्थिति में चाणक्य को निकाल लाता है। द्वन्द्वयुद्ध में फिलिप्स को हराता है। मालव युद्ध में सिकन्दर को घायल करता है। सैल्यूकस भी उससे पराजित होता है। अन्त में अपने बाहुबल एवं चाणक्य की नीतिज्ञता की सहायता से मगध का सम्राट बन जाता है।

वह स्वावलम्बी है। उसमें आत्म सम्मान की भावना प्रबल है। वह चाणक्य से कहता है—"आर्य! ससार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने केवल यही समझा है कि आत्म सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" इसी कारण पारिवारिक मामलों में चाणक्य के हस्तक्षेप करने पर वह उसका भी विरोध करता है। इसी कारण सिंहरण भी उससे रुष्ट हो जाता है। परन्तु वह धैर्य नहीं खोता। सैनिकों से कहता है—

"सैनिको ! सुन लो आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं । जाओ यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दे दो । कह देना तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण । चन्द्रगुप्त कायर नहीं है ।" इस उक्ति में उसका तीव्र आत्म सम्मान और उत्कट स्वावलम्बन मुखरित हो उठे हैं । मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त में इतना साहस नहीं है । चन्द्रगुप्त कर्त्तव्य परायण और अध्यवसायी है । भूखा प्यासा रहकर भी सदैव अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए कटिबद्ध रहता है । "कर्त्तव्य पूर्ति के लिए, अदृष्ट पर विश्वास रखकर चन्द्रगुप्त मरण से भी भयानक को आलिङ्गन करने को प्रस्तुत है ।" विजय को वह अपना चिर सहचर मानता है । वह निर्भीक और स्पष्टवादी है । सिकन्दर द्वारा उसे अपनी ओर मिलाने के प्रयत्न करने पर कहता है— "मुझे लोभ से पराभूत गान्धार राज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए । में मगध का उद्धार करना चाहता हूँ परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं ।"

वह सच्चा वीर है । विपन्नावस्था में विपक्षी की भी रक्षा करता है । वह कार्नेलिया की फिलिप्स से तथा कल्याणी की चीते से रक्षा करता है । दांड्यायन उसकी अद्भुत तेजस्विता देख, उसके विषय में भारत का भावी सम्राट होने की घोषणा करते हैं । पर्वतेश्वर भी चाणक्य के समक्ष मुक्तकंठ से स्वीकार करता है—"मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य को न कर सका वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया । मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एकछत्र सम्राट होने के उपयुक्त है ।" चन्द्रगुप्त के इन्हीं गुणों से मुग्ध होकर चाणक्य ने भविष्य वाणी की थी—"पौरव ! जिसके लिए कहा गया है, कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा ।"

प्रश्न ११—चाणक्य के चरित्र पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—मुद्राराक्षस का चाणक्य एक विचक्षण राजनीतिज्ञ है जिसमें कूटनीति की प्रधानता है । उसमें केवल बल, बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार हैं । कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है । आरम्भ से अन्त तक चाणक्य छल, षडयन्त्र, हत्या आदि नृशंस एवं जघन्य कार्यों में लिप्त है ।

उसमे सहृदयता, प्रेम, सहानुभूति, कोमलता आदि स्वाभाविक गुणों का सर्वथा अभाव है। परन्तु प्रसाद जी ने अपने चन्द्रगुप्त के चाणक्य में इन सभी उदात्त एवं स्वाभाविक मानवीय गुणो एवं कोमल भावनाओं के दर्शन कराए हैं।

प्रसाद जी का चाणक्य भी सदैव जटिल राजनीतिक गुत्थियों के सुलझाने में व्यस्त रहता है। नन्द द्वारा अपमानिति होने पर वह उसके नाश की प्रतिज्ञा करता है। वह क्रूर और निर्मोही बनने का प्रयत्न करता है। अब न वह किसी से दया मागेगा और न किसी को देगा। उसका मस्तिष्क खूब काम कर रहा है। मालवा में वह सिकन्दर को पराजित कराता है। राक्षस को चालाकी से रोक कर वह मालवा सेना की सहायता लेता है। कल्याणी को भी उसके प्रेम की याद दिला कर रोक लेता है। कुशलता से राक्षस को फोड़ना चाहता है। मगध में षडयन्त्र रचता है, विद्रोह फैलाता है और अन्त में नन्द का समूल नाश कर चन्द्रगुप्त को सम्राट बना देता है। कहाँ पर क्या हो रहा है इसका उसे सदैव ध्यान रहता है। अपनी सफलता के लिए वह भले बुरे का विचार नहीं करता सफलता जैसे उनकी उंगली पर नाचती है। चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे जैसे हों। उसके मस्तिष्क का उसके हृदय पर पूर्ण अधिकार है। यह चाणक्य के चरित्र का एक पक्ष है।

इन जटिल राजनीतिक उलझनो के मध्य उसके हृदय का मधुर एव कोमल भाग यदा कदा दृष्टिगोचर होता है। तक्षशिला से विद्याध्ययन समाप्त कर घर आने पर वह अपनी बाल सहचरी सुवासिनी का स्मरण करता है। उससे वह बाल्यकाल से परिचित है। उसके हृदय में सुवासिनी की स्मृति बारम्बार सजग हो उठती है। कठोर कर्मों के समारम्भ में वह उसे भुलाने का प्रयत्न करता है। परन्तु सुवासिनी के सम्मुख आ जाने पर प्रणय भाव चाणक्य की आँखों से छलक पड़ता है। 'विजन बालुका सिन्धु में सुधा को तरह दौड़ पड़ो थी।" समय ने फिर पलटा खाया। सुवासिनी की उपेक्षा ने उसके हृदय को तोड़ दिया—चन्द्रगुप्त के व्यवहार ने उसे वैरागी बना दिया। उसने सब कुछ छोड़ देने का संकल्प

कर लिया—"चन्द्रगुप्त ! मैं ब्राह्मण। मेरा साम्राज्य करुणा का था। मेरा धर्म प्रेम का था। उस अपनी ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोड़कर कहाँ आ गया। सौन्दर्य के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान पर भय। पतन और कहाँ तक हो सकता है। ले लो मौर्य चन्द्रगुप्त अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा।"

सुवासिनी जो स्वयं अपने को देने आई थी, उसी सुवासिनी को भी छोड़ दिया। "सुवासिनी ! यह स्वप्न टूट गया। इस विजन बालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक ही भ्रूभंग ने उसे लौटा दिया। मैं कङ्गाल हूँ।" उस विरागी की आँखों में आँसू थे। परन्तु अब उसे अपने ब्राह्मणत्व की उपलब्धि में ही अनन्त सुख का सृजन करना था। इस निर्लिप्त एवं सयमी ब्राह्मणत्व की दयनीय स्थिति को देखकर सुवासिनी उसे पुनः अपने प्रणय की याद दिलाती है। परन्तु चाणक्य अपने संयमित हृदय की विफलता को लक्ष्य कर राजनीति और प्रणय के इस क्षेत्र से शीघ्रतिशीघ्र हट जाना चाहता है। "मैं बड़ा विलम्ब कर रहा हूँ, सुवासिनी ! आर्य दाँड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिए मैं पथ भूल गया हूँ। मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है। मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्रगुप्त देखकर, इस मंच से हट जाना है।" इस अत्यन्त धीर एवं विचक्षण राजनीतिज्ञ के इस नवीन परिचय को पाकर हम स्तब्ध रह जाते हैं। कौन जानता था कि इस अद्भुत कूटनीतिज्ञ के प्रशान्त हृदय के एक अज्ञात स्थल में ऐसी कोमल भावनाओं का भी निर्झर प्रवाहित हो रहा होगा। हम केवल उसके बाह्य नृशंस एव क्रूर रूप से ही परिचित थे।

कल्याणी के मरने पर जो अत्यन्त निर्ममता पूर्वक कह सकता है—"चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए क्योंकि महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में पलता है।" वही सुवासिनी के प्रणय का प्रार्थी बनता है और फिर मर्यादा का पालन करता हुआ सुवासिनी एवं साम्राज्य का मंत्रित्व सब सब कुछ विरोधी राक्षस को सौंप स्वयं हट जाता है। सुवासिनी कहती

है—"महापुरुष ! मैं नमस्कार करती हूँ ! विष्णु ! तुम्हारी बहन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है ।" तब सजल नेत्र से उसके सिर पर हाथ फेरता हुआ चाणक्य कहता है—"सुखी रहो ।" प्रथम अङ्क का ब्राह्मण अन्तिम अङ्क के ब्राह्मण में आ जाता है—"मैं जैसे आज निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया वह सब भ्रम था। मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है।" यही चाणक्य का वास्तविक रूप है।

प्रश्न १२—'प्रसाद' के नाटको में नाटकीय तत्व की अपेक्षा कवित्व कला का प्राधान्य है। चन्द्रगुप्त के आधार पर इसका विवेचन कीजिए।

उत्तर प्रसाद जी पहले कवि हैं और बाद मे नाटककार। परन्तु उनके नाटकों की भाषा पूर्णरूप से भावना प्रधान ही नही है। कई स्थानों पर उनके पात्र साधारण भाषा मे भी बातचीत करते हैं। उनके पात्रो की भाषा चरित्रों के अनुकूल ही भिन्नता लिए हुए है। प्रसाद जी की रुचि उनके विषयानुसार है। साथ ही उन पर द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव अधिक है। भावावेश में वे अपनी भाषा मे कल्पना और अलङ्कारों का पुट अधिक दे देते हैं। इसी कारण उनके नाटकों की भाषा अन्य नाटककारों की अपेक्षा अधिक परिष्कृत, भावपूर्ण एवम् संस्कृत हो गई है। चाणक्य भारत की स्थिति से शंकित होकर कहता है—"आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खडराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।" ऐसी भाषा के दर्शन उनके नाटकों में बहुधा होते रहते हैं।

प्रसाद जी को ऐसी ही भाषा की आवश्यकता थी। भारत के उस स्वर्णयुग के चित्रण के लिए कल्पना के रङ्ग से रगी हुई भाषा का प्रयोग आवश्यक था। वह उस स्वर्णिम युग का चित्रण साधारण भाषा मे नहीं कर सकते थे। उनकी अलंकृत काव्यमयी भाषा उस युग के चित्रण मे पूर्ण समर्थ हुई। काव्यमयी भाषा के साथ ही उनके नाटको मे अत्यन्त सुन्दर गीतों का भी समावेश है। सस्कृत के नाटकों मे संगीत का उचित स्थान माना गया है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण वाले आलोचक इसके

विरोधी हैं। उन्होंने इसी कारण प्रसाद जी के नाटकों के गीतों का विरोध किया। परन्तु वास्तव में ये गीत अद्वितीय हैं।

प्रसाद जी के प्रारम्भिक नाटको मे पद्य की अधिकता मिलती है। परन्तु परवर्ती नाटकों मे उन्हो प्रयुक्त गीतों को स्थिति अथवा पात्र की दृष्टि से सर्वथा स्वाभाविक बना दिया है। पद्य का प्रयोग पात्रों ने साधारण बात-चीत या घटना वर्णन के लिए नहीं किया है। उनका उपयोग प्रायः सूक्तियों के रूप में ही है। चन्द्रगुप्त मे गीतों की रचना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। भावो की कोमलता और शब्दों की मधुरता जब ध्वनि की सुकुमारता एवं कल्पना की नवीनता से मिलती है तो गीत सर्वाङ्ग सुन्दर हो उठते हैं। उनकी नाटकीय उपयोगिता भी बढ़ जाती है। प्रसाद जी के गीत पात्रों की भावनाओं आदि से ऐसे घुलमिल गए हैं कि उन्हें स्वतन्त्र गीत नहीं कह सकते। सुवासिनी द्वारा गाए हुए, 'आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा" वाले गीत ने कथा प्रवाह को आगे बढ़ाने में कितना योग दिया है।

चरित्र चित्रण के लिए भी उन्होने गीतो का उपयोग किया है। कार्नेलिया का "अरुण यह मधुमय देश हमारा" वाले गीत से उसका भारत प्रेम टपकता है। अलका और सिंहरण के प्रेम का प्रतीक—

"प्रथम यौवन मदिरा से मस्त, प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।"

गीत अत्यन्त सुन्दर है। लज्जा से भरे हुए यौवन का सजीव चित्र—"तुम कनक किरन के अन्तराल मे" वाले गीत मे खींचा गया है। गीतो की दृष्टि से चन्द्रगुप्त एक अमूल्य कोष है।

यह गीत अपने काव्य सौन्दर्य में अद्वितीय होते हुए भी नाटकीय पार्श्व भूमि का निर्माण करते है। वह स्वतन्त्र गीत के रूप में नहीं हैं। चद्रगुप्त नाटक में कुल तेरह गीत हैं। प्रमुख गायिका सुवासिनी, अलका और मालविका हैं। छः गीत नर्तकियों ने गाए हैं जिनकी स्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त कार्नेलिया, अलका, कल्याणी, और मालविका द्वारा गाए गए गीत विशेष मानसिक स्थिति या भावावेश को प्रकट करते हैं।

एक गीत द्वारा अलका आम्भीक में राष्ट्रीय भावना प्रज्वलित करना चाहती है। इसी प्रकार अन्य गीत भी सार्थक हैं। इस प्रकार प्रसाद जी के नाटकों में काव्य का प्रयोग सहित एवं उत्साह वर्धक है। उससे नाटकीयता में व्याघात नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में हम उसके नाटकों में नाटकीय तत्व की अपेक्षा कवित्व कला का प्राधान्य नहीं पाते।

सिंदूर की होली (लक्ष्मीनारायण मिश्र)

प्रश्न १—लक्ष्मीनारायण मिश्र की रचनाओं का परिचय देते हुए नाटककार की विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—मिश्र जी हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार है। इन्होने वाल्यकाल से ही कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इनके साहित्यिक जीवन को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—१६२३ से १६३५ तक और १६४५ से आज तक। प्रथम भाग में उनकी प्रथम रचना 'अन्तर्जगत' नामक कविताओं का संग्रह है। इसके पश्चात् उन्होने द्विजेन्द्रलालराय और प्रसाद जी के नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में 'सन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' की रचना की। इनमें उनकी नयी शैली का आदर्श है। इनके पश्चात् 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग,' 'सिन्दूर की होली' और 'आधीरात' की रचना हुई। अपनी द्वितीय अवधि में उन्होंने 'गरुड़ध्वज' तथा 'नारद की वीणा' नामक दो नाटक लिखे हैं। 'सेनापति कर्ण' उनका महाकाव्य है जो अभी अप्रकाशित है। अभी उनका एक और नाटक 'वत्सराज' प्रकाशित हुआ है।

मिश्र जी हिन्दी के प्रतिभा सम्पन्न नाटककार हैं। इस क्षेत्र में प्रसाद के उपरान्त उन्हीं का स्थान माना जाता है। उनके साहित्यिक विचार अत्यन्त सात्विक, जीवनस्पर्शी और गम्भीर हैं। वह प्रत्येक बात को बौद्धिक दृष्टिकोण से देखते हैं। बुद्धिवादी कलाकार है। इसी कारण साहित्य में अत्यधिक कल्पना और भावुकता के वे विरोधी हैं। वह साहित्य को

वास्तविक जीवन के पूर्ण सम्पर्क में लाकर उसे अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल बनाना चाहते हैं। अपने बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण ही वे टालस्टाय, रोमॉरोलाँ, अनातोले फ्राँस और बर्नर्डशा से प्रभावित हैं। कलाकारों के चरित्रों में उन्हें 'उन चरित्रों की भलाई-बुराई में, धर्म-अधर्म में मानव हृदय की सहानुभूति स्पष्ट देख पड़ती है।' दूसरे शब्दों में वह साहित्य में यथार्थवाद के उपासक हैं। 'वह साहित्य को वास्तविक जीवन की व्याख्या बनाने के पक्ष में हैं। धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण आस्तिक हैं। हिन्दू धर्म, पुनर्जन्म, कर्मवाद, मोक्ष आदि में उनका पूर्ण विश्वास है। वह धर्म को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते हैं।

बुद्धिवाद की प्रधानता होने के कारण वे अपेक्षाकृत अपने नाटकों में शुष्क हैं। पहले उन पर राय बाबू और शेक्सपियर का प्रभाव था। बाद में संस्कृत नाटकों के अध्ययन से उन्हें ज्ञात हुआ कि इन दोनों की समस्त रचनाएँ कल्पना प्रसूत और भावुकतापूर्ण होने से, जीवन के सत्य से बहुत दूर हैं। प्रथम नाटक 'अशोक' में उन्होंने भी इन्हीं त्रुटियों को अनजान में अपनाया था। परन्तु बाद में प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने जो नाटक लिखे उनमें जीवन के चिरन्तन सत्य को बुद्धिवादी दृष्टिकोण से ही चित्रित किया। अपने इन नाटकों में वह व्यक्ति की समस्या—सेक्स–को लेकर हमारे सामने आए। उनके शब्दों में "व्यक्ति की समाज से टक्कर जिस प्रकार अनेक समस्याओं को जन्म देती है, उसी प्रकार सेक्स समस्या का जन्म भी व्यक्ति की प्रवृत्ति और विवाह की संस्था से ही होता है।" भारतीय समाज में यह समस्या इसी कररण उत्पन्न हुई है। मिश्रजी ने इस समस्या को व्यापक रूप न देकर शिक्षित समाज तक ही सीमित रखा है।

मिश्रजी के नाटकों में सेक्स समस्या के अतिरिक्त गाँधीवाद के प्रभाव से अन्य राजनीतिक तथा सामाजिक समस्यायें भी आईं पर गौण रूप में। इन समस्याओं का मिश्रण स्वाभाविक रूप से नहीं हो पाया है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उनका कृत्रिम रूप से कथानक में समावेश किया गया है। इससे कहीं कहीं नाटक की स्वाभाविकता और रसोत्पत्ति में बाधा पड़ती है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से मिश्रजी के नाटक बहुत सफल हैं। उनके सामाजिक नाटकों के पात्र शिक्षित वर्ग के हैं। उनके पात्र या तो जमींदार, धनवान और प्रोफेसर होते हैं या किसी राजवंश के सदस्य। वे सभी तार्किक, जागरूक, परिस्थिति के ज्ञाता, पुरुषार्थी और क्रियाशील है। उनमें भावुकता का अभाव है। उनकी संख्या भी कम है। वे स्वयं अपने कथन तथा क्रियाओं द्वारा अपने चरित्र का विकास करते हैं। कथोपकथन की दृष्टि से भी उनके नाटक सफल हुए हैं। लम्बे-लम्बे सम्वादों का अभाव है। पात्रों का वार्तालाप सीमित और संक्षिप्त है। उसमें मनोविश्लेषण की शैली मिलती है। उसमे हृदय की सरसता कम, सत्य का तीखापन अधिक रहता है। इसी कारण कथोपकथन प्रायः टूटे वाक्यो में चलता है।

टेकनीक की दृष्टि से मिश्र जी को पूर्ण रूप से सफल नहीं कहा जा सकता। उनकी टेकनीक पर इब्सन का प्रभाव बहुत गहरा है। कहीं-कहीं दृश्य- परिवर्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि दर्शक उस दृश्य का आनन्द नहीं उठा पाते। प्रवेश और प्रस्थानो की अधिक संख्या भी उबा देने वाली है। गीतों का पूर्ण अभाव सा है। स्वगत भाषण तो है ही नहीं। उनके नाटकों में मूक अभिनय अत्यन्त सफल है।

हिन्दी के समस्या-नाटकों में मिश्रजी के समस्या-नाटको का प्रमुख स्थान है। उन सब में एक विचार धारा और एक ही समस्या है—चिरन्तन नारी की। इसके लिए उन्होंने धार्मिक संस्कारों की उपेक्षा की है, भावुकता पर बुद्धिवाद की विजय घोषित की है, व्यक्ति की उन्नति में समाज की उन्नति का स्वप्न देखा है। इसके साथ ही उन्होंने भौतिक प्रेम को नारी की प्रधान समस्या के रूप में बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चित्रित किया है। उनकी नायिकाएं आशादेवी, चम्पा, चन्द्रकला और मनोरमा अपना कोई भाव गोपनीय नहीं रखतीं। उनके भीतर जो इच्छा, द्वेष, प्रेम, वासना, त्याग, समर्पण, विवशता है जिस पर बाह्य आचार और शील का आवरण चढ़ा हुआ है, वह अन्त में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार मिश्र जी पर एक ओर तो भारतीय साहित्य का प्रभाव है और दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य का। उन्होने इन दोनों प्रभावों का सुन्दर समन्वय कर दिया है।

प्रश्न २—'सिन्दूर की होली' समस्या नाटक कहा जाता है। इसकी प्रधान समस्या और उसका समाधान क्या है ?

उत्तर—समस्या नाटक आज के नाटक साहित्य का सबसे सजग रूप है। इन नाटकों में भावुकता और रोमाँस के प्रति प्रतिक्रिया है। इनके लिए, 'रोमांस और भावावेश बहुत पुरानी चीजें हो गई हैं—यह तो जिन्दगी की बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक समस्या का युग है। ये स्वर्ण अतीत का मोह त्याग कर कीचड़-मिट्टी से सने वर्तमान को पकड़ते हैं। इसीलिए इनमें तीखापन एवम् कटु सत्य है। उनका क्षेत्र सीमित है। मूल समस्या सेक्स ही है। शैली मनोविश्लेषण की है। नाट्यशास्त्र के नियमों का पूर्ण उल्लंघन है। आज की विषम समस्याओं के कारण हमारा दृष्टिकोण बौद्धिक और आलोचनात्मक हो गया है। इसी कारण ये समस्या नाटक इतने लोकप्रिय हुए हैं। इस समस्या के दो रूप सामने आते हैं—(१) व्यक्ति की समस्या, जिसमें सैक्स प्रधान है, (२) राजनीतिक समस्या। सिन्दूर की होली में प्रथम समस्या—सैक्स—प्रधान है। दूसरी समस्यायें महत्वपूर्ण होते हुए भी गौण हैं।

सिन्दूर की होली में नारी चेतना का प्रवाह है। विवाह समस्या के साथ-साथ बातें जुड़ी हुई हैं—भावुकता, मान प्रदर्शन, घर की समस्या तथा जीवन विकास का सिद्धान्त। मिश्रजी ने विवाह संस्था का विरोध जीवन विकास को लेकर किया है। इस नाटक की मूल समस्या घर की है। साथ ही व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और नारी आदि समस्यायें भी जुड़ी हुई हैं। मूल रूप से इसकी समस्या सामाजिक है। कहीं-कहीं राजनीतिक समस्या भी आ गई है। राजनीति का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध है क्योंकि हमारा अर्थ विधान दूषित है। शासक नैतिक दृष्टि से पतित हैं। वे अर्थ के पीछे पड़कर अपना उत्तरदायित्व भूल चुके हैं। मुरारीलाल ऐसों का ही प्रतीक है। वह जानता है कि उसने घृणित उपायों द्वारा अपनी स्थिति को ऊपर उठाया है। वह इस जाल से निकलने का प्रयत्न करने में, उसमें और भी कसता चला जाता है। मनोज के पिता की उसने हत्या की। रजनीकान्त की हत्या का उत्तरदायी भी वही है। मुंशी माहिरअली की भी

यही स्थिति है। दोनों ही व्याकुल हैं। परन्तु धनलिप्सा ने उनसे सब कुछ करा लिया है।

इन चरित्रों द्वारा मिश्र जी यह बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि कानून की व्यवस्था स्वयं अव्यवस्थित है। उसमें रिश्वत के लिए काफी स्थान है। मानवता के नैतिक मूल्य का वहाँ कोई मान नहीं। गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित होकर वह जमीदारों, साहूकारों, महाजनों आदि को समाज के लिए घातक समझते हैं। गाँधीवाद 'पूंजी' की पूजा के विरुद्ध है क्योंकि यह विषमता की जननी है। परन्तु समाज के वर्तमान ढाँचे में पूंजी 'शुभ' का शोषण है। इसी कारण समाज में इतनी अशान्ति है। भगवन्तसिंह रजनीकान्त की हत्या कर पचास हजार की थैली देकर मुरारीलाल का मुँह बन्द कर देता है।

इन राजनीतिक समस्याओं का आविर्भाव सामाजिक स्तर पर हुआ है। व्यक्ति और समाज को लेकर नाटक चलता है। नाटक के पात्र सभी व्यक्तिवादी हैं। वे अपने व्यक्तित्व के चारों ओर अपनी महानता का स्वप्न निर्मित कर लेते है, जहाँ केवल आँसू, विषाद और वेदना है। यही कारण है कि हमें नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक अशान्ति ही अशान्ति मिलती है। इस नाटक में प्रदर्शित परिवार एव गृह की स्थिति कल्पना लोक में न होकर वास्तविक ससार में है जिसमें अमगल है। मिश्रजी यह अनुभव करते हैं कि भारतीय घर अपनी उपादेयता खो बैठा है। अब इस घर में शान्ति नहीं। मनुष्यता का स्वाभाविक विकास वहाँ नहीं हो पाता। मनोरमा ने विधवा जीवन की साधना और तपस्या को अपनाकर घर का मोह सा छोड़ दिया है। वह किसी के साथ नहीं रह सकती। अन्त में जाकर चन्द्रकला को भी यही विश्वास हो जाता है कि घर मे उसके लिए कोई स्थान नहीं। घर से पलायन की यह प्रवृत्ति केवल नारी पात्रों मे ही नहीं है अपितु पुरुषों में भी है। इसी भावना के कारण मुरारीलाल का बना हुआ घर उजड़ जाता है। मनोज, मनोरमा, चन्द्रकला, माहिरअली कोई भी वहाँ नहीं रहना चाहता। मुरारीलाल की जीवन भर की साधना बालू की भीति की भांति ढह जाती है।

मिश्रजी यह मानते हैं कि स्त्री पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। अतः उनकी पृथक सत्ता नहीं है। नारी की पाश्चात्य प्रणाली की शिक्षा अपने विकृत रूप मे भारतीय रमणीत्व से समझौता नहीं कर सकती। इसलिए वे नारी स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी उसकी स्वच्छन्दता के विरोधी हैं। विधवा जीवन की साधना और त्याग पर उन्होंने अपना मोह केन्द्रित किया है। यद्यपि वह इस विषय पर भटक गए हैं। एक ओर तो वह मनोरमा के वैधव्य की सराहना करते हैं परन्तु दूसरी ओर चन्द्रकला के वैधव्य को स्वीकार नहीं करना चाहते।

इस नाटक को प्रायश्चित का नाटक कहा जा सकता है। नाटक के सारे पात्र अपने या दूसरों के पापों के कारण छटपटा रहे हैं। इस मानसिक विक्षोप के कारण नारी और पुरुष दोनों ही अपना मूल्य नहीं समझ पा रहे हैं। ऐसा मालूम होता है मानो नारी पुरुष के पाप का प्रायश्चित कर रही हो। उसके इस चेतन में तड़प, पिपासा और अशान्ति एकत्रित हो गई है। क्या नारी का पाप मौलिक है या प्रायश्चित की अग्नि में उसे अपने मधुर जीवन को यों ही होम देना पड़ता है। मनोरमा का प्रायश्चित भी यही है और चन्द्रकला भी इसीलिए प्रायश्चित कर रही है।

मिश्रजी यथार्थवादी नाटककार हैं। उन्होंने जीवन के छाया चित्र न देकर जीवन की तह में प्रवेश करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि ऐसे नाटक समस्यात्मक हैं। समस्या का हल वहाँ प्रत्यक्ष रूप से नहीं मिलता पर मस्तिष्क को विचार करने के लिए उसमें स्पष्ट प्रेरणा मिलती है। वह केवल समस्या का स्पष्ट चित्र उपस्थित कर चुप हो गए हैं। मिश्रजी के शब्दों में ही, उनके नाटकों में, क्या होना चाहिए, क्या न होना चाहिए, इन बातों का सवाल तो उठता ही नहीं, यहाँ तो जो है—है।"

प्रश्न ३—नाट्य रचना के किन सिद्धान्तों के आदर्श पर 'सिन्दूर की होली' की रचना हुई है? इस ग्रन्थ की भाषा शैली की भी संक्षिप्त समीक्षा कजिए।

उत्तर—'सिन्दूर की होली' एक समस्या नाटक है, जिसमें डाक्टर नगेन्द्र के शब्दों में 'सेक्स' प्रधान है। आज के हिन्दी नाटककार ने देखा

विदेश की अनेक विचारधाराओं का समन्वय अपने नाटकों में किया है। आज शायद ही कोई नाटककार संस्कृत नाट्य नियमों के विषय में सोचता हो। पश्चिम का प्रभाव विशेष रूपसे हमारे इस साहित्यपर पड़ा है। ट्रैजडी (जीवन का संघर्ष) की भावना, व्यक्ति वैशिष्ठ्य एवं व्यक्ति प्रधान, सुख दुख की सीमाएँ, हास्य का अभाव, टेकनीक के क्षेत्र में पाँच अङ्कों में नाटक का विभाजन, प्रारम्भ, विकास, चरमसीमा, नियताप्ति और समाप्ति की मंजिलों में होकर वस्तु का आयोजन आदि बातें हमें यहाँ मिलती हैं।

आधुनिक समस्या नाटक इब्सन से विशेष रूप से प्रभावित हैं। इब्सन के अनुसार नाटकों में नित्यप्रति के जीवन की सच्ची सजीव व्यवस्था होनी चाहिए। काल्पनालोक अथवा पुरातन आदर्श भूमि से उतर कर हमें चिर संघर्षमय वर्तमान में आना चाहिए। इनमें भावोद्रेक के स्थान पर तर्क और चिन्तन की शक्ति होनी चाहिए। इन विचारों के कारण ड्रामा की टेकनीक में आमूल परिवर्तन हो गया। स्टेज पर रमणीक दृश्यों के स्थान पर सादा ड्राइङ्ग रूम का प्रभुत्व हुआ। पद्य का पूर्ण बहिष्कार किया गया। अस्वाभाविक नाट्य रूढ़ियों का सर्वथा तिरस्कार किया गया। अब कथा यंत्रवत् परिचालित नहीं होती। पटाक्षेप, स्वगत, अर्धस्वगत को बिल्कुल उड़ा दिया।

'कथावस्तु ऐतिहासिक, काल्पनिक या पौराणिक न होकर, राजनीतिक या सामाजिक समस्या पर आधारित होती है। उच्चवर्गीय पात्रों के स्थान पर दलितवर्ग को प्रधानता मिली है। उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर स्थायी प्रभाव डालने के लिए, यथार्थ का चित्रण हो गया है। स्वाभाविकता की रक्षा के लिए संकलन त्रय देश, काल; पात्र—के निर्वाह का अधिक प्रयास होता है। कथावस्तु संक्षिप्त और एक ही होती है। भाषा जन-साधारण की भाषा होती है। सारी कथा एक ही स्थान पर घटित होती है। सम्पूर्ण नाटक तीन अङ्कों में ही समाप्त हो जाता है। संक्षेप में आधुनिक नाटक की यही विशेषता है।

"सिन्दूर की होली" में उपर्युक्त नवीन लक्षणों एवं पद्धति का पूर्ण निर्वाह मिलता है। कथा ऐतिहासिक न होकर, कल्पना के आधार पर

प्रधानता है। कथावस्तु का आधार सामाजिक समस्यायें हैं। न्याय, घूँस-खोरी, विवाह, विधवा विवाह आदि इनकी समस्यायें हैं। नाटककार ने उन समस्याओं का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। कविता का पूर्ण बहिष्कार है। भावावेश के कारण कहीं कहीं मनोरमा और चन्द्रकला द्वारा सुन्दर गद्य काव्य के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। स्थान स्थान पर आवश्यक अभिनयात्मक संकेत हैं। भाषा साधारण है। नाटककार भाषा के सम्बन्ध में इतना सचेष्ट है कि अभिनयात्मक संकेतों में तो वह शुद्ध संस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग करता है, पर नाटकीय संवादों में मिली जुली पात्रानुकूल भाषा का। नाटक में न तो काव्योपयुक्त कल्पनाएँ हैं और न अलंकृत वाक्यावली।

नाटककार ने 'संकलन त्रय' का पर्याप्त ध्यान रखा है। न तो काल ही बहुत विस्तृत है और न स्थान ही। वस्तु भी सुसङ्गठित है—थोड़े में कही जा सके ऐसी। प्रासंगिक कथा भी नहीं है। मुख्य कथा प्रारम्भ होकर तीव्र गति से अग्रसर होती है। जब चन्द्रकला रजनीकान्त के हाथों अपनी माँग में सिन्दूर लगाती है वह चरम सीमा है। उतार में चन्द्रकला और मनोरमा के विवाद हैं। सारी कथा एक ही स्थान मुरारीलाल के बङ्गले में ही हुई है। केवल एक बार चन्द्रकला बाग में टहलती है और दूसरी बार मनोज के साथ जाती है। समय भी कुछ घण्टों का ही है।

इधर हमने देखा कि "सिन्दूर की होली" की रचना नवीन नाट्य शास्त्र के आधार पर हुई है। इसमें सभी प्राचीन नियमों का उल्लंघन है। यह नाटक इब्सन की पद्धति का एक अत्यन्त सफल नाटक है। प्रत्येक पात्र में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता होने के कारण यह आधुनिक परम्परा में अपना एक विशिष्ठ स्थान रखता है।

प्रश्न ४—चन्द्रकला और मनोरमा के चरित्रों का निश्चित अन्तर क्या है? नाटककार ने किस उद्देश्य से इन दोनों को एक दूसरे के विपरीत खड़ा कर दिया है?

उत्तर—"सिन्दूर की होली" के प्राक्कथन लेखक डाक्टर रामप्रसाद

त्रिपाटी के शब्दों में मनोरमा और चन्द्रकला दोनों शिक्षित स्त्रियाँ हैं। उनमें कोमलता, सहिष्णुता और उच्चादर्श का अद्भुत सम्मिश्रण हैं। दोनों में त्याग और अनुराग का चमत्कार है। चन्द्रकला ने प्रेम का जो आदर्श रखा वह पौराणिक चित्रों से कम नहीं। मनोरमा ने दूसरा आदर्श खड़ा करने का प्रयत्न किया, किन्तु मनोज शङ्कर ऐसी विक्षिप्त दशा में था कि उससे सहयोग न कर सका। दोनों चरित्रों का सूक्ष्म भेद नाटककार ने चन्द्रकला के द्वारा करवा दिया है—" तुम्हारी मजबूरी प्रारम्भ से ही मानसिक हो गई है।' संक्षेप में मनोरमा और चन्द्रकला के चरित्रों में यही मौलिक अन्तर है।

मनोरमा आदर्श की प्रतिमूर्ति हैं। वह एक ऐसी कलाकार है जो कला का आधार विश्वास और शिक्षा को मानती है। भाग्यवादी होने के कारण ईश्वरीय नियम के आगे नतमस्तक होती है। मर्यादा का ध्यान रखती है। मुरारीलाल के प्रेम प्रस्ताव पर उसका यह कहना कि, "कानून और कला का साथ नहीं करसकता क्योंकि कानून दंड देगा कला क्षमा करेगी कानून सन्देह करेगा, कला विश्वास करेगी", भारतीय आदर्श की घोषणा है। पुरुषों के प्रति उसके विचार अत्यन्त क्षोभ पूर्ण हैं—"पुरुष लोलुप होते हैं, विशेषत: स्त्रियों के सम्बन्ध में। मृत्यु शय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़ी लोभ की वस्तु होती है।" वह मानती है कि पुरुष जाति उन भिक्षुकों के समान है जो एक टुकड़े पर लड़ जाते हैं। चन्द्रकला का रजनीकान्त पर रीझना उसे अच्छा नहीं लगता। इसी प्रकार मनसा संकल्प के द्वारा स्वीकृत पति को त्याग कर किसी अन्य से विवाह करना वह मानसिक व्यभिचार मानती है। उसके दार्शनिक सिद्धान्त—"जो चाहते हो वह न चाहो, आनन्द तुम्हारा है और तुम आनन्द के हो" में स्पष्ट हो जाता है। वह अपने दोनों प्रेमियों को बता देती है कि वह विधवा है, अग्नि है, हलाहल है। वह समाज की चेतना के लिए विधवाओं का होना आवश्यक मानती है क्योंकि उसके अनुसार विधवा सङ्कल्प, त्याग, साधना और तपस्या की प्रतिमूर्ति है। वह संस्कृति की परम्परा में विश्वास करती है। विधवापन उसके लिए आदर्श है—समाज

का गौरव है—कलङ्क नहीं।

चन्द्रकला मनोरमा के समान ही विदुषी, रूपवती और सहिष्णु होने पर भी उससे भिन्न है। उसमें भावुकता प्रधान है। उसका हृदय उसके मस्तिष्क से शक्तिशाली है। उसका विश्वास है कि "अब प्रथम दर्शन में प्रेम का समय नहीं रहा।" फिर भी वह रजनीकान्त पर एक दृष्टि में ही मोहित हो जाती है। उसका प्यार परिस्थितियों के ज्ञान से शून्य सा है। यही भावुकता अन्त में चरम सीमा पर पहुँच जाती है और वह उसे वरण कर उसी के मृत हाथों से अपनी मांग में सिन्दूर भर लेती है। वह वास्तविकता से उतना भी सम्पर्क नहीं रखना चाहती जितना कि मनोरमा का है। रजनीकान्त की विधवा से उसकी हार्दिक सहानुभूति है। वह उसे रजनीकान्त का चित्र नहीं देना चाहती। एक दृष्टि से चन्द्रकला का आदर्श मनोरमा से भी उच्च है। मनोरमा समाज के बन्धनों को स्वीकार कर सन्तुष्ट है। उसकी मजबूरी पहले सामाजिक है फिर मानसिक। चन्द्रकला की आरम्भ से ही मानसिक है। इसका वैधव्य स्वेच्छा से गृहीत है, मनोरमा का देवकृत। चन्द्रकला विवाह को आत्मा की वस्तु मानती है और यह स्वीकार भी कर लेती है कि जो उसने किया समाज के नियमों के प्रतिकूल भी हो सकता है। परन्तु उसकी आत्मा का निर्णय सर्वोपरि है। उसे पुरुष की गुलामी स्वीकार नहीं। मनोरमा चन्द्रकला की इस भावुकता को कि "मेरा पुरुष मुझे अपनी गुलामी में रख सका" खूब समझती है। उसे भय है कि इससे एक नहीं अनेक व्यभिचारों का श्री गणेश हो सकता है। इसी कारण वह कहती है कि "पर यह सत्य है कि चन्द्रकला जैसी दानशीला स्त्रियों की प्रवृत्ति किसी भी मीठी मुस्कान और भोली चितवन से उलझ सकती है।" यही इन दोनों के चरित्रों का प्रधान अन्तर है।

लेखक ने मनोरमा और चन्द्रकला का विरोध दिखाकर विवाह की समस्या पर भारत और पश्चिम के सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करने का प्रयास किया है। साथ ही बड़ी चतुरता से दोनों का आदर्शात्मक सामंजस्य कराया है। इस प्रकार इन दोनों के चरित्रों से विवाह की समस्या का

समस्यात्मक रूप और भी मूढ़ हो गया है। इस प्रकार इन दो चीजों का चित्रण कर नाटककार ने सफलता पूर्वक विवाह की समस्या के दो पहलुओं का विचारणीय चित्र उपस्थित किया है। मनोरमा में प्राचीन संस्कारों के प्रति मोह के साथ ही उच्चकोटि की भावुकता है। चन्द्रकला में केवल भावुकता है; वहाँ आदर्श एवं प्राचीन संस्थाओं का पूर्ण वहिष्कार कर मन की इच्छा को ही शक्तिमान माना गया है।

इन दोनों के चरित्रों की इस भिन्नता के मूल में उनके आत्म संस्कार और परिस्थितियाँ प्रमुख हैं। मनोरमा विधवा है, आश्रयहीन है, आश्रय के सुख दुखों से परिचित है, उधर चन्द्रकला कुमारी है, आलम्बन की जीवन में कोई आवश्यकता भी होती है इससे अपरिचित है। जीवन की सूक्ष्म परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ है। यही कारण है कि दोनों का चरित्र पथ दो प्रकार का होता जाता है। मनोरमा मानवसुलभ निर्बलता के थपेड़ों से घायल है, चन्द्रकला, हृदय का साथ देती हुई भी आदर्श का साथ नहीं छोड़ती। इस प्रकार का एक चरित्र यथार्थ और दूसरी का आदर्श बन गया है। नाटक की नायका चन्द्रकला है। चन्द्रकला का आदर्शवाद सारे नाटक पर आत्मा बनकर छा जाता है। परन्तु इन दोनों चरित्रों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर भी नाटककार का प्रयत्न, एक निश्चित ध्येय पर न टिक सकने के कारण, असफल रह जाता है।

प्रश्न ५—मनोजशङ्कर के चरित्र का विश्लेषणात्मक विवेचन और परीक्षण कीजिए।

उत्तर—मनोजशङ्कर पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित, भ्रमजाल में पड़ा हुआ, उद्विग्न हृदय, चिन्तित मस्तिष्क एक निराधार युवक है, जिसके ज्ञान तन्तुओं को भुलाने का इंजैक्शन देकर चिर प्रसुप्त कर दिया गया है। मुरारीलाला ने उसके पिता की हत्या कर डाली थी। उसका मुंशी माहिर अली ही इस रहस्य को जानता था। संसार में यही प्रसिद्ध था कि उन्होंने आत्महत्या की थी। मुरारीलाल अपने पाप के प्रायश्चित स्वरूप मनोज का पालन-पोषण कर उसे अपना दामाद बनाना चाहता था। मनोजशङ्कर अपने पिता की आत्महत्या का कारण जानने को अत्यन्त व्यग्र रहता था

जिससे उसका स्वास्थ्य नष्ट होता जा रहा था। मुरारीलाल उसकी चिन्ता को मिटाने के लिए उसे इङ्गलैण्ड भेजना चाहता है; परन्तु मनोज वंशी बजा कर मन बहलाता है। उसे मानसिक रोग सा हो गया है। वह उस युवक की प्रतिमूर्त्ति है जिसका मन अस्थिर है, भाव चंचल हैं और विचारों में तारतम्य नहीं हैं। वह अत्यन्त व्यग्र होकर परीक्षा छोड़ कर घर चला आता है जहाँ संयोगवश एक दिन मुंशी माहिरअली से उसे अपने पिता की हत्या का भेद ज्ञात होता है। वह पहले इस कारण इतना उद्विग्न रहता था कि कहीं उसी के कारण तो उसके पिता ने आत्मघात नहीं किया। इस शङ्का के दूर होते ही वह स्वस्थ हो गया।

मनोज युवक है। युवक हृदय की सम्पूर्ण रागात्मक भावनाएँ उसमें हैं; परन्तु उसमें उच्छृङ्खलता नहीं है। पहले वह चन्द्रकला के प्रति उदास है। कालन्तर में साहचर्य के प्रभाव से उसे प्रेम करने लगता है। इसी समय मनोरमा के आने पर वह मनोरमा की ओर आकृष्ट होता है; परन्तु मनोरमा द्वारा वस्तु स्थिति पर प्रकाश डाले जाने पर उसकी बुद्धि ठिकाने आ जाती है। उसे चन्द्रकला के रजनीकान्त के प्रति भावों का पता चल जाता है और वह चन्द्रकला से विवाह करने को व्यभिचार समझता है। मुरारीलाल को अपने पिता का घातक समझ कर, चन्द्रकला के प्रति उसकी सहानुभूति समाप्त हो जाती है। चन्द्रकला के रोग को वही केवल घर भर में जानता है। वह थोड़ा सा मनोवैज्ञान भी जानता था। उसी ज्ञान का उपयोग कर वह मूर्च्छित एवं अशक्त चन्द्रकला को स्वस्थ कर घुमाने ले जाता है। मुरारीलाल का सर्वनाश देखकर सन्तोष के साथ कहता है, "प्रत्येक पाप का प्रतिफल मिलता है। संचित कर्म जो चाहते हैं करा डालते हैं। इनमें किसी का दोष नहीं है।" इस प्रकार वह नियतिवादी भी है और प्रगतिवादी भी।

मनोज भावुक है। वह प्रेम करना चाहता है और मनोरमा द्वारा उपेक्षित होकर भी हताश नहीं होता। मनोरमा के यह कहने पर कि, "मैं तुम्हें अपना दूल्हा नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी। हम तुम एक साथ रह सकते हैं पर मैं विधवा ही रहूँगी और तुम विधुर। यदि ऐसा

हो तो हाथ बढ़ाओ", वह प्रसन्नता पूर्वक अपना हाथ बढ़ा देता है। उसका चरित्र पूर्ण रूपेण स्पष्ट नहीं है। उसमें शुद्धता एव पवित्रता है। उसमें मनोरमाके वैधव्य के प्रति सहानुभूति है। वह चन्द्रकला के विचार को समझ उसकी प्रशसा करता है। उसमें कहीं भी विकार नहीं है।

मिश्र जी चित्रकार है अवश्य पर वैसे नहीं जो एक ही चित्र को पहले रेखाओं में बनाकर, फिर उसमें विविध रंग भर कर अपनी कला का विकास करने में लगा रहे। उनकी तूलिका तो स्वल्प स्पर्शों से ही चित्र को पूर्ण कर देती है और ऐसा करने पर भी चित्र अधूरा रह जाता है और न अस्पष्ट हो। यही उनकी विशेषता है। मनोजशङ्कर का चरित्र विशेष कर ऐसा ही है।

प्रश्न ६—नाटककार प्रसाद और नाटककार मिश्र की तुलना कीजिए।

उत्तर—नाटक निर्माण में मिश्र जी प्रसाद जी के पूर्ण विरोधी हैं। प्रसाद जी आदर्शवादी है जिनके नाटकों में अतीत का वैभव बिखरा पड़ा है। मिश्र जी घोर यथार्थवादी हैं। उनके नाटकों में वर्तमान नारी की समस्यायें हैं। यहाँ व्यक्ति की समाज पर विजय है परन्तु प्रसाद जी में व्यक्ति पर समाज की विजय है। समाज को प्रधानता देने के कारण प्रसाद जी का क्षेत्र विस्तृत और विशाल है। व्यक्ति को प्रधानता देने के कारण मिश्रजी का क्षेत्र संकीर्ण और सीमित है। इनके यहाँ एक ही समस्या प्रधान है तथा अन्य समस्यायें उसी के अन्तर्गत है, जब कि प्रसाद जी की रचनाओं में अनेक समस्याये हैं जो अतीत कालीन होते हुए भी हमारे जीवन के अधिक निकट हैं। प्रासंगिक कथाओ को दोनो ने अपनाया है पर प्रसाद जी उनका मूल कथानक से निकट सम्पर्क स्थापित करने में पूर्ण सफल हुये हैं जब कि मिश्र जी मूल कथानक को अधिक गहराई से पकड़ने के कारण प्रासङ्गिग कथाओं का सफल निर्वाह नहीं कर पाए हैं।

पात्र चयन की दृष्टि से दोनों लगभग समान हैं। दोनो के ही लगभग सभी प्रमुख पात्र उच्चवंश के और शिक्षित है। अन्तर दोनों में यही है कि प्रसाद जी के पात्र तो धार्मिक संस्कारों में बँधे होने के कारण कर्त्तव्य पालन में आत्म सन्तोष लाभ करते हैं। परन्तु मिश्र जी के पात्र धार्मिक सस्कारों

को रूढ़िगत समझ कर उनके विरोध करने में ही परम सन्तुष्ट होते हैं। प्रसाद जी के पात्रों में भावुकता, कोमलता, सहृदयता और कल्पना है। उनके अन्तर्द्वन्द्व में भी भावुकता है। इसके विपरीत मिश्र जी के सभी पात्र घोर बुद्धिवादी हैं। वहाँ भावुकता पाप समझी जाती है। वे प्रत्येक बात को बौद्धिक दृष्टिकोण को देखकर ही स्वीकार करते हैं।

कुछ लोग प्रसाद जी पर शेक्सपीयर का प्रभाव मानते हैं। परन्तु किसी के दो चार नाटकों को पढ़ लेने का अर्थ उससे प्रभावित होना नहीं कहा जा सकता। हमारे यहाँ कुछ आलोचक यदि किसी भी अपने कलाकार में किसी विदेशी कलाकार के से गुण देख लेते हैं तो झट उसे उस विदेशी कलाकार से प्रभावित मानने लगते हैं। शेक्सपीयर भी भावुक हैं और प्रसाद जी भी। प्रभाव का कारण बताया जाता है. यही समान भावुकता। परन्तु इस भावुकता के दर्शन संस्कृत नाटकों में भी यथेष्ट होते हैं तो प्रसाद जी को उन संस्कृत नाटककारों से ही प्रभावित क्यों न माना जाय। इधर मिश्र जी पर यथार्थवादी इब्सन और बर्नार्ड शा का बहुत प्रभाव पड़ा है। इनमें जीवन का सत्य है, आदर्श नहीं।

शैली की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। प्रसाद जी के सभी नाटकों में अङ्कों और दृश्यों का सन्तुलन है। उनमें संगीत, नृत्यादि की भी योजना है। उनमें अभिनेयता का अंश कम मात्रा में है। मिश्र जी के नाटक अभिनयशील तो हैं परन्तु उनके अङ्कों और दृश्यों में सन्तुलन न होने के कारण उनकी अभिनयशीलता में बाधा पड़ती है। सङ्गीत, नृत्यादि का भी अभाव हैं। प्रसाद जी की भाषा क्लिष्ट है। मिश्रजी की भाषा जनसाधारण की है। प्रसाद जी के नाटकों में काव्य का यथेष्ट अंश है परन्तु मिश्र जी में एक चिड़चिड़ापन और समाज के प्रति तीव्र व्यंग हैं। वहाँ शुष्कता अधिक है। प्रसाद जी हमारी अन्तर्चेतना को आन्दोलित करते हैं और मिश्र जी नवयुवकों में क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं।

— ——

प्रतिनिधि एकांकी (अश्क)

प्रश्न १—एकांकी नाटक की उत्पत्ति, विकास एवं विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—हिन्दी साहित्य में 'एकांकी नाटक' की उत्पत्ति अत्यन्त आधुनिक है। इसकी उत्पत्ति का श्रेय पश्चिम को है। ये नाटक एक ही अङ्क में समाप्त हो जाते हैं, इसलिये साधारण नाटकों की अपेक्षा बहुत छोटे होते हैं। आधुनिककाल में जब हमारा जीवन अत्यन्त व्यस्त हो गया है। दर्शकों के पास इतना समय नहीं होता कि वे चार पाँच घन्टे बर्बाद कर बड़े नाटक देखें। इस कारण ये नाटक आजकल यूरोप में अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं। हिन्दी में इन नाटकों की लोकप्रियता केवल पत्र पत्रिकाओं और रेडियो तक ही सीमित है। इस कारण हमारे यहाँ रङ्गमञ्च का अभाव माना जाता है अभी तक कुछ ही एकाकी नाटकों का सफल अभिनय हो सका है।

इन नाटकों की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि प्रारम्भ में ये नाटक समस्या पूर्ति के लिये खेले जाते थे। नाटक देखने के लिए कुछ लोग देर मे आया करते थे। उन लोगों के लिए समय पर आने वालों को खाली बिठलाना उनके साथ अन्याय था। इसीलिए उनके विनोदार्थ प्रधान नाटक के आरम्भ के पूर्व कुछ छोटे नाटकीय दृश्य दिखाए जाते थे। लोग इनको अधिक पसन्द करने लगे। यूरोप में १५ वीं, १६ वीं एवम् १७ वीं शताब्दी में खेले जाने वाले 'मिराकेल प्लेज' Miracle Plays 'इन्टरल्युडस' Interludes 'मोरेल्टी प्लेज' Morality Plays 'आफ्टर पीसेज' After Pieces एवं 'कर्टेन रेजर्स' Curtain Raisers आदि एक प्रकार के एकांकी ही कहे जा सकते हैं। धीरे धीरे वहाँ एकांकी का विकास आधुनिक रूप में हुआ। इब्सन के प्रभाव से, विशेष रूप से एकांकी में कई नये तत्वों का समावेश हुआ। नाटक क्षेत्र में एकांकी को पृथक रूप में अपनाये जाने के विषय में एक घटना का विशेष योग बताया जाता है। सन् १९०३ में लन्दन के 'वैस्ट एण्ड थिएटर' में एक कहानी बन्दर का पञ्जा का एकांकी के प्राचीन रूप में प्रदर्शन किया गया। उससे दर्शक इतने प्रभावित हुए कि

मुख्य नाटक को देखे बिना ही पटाक्षेप के बाद घर चले गये। इस घटना से थियेटर के मालिकों में भय फैल गया । उन्होंने इसे अपने नाटकों से बिल्कुल हटा दिया। यह हटाया जाना एकांकी के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ । वह सीमित क्षेत्र से हटकर स्वतन्त्र रूप से रंगमंच पर आ गया। इसके द्वारा अनेक सामाजिक समस्याओ और विकृतियों का प्रदर्शन किया गया। इस प्रकार क्रमशः इसका प्रचार बढ़ने लगा।

वैसे भारत में एकाङ्की की परम्परा बहुत प्राचीन मानी जाती है। संस्कृत में रूपकों के प्रकारों के एकांकी नाटक थे। जैसे भाण, अङ्क, व्यायोग, प्रहसन आदि। उपरूपकों के भेदों में गोष्ठी, नाट्यरासक भी एकांकी की ही श्रेणी में माने जा सकते हैं। कालिदास और भास ने ऐसे अनेक नाटक लिखे थे। जिनमें से भास के 'उरुभंग' और 'नीलकण्ठ' आज भी प्राप्त हैं। संस्कृत नाटकों में धीरे धीरे गद्य का ह्रास होता गया और उसके साथ ही ये भी समाप्त हो गए। संस्कृत के इन प्राचीन एकांकियों और आधुनिक एकांकियों में सबसे प्रधान भेद यह है कि उनमें निर्देश या संकेत अल्प मात्रा में होते थे जब कि इनमें अत्यन्त विस्तारपूर्वक दिये जाते हैं। वर्तमान हिन्दी एकांकी पर संस्कृत का कोई प्रभाव नहीं लक्षित होता। ये शुद्ध रूप से पश्चिम की देन है। इनमें सस्कृत एकांकियों के से रस, पात्र और सन्धियों के नियमों का पालन नहीं किया जाता। भारतेन्दु काल के एकांकी अवश्य संस्कृत के आधार पर रचे गये थे। किन्तु वर्तमान एकांकियों का मूल प्रेरणा स्रोत पश्चिमी एकांकी ही रहे हैं। आज का एकांकी जीवन के अधिक समीप है।

आधुनिक एकांकी विधान की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१—जीवन का एकांकी चित्रण, २—चरित्र चित्रण के आरम्भ में ही कौतूहल की अवस्था का आधिक्य, ३—नाटक के आरम्भ में ही कौतूहल की अवस्था का आधिक्य, ४—चरम सीमा का संक्षेप में केन्द्रीकरण, ५—संवादों की मार्मिकता एव वातावरण की अनुकूलता, ६—एक घटना और एक स्थान। आज के एकांकियों के प्रचार में रेडियो ने अत्यधिक सहयोग दिया है। डाक्टर रामकुमार वर्मा आदि के अनेक एकांकी समय

समय पर रेडियो से प्रसारित किये जाते हैं जिनका स्वागत हो रहा है। आज के प्रसिद्ध एकांकी नाटककारों में सर्व श्री रामकुमार वर्मा, उदयशङ्कर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, सेठ गोविन्द-दास, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा एवं सुदर्शन प्रसिद्ध हैं।

एकांकी हमारे साहित्य की एक नवीन विधा है। यह नाटक का संक्षिप्ती करण है। नाटक और एकांकी में सामान्य रूप से वही भेद माना जाता है जो उपन्यास और कहानी में है। एकांकीकार संक्षेप में समस्त परिस्थिति की झलक देकर हट जाता है। वहाँ लम्बे वार्तालापों के स्थान पर संक्षिप्त और अर्थपूर्ण कथोपकथनों से काम लिया जाता है। कुछ आलोचक कहानी और एकांकी में समानता ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। प्रत्येक कहानी के आधार पर एकाकी का निर्माण नहीं किया जा सकता। कहानी में मनोरञ्जन प्रमुख स्थान रखता है परन्तु एकांकी में नहीं। कहानी में वर्णन का आधिक्य रहता है और एकाकी में कथोप-कथन का। एकाकी में चरित्र चित्रण की सहूलियत कहानी के समान नहीं होती। इसी कारण वह मानसिक द्वन्द्व के प्रदर्शन में असफल रहता है।

प्रश्न २—उपेन्द्रनाथ अश्क की एकाकी कला पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—अश्कजी हिन्दी के एक सफल एवं उदीयमान एकाकीकार माने जाते हैं। यह समाज के वर्तमान गठन से असन्तुष्ट हैं। उन्होंने आधुनिक साहित्यकारों की मनोदशा का प्रतिनिधित्व सा करते हुए 'स्वर्ग की झलक' नामक एकाकी की प्रस्तावना में एकांकी की प्रेरणा और उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"आज हम Transitional Period (संक्रान्ति काल) से गुजर रहे हैं और अपने अतीत का गुणगान करने के बदले हमारे लिये आवश्यक है कि हम अपने भविष्य की भी चिन्ता करें। समाज की कुरीतियों को दूर करके उसे स्वस्थ बनाते हुए उन्नति के पथ पर ले जावें। साथ ही यह देखे कि एक अतिरेक से निकलकर वह दूसरे अति रेक में तो नहीं जा पड़ता और इसलिए आवश्यक है कि हम समाज की विभिन्न समस्याओं को छूने वाली रचनाओं का सृजन करें, फिर चाहे वह कथाएँ हों, उपन्यास हों अथवा नाटक।" अपनी इसी विचारधारा के अनु-

कुल ही अश्कजी ने अपने सभी सामाजिक एकांकियों में समाज की किसी न किसी समस्या का चित्रण किया है। आपके अब तक लगभग एक दर्जन एकांकी निकल चुके हैं जिनमें से सात प्रसिद्ध एकांकियों का संग्रह 'देवताओं की छाया' में किया गया है।

अश्कजी की इसी विशेषता से प्रभावित होकर एक आलोचक ने लिखा है—"हिन्दी के एकांकी नाटककारों में अश्क एक विशिष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। उन्होंने एकाकी को जहाँ से लिया, वहाँ से उसे कहीं ऊँचा उठा दिया। न केवल उसे आधुनिक कला से वेष्टित किया वरन् उसमें आधुनिक विचारों का अति आधुनिक ढग से प्रतिपादन करके, उसे साहित्य का महत्व पूर्ण अङ्ग बनाया। एक के बाद एक ऐसे सुन्दर और कलापूर्ण एकांकी लिखे जो संसार की किसी भी समृद्ध भाषा के एकांकियों के सम्मुख रखे जा सकते हैं।" इससे इस क्षेत्र में उनके स्थान का अनुमान किया जा सकता है। अश्कजी ने अधिकांश एकांकीकारों के समान यथार्थवाद का चित्रण किया है। उनमें आदर्श, कल्पना और भावुकता का अभाव है। उनमें जीवन की कठोरता अपने नग्न रूप में उभर कर आई है। इनमें समाज पर तीव्र व्यग्य कसे गये हैं।

पात्रों के चरित्र चित्रण में भी उन्होंने यथाथता को ही अपनाया है। उनके पास सौन्दर्य की निर्जीव पुतलियाँ न होकर सजीव प्रतिमाएँ हैं। जिनमें जीवन का हास और रुदन दोनों हैं। इन पात्रों मे हम अपने चारों तरफ छाये हुए वातावरण की पूर्ण झलक पाते हैं। कथोपकथन सजीव और व्यंग्यपूर्ण है। व्यंग्य के समावेश से भाषा में वक्रता आ गई है। उनके व्यंग्य सीधे हृदय पर चोट करते हैं। उनकी भाषा जनसाधारण की भाषा है। उसमें कला का कृत्रिम प्रदर्शन नहीं मिलता। अभिनेयता की दृष्टि से इनके एकांकी अत्यन्त सफल हुए हैं। इसके साथ ही उनमें कहानी की सी रोचकता भी है। "देवताओं की छाया' में अश्कजी के उन प्रारम्भिक नाटकों का संग्रह है, जिनकी दिलचस्पी और लोकप्रियता आज दस वर्ष बीत जाने पर भी अक्षुण्ण बनी हुई है। बीसियों बार सङ्कलित होने और बीसियों

बार आल इण्डिया रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से प्रसारित होने पर भी 'लक्ष्मी का स्वागत' अभी तक नया है, और उसका मार्ग बराबर जारी है। 'जोंक' तथा 'अधिकार का रक्षक' इसी संग्रह के दो नाटक अभी गत वर्ष इलाहाबाद ही में खेले गए हैं।'' इससे अश्कजी के एकांकी नाटकों की लोकप्रियता और महत्व स्पष्ट हो जाता है।

प्रश्न ३—रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों के आधार पर उनकी संक्षिप्त आलोचना प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—डाक्टर रामकुमार वर्मा हिन्दी के एक बहुमुखी प्रतिभाशाली कलाकार हैं। उन्होंने कविता, निबन्ध, आलोचना, गद्य काव्य, नाटक आदि विभिन्न साहित्यिक विधाओं पर सफलतापूर्वक लेखनी चलाई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक संग्रहों का सम्पादन भी किया हैं। 'माँ का हृदय' नामक एक उपन्यास भी लिखा है। उनके कविता संग्रह चित्ररेखा पर २०००) का देव पुरस्कार मिल चुका है।

वर्माजी एक सफल कवि होने के साथ ही साथ उच्चकोटि के एकांकी नाटककार भी हैं। कुछ आलोचक तो उन्हें पथ-प्रदर्शक एकांकीकारों मे से एक मानते हैं। वर्माजी का जो मिश्रित रूप उनकी कविता मे दिखाई देता है, उनके एकांकियों में भी नहीं छिप सका है। ''वे जैसे कविता के क्षेत्र में लौकिक और अलौकिक या पारलौकिक भावनाओं का हार गूंथते हैं। यथार्थ और आदर्श के तटों के बीच कविता सरिता को बहाते जाने में उन्हें जो रुचि आती है, वही रुचि उनके नाटकों में भी लक्षित होती हैं।'' वर्माजी ने अब तक कई एकांकी नाटकों की रचना की है। उनका सर्वप्रथम एकाकी—'बादल की मृत्यु' की रचना सन् १९३० मे हुई थी। इसी के आस पास हिन्दी एकांकियों का जन्मकाल माना जाता है। इसी कारण वर्माजी की गणना हिन्दी एकांकी नाटकों के जन्मदाताओं में की जाती है। अब तक उनके निम्नलिखित छः एकांकी संग्रह निकल चुके हैं—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, शिवाजी, चार ऐतिहासिक एकाकी नाटक, चारुमित्रा, कौमुदी महोत्सव। ये सभी रचनाएँ कथा की दृष्टि से उच्चकोटि की मानी जाती हैं। उनके विषय भिन्न हैं। कथानक की दृष्टि से इनके नाटकों

को चार श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है—सामाजिक, पौराणिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक। इन सभी प्रकारों मे वर्माजी आदर्शवादी हैं। इनमे वह "कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्म-सयम एव क्षुद्रता के भीतर से महानता का अन्वेषण करने में समर्थ हुए है और यह सब उन्होने पात्रो और परिस्थितियों के संघर्ष मे स्वाभाविक रूप मे प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अपने आदर्शवाद में वह अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रतिनिधि ज्ञात होते हैं। उनमे उच्चकोटि की राष्ट्रीय भावना है।"

इनके नाटकों से कथानक का सम्बन्ध प्रायः सामाजिक रोमास से रहता है। आधुनिक उच्च शिक्षित समाज के भद्र जीवन का प्रेम, ईर्ष्या, सन्देह, असन्तोष आदि का चित्रण उनकी विशेषता है। वे कौतूहलपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण में अत्यन्त पटु हैं। 'वह निराशाजन्य परिस्थिति के रूप में अथवा वेदनाजन्य समस्या के रूप में नाटक का उद्‌घाटन एक कौतूहल के साथ करते हैं। इसलिये उनके नाटक आरम्भ मे ही इतने आकर्षक, इतने मोहक और इतने रोमांटिक हो जाते हैं कि पाठक उनकी समाप्ति के लिये व्यग्र हो जाता है।'

चरित्र चित्रण में में चारित्रिक द्वन्द्व उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। पात्रों की कल्पना में उन्होने 'जीवन के उस पहलू को छुआ है जिसके द्वारा हृदय का अधिक से अधिक आन्दोलन हो और फल स्वरूप प्रतिक्रिया के रूप में हृदय स्थायी शाँति प्राप्त कर सकें।' उनके नाटकों का द्वन्द्व अन्त में शाँति में बदल जाता है। पात्र घटनाओं के द्वारा अपने चरित्र का विकास करते हुए चले जाते हैं। उनके पात्रों मे कल्पना और यथार्थता दोनों का सुंदर सम्मिश्रण मिलता है। परिस्थितियो के चक्र मे पड़ कर उनकी शाश्वत सत्य भावनाएँ जाग्रत होकर पात्रों को सत्य पथ पर ले जाती है। इस प्रकार इन नाटकों में कल्पना से समन्वित जीवन के सत्य के सुन्दर दर्शन होते हैं।

कथोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक, सारगर्भित. मार्मिक और भावव्यञ्जक होते हैं। उनका आधार पात्रों की मानसिक स्थिति एवम् परिस्थितियाँ

तथा घटनाओं के घात-प्रतिघात होते हैं। इसी कारण उनमें स्वाभाविकता है। इन सम्वादों का उद्गम स्थान हृदय है। अतः भाषा भी अत्यन्त कलात्मक हो उठती है। पात्र सभी सुशिक्षित एवम् उच्च वर्ग के हैं। इसलिए उनकी भाषा भी परिष्कृत एवं स्वच्छ होती है। उनमें सर्वत्र प्रौढ़ता और स्वाभाविकता है। बीच बीच मे हास्य और व्यंग्य भी मिलता है जिससे कुछ समय के लिए गम्भीर वातावरण की गम्भीरता नष्ट होकर मनो-रञ्जन हो जाता है।

टेकनीक के क्षेत्र में वर्मा जी ने "अपने नाटकों में उस शैली का प्रयोग किया है जिसमें एक क्रमिक चढ़ाव-उतार के सहारे घटना अथवा चरित्र चरम परिणति तक पहुँचता है और अन्त में उसका रहस्योद्घाटन होता है।" इस शैली द्वारा लेखक पहले हमारी जिज्ञासा को जाग्रत कर अन्त में उसका समाधान कर देता है। इस प्रकार कथानक के विकास में जिज्ञासा और विस्मय दोनों का ही समावेश है। इस जिज्ञासा और विस्मय को उत्पन्न करने में उन्होंने कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों प्रकार के साधन अपनाए हैं।

अभिनय की दृष्टि से उनके सभी नाटक पूर्ण सफल हैं। उनके नाटकों में ऐसे दृश्यों का अभाव है जिनके अभिनय करने में रग मंच की कठिनाइयां सामने आती हैं। कारण यह है कि वर्माजी स्वय अभिनेता हैं। वह रंगमंच की कठिनाइयों तथा आवश्यकताओं को जानते हैं इसलिए अपने नाटकों में ऐसे ही दृश्यो की अवतारणा करते हैं जिनका सरलतापूर्वक अभिनय हो सके। 'एक ही दृश्य में घटनाओं का उत्थान और पतन, कौतूहलजनक आवेगों का चरम सीमा में विस्फोट, पात्रों में मनोविकारों का क्रमिक परिवर्तन और उसकी नियताप्ति एकाँकी नाटक में होना अनिवार्य है। 'बादल की मृत्यु' को छोड़कर वर्माजी के अन्य सभी नाटकों में इन आवश्यक नियमों का पालन किया है।"

वर्माजी ने एकाँकी नाटक साहित्य में अनेक प्रयोग किए हैं। उन पर शा, इब्सन आदि का विशेष प्रभाव है; परन्तु मनोवेगों की अभिव्यक्ति में वे सर्वथा मौलिक एवं भारतीय हैं। उन्होंने अपने नाटकों में "ऐसे आदर्श-

वाद की प्रतिष्ठा की है जो जीवन की व्यावहारिकता से ओत प्रोत होकर नैतिक दृष्टि से जनता के लिए कल्याणकारी है ।"

प्रश्न ४—"एकांकी नाटक" के विषय में व्यक्त वर्माजी के मतों की आलोचना कीजिए ।

उत्तर—वर्माजी एकाकी नाटक में भी संघर्ष आवश्यक मानते हैं क्योंकि जीवन स्वयं एक संघर्ष है और नाटक उस जीवन का प्रतिबिम्ब है । चाहे वह संघर्ष आन्तरिक हो अथवा बाह्य, परन्तु होना अवश्य चाहिए । जीवन की कोई भी घटना संघर्ष से शून्य नहीं रह सकती इसी से एकांकी भी संघर्षशून्य नहीं रह सकता । वर्माजी अन्य नाटकों से एकाँकी में केवल एक बात में भिन्नता मानते है कि "एकाँकी की घटना जीवन के एक अङ्ग पर अवलम्बित नाटकीय कौशल से आकर्षण का सृजन कर, कौतूहल का सचय करते हुए चरम सीमा पर्यन्त पहुँचा दी जायँ । एकाँकी में वर्णन तत्व कम एवं अभिनय तत्व अधिक रखना चाहिए ।" यद्यपि सभी एकाँकीकार वर्मा जी के उपर्युक्त सिद्धान्त के समर्थक हैं, परन्तु इसे निभाने में विरलों को ही सफलता मिली है । वर्मा जी के नाटकों मे भी इस विशेषता का निर्वाह पूर्णरूपेण नहीं हो सका है । प्रस्तुत संग्रह के सभी नाटकों मे यह दोष है । कौतूहल तत्व तो इस सग्रह में सभी नाटकों के आधे से अधिक भाग के निकलने पर आरम्भ होता है । पाठक शुष्क सम्वादों को पढ़कर ऊब जाता है ।

वर्मा जी के मतानुसार "एकांकी की कथा जीवन के 'आस-पास' से चुनी जानी चाहिए । हमारे जीवन के भीतरी दायरे के आस-पास अविराम ऐसी घटनाओं का प्रवाह चला करता है जिनमें अन्तरात्मा का रहस्यमय मौन सकेत निहित रहता है ।" परन्तु वर्माजी का यह कथन एक आदर्श-मात्र है । प्रयोग में इसे असफलता मिलती है, क्योंकि नाटक केवल भीतर की ही वस्तु नहीं है । उसमे वाह्य और अन्तर का सफल सामंजस्य होता है । अन्तरात्मा का संकेत वाह्य घटनाओं की अनुभूतियों पर ही अवलम्बित रहता है । इसलिए नाटक में केवल अन्तरात्मा का ही चित्रण उसे अव्यावहारिक बना देगा ।

इसके अतिरिक्त वर्मा जी नाटक मे प्रगति की उग्रता को स्थान नहीं देना चाहते। वे नाटक मे सुकुमारता को देखने दिखाने के अभ्यस्त हैं अत: प्रगतिशीलता की कुरूपता एवं कुत्सितता उन्हें पसन्द नहीं हैं। दूसरे नाटक द्वारा दिए गए संकेत मे पूर्ण संयम होना चाहिए। दर्शकों के हृदय पर जितना प्रभाव नाटक का पड़ता है उतना प्रभाव अन्य प्रकार के काव्य पाठकों पर नहीं डाल सकते। इसी से वे नाटकों में कुत्सित भावनाओं को बचाने का पक्षपाती है। इसकी अवहेलना करने से समाज पर नाटक का विषतुल्य प्रभाव पड़ सकता है जैसे कि आजकल के चित्रपट। इसके अतिरिक्त प्रगतिशील लेखक 'मनुष्यता' के स्थान पर 'वर्ग' को लेकर चलता है। इसलिए उसका दृष्टिकोण विस्तृत न होकर संकुचित हो जाता है। वर्मा जी स्वयं प्रगति के विरोधी हैं। उनके नाटकों मे प्रगतिपूर्ण विचारधारा के दर्शन होते हैं, परन्तु उनकी प्रगति स्वस्थ, सुन्दर एवं सुकुमार है। कारण यह है कि वे अपने नाटकों में सर्वत्र आदर्श व यथार्थ को, भौतिकता और अध्यात्म को, दर्शन व कल्पना को मिला कर चले हैं। उनके नाटको का आधार मनोविज्ञान है। मानसिक विश्लेषण, विचारों की परिस्थितियो के अनुरूप गति उनके नाटकों मे अत्यन्त सुन्दर है।

प्रश्न ५—श्री उदयशंकर भट्ट की नाट्यकला पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भट्टजी हिन्दी साहित्य के बहुमुखी प्रतिभा वाले कलाकार हैं। उन्होंने काव्य, नाटक, गीतिनाट्य तथा उपन्यास लिखे हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने सम्पादन भी किया है। हिन्दी में उनकी ख्याति एक सफल नाटककार के रूप मे ही अधिक है। उनका नाट्य साहित्य उनके काव्य साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व पूर्ण है। उनके नाटकों की तीन शैलियाँ हैं—नाटक, एकाँकी नाटक और गीति नाट्य। उनके नाटक तीन प्रकार के हैं—पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक। पौराणिक नाटको में 'अम्बा' और सगर विजय प्रमुख हैं। इनके पूर्व उन्होंने 'दाहर अथवा सिंध पतन' और 'विक्रमादित्य' नामक दो ऐतिहासिक नाटक लिखे थे। इनके अतिरिक्त 'कमला' और 'अन्तहीन अन्त' उनके सामाजिक नाटक हैं।

भट्टजी के एकाँकियों के अब तक चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'अभिनव एकाँकी नाटक', 'स्त्री का हृदय', 'समस्या का अन्त' और 'धूम-शिखा'। इन एकाँकियों में भट्टजी ने सामाजिक और राजनीतिक सामग्री को कथानक का रूप देकर प्रस्तुत किया है। इनमें कुछ सुखान्त हैं और कुछ दुखान्त इन्हीं में 'जवानी' नामक एक नाट्य रूपक भी है। इसके विविध पात्र विविध अपदार्थ जगत् के तत्वों के रूपक हैं। आगन्तुक विचारक का रूपक है, स्त्री स्मृति का रूपक है और युवती जवानी का रूपक है। इस प्रकार का नाट्य रूपक हिन्दी में उनकी प्रथम रचना है।

भट्ट जी की तीसरी शैली के नाटक गीति नाट्य या भाव नाट्य कहलाते हैं। उन्होंने अब तक तीन गीतिनाट्य लिखे हैं। मत्स्यगंधा, विश्वामित्र और राधा। इन नाटकों मे कार्य की उपेक्षा भाव का प्राधान्य है अन्य दृश्य काव्यों के समान इसमे कार्य प्रधान नहीं होता। भावना प्रधान होने के कारण गीतिनाट्यों में आन्तरिक द्वन्द्व का चित्रण अधिक होता है। वाह्य संघर्ष की अवतारणा केवल आन्तरिक संघर्ष को अधिक तीव्र बनाने के लिए की जाती है। भट्टजी का 'मत्स्यगंधा' अत्यन्त उच्चकोटि का गीति नाट्य माना जाता है। इसमें यौवन की अतृप्त एवं दुर्निवार्य लालसा एवं समाज से संघर्ष दिखा कर उसका पतन दिखाया गया है। 'विश्वामित्र' की कथा प्रतीकात्मक है। भट्ट जी के ही शब्दों में—"विश्वामित्र पुरुष है, मेनका 'नारी है और उर्वशी उन दोनो का सघर्ष है। विश्वामित्र अहंकार है, बल है,' शक्ति का प्रतीक है, अभिमान है और है नर। मेनका प्रेम है, कोमलता है' भाव प्रवलता है, नम्रता है, स्फूर्ति है, जीवन है और हैं नारी!" अनादि काल से चले आते हुए नर नारी के सङ्घर्ष का ही इस भाव नाट्य में चित्रण किया गया है। राधा गीति नाट्य है। कृष्ण के प्रति राधा का आकर्षण, समर्पण और विलय इसका विषय है। भट्टजी के गीति-नाट्यों में कवित्व की प्रचुरता है। इसके साथ ही प्रवाहमान भावुकता तथा कल्पना-विलास के कारण उनके गीति-नाट्यों का रूप निखर आया है।

भाषा विशुद्ध हिन्दी है। उनकी भाषा मे संस्कृत के तत्सम् शब्दों का बाहुल्य है। शब्द चयन अत्यन्त संयत, भावानुकूल और प्रभाव पूर्ण है।

भाषा रस और विषयानुकूल रहती है। इसी कारण उसमें कभी ओज, कभी माधुर्य तथा कभी प्रसाद गुण के दर्शन होते हैं। शब्द सरल और भाव व्यंजक होते हैं अतः संस्कृत के तत्सम् शब्दों का बाहुल्य होने पर भी भाषा क्लिष्ट नहीं हो पाई हैं। सम्वादों में यत्र तत्र सांकेतिक भाषा का भी प्रयोग किया गया हैं। इस प्रकार उनकी भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण, स्वाभाविक तथा प्रसाद और माधुर्य गुण पूर्ण हैं। उर्दू के शब्दों का प्रयोग बहुत कम है।

उनकी रचनाओं में दो प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं—विचारात्मक और भावात्मक। विचारात्मक शैली के दर्शन लम्बे सम्वादों में होते हैं। इस शैली में उनके वाक्य अपेक्षाकृत बड़े होते हैं पर उनमें भाषा की प्राँबलता और स्वाभाविकता बराबर बनी रहती है। उनके भावात्मक नाटकों में भावात्मक शैली हैं। इसमें वाक्य छोटे-छोटे और प्रवाहपूर्ण होते हैं। वाक्य विन्यास अत्यन्त स्पष्ट और भाव-व्यंजक होता हैं। उसमें भावों की दुरूहता के साथ एक प्रकार की तन्मयता भी रहती हैं। थोड़े में बहुत कह जाना इस शैली की विशेषता हैं। इसमें अद्भुत प्रवाह और वेग रहता हैं।

हड़ताल (जान गाल्सवर्दी)

(अनुवादक प्रेमचन्द)

प्रश्न १—'हड़ताल' की संक्षिप्त कथा लिखिए।

उत्तर—'हड़ताल' में उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैंड के पूँजीपतियों और मजदूरों के पारस्परिक सङ्घर्ष की कहानी है। टिनार्थ में टीन का कारखाना चल रहा था जिसकी नींव डालने का श्रेय उसके प्रधान डाइरेक्टर जान-ऐंथ्वनी का। इस कारखाने के डाइरेक्टरों में वाइल्डर, स्केंटलवरी, वेंकलिन और ऐथ्वनी का पुत्र एडगार ऐथ्वनी थे। एक बार कम मजदूरी के प्रश्न को लेकर कारखाने के मजदूरों ने हड़ताल करदी। कारखाना बन्द हो गया। उत्पादन बन्द हो जाने से कारखाने के डाइरेक्टर व्याकुल हो उठे क्योंकि वे पूँजीपति होने के कारण इस नुकसान को सहन करने में असमर्थ थे।

मजदूरों की ट्रेड यूनियन ने अपना नेतृत्व कायम रखने के लिए अपने एक प्रतिनिधि साइमन हार्निस के द्वारा मालिकों और मजदूरों में समझौता कराने का प्रयत्न किया। कथा का प्रारम्भ वहाँ से प्रारम्भ होता है जब कारखाने के मैनेजर अन्डरवुड के मकान पर कारखाने के सभी डाइरेक्टर इस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्र हुए। अन्डरवुड जान ऐंथ्वनी का दामाद था।

अंडरवुड के कमरे में डाइरेक्टरों की मीटिंग हो रही थी। जान ऐंथ्वनी इस निश्चय पर दृढ़ था कि मजदूरों से कोई समझौता न किया जाय। उसका विचार था कि मजदूर गरीब होने के कारण इस हड़ताल को अधिक दिनों तक चलाने में असमर्थ रहेंगे। उधर मजदूरों की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। परन्तु वे अपने नेता डेविड रावर्ट के नेतृत्व में झुकने के लिये तय्यार न थे। मजदूरों की कमेटी ने बोर्ड के डाइरेक्टरों को अपनी शर्तें भेजीं। साम्यवादी विचारधारा के अखबारों ने मजदूरों के पक्ष में प्रचार करना शुरू कर दिया। डाइरेक्टरों की मीटिंग में एडगार ने एक अखबार का कटिंग पढ़ कर सुनाया—"अगर उन सभ्य पुरुषों का बोर्ड, जो लन्दन में आराम कुर्सियों पर बैठे हुए टिनार्थ के टीन के कारखाने को चलाते हैं इतनी दया करे कि यहाँ आकर इस हड़ताल में मजदूरों की दुर्दशा को अपनी आँखों देखे तो हमें विश्वास नहीं होता कि उनके पाषाण हृदय भी द्रवित न हो जाय।" बोर्ड के अन्य डाइरेक्टर इसी समस्या को सुलझाने के लिए लदन से इस स्थान पर आकर एकत्र हुये थे। बोर्ड की मीटिङ्ग में इसी विषय पर बहस हो रही थी। जान ऐंथ्वनी का सिद्धाँत था कि—"मजदूरों से एक बार दबे तो फिर हमेशा दबते रहना पड़ेगा।" परंतु अन्य डाइरेक्टरों का यह मत था कि कारखाने के हिस्सेदार हड़ताल के कारण हो रही क्षति को अधिक समय तक वर्दाश्त करने में असमर्थ हैं। एडगार के हृदय में मजदूरों के प्रति सहानुभूति थी। उसका कहना था कि "हड़ताल जारी रखने का मतलब यह है कि मजदूरों के बाल बच्चे भूखों मर जायँ।" अन्य डाइरेक्टरों को मजदूरों के बालबच्चों की अपेक्षा अपनी और हिस्सेदारों के मुनाफे की ही चिंता थी। ऐंथ्वनी ने स्पष्ट रूप से डाइरेक्टरों को यह बता

दिया कि उनके यहाँ आने का एकमात्र उद्देश्य यह था कि—"मजदूरों से यह कहने के लिए कि हमसे कोई आशा मत रखो। जब तक उनसे सीधी-सादी भाषा में कह दिया जायगा उन्हें इसका विश्वास न आएगा।" अन्य डाइरेक्टर इस बात के विरोधी होते हुये भी अपने सभापति का विरोध न कर सके।

डाइरेक्टरों की इसी मीटिंग के समय यूनियन का प्रतिनिधि मिस्टर हार्निस आ गया। उसने डाइरेक्टरों को धमकी दी कि—"आपको बगैर पञ्चायत की मदद के मजदूर न मिलेंगे।" ऐंथ्वनी ने उत्तर दिया कि—अगर मजदूर लोग काम पर आ जायँ तो हम उनके साथ कुछ रियायत कर देंगे। परंतु चालाक हार्निस ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसी समय मजदूरों की कमेटी का प्रतिनिधि डेविट रावर्ट वहाँ आ गया। रावर्ट इस कारखाने इंजीनियर था। उसने एक यंत्र का आविष्कार किया था जिसके बदले में कारखाने के मालिकों ने उसे ७००) रुपये देकर, उसे खरीद कर, एक लाख का मुनाफा कमाया था। रावर्ट इस हड़ताल को अन्त समयतक चलाना चाहता था। परन्तु उसके साथी सकट सहने में असमर्थ होने के कारण हिचकिचा रहे थे। रावर्ट ने स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में डाइरेक्टरो से कह दिया कि जब तक मजदूरों की सभी माँगें स्वीकार नहीं करली जातीं हड़ताल समाप्त नहीं होगी। हार्निस उठकर चला गया। रावर्ट और उसके साथी मजदूर भी चले गये। इन लोगों के चले जाने के उपरांत अन्य डाइरेक्टरो एवं ऐंथ्वनी की पुत्री एनिड ने जान ऐंथ्वनी को समझाया कि इस समस्या को कुछ झुककर सुलझा लो परन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। यहाँ तक प्रथम अङ्क की कथा है।

द्वितीय अङ्क में डेविट रावर्ट के झोपड़े का दृश्य है। यहाँ रावर्ट की पत्नी बीमार पड़ी हुई थी। उसके पास अन्य मजदूरों की स्त्रियाँ बैठी हुई इसी हड़ताल की समस्या पर बातचीत कर रही थीं। टामस नामक एक वृद्ध मजदूर की पुत्री मैज भी वहाँ थी। वह इस हड़ताल के विरुद्ध थी क्योंकि इसका सबसे बड़ा असर मजदूरों की स्त्रियों पर पड़ रहा था। वे अर्थाभाव के कारण अत्यन्त कष्ट में थीं। इस बातचीत के दौरान में अन्डरवुड की पत्नी

एनिड वहाँ आ गई। वह मिसेज रावर्ट को पहले से जानती थी अतः उसकी कुशल क्षेम पूछने और रावर्ट को अपने निश्चय से विरत करने के लिये यहाँ आई थी। वहाँ मैज ने उसका अपमान किया। एनिड ने मिसेज रावर्ट से कहा कि यह हड़ताल रावर्ट के उकसाने से ही चल रही है। यदि वह मान जाय तो यह टूट सकती है। वे दोनों इसी समस्या पर बातचीत कर रही थीं कि उसी समय रावर्ट वहाँ आ गया। एनिड ने रावर्ट से बातें करने का प्रयत्न किया परन्तु उसने साफ कह दिया कि वह उससे बात नहीं करना चाहता। परन्तु एनिड ने उससे बहस प्रारम्भ करदी। इस पर रावर्ट ने कहा कि—"क्या मिस्टर ऐंथ्वनी गरीब स्त्रियों और बच्चों की गरदन पर छुरी चलाना वीरता समझते हैं।" इसी बहस के दौरान में अन्डरवुड वहाँ आ गया और अपनी पत्नी एनिड को ले गया। इधर रावर्ट की पत्नी की तबियत खराब हो गई। परन्तु रावर्ट उसे अपने ओवरकोट से ढककर मजदूरों के जलसे में चला गया। उसके जाने के उपरान्त उसे ढूँढता हुआ हेनरी टामस वहाँ आया। वह इस हड़ताल के विरुद्ध था। वह भी जलसे में चला गया। इधर मिसेज रावर्ट की दशा खराब होती चली गई।

इसी अङ्क के द्वितीय दृश्य में मजदूरों की सभा का दृश्य है। उस सभा में साइमन हार्निस मजदूरों को अपनी शर्तों के अनुसार चलने के लिए समझा रहा था। रावर्ट एकबार चुपचाप खड़ा था। मजदूरों में से कुछ हार्निस के समर्थक थे और कुछ विरोधी। उसने मजदूरों के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि—"बोलो क्या मंजूर है? हमसे मिलकर विजय पाना चाहते हो, या इसी तरह भूखों मरना?" इसी बीच टामस ने मच पर धर्म और प्रकृति की दुहाई देकर इस हड़ताल को समाप्त करने की अपील की। उसने यूनियन पर भी अविश्वास प्रकट किया। यह सुनकर रावर्ट मंच पर आया और अपनी प्रभावपूर्ण वाणी से उसने मजदूरों को डटे रहने की सलाह दी। उसके विरोधियों ने इस पर आवाज उठाई। रावर्ट ने कहा कि यह शोषक और शोषितों का युद्ध है। पूँजीपतियों की इस पूँजी को समाप्त करना ही होगा। परन्तु हार्निस के समर्थकों ने नारा बुलन्द किया कि हमें यूनियन का समर्थन करना चाहिए। इसी समय मैज ने आकर सूचना दी कि रावर्ट की

स्त्री मर गई। रावर्ट यह सुन कर अपने व्याख्यान को अधूरा छोड़कर चला गया। उसके विरोधियों ने यह देखकर सभा भङ्ग कर दी।

तीसरे अङ्क में पुनः कारखाने के मैनेजर अन्डरवुड के मकान में डाइरेक्टरों की मीटिंग का दृश्य है। एनिड अपने भाई एडगार को समझा रही थी कि किसी प्रकार इस समस्या को सुलझाना चाहिए नहीं तो उसके पिता की दशा बहुत बुरी हो जायगी। परन्तु एडगार का मत था कि उसका पिता गलत रास्ते पर है। उसे झुकना ही चाहिए। इसी बातचीत के दौरान में पाँच बज गए और मीटिंग का समय हो गया। एडगार को पूर्ण विश्वास था कि इस मीटिंग में उसके बाप का विरोध होगा और उसे इस्तीफा देना पड़ेगा। हुआ भी यही। इसी समय मैज वहाँ आई और उसने एनिड से कहा कि राबर्ट की पत्नी भूख प्यास से मर गई है। उसका एनिड के लिए यही सन्देशा है कि उसकी बूढ़ी माँ की देखभाल करे। मीटिंग में मिसेज में रावर्ट की मृत्यु के समाचार ने आतंक उत्पन्न कर दिया। एडगार ने इस मृत्यु की जिम्मेदारी बोर्ड पर डाली परन्तु धम भीरु डाइरेक्टर इसे स्वीकार न कर किसी भी प्रकार समझौते के लिए व्यग्र हो उठे। उसी समय साइमन हार्निस वहाँ आया। बोर्ड में प्रस्ताव रखा गया कि मजदूरों से समझौता कर लिया जाय। जान एंथ्वनी ने इसका विरोध किया परन्तु बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। सभापति ने त्यागपत्र दे दिया। इसी समय रावर्ट वहाँ आया और अपनी इस असफलता पर उसे अत्यन्त दुख हुआ क्योंकि बोर्ड ने हार्निस की शर्तों को स्वीकार कर लिया था जो मजदूरों के लिए घातक थीं। परन्तु हार्निस को मजदूरों का सहयोग प्राप्त था इसी से उसकी विजय हुई। इसमें हार्निस ने मजदूरों के साथ विश्वास घात किया था क्योंकि ये वही शर्तें थीं जो हार्निस ने डाइरेक्टरों की सलाह से बनाई थीं। इस प्रकार यह हड़ताल यूनियन के स्वार्थी प्रतिनिधि हार्निस की दगाबाजी से असफल रही।

प्रश्न २-'हड़ताल' पर एक संक्षिप्त आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—'हड़ताल' उन्नीसवीं शताब्दी के अङ्गरेजी के प्रसिद्ध लेखक जान गाल्सवर्दी की रचना है। इसमें पूंजी और श्रम के संघर्ष की कहानी है।

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का श्री गणेश हुआ जिसका गहरा असर उसके समाज, रहन सहन के ढङ्ग, कला और व्यापार के तरीके और मुल्क के सङ्गठन और प्रबन्ध पर पड़ा। मानव जीवन का कोई भी क्षेत्र इसके प्रभाव से अछूता न रह सका। हर एक आन्दोलन में नए पुराने, गुजरे हुए और आने वाले जमाने का संघर्ष होता है। जब परिवर्तन की चाल तेज होती है और संघर्ष की दशा विकट, तो हमारे भावों में बेचैनी पैदा होती है और वह प्रकट होने की राह ढूंढ़ते हैं। न दबने वाले भाव भड़क उठते हैं, लिखने वाले का दिल ठेस खाता है और वह मजबूर होता है कि आत्मा को क्लेश देने वाले सकट को नाटक के रूप में प्रकट करे। उन्नीसवीं शताब्दी में मनुष्य का मन इस बात को नहीं सह सकता था कि उसके पैर पुरानी बेड़ियों से जकड़े रहें। अपने गौरव का नया अनुभव आजादी और समता की नई राहों पर चलाता है और उसके मन में नई रस्मों, नई रिवाजों और जीवन के नए ढङ्गों की इच्छा पैदा होती है। इन्हीं की छाया इस नाटक में स्पष्ट हो उठी है।

उस युग में इङ्गलैण्ड का सामन्तवाद मर रहा था और पूंजीवाद पनप रह था। पूंजीपति अपनी पूंजी के बल पर श्रमिकों का शोषण कर रहे थे। धनी व्यक्तियों में प्रायः मानवता का अभाव पाया जाता है। वे केवल अपनी पूंजी की वृद्धि के लिए चिन्तित रहते हैं। इसके लिए उन्हें श्रमिकों के सुख, आराम और प्राणों तक का हरण करने में भी सकोच नहीं होता। सरकार प्रायः धनवानों की ही होती है अतः मजदूरों को दबाने में वह सदैव धनवानों का साथ देती है। प्रस्तुत नाटक में उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में चल रहे श्रम और पूंजी के इसी संघर्ष की कहानी है।

पूँजीपति सदैव कठोर और दुर्बल चरित्र वाले होते हैं। उन्हें सदैव अपनी पूंजी की रक्षा की ही चिन्ता रहती है। इसके लिए वे कभी कभी धर्म का भी सहारा लेते हैं। यह भावना वृद्धों में अधिक पाई जाती है क्योंकि वृद्ध स्वभाव से प्रतिक्रियावादी होते हैं। परिवर्तन उन्हें सदैव से असह्य रहा है। जान ऐंथ्विनी इसी प्रकार का धनी और वृद्ध पुरुष है। इसके विपरीत उसका ३२ वर्षीय पुत्र एडगार, युवक होने के कारण उदार

है। मजदूरों की दयनीय दशा से वह क्षुब्ध है और इसके लिए अपने पिता का विरोध करने में भी नहीं चूकता। अन्य डाइरेक्टर जो छोटे पूंजीपति हैं अत्यन्त दुर्बल चरित्र वाले हैं। उन्हें केवल अपनी पूंजी और मुनाफे की चिन्ता है। वे मजदूरों के सङ्गठन से भयभीत हैं। यह दुर्बलता प्रायः ओछी पूंजी वालों में ही पाई जाती है।

यूनियन के अधिकारी प्राय: ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो स्वयं श्रमिक नहीं होते। वे श्रमिकों के चन्दे के बल पर अपना उदर पोषण कर अपने नेतृत्व को कायम रखने की चिन्ता में रहते हैं। साइमन हार्निस इसी प्रकार का चरित्र है। वह डाइरेक्टरों से मिलकर श्रमिकों के साथ विश्वासघात करता है। आजकल भी ट्रेड यूनियनों के ऐसे अधिकारियों का अभाव नहीं है जो एक ओर तो अपनी नेतागीरी कायम रखने के लिए मजदूरों को भड़काकर हड़ताल करवा देते हैं और दूसरी ओर पूंजीपतियों से मिलकर धन ऐंठते हैं। भोले मजदूर इनके बहकावे में जल्दी आ जाते हैं।

मजदूरों की दशा सदैव से बड़ी बुरी रही है। प्रेमचन्द जी ने उस नाटक का अनुवाद सन् १६३० में किया था। उस समय देश पर एक भयङ्कर आर्थिक सङ्कट छा रहा था। कारखानों में हड़तालें हो रही थीं। इस समय यहाँ के मजदूरों की वही दशा थी जो उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड के मजदूरों की थी। यहाँ उस समय तक पूंजीपति अधिक शक्तिशाली नहीं हो पाए थे। सरकार में उन्हीं पूंजीपतियों और सामन्तों का प्रतिनिधित्व था। सरकार की सहायता से सामन्त किसानों को दबा रहे थे और पूंजीपति मजदूरों को। इस नाटक में वर्णित कथा में से यदि अंग्रेजी नामों को हटाकर हिन्दुस्तानी नाम रख दिये जायं तो यह उस समय की यहाँ की स्थिति का ही पूर्ण चित्र प्रतीत होगा। मजदूर अशिक्षित और असङ्गठित हैं। उनमें जूआ खेलने और शराब पीने की बुराइयाँ सदैव से रहती चली आई हैं। इसी कारण वे अपना भला बुरा समझने में असमर्थ रहते हैं। उन्हें जो चाहे भड़का सकता है। उनमें स्वयं सोचने की बुद्धि का अभाव रहता है। इसी कारण पहले साइमन हार्निस उन्हें अपनी लच्छेदार बातों से प्रभावित कर अपनी ओर कर लेता है और बाद में राबर्ट भी उन्हें इसी

प्रकार प्रभावित करने में सफल हो जाता है। उनके बाल बच्चों की दशा अत्यन्त दयनीय रहती है। वे जूआ और शराबखोरी की आदत की वजह से रुपया नहीं बचा पाते। यही कारण है कि हड़ताल के दिनों में उनकी दशा अत्यन्त दीन हो जाती है। धनाभाव से घबड़ाकर वे पालिकों के सामने आत्म-समर्पण करने को प्रस्तुत हो जाते हैं।

रावर्ट इस हड़ताल का कारण बताते हुए स्पष्ट शब्दों में कहता है—"यह इस देश के रक्त और माँस चूसने वालों की लड़ाई है—एक तरफ वह लोग हैं जो मुंह से निकलने वाली हरेक साँस और हाथ से चलने वाली हरेक चोट के साथ अपनी देह घुलाते हैं, दूसरी तरफ वह जन्तु है जो उनका माँस खाकर मोटा हो रहा है और दयालु प्रकृति (?) के नियमानुसार दिन दिन फूलता चला जाता है। यह जन्तु पूंजी है। यह वह चीज है जो आदमियों के माथे का पसीना और उनके मस्तिष्क की पीड़ा अपने दामों मोल लेती है।" इन शब्दों में पूजीवाद का भयङ्कर और वीभत्स रूप स्पष्ट रूप से अङ्कित हो गया है। यही समस्या आज सारे संसार में व्याप्त है। यही संघर्ष आज की अशान्ति का मूल कारण है। प्रेमचन्द जी ने अपनी सरल, मुहावरेदार शैली और भाषा में इस नाटक का अनुवाद कर जनता पाठकों का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया था।

इक्कीस कहानियाँ

प्रश्न १—कहानी के प्रधान तत्वों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

उत्तर—कहानी में जिन घटनाओं, क्रिया कलापों और व्यौपारों का वर्णन होता है उनका सगठित होना आवश्यक है क्योंकि उनका संगठित रूप ही कथानक कहलाता है; ये घटनाएं पात्र के जीवन में युगान्तर या परिवर्तन करने वाली होती है। प्रत्येक कहानी, लेखक, पात्रों की योग्यता और स्थिति तथा विषय और उद्देश्य के अनुसार ही इन्हें प्रस्तुत करता है। इस कथानक के कलेवर में ही हमें क्रमशः पात्रों का परिचय मिलता है।

क्योंकि कथानक में इन पात्रों के जीवन के चमत्कार पूर्ण अंश या भाव का चित्रण होता है ?दो पात्रों के मिलने पर, आपस में, बातचीत, भाव भंगी और अभिनय आदि का समन्वित रूप ही कथोपकथन कहलाता है, घटनायें किसी विशिष्ट स्थान, काल और परिस्थिति में घटती हैं, वर्णन द्वारा इन तीनों स्थितियों का मूर्त रूप उपस्थिति कर देना ही वातावरण कहलाता है। कहानी के अन्तराल में लेखक का व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति का ढंग ही शैली है। कहानी निरुद्देश्य नहीं होती और न ही उसमें स्वप्न लोक की बातों से मनोरंजन करने का उद्देश्य होता है। उसमें तो जीवन की सुख-दुख:मयी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का प्रकाशन होता है। कहानीकार भी निरुद्देश्य लिखने में प्रवृत्त नहीं होता। वह जीवन में जिस आंशिक सत्य का प्रकाशन करना चाहता है, वही कहानी का उद्देश्य होता है। कहानी में औत्सुक्य और कौतूहल सुरक्षित रखने के लिए वह कहानी के मूल भाव को सबसे अन्त में अभिव्यक्त करता है। कलाकार की कुशलता इसी में निहित है कि वह कहानी के उस केन्द्र-विन्दु की अभिव्यक्ति के साथ ही चमत्कार-पूर्ण ढग से कहानी का अन्त भी कर दे। कहानी के इसी चरम-परिणति या आदर्श भाव को (Climax) क्लाइमेक्स कहते हैं। इसका समावेश कथानक में ही किया जा सकता है।

इस प्रकार रचना की दृष्टि से कहानी के निम्नलिखित तत्व होते हैं—

१—कथानक, [वस्तु, वृत्त या Plot ||

२—पात्र [चरित्र चित्रण]

३—कथोपकथन

४—वातावरण

५—शैली

६—उद्देश्य

इन मूल तत्वों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इनका अलग अलग विवेचन करना आवश्यक हैं।

कथानक—कहानी में कथानक का महत्वपूर्ण स्थान है, यही कहानी का ढाँचा है; इसके अभाव में कहानी का निर्माण असम्भव है। जब से

मनोविश्लेषण कहानी में महत्वपूर्ण माना जाने लगा कथानक की प्रमुखता अपेक्षाकृत कम हो गयी, किन्तु फिर भी इसके अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। कथावस्तु का प्लाट कलाकार की उन अत्यन्त अनुभूतियों से प्राप्त होता है जिन्हें वह दैनिक जीवन में संचित करता है। जिस घटना का प्रभाव उसके हृदय पर सबसे अधिक पड़ता है उसे ही वह कथावस्तु का रूप देता है, यह घटना चाहे उसके अपने जीवन में घटी हो या दूसरों के, अन्य व्यक्तियों की जीवन-घटनाओं को सुनकर या देख कर किसी भी भाँति जान सकता है, इसीलिए भारतीय आचार्यों ने कथानक के तीन भेद माने हैं, (१) प्रख्यात (२) उत्पाद्य (३) मिश्रित।

स्वरूप—कथानक, उक्त तीनों भेदों में से, चाहे किसी प्रकार का हो, स्वरूप की दृष्टि से चार प्रकार का होता है। (१) घटना प्रधान (२) चरित्र प्रधान (३) भाव प्रधान (४) वर्णात्मक।

घटना प्रधान—कथानक में घटनाओं की ही प्रधानता होती है। प्रत्येक घटना आपस में कार्य कारण की शृंखला में बधी होती है। इसमें दैवी—संयोग एवं अतिमानवीय शक्तियाँ कार्य करती हैं। प्राचीन कहानियों में रस सृष्टि का कार्य घटना चमत्कार द्वारा ही किया जाता था। जासूसी कहानियों का आधार इसी प्रकार का कथानक होता है।

चरित्र प्रधान—यहाँ पात्र विशेष या पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने में ही कथानक की इति कर्त्तव्यता रहती है, चरित्र विश्लेषण की पृष्ठ भूमि ही इसका आधार होता है। वही कथा की सम्पूर्ण नाटकीय व्यंजना, चरित्रों का विकास और उनकी मनोवृत्तियों का निदर्शन करती है। मानव की चारित्रिक उलझनों और विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्त होने वाली उसकी चरित्र गत विशेषताओं को ही वर्ण्य विषय बनाने में चरित्र प्रधान कथानक की सृष्टि होती है। प्रेमचन्द और सुदर्शन की अधिकाँश कहानियों में इसी प्रकार का कथानक ग्रहण किया गया है।

भाव प्रधान—कथानक में प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि निरन्तर भावों में से किसी एक की प्रभावशाली अभिव्यक्ति होती है। इसमें घटना और चरित्र का विशेष महत्व नहीं होता। सम्पूर्ण कथानक एक विशेष

मनोदशा या भाव मुद्रा का ही प्रतिफल जान पड़ता है। अन्त में संघर्षों का अङ्कन होते हुए भी अभीष्ट भाव की धारा अविछिन्न रूप में प्रवाहित हुई दिखाई पड़ती है और उस भाव विशेष की अभिव्यक्ति कथानक की आधार शिला बनकर भी अपने आप में पूर्ण होती है। घटना और चरित्र की विस्मृति में यह आदर्श भाव ही स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। प्रसाद जी की कहानियाँ इसके उदाहरण हैं।

वर्णनात्मक—कथानक में वर्णन वैचित्र्य ही उसका प्राण होता है। दृश्य चित्रण और वातावरण प्रस्तुत करने के लिये कहानीकार, चित्रमय शब्दों का प्रयोग करता है। उसका उद्देश्य घटना वैचित्र्य, चरित्र विश्लेषण और भाव सिद्धि की अपेक्षा वर्णन का चमत्कार-प्रदर्शन होता है। इसमें वर्णनात्मक काव्य का रस उपलब्ध होता है। हृदयेश जी की रचनायें इसी प्रकार की हैं।

दृश्य विधान—कथानक में एक या उससे अधिक घटनाएं क्रमबद्ध रूप से संश्लिष्ट रहती हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कहानी में इस तत्व का उपयोग करते हुए उसकी प्रत्येक घटना क्रमशः उपस्थित की जाय। कहानी का उद्देश्य मनोवेगो को तरङ्गित करना है, अतः उसे कलात्मक रूप देने के लिये कहानीकार कथानक के प्रारम्भ, मध्य या अन्त की किसी भी घटना के पहले उपस्थित कर सकता है। घटनाओ के क्रम विपर्यय का उद्देश्य कहानी में औत्सुक्य और कौतूहल की रक्षा है, क्योंकि इनके अभाव में वह नीरस और आकर्षण हीन बन जायगी। कथानक के विभाजन के लिए वह दृश्य-विधान का आश्रय लेता है। यह दृश्य-विधान सम्भवतः दृश्य काव्य (नाटक) से ही आया है। कहानी मे प्रथम दृश्य लिखने के स्थान पर एक दो आदि संख्यायों का ही उपयोग होता है। प्रत्येक दृश्य के आरम्भ मे नाटकीय अवतारण की अपेक्षा रहती है, और दृश्यान्त मे चरम परिणति; किन्तु दृश्यान्त मे ही रस विशेष का परिपाक नहीं होता, अतः उसका प्रभाव कम होता है। आजकल तो कई कहानियों इतनी छोटी होती हैं कि एक ही दृश्य में उनकी समाप्ति कर दी जाती है, ऐसी कहानियों प्रायः भाव प्रधान होती हैं।

कथानक में तीव्रतम स्थिति (Climax) की कल्पना संघर्ष की उपस्थिति को अनिवार्य मानकर की गई है। इस सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। जहाँ कहानी का मुख्य भाव परिक्वावस्था में पहुंच जाता है वहाँ ही तीव्रतम स्थिति मानी जा सकती है या जहाँ संशय और अनिश्चयता को स्थिर रखने वाले कहानी के प्रच्छन्न भाग का उदघाटन हो जाय, वहाँ ! जब कथानक के मध्य भाग में ही पात्र विशेष के चरित्र में परिवर्तन करने के लिये तीव्रतम स्थिति का उपयोग होता है, तब अन्त शिथिल हो जाता है।

पात्र और चरित्र चित्रण—पात्र कथावस्तु के सचालक हैं, अतः निजी व्यक्तित्व रखते हुए भी इन्हें कथानक में घुला मिला रहना चाहिए। पात्रों के निर्माण में कल्पना की अपेक्षा कलाकार की अनुभूति अधिक सजग रहती हैं। पात्र, अतीत, वर्तमान या भविष्य किसी युग विशेष के हों, उनका पार्थिव एव सप्राण होना आवश्यक है। कहानी के लिए पात्रों का ही समावेश उचित है, क्योंकि अपनी लघु सीमा में वह बहुसंख्यक पात्रों के चरित्र को स्पष्ट नहीं कर सकती। उत्तम श्रेणी की कहानियों में दो से अधिक पात्रों के लिए स्थान बनाना कठिन है। कभी कभी पात्रों के सृजन का उद्देश्य एक ही भावना के दो दृष्टिकोणों से निरुपित करना होता है; पर ऐसे स्थान पर पात्र गौण बन जाते हैं। प्रारम्भ में पात्र, दृश्य रहते हुए भी अदृश्य, प्रस्तुत रहते हुए अप्रस्तुत रहें तभी कहानी में रहस्य की सृष्टि होती है। यही रहस्य आनन्द बनता है तथा पात्र के चरित्र की विशेषता एक बार ही झलका देता है।

चरित्र चित्रण—उपन्यास की अपेक्षा कहानी में चरित्र चित्रण अत्यंत ही कठिन है। कहानी में अवकाश नहीं होता कि पात्र की अवस्था, रूप, रङ्ग, आकृति-प्रकृति, वेश भूषा और सामाजिक स्थिति आदि का विस्तृत विवरण उपस्थित किया जाय। चरित्र चित्रण के लिए चार साधनों का उपयोग किया जाता है—वर्णन, संकेत, कथोपकथन और घटना।

जब लेखक स्वयं पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करता है या किसी अन्य पात्र के द्वारा पात्र विशेष के चरित्र की आलोचना करवाता है

तब उसे वर्णनात्मक चरित्र चित्रण कहा जाता है। आधुनिक पद्धति में इसका आश्रय कम ही लिया जाता है क्योंकि किसी भी पात्र के सम्बन्ध में लेखक का निर्णय मान्य कर लेने से चरित्रगत रहस्य का सृजन नहीं हो सकता। यदि प्रारम्भ में किसी पात्र को लेखक क्रोधी बतलाये और अन्त में भी वह घटना चक्रों से निकलने के बाद क्रोधी ही बना रहे तो उस पात्र में आकर्षण कहाँ ? और यदि उसके स्वभाव में परिवर्तन हुआ तो कार्य कारण की एक लम्बी श्रृंखला उपस्थित करनी पड़ती है। औत्सुक्य की रक्षा के लिए भी पात्र की व्याख्या अनावश्यक है। कथानक के विकास के साथ साथ पाठक को स्वयं पात्रों से परिचित होने देना चाहिए। प्रसादजीकी "आकाश दीप" कहानी 'इन्द्रजाल' से इसलिए उत्कृष्ट है क्योंकि प्रथम में चरित्र चित्रण के लिए प्रारम्भ में ही व्याख्या का आश्रय नहीं लिया गया है। और चम्पा तथा बुद्ध गुप्त रहस्यमय ढङ्ग से उपस्थित होते हैं।

साँकेतिक चित्रण में पात्रों के चरित्र की अभिव्यक्ति 'सरल', उदार, दानी, क्रोधी, हट्टा, कट्टा, आदि कह कर नहीं की जाती। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को प्रतीक बना कर लेखक कुछ ऐसे शब्द चित्र प्रस्तुत करता है जो पात्र के चरित्र की विशेषता की ओर संकेत मात्र कर देते हैं। ये चित्र पात्र के मनोभावों तथा प्रवृत्तियों पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं।

जब दो पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं तब उनके मनोभावों, विचारों और दृष्टिकोण का भी अनायास चित्रण हो जाता है। पात्रों के ये अभिव्यक्त भाव उनके चरित्र को मूर्त रूप देते हैं। इसे कथोपकथनात्मक चित्रण कहा जाता है। वस्तुत: चरित्र की स्पष्टता के लिए पात्र के वाह्य रूप को उपस्थित करना उतना आवश्यक नहीं जितना उसके अन्त: रूप को, इस अन्त रूप को अभिव्यक्त मिलती है कथोपकथन में, अतः चरित्र चित्रण के लिए यह साधन अधिक उपयुक्त समझा गया है। इसमें कहानी भी आगे बढ़ती है और चरित्रों का क्रमशः विकास भी मिलता है। कौशिक जी की कहानियों में चरित्र चित्रण का यही साधन अपनाया गया है।

विभिन्न घटनाओं के समय व्यक्ति का चरित्र जितना निखरा हुआ दिखाई पड़ता है उतना सामान्य स्थिति में नहीं। कहानी में मुख्य घटना की पुष्टि के

लिए अन्य कई छोटी छोटी घटनाओं का उपयोग किया जाता है। जब चरित्र चित्रण का कार्य इन घटनाओं से लिया जाता है तब वह घटनात्मक चरित्र चित्रण कहलाता है।

पात्रों का नामकरण भी उनके चरित्र की विशेषता प्रगट करता है। सामान्य पात्रों में सभी श्रेणी के व्यक्ति हो सकते हैं। इन पात्रों का कहानी में प्रयोग करते हुये भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनकी प्रवृत्तियों के निदर्शन से, उनके जीवन के अन्य रहस्यों के अनावरण से पाठकों पर बुरा प्रभाव न पड़े और न उनमें कुरुचि उत्पन्न हो। पाप चित्रों की सृष्टि और अभिव्यञ्जना की अपेक्षा पुण्य चित्रों का सृजन करके कला व साहित्य की अधिक सेवा की जा सकती है।

कथोपकथन—कथोपकथन एक नाटकीय तत्व है। अतः अभिनयात्मकता उसका प्रधान गुण है। चरित्र के विकास और कथानक की रचना में इसका प्रमुख भाग रहता है। कभी कभी तो सम्पूर्ण कहानी कथोपकथन द्वारा उपस्थित की जाती है। घटनाओं को गतिशील बनाने में भी इसको उपयोग किया जाता है। केवल वर्णन द्वारा प्रस्तुत की गई कहानी में लेखक का व्यक्तित्व भले ही उभर आए, परन्तु पात्रों का चरित्र अस्पष्ट ही रह जाता है। कथोपकथन को तीव्र और प्रभावशाली बनाने में शैली अधिक सहायता करती है। बंगला की कहानियों में तो इसका भरपूर उपयोग हुआ है। किसी भी पात्र के सम्भाषण द्वारा उसकी शिक्षा-दीक्षा, संस्कार और सभ्यता प्रगट हो जाती है। वाणी से ही पात्र के व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। सरल आकर्षक और लाक्षणिक शब्दावली जहाँ कथोपकथन को सुन्दर बना देती है वहाँ भावुकता का समावेश उसमें चार चाँद लगा देता है। पर यह भावुकता मानव प्रकृति के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए। संक्षेप में कथोपकथन को निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त होना चाहिए।

वातावरण—कहानी कल्पना लोक का स्वप्निल चित्रण नहीं, जीवन की जगमगाती वास्तविक झलक है। हमारा जीवन देश, काल और युग विशेष की परिस्थितियों से सम्बन्धित और प्रभावित होता है। पात्र भी जीवन के प्रतीक हैं, अतः ये भी इनसे अछूते नहीं रह सकते। कहानी में

'देश, काल या परिस्थितियों के संकलन या समीकरण को शब्द चित्रों के सहारे मूर्त्तरूप देना ही वातावरण प्रस्तुत करना है। अभिप्रेत प्रभाव की सिद्धि के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है क्योंकि ये ऐसा जादू है जो पाठक के मन और दृष्टि पर माया की छाया डाल देता है और हमें उस लोक में विचरण कराने लगता है जहाँ कहानी के पात्र सजीव और चेतन बने घटनाओं की रंगस्थली में अपना-अपना अभिनय पूरा करते हैं।

शैली—भाषा मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन है और शैली उस साधन का उपयोग करने की रीति। सुन्दर भाव उत्कृष्ट, कल्पना और गहन विचार मोहक शैली के अभाव में मर्मस्पर्शी नहीं बन सकते। सरल, सुबोध और सरस शैली कहानी के प्रभाव को व्यापक बना देती है। उक्ति प्रधान और अलंकृत शैली उसमें जान डाल देती है। विचारात्मक और गूढ़ रचना शैली की अपेक्षा भावात्मक प्रणाली ही कहानी में रोचकता उत्पन्न करती है। शब्द वे रेखाएं हैं जिनके टेढ़े मेढ़े प्रयोग से कलाकार अपने भाव चित्रों को अंकित करता है। अतः शब्द शक्ति का ज्ञान और इसके प्रयोग की क्षमता ही उसके चित्रण को मूल्यवान बनाती है। उक्तियों और अलंकारों का प्रयोग अभिव्यंजना की सामर्थ्य को बढ़ा देता है। कहानी में अलकृत भाषा भावाभिव्यक्ति और दृश्य चित्रण दोनों के लिए ही प्रयुक्त होती है।

अपेक्षित ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में प्रभाव की आकाँक्षा, घटना प्रधान कहानी अधिक रखती है। बीच बीच में हास्य, विनोद और व्यंग्य का प्रयोग भावोद्रेक के लिए आवश्यक है। कथावस्तु, पात्र, चरित्र चित्रण, कथोपकथन, वातावरण आदि कहानी के सभी मूल तत्वों के समुचित प्रयोग के लिए शैली का सौष्टव अनिवार्य है।

कहानी लिखने की कई प्रणालियाँ प्रचलित हैं जिनमें से लेखक अपनी रुचि के अनुसार किसी भी प्रणाली को अपना सकता है। इनमें पाँच मुख्य हैं—१-आत्मचरित प्रणाली, २-ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक प्रणाली, ३-कथोपकथात्मक प्रणाली, ४-पत्रात्मक प्रणाली और ५-डायरी प्रणाली।

उद्देश्य—काव्य की भाँति ही कहानी का उद्देश्य स्वान्तः सुखाय नहीं है। रस की सृष्टि जिस प्रकार काव्य का मुख्य लक्ष्य है उसी प्रकार कहानी

का भी। कला की अभिव्यक्ति के तीन कारण होते हैं। कलाकार जब भी बाहरी वस्तुओं या दृश्यों से प्रभाव ग्रहण करता है और उसका संवेदनशील हृदय तीव्र उद्वेलन को सम्हालने में असमर्थ सा होकर उसे वाणी द्वारा प्रभावित कर देता है, कभी कला को मूर्त्त रूप मिलता है। अथवा जब पूर्व संचित अनुभूतियों के उपकरणों से वह कल्पना द्वारा विभिन्न भावों को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतः उन्मुख होता है तब या जब वह किसी विचार को कल्पना के सहारे कलात्मक रूप देकर प्रस्तुत करता है उस समय उक्त तीन कारणों में क्रमशः भाव, कल्पना और बुद्धि पक्ष की प्रधानता होती है। उत्कृष्ट कला में तीनों का सुन्दर समन्वय अपेक्षित है क्योंकि इनके समन्वित रूप का ही स्थाई प्रभाव पड़ता है। कहानीकार भी अपने भाव और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कल्पना के शब्द चित्र द्वारा पाठकों के हृदय को भाव निमग्न कर देता है। इस भाव निमग्नता की अलौकिक अनुभूति में ही रस मिलता है। अतः जो कहानी हृदय के लिए आस्वाद्य बन कर उसे पुलकित करे वही सफल मानी जाती। सौन्दर्य बोध और हृदय को स्पर्श कर अपनी मार्मिकता से पुलकित करा देने मात्र से कहानी का उद्देश्य पूरा हो सकता है। कहानीकार का नहीं क्योंकि उसकी भावना की कलात्मक अभिव्यक्ति अर्थ विशेष रखती है जो उसके उद्देश्य में दिखाई पड़ती है।

संक्षेप में कहानी के मूल तत्व यही हैं जिनके आधार पर किसी कहानी की आलोचना की जाती है। यदि इन तत्वों में किसी भी कहानी में सम्पूर्ण तत्व मिल जाते हैं तो वह कहानी किसी भी साहित्य की अमूल्य निधि मानी जा सकती है जैसे—"उसने कहा था"। इनमें से किसी एक या दो तत्वों के अभाव में भी सुन्दर कहानी बन सकती है जैसे—"ताई।"

टेढ़े मेढ़े रास्ते (भगवतीचरण वर्मा)

प्रश्न १—'टेढ़े मेढ़े रास्ते' नामक उपन्यास की संक्षिप्त कथावस्तु लिखिए।

उत्तर—यह अवध के एक ताल्लुकेदार राजा पं० रामनाथ तिवारी के

तीन पुत्रों— दयानाथ, उमानाथ और प्रभानाथ की कहानी है। पण्डित रामनाथ तिवारी एक छोटे से ताल्लुके के स्वामी हैं। उनके तीन लड़कों में से दयानाथ काँग्रेसी हैं, उमानाथ कम्युनिष्ट है और प्रभानाथ क्रान्तिकारी है। दयानाथ कानपुर में रह कर वकालत करता है। उमानाथ जर्मनी पढ़ने के लिए गया है और प्रभानाथ विद्यार्थी है। सहसा एक दिन राजा साहब को सूचना मिलती है कि उनके बड़े लड़के दयानाथ ने काँग्रेस की सदस्यता स्वीकार कर उसका कार्य प्रारम्भ कर दिया है। सामन्तवादी राजा साहब इस सूचना से क्षुब्ध होकर दयानाथ को समझाने कानपुर जाते हैं। उनकी दृष्टि में कांग्रेस एक ऐसी संस्था है जिसमें शरीफों को नहीं जाना चाहिए। वहाँ पिता पुत्र में सैद्धान्तिक मतभेद के कारण वाद-विवाद होता है और राजा साहब पुत्र को चौवीस घण्टों का समय देकर चले आते हैं कि इस बीच में या तो काँग्रेस छोड़ दो या उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लो। दयानाथ की पत्नी बच्चों के भविष्य की चिन्ता कर पति से पिता की बात मान लेने का आग्रह करती है परन्तु दयानाथ अपने निश्चय पर दृढ़ रहता हैं और सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है।

इसी समय उमानाथ के देश लौटने का समाचार मिलता है। राजा साहब प्रभानाथ को उमानाथ का स्वागत करने के लिए कलकत्ते भेजते हैं। साथ ही दयानाथ से न मिलने का आदेश भी देते हैं। परन्तु प्रभानाथ चोरी से दयानाथ से मिलकर कलकत्ते चला जाता है। वहाँ उसकी मुलाकात वीणा नामक एक क्रान्तिकारी स्त्री से होती है जिसकी वह रक्षा करता है। वीणा का उसका परिचय बढ़ता जाता है। समय पर उमानाथ अपनी जर्मन पत्नी हिल्डा को लेकर आ पहुँचता है। वहीं उसकी मुलाकात मारीसन नामक एक कम्यूनिष्ट से होती है जो भारत में इस पार्टी का प्रधान है। हिल्डा कुछ दिन कलकत्ते रह कर वापस अपने देश को चली जाती है और ये सब लोग घर आ जाते हैं। घर आने से पूर्व वीणा प्रभानाथ का परिचय अपनी पार्टी के सदस्यों से कराती है और प्रभानाथ उस पार्टी का सदस्य बन जाता है

कानपुर में काँग्रेस का आन्दोलन जोरों पर है। दयानाथ उसका संचालन करता है। काँग्रेस के पूंजीपति सदस्य धन के बल पर स्वयं सेवकों के

भरती करना चाहते हैं । मार्कडेय जो दयानाथ का मित्र है इस आन्दोलन में सहायता करता है । दूसरी ओर ब्रह्मदत्त जो मजदूरों का नेता है दयानाथ के उच्चवर्गीय स्वभाव से अपमानित होकर उसका विरोधी बन जाता है । मरीसन उमानाथ भी मारीसन के साथ कानपुर को अपना केन्द्र बनाता है । उमानाथ को सारी स्थिति समझा कर स्वदेश लौट जाता है । इधर उमानाथ पर सी० आई० डी० विभाग की दृष्टि पड़ जाती है और उसे यह भय होता है कि वह कहीं गिरफ्तार न हो जाय ।

दूसरी ओर वीणा राजासाहब के विद्यालय में, प्रभानाथ के षडयन्त्र से प्रधानाध्यापिका बनकर आ जाती है । क्रान्तिकारी पार्टी का कार्य चलने लगता है । प्रभानाथ कई डाकों में भाग लेता है और अन्त में एक डाके में गोली खाकर अपने चाचा श्यामनाथ तिवारी के पास, जो सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस है, शरण के लिए जाता है । परन्तु खुफिया विभाग का एक उच्च अधिकारी उसका सुराग पा लेता है । वह प्रभानाथ को गिरफ्तार कर उसे इकवाली गवाह बनाना चाहता है । राजा साहब पूर्ण प्रयत्न करने पर भी उसे बचाने में असमर्थ रहते हैं । अन्त में वीणा, जो प्रभानाथ से प्रेम करती है, प्रभानाथ की पत्नी का स्वाँग रच कर जेल में उससे मुलाकात करने जाती है और उसे जहर दे आती है । प्रभानाथ उस जहरको खाकर मर जाता है । वह यही चाहता भी था । वीणा वहाँ से लौटकर उस पुलिस अधिकार को गोली से मार देती है ।

उधर राजा साहब के इलाके में उपद्रव होता है । इस प्रकार राजा साहब के आत्म सम्मान पर बराबर चोटें पड़ती है । वे तिलमिला उठते हैं । उमानाथ गिरफ्तारी के भय से देश छोड़कर भाग जाता है । दयानाथ अपने बुर्जुवा स्वभाव के कारण बदनाम हो जाता है । परिणाम यह होता है कि नगर कॉंग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद के चुनाव में वह हार जाता है । हार कर वह कॉंग्रेस को छोड़ देता है । इस प्रकार राजा साहब के तीनों पुत्र तीन विभिन्न राजनीतिक मार्ग अपनाते हैं परन्तु ये रास्ते सीधे सादे नहीं हैं—टेढ़े मेढ़े हैं अतः उन्हें सफलता नहीं मिलती । संक्षेप में इस उपन्यास की यही कथा है ।

प्रश्न २—'टेढ़े मेढ़े रास्ते पर एक विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—वर्मा जी के अनुसार काँग्रेस, कम्युनिष्ट और क्रान्तिकारी पार्टी—इन तीनों में से कोई भी रास्ता सीधा नहीं है, तीनों ही टेढ़े मेढ़े हैं। जीवन के पथ पर लक्ष्य की प्राप्ति इसमें से किसी को भी साधन मानकर नहीं हो सकती। साहित्य में आज राजनीति ने प्रवेश कर लिया है। और व्यक्ति की राजनीतिक चेतना भी प्रबुद्ध हो गई है अतः उसका सन्तोष केवल इतने से ही नहीं हो सकता कि किसी समस्या को उलझे रूप में उठाकर छोड़ दिया जाय, वह उसका स्पष्ट समाधान चाहता है। कला आज कला के लिए नहीं, जीवन के लिए प्रयुक्त होती है। वर्मा जी प्रस्तुत उपन्यास में पाठकों के सम्मुख कोई भी समाधान उपस्थित करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। या तो वर्मा जी उक्त तीनों राजनीतिक धाराओं के पूर्ण ज्ञान से परिचित नहीं हैं या उन्होंने अपने पाठकों को टेढ़े मेढ़े रास्तों पर भटकना चाहा है। और यह कार्य इस चतुरता के साथ किया है कि पाठक को बिना उसके जाने हुए ही उस रास्ते पर चलने से विरक्ति हो जाय, वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने की तरफ से निराश हो जाय। इस दृष्टिकोण से लेखक का उद्देश्य जीवन के प्रति विश्वास डिगाना है, सामाजिक परिवर्तन में अस्था का खण्डन करना है, जनवादी क्रान्ति और वर्गहीन समाज की रचना की तरफ से मन फेर कर आदमी को दुश्मन के सामने लाचार और अपाहिज बना देता है। यह एक ऐसी रचना है जो हमारे स्वाधीनता आन्दोलन की तमाम परम्पराओं पर कीचड़ उछालती है।

"इस उपन्यास में नैतिक साधनों को लेकर, अहिंसा को लेकर, अहंमन्यता और पाशविकता से ऊपर उठने को लेकर, बड़ी लम्बी चौड़ी उपदेश पूर्ण बातें कही गई हैं।" परन्तु उपन्यास को ध्यान से पढ़ने पर ज्ञात होगा कि इस अहिंसावादी लेखक ने हर जगह गन्दा से गन्दा कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया है। वह अपने प्रतिस्पर्धियों को नीचा दिखाने के लिए हर सम्भव उपाय से उनके प्रति द्वेष की भावना उभाड़ने का प्रयत्न करता है। उसे किसी वर्ग. किसी दल. किसी विचारधारा पर कीचड़ उछालने में संकोच

नहीं होता। सम्पूर्ण उपन्यास में केवल दो व्यक्तियों पर कीचड़ नहीं उछाला गया है। पण्डित रामनाथ तिवारी जो सामन्ती सभ्यता के साक्षात् अवतार हैं और दूसरे मार्कण्डेय मिश्र जो लेखक की तरफ से अहिंसा की वकालत करते हैं। वर्माजी ने तीनों प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ ही साथ हिन्दी लेखकों पर भी कीचड़ उछालने में खूब रुचि दिखाई है।

पहले हम इसमें कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलनों की विवेचना करेंगे। इसमें सन् १९३० के आन्दोलन का चित्रण है। वर्माजी के अनुसार इस आन्दोलन के सभी नेता स्वार्थी और जनता रुपयों के बल पर खरीदी हुई भेड़ बकरी के समान हैं। दयानाथ का मत है कि—"देश अभी स्वतन्त्र होने के लिए तैयार नहीं।" इस मत में और अंग्रेज साम्राज्यवादियों के मत में कोई अन्तर नहीं है। अहिंसा का सबसे बड़ा समर्थक मार्कण्डेय भी यह सुझाव पेश करता है कि—"लोगों को जेल जाने के काम पर नौकर रखा जाय।" (पृष्ठ २४)। वह इतिहास की दुहाई देता है कि सारी दुनियाँ में ऐसा ही होता आया है। उसका यह सुझाव मान लिया जाता है। जिन सैकड़ों देशप्रेमियों ने सब प्रकार के अत्याचार सहे उन पर वर्माजी की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है! रामभरोसे कह रहा है—"गिरफ्तार होने के लिए आदमियों की कमी नहीं है। हजार दो हजार जितने आदमी चाहिए गिरफ्तार होने के लिए तैयार हैं" क्योंकि "हिन्दुस्तान में गरीबों और बेकारों की कमी नहीं है, उनको रुपये दो और स्वयंसेवक बनाओ।" जनता के विषय में रामनाथ तिवारी के विचार भी देखने योग्य हैं—"यह अपढ़, मूर्ख और कङ्गाल जनता! किसी के भी बरगलाने में यह जनता आ सकती है। इसके मानी यह हैं कि जो जितना ही मक्कार, चालाक और बेईमान होगा, वही इनका प्रतिनिधि बन सकेगा।" (पृष्ठ ५२) लेखक ने सर्वत्र जनता को इसी रूप में चित्रित भी किया है। यह है भारतीय जनता के प्रति वर्माजी की भावना!

नेता लोग इसी जनता को भेड़ बकरियों के समान नचाते रहते हैं। कांगरेसी दयानाथ कहता है—"मैं वास्तव में अनुभव करता हूँ कि अधिकांश मनुष्य ऐसे नहीं हैं जिनके साथ मैं बराबरी से मिल सकूं। उनमें बेईमानी है, उनमें बेवकूफी है, उनमें संस्कृति, शिष्टता और सभ्यता का अभाव है।"

(पृष्ठ ४६१) देश के नौजवानों और विद्यार्थियों पर भी वर्माजी को आस्था नहीं है। क्रान्तिकारिणी प्रतिभा कहती है—"हमारे देश के नवयुवक नपुंसक और कायर है, न उनमें साहस है और न उनमे स्वाभिमान है।" (पृष्ठ ७२) इसी तरह क्रान्तिकारी नेता मनमोहन के मुंह से क्रान्तिकारियों के प्रति लेखक की धारणा भी पढ़ने योग्य है। मनमोहन कहता है—"हमारी जिन्दगी सच्ची नहीं, सीधी नहीं। हमारा अस्तित्व एक भयानक झूठ है।" वह समझता है कि आतङ्कवादी कार्यों से मनुष्यता का पतन होता है। आजाद और भगतसिंह की परम्परा के वीरों की यह दशा देखकर मन वेदना से भर उठता है। क्या वर्माजी में इन्सानियत का इतना ही माद्दा है कि वह इन वीरों को इन रूपों में याद कर सके।

इसी तरह मजदूर आन्दोलन पर भी कीचड़ उछाला गया है। आज की पूँजीवादी व्यवस्था के सब से बड़े शत्रु मजदूर ही हैं अतः उनके प्रति इस सामन्त भक्त लेखक का द्वेष अपने तीव्रतम रूप में उभरकर सामने आया है। मजदूरों की राजनीति पर सीधा हमला न कर उनके चरित्र को कलङ्कित करके मजदूर आन्दोलन के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने की कोशिश की गई है। ब्रह्मदत्त रुपए खा जाता है और इतना असंस्कृत है कि कांगरेसी दयानाथ उससे बात तक नहीं कर सकता। उमानाथ पुलिस को घूस देता है, चन्दे के रुपये खा जाना नैतिक ठहराता है। विदेश से रुपया लेना भी न्यायपूर्ण ठहराता है। वह अपनी स्त्री को छोड़ देता है। इस प्रकार ये सभी मजदूर कार्यकर्त्ता वर्माजी की दृष्टि में बेईमान, चरित्रहीन और पतित हैं।

डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में वर्माजी को हिन्दी में उचित सम्मान नहीं मिला है ऐसा उनका मत है। उनकी यही निराशा इस उपन्यास में हिन्दी के अन्य साहित्यकारों के प्रति भयंकर और गन्दे व्यंग्य के रूप में प्रकट हुई है। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—"हिन्दी के साहित्यकारों में इस तरह की बदतमीजी की बातचीत हो जाना बड़ी साधारण सी बात थी।" (पृष्ठ २४०) रामेश्वर इनके विषय में कहता है कि—"ये सब के सब घमंडी, बदतमीज और बेवकूफ हैं।" (पृष्ठ २४४) उमानाथ का मत है कि—"हिन्दी साहित्यिकों का जमाव पागलों का जमाव

है जिसमें हरेक आदमी अपनी कहता है, बेमतलब और असंगत कहता है, बिना सोचे समझे कहता है और गलत कहता है। ... आज तक हमारे देश में संत-साहित्य का सृजन नहीं हुआ; हो भी नहीं सकता था।" (पृष्ठ २७१) इस उपन्यास में हिन्दी साहित्यकारों की ऐसी ही टेढ़ी मेढ़ी तस्वीरें हैं। "जैसे लेखक को आजाद और भगतसिंह की परम्परा में चोर, डाकू और कायर ही दिखाई देते हैं, वैसे ही उसे प्रेमचन्द और प्रसाद की परम्परा में सब घमण्डी, मूर्ख और बदतमीज ही दिखाई पड़ते हैं। जिन्दगी को तस्वीरें इतनी टेढ़ी मेढ़ी होकर, इतनी भद्दी और बेडौल होकर लेखक के सामने क्यों आती है इसका कारण लेखक की अपनी मानसिक स्थिति ही प्रतीत होती है। इस उपन्यास में कुरूपता, कायरता, निराशा, अन्धकार आदि का इतना अधिक उल्लेख है कि वे लेखक के दिमाग पर साफ छाई रहती हैं।

इसी तरह वर्मा जी की दृष्टि में पशुता भी मानवता का एक अनिवार्य अङ्ग है। प्रभानाथ कहता है—"न मैं देवता हूँ, न मनुष्य! मैं केवल पशु हूँ।" उमानाथ का मत है कि—"हम हिन्दुस्तानियों में पशुता पूरी तरह भरी हुई है।" श्यामनाथ का मत तो और भी भयानक है—"ये स्त्री पुरुष ये सब के सव पशु हैं और पशुओं में कोई भेदाभाव नहीं होता।" अहिंसक मार्कण्डेय तक कहता है—"हम सब में पशुता है, वही पशुता जिसे हम हिंसा कहते हैं।" पशुता का यह व्यापक साम्राज्य लेखक के एक विशिष्ट अभिप्राय को सिद्ध करता है। लेखक चाहता है पूँजीवाद से लड़ना छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति अपने 'पशु' से लड़े। 'पशु' से लड़ते समय वे शोषक वर्ग से लड़ना भूल जायगे। इसीलिए मार्कण्डेय का मत है कि जब हम विदेशी शासन के खिलाफ लड़ रहे हैं तो हमें अपने पूँजी पतियों और जमींदारों के खिलाफ नहीं लड़ना चाहिए। लेखक जमींदारों का समर्थक है। इसी से उसके रामनाथ तिवारी उसके आराध्य देव के समान प्रतीत होते हैं। उनमें दृढ़ता, अक्खड़ता और वंश गौरव की सामन्ती भावना ओतप्रोत है और लेखक इस भावना का पोषक और समर्थक है।

रामनाथ तिवारी लेखक के शब्दों में—"सभ्य और सुसंस्कृत पुरुष थे, उन्हें सभ्य तथा पढ़े लिखे लोगों का ही साथ पसन्द था" और ये सभ्य

और पढ़े लिखे लोग—"कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर आदि पढ़े लिखे अफसर थे।" तिवारी जी का सिद्धान्त है कि—"जीवन का नियम क्या है? समर्थ की असमर्थ पर विजय। अनादि काल से समर्थ असमर्थ पर शासन करता आया है और अनन्त काल तक शासन करता रहेगा।" वे अपनी शक्ति भर किसानों पर अत्याचार करते हैं। परन्तु लेखक उन्हें शिक्षित और सुसंस्कृत मानता है। मनमोहन उन्हें देखकर इतना प्रभावित होता है कि कहता है—"काश! कि हरेक आदमी ऐसा बन सकता।" प्रभानाथ भी कहता है कि "आपने मुझे उचित रास्ता दिखला दिया।" वीणा भी थप्पड़ खाकर उनके पैर छूती है। आखिर लेखक के हृदय में इस अक्खड़, अत्याचारी, निरंकुश सामन्त के प्रति इतनी पूज्य भावना क्यों है।

दूसरी ओर मार्कण्डेय का अहिंसावाद भी अत्यन्त उथला और झूठा है। वह अच्छी तरह जानता है कि अहिंसा की तमाम दलीलें दिल को खुश करने को हैं, उनसे होना हवाना कुछ नहीं। इसी कारण उमानाथ मार्कण्डेय को 'सिनिक' कहता है। वह मानव समाज में किसी परिवर्तन की आशा नहीं करता। उसका मत है कि जैसे पूँजीपतियों ने अपनी हुकूमत में समाज को गुलामी और शोषण के बन्धनों से जकड़ रखा है, वैसे ही मजदूर वर्ग भी नये समाज में गुलामी और शोषण को कायम रखेगा। दूसरे ऐसे ही सिनिक रामनाथ तिवारी हैं। वे कहते हैं—"कार्ल मार्क्स ने लिखा और लेनिन ने किया, परिणाम? रूस में भयानक रक्तपात और यहाँ गांधी ने एक मत बतलाया और परिणाम? जेल गिरफ्तारियाँ! पर वास्तव में क्या होना चाहिए, जिससे सब सुखी हो सकें, जो सबों की उलझनों का हल हो? कोई नहीं बतला सका। आखिर होगा क्या।" (पृष्ठ २१०) इस उपन्यास की यही विचारधारा है। इसी सामन्ती विचारधारा के सड़े गले सिद्धान्तों को लेखक ने पाठकों के गले उतारने का अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया है।

उपन्यास की टेकनीक दृष्टि से भी हम इसे सफल उपन्यास नहीं मान सकते। जिस लेखक ने 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष जैसे सुन्दर और सरस उपन्यास हिन्दी संसार को भेंट किए थे वही जब 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' जैसे

नीरस और उलझा हुआ उपन्यास लेकर सामने आया तो हिन्दी संसार को बड़ी निराशा हुई। न तो इसके कथानक में ही कोई आकर्षण है और न वर्णन में ही। कथानक अत्यन्त विशृङ्खलित और उखड़ा २ सा चलता है। दयानाथ, उमानाथ और प्रभानाथकी कथाओं का आपस में स्पष्ट एवं सार्थक सम्बन्ध कहीं भी प्रतीत नहीं होता। इन विभिन्न कथाओं को जोड़ने वाले केवल रामनाथ तिवारी हैं। कथोपकथन भी अत्यन्त नीरस और असम्बद्ध हैं। भाषा में व्याकरण की अनेक त्रुटियाँ हैं। इनमें न तो चित्रलेखा जैसी सरस सशक्त भाषा के दर्शन होते हैं और न तीन वर्ष जैसी चलती हुई, व्यंग्यात्मक शैली ही मिलतीहै। तीन वर्ष के उपरान्त वर्मा जी की औपन्यासिक प्रतिभा क्रमशः क्षीण होती चली गई है। उनके अन्तिम उपन्यास 'आखिरी दाँव' को देखकर तो घोर निराशा हुई है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' की असफलता का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि लेखक का राजनीतिक अध्ययन अत्यन्त उथला और ऊपरी स्तर का है। अपनी शक्ति भर उसने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की चेष्टा की है। इसी कारण उसका ध्यान उपन्यास की टेकनीक और भाषा से हट कर सिद्धान्तों में उलझा रह गया है।